पातञ्जल योगदर्शन भाष्यम्

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

ओ३म्

पातञ्जल-योगदर्शन-भाष्यम्

(महर्षिव्यासभाष्योपेतं महर्षिदयानन्दव्याख्या-विभूषितञ्च)

भाष्यकार—

आचार्य राजवीर शास्त्री

(सम्पादक दयानन्द-सन्देश)

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५ खारी बावली, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

महर्षि-दयानन्द के आगमन से पूर्व वेदों को केवल याज्ञिक-विषय की ही पुस्तक माना जाता था। यद्यपि यह मान्यता प्राचीन ऋषियों के बनाये शास्त्रों से भी प्रतिकूल थी, परन्तु वेद-भक्त जन-मानस में यही आस्था पूर्णतः अंकित हो चुकी थी। महर्षि ने समस्त वैदिक-वाङ्मय के विलोडन के पश्चात् इस सत्य-धारणा को फिर से परिपुष्ट करके वेदों के गौरव को पुनर्जीवित किया है कि 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, और वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।' और इस मान्यता का उद्घोष ही नहीं किया, प्रत्युत चारों वेदों की भूमिका 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' बनाकर इस मान्यता को सप्रमाण सिद्ध भी किया है। आज कोई भी विद्वान् इस मान्यता का प्रत्याख्यान करने का साहस नहीं कर सकता, यह महर्षि द्वारा प्रतिपादित सत्य की महान् विजय है। वेद का ज्ञान मानव को कब मिला? वेदों को किसने बनाया है? वेदज्ञान निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण क्यों है? इत्यादि भ्रान्तियों का उत्तर किसी को सूझ नहीं रहा था।

इस विषय में भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्त मान्यताओं को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया था। परन्तु महर्षि ने सत्यासत्य की ऊहापूर्ण गवेषणा करके और शास्त्रीय[1] प्रमाणों से वेदविषयक मिथ्या मान्यताओं का ऐसे उन्मूलन कर दिया है कि आज कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति महर्षि के सत्यपक्ष को स्वीकार करने से असहमति प्रकट नहीं कर सकता।

महर्षि के आगमन से पूर्व दर्शनविद्या केवलमात्र पण्डितों के वाग्-विलास का साधन ही बन गई थी। दर्शनों के नव्य अनार्ष ग्रन्थों की जटिल अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषाजाल में दर्शनों की विद्या से मानव के मस्तिष्क को खाली ही कर दिया था। इसलिये पौराणिककाल के वेद-भाष्यकारों ने ऋषियों की इस अमूल्य विद्या का कोई भी उपयोग नहीं किया। ईश्वर किसे कहते हैं? आत्मा-परमात्मा में क्या अन्तर है? प्रकृति का क्या स्वरूप है? विद्या-अविद्या

---

१. वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इस विषय में 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः' (यो० १। २६) तद् वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशे०) इत्यादि प्रमाण द्रष्टव्य हैं।

वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में मिला है, इस विषय में 'वेदशब्देभ्य एवादौ०' (मनु०) 'यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथा ऽतिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः।' (यो० १। २६ व्यासभाष्यम्) इत्यादि प्रमाण जानने चाहिये।

में क्या भेद है ? 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि मन्त्रों में पुरुष शब्द का क्या अर्थ है ? मोक्ष क्या है और कहाँ है ? प्रकृति-पुरुष (चेतनाचेतन में) क्या अन्तर है ? प्रकृति-पुरुष की शाश्वत-सत्ता है अथवा अनित्य है ? सृष्टि-रचना किस प्रकार हुई है ? इसको बनाने वाला कौन है ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर दर्शनविद्या के बिना न मिलने से सायणादि भाष्यकार अज्ञानान्धकार की घोर वीथिकाओं में ही ठोकरें खाते हुए दिखायी देते हैं।

इनके भ्रान्त भाष्यों को देखकर ही पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों के विषय में अपनी वैसी ही भ्रान्त धारणायें बनायी हैं, जिनके कारण वेदों का गौरव तो क्या बढ़ना था, प्रत्युत वेदों को गडरियों के गीत कहा जाने लगा था। महर्षि ने व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ तथा दर्शनविद्या के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् वेदों के सत्य-प्रकाश को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि सायणादि वेदों के व्याख्याताओं को क्या वेद-विषयक सामान्य बातों का भी ज्ञान नहीं था ? वे कैसे भाष्यकार थे ?

ऐसे वेदों के मर्मज्ञ, दर्शनविद्या के पारङ्गत तथा ऊहापोह के धनी महर्षि-दयानन्द ने विस्मृत, उपेक्षित एवं भ्रान्तधारणाओं से अभिभूत दर्शनविद्या को भी पुनर्जीवित ही नहीं किया, प्रत्युत उनका स्पष्ट महत्त्व बताते हुए निर्देश भी किया है—(क) 'जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है, उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य-अर्थों का प्रकाश हो जायेगा तथा जो जो सायण, माधव, महीधर,·········उन अनर्थव्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य-अर्थों के देखने से अत्यन्त सुख-लाभ पहुंचेगा।' (ऋ० भू० प्रतिज्ञा०)

(ख)'वेद और छः दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके, सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिये।'' (उपदेश मञ्जरी, १३ वां उपदेश)

महर्षि के इस आदेश को शिरोधार्य करके 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट' ने वेद-भाष्य के प्रकाशन के साथ साथ दर्शनों के भाष्य भी प्रकाशित करने का निर्णय लिया है, उसी के फलस्वरूप योगदर्शन (व्यास-भाष्य सहित) भाष्य पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। यह दर्शन उपासनाकाण्ड का प्रमुख शास्त्र है। आज के आस्तिक जगत् में जितनी भ्रान्तियाँ उपासना, उपास्य, तथा उपासनापद्धतियों में हैं, उतनी अन्यत्र नहीं हैं। भक्तिमार्ग के उपासकों, दुःखसागर से आत्य-न्तिक मुक्ति चाहने वालों तथा मोक्ष के सत्य स्वरूप के जिज्ञासुओं के लिये यह शास्त्र बहुत ही उपयोगी है। इस शास्त्र में योग के सत्य स्वरूप को समझा-

कर योग तक पहुंचाने के लिये साधन-सोपान परम्परा का सुन्दर दर्शन कराया गया है। असमाहित चित्तवृत्ति वाले भी कैसे योगी बन सकते हैं? साधक-साधन तथा साध्य में क्या अन्तर है? जन्म-जन्मान्तरों में संचित अन्तः-करण की मलीन वासनाओं को दग्ध करके कैसे ज्ञानदीप्ति होती है? प्रकृति-जन्य चित्त मोक्षप्राप्ति में कैसे और कहाँ तक सहायक होता है? प्राणायाम-विद्या क्या है, और उससे क्या लाभ हैं? सर्वत्र व्यापक परमात्मा की जीवों से दूरी कैसे है? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर होने से यह शास्त्र योगमार्ग का परम सन्मार्गदर्शक है। 'स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते' (यो० भा० १। २८) इस व्यास-भाष्य के अनुसार परमात्म-ज्योति को प्रज्वलित करने में यह योगशास्त्र अद्वितीय सहायक है। ऋषि साक्षात्कृतधर्मा तथा आप्त-पुरुष होने से असत्य तथा भ्रान्त उल्लेख कभी नहीं करते हैं। योगसूत्रकार महर्षि व्यास के भाष्य तथा दर्शनों के पारदृश्वा महर्षि-दयानन्द की यथास्थान व्याख्याओं से अनुस्यूत होने से सचमुच यह भाष्य त्रिवेणी संगम बन गया है। प्रयाग के गंगादि के संगम में स्नान करने से मोक्ष मिलता है, यह धारणा तो शास्त्रविरोधी होने से सर्वथा मिथ्या है परन्तु सरस्वती की अजस्र-धारा को प्रवाहित करने वाले इन तीनों ऋषियों से प्रवाहित पावनज्ञान-गङ्गा अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कराने वाली है।

इस योग-भाष्य के तैयार करने में, इसके अनेक दुरूह स्थलों को सप्रमाण स्पष्ट करने में, इस दर्शन के तथा व्यासभाष्य की भ्रान्त व्याख्याओं का इस शास्त्र की अन्तःसाक्षी से ही उन्मूलन करने में, व्यास-भाष्य के परवर्ती प्रक्षेपों को व्यासमुनि की मान्यताओं से विपरीत दिखाने में और महर्षि-दयानन्द की भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में व्याख्यात योग-विषयक व्याख्याओं के यथास्थान सन्निवेश करने में श्री आचार्य राजवीर शास्त्री ने जो अथक परिश्रम किया है, उसकी प्रशंसा स्वाध्यायशील पाठक स्वयं ही करेंगे, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। उन्होंने जिस आस्था, लगन एवं परिश्रम से इस शास्त्र को सामान्यजनों के लिये भी सुगम कर दिया है, वह अवश्य स्तुति करने योग्य है। आशा है योग-शास्त्र के स्वाध्यायशील जिज्ञासु, योगविद्या के अन्वेषक एवं ईश्वरोपासना के पथिक इस भाष्य से अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

तिथि—चैत्रशुक्ला पञ्चमी, सं० २०३६

आर्ष-भक्त—
धर्मपाल आर्य
मन्त्री—आर्ष-साहित्य-प्रचार-ट्रस्ट
४५५ खारीबावली, दिल्ली-६

प्राक्कथन

यह पाठकों के समक्ष योगदर्शन तथा व्यासभाष्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए जहाँ हमें हार्दिक-प्रसन्नता एवं आत्म-सन्तोष हो रहा है, वहाँ पाठकों को भी इस दर्शन की इस अपूर्व व्याख्या से अवश्य ही प्रसन्नता होगी, ऐसी हमें आशा है। मानवजीवन का चरम-लक्ष्य है— दुःखों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करना, प्रकृति के चिरबन्धन से छूटकर परमात्मा के परमानन्द की अनुभूति करना और अज्ञान व मिथ्या ज्ञान की कलुषित, भ्रान्त तथा घोरान्धकार की दशाओं से छूटकर पवित्र ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके सत्य की प्राप्ति करना है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति दर्शन-विद्या के विना नहीं हो सकती। आज की विषम-परिस्थितियों में मानव कितना भ्रान्त हो चुका है और उसके अशान्त, भ्रान्त एवं क्लेशों में निमग्न अन्तःकरण के पटल पर अंकित कलुषित वासनाओं को दूर करने तथा मानव की दुर्दशारूप जटिल-समस्या का क्या समाधान हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुये महर्षि-दयानन्द ने कहा है—

"यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं ? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और छः दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके, सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिये।..................सुगमता से शीघ्र लोगों की आँखें खुल जायेंगी और दुर्दशा दूर होकर सुदशा प्राप्त होगी" ।।

(उपदेश-मञ्जरी, १३ वाँ उपदेश)

महर्षि के ये अमूल्य-वचन ही प्रस्तुत भाष्य के प्रेरक बने हैं। आर्ष-साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्थापक स्व० श्री लाला दीपचन्द जी आर्य ने जब ये वचन पढ़े, तो उनके हृदय में पूर्व से विद्यमान आर्ष-ज्ञान के प्रति दृढ-विश्वास के अंकुरों को मानो सञ्जीवनी अमृत-वर्षा मिलने से अपूर्व-शक्ति प्राप्त हुई

और यह निश्चय किया कि दर्शनों की विद्या को जन-साधारण की भाषा में प्रकाशित किया जाये। मृत्यु से पूर्व लाला जी योग-दर्शन की प्रेस-कापी का स्वयं बहुत ही ध्यान से पारायण करते थे और यह कहा करते थे कि यद्यपि इस दर्शन को मैंने अनेक बार पढ़ा है, परन्तु इस भाष्य से अनेक स्थलों का मुझे बहुत ही स्पष्टीकरण हो गया है। इस भाष्य के प्रकाशन को देखकर उन्हें कैसी हार्दिक-प्रसन्नता होती? परन्तु विधि के नियम अटल हैं; वे हमारे मध्य न रह सके। उन्हीं की सत्प्रेरणा तथा ऋषियों के प्रति अटूट-आस्था के कारण योग-दर्शन को व्यास-भाष्य सहित प्रकाशित किया गया है। साथ ही महर्षि-दयानन्दकृत व्याख्याओं के यथास्थान सन्निवेश से इस भाष्य का महत्त्व और भी बढ़ गया है। क्योंकि यथार्थवेत्ता ऋषियों की व्याख्या निर्भ्रान्ति एवं स्पष्ट होती है। आशा है स्वाध्यायशील पाठक इस भाष्य से अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

१—दर्शनों का दिव्य-सन्देश— (परीक्षा करके निर्णय करना है)

समस्त दर्शनों का एक ही लक्ष्य है—दुःखों के मूलकारण अविद्या की निवृत्ति कराकर मोक्ष की प्राप्ति कराना। 'अविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानाम्' (यो० भा० ४।११) अविद्या समस्त क्लेशों का मूलकारण है, इस व्यास-भाष्य के अनुसार समस्त अज्ञान एवं मिथ्याज्ञानों का कारण अविद्या है। अविद्या और उसके संस्कारों को नष्ट करके सत्यज्ञान को प्राप्त कराना ही समस्त दर्शन-कारों का उद्देश्य है। प्रकृति से लेकर परमात्मा तक का सत्यज्ञान कैसे सम्भव है? इसके लिये दर्शनों में विशेष पद्धति का निर्देश किया है। उस पद्धति में उद्देश, लक्षण तथा उसकी परीक्षा का समावेश किया गया है। इस पद्धति के विना सत्यासत्य का निर्णय करना कदापि सम्भव नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने प्राचीन ऋषियों की दर्शन-पद्धति का ही आश्रय करके संसार के समस्त मत-मतान्तर वालों को सत्यासत्य के निर्णयार्थ आह्वान किया था। महर्षि ने सत्य-पक्ष के निर्णयार्थ परीक्षा की कसौटी बताते हुए अपने ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है—
(क) "जो जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हैं, उन उन ग्रन्थों को न पढें, न पढ़ावें। क्योंकि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः। लक्षण जैसा कि 'गन्धवती पृथिवी' जो पृथिवी है, वह गन्धवाली है। ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण, इनसे सब सत्यासत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है"। (स० प्र० तृतीय समु०)

(ख) "अब जो पढ़ना-पढ़ाना हो वह वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पांच प्रकार से होती है—(१) जो जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो, वह वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है। (२) जो जो सृष्टि-क्रम से अनुकूल वह वह सत्य और जो जो सृष्टि-क्रम से

विरुद्ध हो वह सब असत्य है। जैसे कोई कहे—'विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ'। ऐसा कथन सृष्टि-क्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है। (३) आप्त अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है, वह वह ग्राह्य और जो जो विरुद्ध वह वह अग्राह्य है। (४) अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख व सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा। और (५) आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, आगम अनुमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव…… ………। इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्यासत्य का निश्चय कर सकता है, अन्यथा नहीं''। (सत्यार्थ० तृतीय समु०)

इसी प्रकार विवादास्पद सन्दिग्ध विषयों में भी सत्यज्ञान के लिये दर्शनों में विशेष परीक्षा पद्धतियों का निर्देश किया गया है। जैसे—

(१) वेद स्वतःप्रमाण ग्रन्थ है, कुरान, पुराण तथा बाईबिलादि नहीं, इसका निर्णय कैसे करें? इस विषय में दर्शनकार ने स्पष्ट ऊहापोह करने की जो पद्धति लिखी है, महर्षि-दयानन्द ने उसी को अपनाकर सत्यासत्य का निर्णय किया है। दर्शनकार लिखते हैं—

तद[1]प्रामाण्यमनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्यः॥ (न्या० २।१।५७)

अर्थात् जिस पुस्तक में तीन दोष हों, वह प्रमाण करने के योग्य नहीं हो सकती। अर्थात् जिसमें मिथ्याबातों का उल्लेख हो, परस्पर-विरोधी बातें लिखी हों और पुनरुक्त असंबद्ध बातों का समावेश हो, वह पुस्तक प्रामाणिक नहीं हो सकती।

(२) और न्याय की कसौटी बताते हुए न्याय तथा वात्स्यायनभाष्य (न्या० १।१।१) में स्पष्ट लिखा है—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'। प्रमाणों से किसी पदार्थ की परीक्षा करना ही न्याय है। जैसे दीपकादि प्रकाश करने के साधनों से वस्तुओं के भाव और अभाव का ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रमाण से सत्-असत् वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

(३) और जो व्यक्ति वेदादि-शास्त्रों पर भी विश्वास नहीं करते, उनके साथ सत्यासत्य का निर्णय कैसे करें? इसके लिये दर्शनकार ने पंचावयव वाले पदार्थानुमान का निर्देश किया है अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा

---

१. यद्यपि यह सूत्र किसी अन्य विषय पर दर्शनकार ने लिखा है। जैसे उस विषय में ये हेतु हैं, वैसे ही अन्यत्र भी इनको लगाना चाहिये।

निगमन के द्वारा सत्यासत्य का निर्णय करें। न्या० १।२।१ में वाद (शास्त्रार्थ) का स्वरूप ही यह बताया है—प्रमाण तथा तर्क से स्वपक्ष का मण्डन तथा पर-पक्ष का खण्डन करना चाहिये और पंचावयवों के द्वारा पक्ष-विपक्ष का निर्णय करना ही वाद कहलाता है। हेतु व उदाहरणादि से हीन प्रतिज्ञा करनेवाला पराजित कहलाता है।

(४) इसी प्रकार परीक्षा की एक अन्य विधि—तर्क है। अनिर्णीत विषय का निर्णय करने के लिये हेतु आदि से तत्त्वज्ञानार्थ ऊहा करना तर्क कहाता है। तर्क से मिथ्या मत-मतान्तर वाले तो बहुत भयभीत रहते हैं। परन्तु धर्माधर्म के निर्णय में तर्क बहुत ही सहायक होता है।

(५) इसी प्रकार सूक्ष्म विषयों के ज्ञानार्थ भी परीक्षा की विधियाँ दर्शन-कारों ने लिखी हैं। जैसे—विना कारण के कार्य नहीं होता। दूसरे से देखी, अथवा सुनी वस्तु का दूसरे को स्मरण नहीं होता। मृत्यु का भय सबको सताता है, और यह विना अनुभव के नहीं हो सकता। एक समय में एक ही ज्ञान होता है, अनेक नहीं। विना कर्त्ता के कोई वस्तु नहीं बन सकती। इत्यादि परीक्षा की विधियों से पुनर्जन्म की, जीवात्मा की, इन्द्रियों से भिन्न मन की, सूक्ष्म-प्रकृति की, और सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता का बोध होता है। इस प्रकार की सूक्ष्म विषयों को जानने की परीक्षा-पद्धतियों से दर्शन-शास्त्र ओत-प्रोत हैं। जिनको अपनाने से समस्त मिथ्याभ्रान्तियों, संशयों तथा अज्ञान का नाश होकर सत्यज्ञान का प्रकाश हो जाता है। दर्शनकारों की इन परीक्षा-विधियों से मिथ्या मत-मतान्तर वाले सिंह के सम्मुख बकरी की भांति घबराते हैं। जैसे आलसी, पुरुषार्थहीन तथा मन्दमति परीक्षार्थी परीक्षा के नाम से ही भयभीत रहता है, इसी प्रकार सत्यज्ञान से विमुख स्वार्थी, दुराग्रही तथा मिथ्यापक्ष वाले व्यक्ति भी इन सत्य की कसौटियों से भयभीत ही नहीं प्रत्युत इनको शुष्क-विरोध अथवा कलह का कारण कहकर लोगों को बहकाते रहते हैं। परन्तु अज्ञान का नाश और विद्या की प्राप्ति इन विधियों के विना कदापि सम्भव नहीं है। अतः दुःखों से मुक्ति के लिये दर्शन-विद्या का पारायण अवश्य करना चाहिये।

२—दर्शन किसे कहते हैं—

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति रही है। मानव ने जब इस धरातल पर अवतरण किया और अपने चक्षुओं का उन्मीलन किया, तभी से वह अपने चारों तरफ के विद्यमान प्राकृतिक वस्तुओं-सूर्य, चन्द्रादि के व्यवस्थित आवागमन, द्युलोकवर्त्ती अनन्त नक्षत्रमण्डल, जीवों

को कर्मानुसार सुख-दुःख की विचित्र व्यवस्था करने वाले नियन्ता परमेश्वर आदि के विषय में जानने की इच्छा करता रहा है। इस जिज्ञासा-वृत्ति के शमन के लिये तथा लौकिक पारलौकिक सुखों के साधनों को प्राप्त करने के लिये किये गये अनवरत प्रयत्नों का ही यह फल है कि मानव ने लोक-लोकान्तरों में भी पहुँचने में सफलता प्राप्त कर ली है। परन्तु प्राचीन ऋषि-मुनियों ने केवल भौतिक उन्नति से ही सन्तोष नहीं किया, प्रत्युत सूक्ष्मातिसूक्ष्म गूढतम जिन तत्वों को भी सतत-साधना तथा ईश्वर-आराधना से जानने में सफलता प्राप्त की थी, उसी यथार्थ-ज्ञान का नाम 'दर्शन' है। 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' इस दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही स्पष्ट होता है कि सत्-असत् पदार्थों के ज्ञान को ही दर्शन कहते हैं। योगदर्शन तथा व्यास-भाष्य में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हुये लिखा है—

(क) परमार्थस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्त्तते ॥ (व्यासभा० ३।५५)

(ख) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ॥ (व्यासभा० २।२४)

अर्थात् सत्यज्ञान से अदर्शन=अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अथवा समस्तज्ञानों में सर्वोत्तम ज्ञान ख्याति=विवेकख्याति है। सूत्रकार ने बुद्धि के लिये भी दर्शन शब्द का प्रयोग किया है–'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता' (योग० २।६) पुरुष और बुद्धि को एक मानना ही 'अस्मिता' क्लेश है। व्यास-भाष्य में अन्यत्र अदर्शन को बन्धन का कारण तथा दर्शन को मोक्ष का कारण बताते हुए लिखा है—'तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते।' (योग० २।२४) यथार्थ में मानव जैसे जैसे तर्क और बुद्धि के द्वारा विविध समस्याओं का समाधान और दुःखों से निवृत्ति का उपाय सोचने का प्रयास करता है, वैसे वैसे ही वह दर्शन के क्षेत्र में पहुंच जाता है। संसार क्या है? इसको बनाने का क्या प्रयोजन है? इसको बनाने वाला कौन है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान दर्शन ही करता है।

३—दर्शनों का मूल 'वेद' है—

सृष्टि के प्रारम्भ में परमगुरु परमात्मा मानवों के कल्याणार्थ वेद का उपदेश करता है। वेद सब सत्य-विद्याओं का मूल है। वेद के आश्रय से ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का संसार में प्रसार होता है। दर्शन-विद्या का भी स्रोत वेद ही है। इसीलिये इन्हें उपांग कहते हैं। इस विषय में प्रमाण इस प्रकार हैं—

(क) को अद्धा वेद इह प्रावोचत्। कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥
(ऋ० १।१२९।६)

अर्थात् कौन जानता है? कौन उपदेश करता है? हमारा जन्म कैसे हुआ है। यह सृष्टि कैसे बनी? इत्यादि प्रश्नों का मूल तथा उनका उत्तर वेद में मिलता है। मानव ने भी इस विद्या को वेदों से ही सीखी है।

(ख) उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय ॥ (ऋ० १।२४।१५)

अर्थात् हे वरणीय परमेश्वर! हम उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट तीन प्रकार के दुःखपाश से दुःखी हैं, आप ज्ञान-प्रकाश के द्वारा इन दुःखों के बन्धन से मुक्त कराओ।

(ग) सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः......... ॥ (ऋ० १।१०५।८)

मनुष्य शतक्रतु इन्द्र=परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि हमें अज्ञान के कारण दुःख इस प्रकार दुःखी कर रहे हैं, जैसे सौतेली स्त्रियाँ पति को सन्तप्त करती रहती हैं अथवा स्वार्थवश चूहे की भाँति मनुष्य तृष्णा नदी में डूबा हुआ दूसरों की हानि करने में संकोच नहीं करता है। यह अयज्ञीय-भावना भी मानव के दुःख का कारण है।

(घ) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (यजु० ४०।१४)

अर्थात् मृत्यु=(त्रिविध दुःखों) से छूटने के लिये विद्या तथा अविद्या दोनों को जानना परमावश्यक है। अविद्या=(कर्म तथा उपासना) से दुःखों से छूटकर विद्या के द्वारा जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है।

(ङ) तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु०)

सांसारिक समस्त सुख क्षणिक ही हैं। इनका परिणाम दुःख ही होता है। अतः प्रकृति के तत्त्वों को जानकर जीवात्मा जब इसकी यथार्थता को जान लेता है, तो वह प्रकृति से विरक्त होकर परमानन्द-स्वरूप परमात्मा का आश्रय लेता है और दुःखों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इन वैदिक सत्य मान्यताओं का ही आश्रय करके दर्शनकारों ने ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के सत्यस्वरूप को लक्षण, परीक्षादि करके समझाया है। और वैदिक-पथ को सरल विधि से समझाकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। महर्षि-दयानन्द ने वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा ब्राह्मणग्रन्थों को ही प्राचीन वेद-भाष्य माना है।

दर्शनों के विना वेद-मन्त्रों की व्याख्या करना कदापि सम्भव नहीं है। जैसे वेद-मन्त्रों में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः (यजु०) 'विद्ययाऽमृतश्नुते' (यजु०) 'विद्याञ्चाविद्याञ्च०' (यजु०) 'युञ्जते मनः' (ऋक्०) इत्यादि में पठित पुरुष, विद्या, अविद्या, मनादि शब्दों की परिभाषा दर्शनों में ही मिलती

है। परमात्मा के तो सच्चे स्वरूप का बोध दर्शनों की व्याख्या के बिना समझा ही नहीं जा सकता । वेदोक्त 'अकायम्' 'शुद्धम्' 'अपापविद्धम्' इत्यादि परमेश्वर के लिये प्रयुक्त पदों की व्याख्या ही **योगदर्शन में** क्लेश, कर्म, विपाकाशय से रहित पुरुषविशेष कहकर की है। **वैशेषिक-दर्शन** में द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य का कथन किया है। वह भी वेद के दिति=खण्डीकरण=विश्लेषण और अदिति=अखण्डीकरण=संश्लेषण अथवा 'चित्तिमचित्तिं चिनवद् विद्वान्' (ऋ० ४।२।११) चिति=ज्ञान, अचिति=अज्ञान का सामान्य-विशेष रूप से विश्लेषण किया है। सांख्यदर्शन में सत्कार्य-वाद का सिद्धान्त ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में पठित सत् तथा असत् पदों की ही व्याख्या है। **न्यायदर्शन** में प्रमाण, प्रमेय, तर्क आदि का विशेष कथन किया गया है। प्रमाणों से ही पदार्थों की परीक्षा करने को न्याय माना है। तर्क को वेद में 'ऊह' शब्द से कहा गया है। प्रमेयान्तर्गत आत्मा, मन, शरीरादि का मन्त्रों में पर्याप्त वर्णन मिलता है। **मीमांसादर्शन** में वैदिक-यज्ञों की व्याख्या की है। वेद-मन्त्रों में यज्ञ, यजमान, आहवनीय, गार्हपत्यादि का वर्णन मिलता है। 'सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः' इत्यादि मन्त्रों में यज्ञकर्त्ता की शुभाशंसा, और 'ऋचां त्वा पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वां गायति शक्वरीषु' इत्यादि मन्त्रों में यज्ञ के होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा चारों होताओं का वर्णन मिलता है। **वेदान्त-दर्शन** में वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही व्याख्या की है। इसमें ब्रह्म को वेदों तथा सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कारण माना है। वेद में भी कहा है—

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (यजु० ३१।७) 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव······यो अस्याध्यक्षः०' (ऋ० १०।१२९।७) इत्यादि मन्त्रों में परमेश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, नियन्ता तथा वेदज्ञान को देनेवाला कहा है। 'तद्दूरे तद्वन्तिके०, (यजु०) इत्यादि मन्त्रों में परमेश्वर की अज्ञानवश ही दूरी और ज्ञान से समीपता अथवा प्राप्ति कही है। इन्हीं मान्यताओं का विस्तृत व्याख्यान योग तथा वेदान्त दर्शन में किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि दर्शन शास्त्र समस्त वैदिक-मान्यताओं का ही प्रतिपादन करते हैं। वेदों में जो बातें बीजरूप में कहीं हैं, उन्हीं को दर्शनकारों ने विस्तार से परीक्षा करके तथा लक्षण सहित व्याख्यान किया है।

४—वैदिक-दर्शनों का सामान्य परिचय—

समस्त भारतीय-दर्शनों को आस्तिक-नास्तिक भेद से दो भागों में विभक्त किया गया है। जो दर्शन ईश्वर तथा वेदोक्त बातों पर विश्वास नहीं करते हैं, वे नास्तिकवर्ग में परिगणित किये जाते हैं। उनमें चार्वाक्दर्शन, जैनदर्शन तथा

बौद्धदर्शन प्रमुख हैं। और जो ईश्वर तथा वेदों पर विश्वास ही नहीं करते, प्रत्युत उनको परम-प्रमाण मानकर वेदानुकूल बातों का व्याख्यान करते हैं, ऐसे दर्शनों को आस्तिकवर्ग में माना जाता है। और उनका सामान्य-परिचय इस प्रकार है—

[१] **न्याय-दर्शन**—महर्षि-गोतम रचित इस दर्शन में प्रमाण-प्रमेयादि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इसमें इन पदार्थों के वर्णन में यह क्रम रखा है– प्रथम उद्देश=पदार्थों का नामपूर्वक-कथन। फिर उनके लक्षण तथा तदनन्तर उनकी विस्तृत परीक्षा। 'विद्ययाऽमृत-मश्नुते' इस वेद-मन्त्र के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का यह क्रम रक्खा गया है–पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से क्रमशः राग, द्वेष, लोभादि दोषों की निवृत्ति, अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति का न होना, तत्पश्चात् जन्मादि दुःखों की निवृत्ति से मोक्ष प्राप्त होता है। और 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' इस न्याय की परिभाषा के अनुसार न्याय करने की पद्धति तथा उसमें जय-पराजय के कारणों (निग्रहस्थानादि) का स्पष्ट निर्देश किया गया है। संशयास्पद विषयों पर निर्णय करने का प्रकार, वाद की पञ्चावयवादिरूप पद्धति तथा वाद में होने वाले हेत्वाभास, जल्प, वितण्डावादादि दोषों का परिहार भी समझाया गया है। संशय, मिथ्याज्ञानादि की निवृत्ति न्याय-दर्शन की शैली से सुकर एवं सुगम हो जाती है। और जो वेदादि शास्त्रों तथा ईश्वर को नहीं मानते हैं, उनके साथ वाद कैसे करना चाहिये? उनको पराजित करने का पञ्चावयवरूप परार्थानुमान की विशेष पद्धति का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस न्याय-विद्या को आन्वीक्षिकी विद्या भी कहते हैं। इस दर्शन में परमेश्वर को सृष्टिकर्त्ता, निराकार, सर्वव्यापक, जीवात्मा को शरीरादि से भिन्न परिच्छिन्न तथा प्रकृति को अचेतन तथा सृष्टि का उपादान कारण मानकर स्पष्ट रूप से त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। इस दर्शन पर महर्षि-वात्स्यायन का प्रामाणिक प्राचीन-भाष्य उपलब्ध होता है।

[२] **वैशेषिक-दर्शन**—महर्षि-कणाद-रचित इस दर्शन में धर्म के सच्चे-स्वरूप का कथन किया गया है। सांसारिक उन्नति तथा निश्श्रेयससिद्धि के साधन को धर्म माना गया है। अतः मानव के कल्याण के लिये तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के लिये धर्म का अनुष्ठान करना परमावश्यक माना गया है। धर्म के इस सत्य-स्वरूप को न समझकर मत-मतान्तर वालों ने जो संसार में धर्म के नाम पर बाह्याडम्बर बना रखा है, और वे पारस्परिक विद्वेषाग्नि से झुलस रहे हैं, उसका समूल निराकरण धर्म के सत्य-स्वरूप को समझने से हो जाता है। इस दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन

छः पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य के तत्त्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति मानी है। इस दर्शन की यह साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान की एक विशेष पद्धति है, जिसको न जानने से भ्रान्तियों का निराकरण करना सम्भव नहीं है। और वेदादि-शास्त्रों को समझने में भी अत्यधिक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे किसी नवीन वेदान्ती ने अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये कहदिया— 'जीवो ब्रह्मैव चेतनत्वात्' अर्थात् चेतन होने से जीव तथा ब्रह्म एक ही हैं। परन्तु इस मान्यता का खण्डन साधर्म्य-वैधर्म्य से हो जाता है। यद्यपि जीव-ब्रह्म दोनों ही चेतन हैं, किन्तु इस साधर्म्य से दोनों एक नहीं हो सकते। इनके विशेष धर्म इनके भेदक होते हैं। जैसे—चार पैर मात्र होने से गाय-भैंस एक नहीं हो सकते। ब्रह्म के विशेष धर्म हैं—सर्वत्र व्यापक, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्त्तादि और जीव के विशेष धर्म हैं—परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, भोक्ता इत्यादि। इसी प्रकार पृथिवी आदि पंचमहाभूत विशेषधर्मों के कारण ही भिन्न-भिन्न कहलाते हैं। इस दर्शन की सूक्ष्म पदार्थों के स्वरूप को समझाने वाली पद्धति को न जानने से ही वेदान्तदर्शन के सूत्रों की व्याख्या में अत्यधिक भान्तियाँ उत्पन्न हुईं। ब्रह्म जगत् का उत्पादान कारण है अथवा निमित्त कारण? इस भ्रान्ति का निराकरण इस दर्शन के 'कारणगुण-पूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' अर्थात् कारण के गुण कार्य में होते हैं, इस नियम को समझने से भलीभाँति हो जाता है। इस दर्शन की कसौटी पर परीक्षा करने पर अद्वैतवादादि मिथ्यावाद स्वतः ही धराशायी हो जाते हैं। यह दर्शन वेदोक्त-धर्म की ही व्याख्या करता है। इस दर्शन में वेदों को ईश्वरोक्त होने से परम-प्रमाण माना गया है। इस दर्शन में वेदों पर प्राचीन 'प्रशस्त-पाद-भाष्य' उपलब्ध होता है।

[३] **सांख्य-दर्शन**—महर्षि-कपिल-रचित इस दर्शन में सत्कार्यवाद के आधार पर इस सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति को माना है। इस दर्शन का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि अभाव से भाव अथवा असत् से सत् की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। सत् कारण से ही सत्कार्यों की उत्पत्ति हो सकती है। और यह अचेतन प्रकृति परब्रह्म के निमित्त से पुरुष के लिये प्रवृत्त होती है। प्रकृति से सृष्टि-रचना का क्रम तथा संहार का क्रम इसमें विशेष रूप से बताया गया है। नवीन-वेदान्त की जगत् को मिथ्या मानने की मान्यता का इस दर्शन से समूल उन्मूलन हो जाता है। इस दर्शन में प्रकृति को परमसूक्ष्म कारण तथा उसके सहित २४ कार्य पदार्थों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। और पुरुष २५ वाँ तत्त्व माना गया है, जो प्रकृति का विकार नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति समस्त कार्य-पदार्थों का कारण तो है, परन्तु प्रकृति का कारण कोई नहीं है, क्योंकि उसकी

ाश्वत-सत्ता है। पुरुष चेतनतत्त्व है तो प्रकृति अचेतन पुरुष प्रकृति का भोक्ता है, प्रकृति स्वयं भोक्त्री नहीं है। पुरुष प्रति शरीर भिन्न-भिन्न होने से अनेक हैं। प्रकृति-पुरुष के सत्यस्वरूप को जानना ही विवेक कहलाता है और विवेक को प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है।

महर्षि-कपिल के विषय में नवीन दार्शनिकों की यह मिथ्याधारणा है कि वे नास्तिक हैं, क्योंकि वे ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु दर्शनों के पारदृश्वा महर्षि-दयानन्द ने इस भ्रान्ति को मिथ्या बताते हुए स्पष्ट लिखा है—"जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।" (सत्यार्थ० सप्तम०) कपिलाचार्य को नास्तिक बताने वाले प्रायः इस सूत्र को उद्धृत किया करते हैं– 'ईश्वरासिद्धेः' (सां० १। ९२) अर्थात् इस सूत्र में ईश्वर की सिद्धि का खण्डन किया है। परन्तु उनकी यह मान्यता प्रकरण-विरुद्ध होने से सत्य नहीं है। सूत्र में पञ्चमी विभक्ति हेतु में है, जिससे स्पष्ट है कि प्रतिपाद्य प्रतिज्ञा कुछ और है। (सां० १। ९०, ९१) सूत्रों में कहा है कि ईश्वर का योगियों को मानस-प्रत्यक्ष होता है। यदि ईश्वर का मानस-प्रत्यक्ष न माना जाये, तो क्या आपत्ति होगी? इसका उत्तर (सां० १। ९२) सूत्र में दिया है कि ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इसी प्रकार सांख्य के 'पुरुष' शब्द को समझने में भी भ्रान्ति हुई है। सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा को पुरुष कहते हैं और विभिन्न शरीरों में शयन करने के कारण जीवात्मा को भी पुरुष कहते हैं। निरुक्त (२। ३) में जीवात्मा से परमात्मा को भिन्न बताने के लिये 'अन्तर्पुरुष' शब्द का और योगदर्शन में 'पुरुष विशेष' शब्द का प्रयोग किया है। सांख्य में पुरुष शब्द से कहाँ परमेश्वर का तथा कहाँ जीवात्मा का ग्रहण होता है, इसका विवेचन विद्वान्-पुरुष ही कर सकते हैं। महर्षि-दयानन्द ने सांख्यकार के गूढ़-तत्त्वों का अनुशीलन करके लिखा है कि—ईश्वर को जगत् का उपादान कारण सांख्य में नहीं माना है, निमित्त कारण मानने का खण्डन कहीं नहीं किया है। क्योंकि उपादानकारण मानने पर दोष दिखाते हुए लिखा है—

प्रधानशक्तियोगाच्च संगापत्तिः ॥ (सां० ५। ८)
सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ (सां० ५। ९)

इनकी व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—"पुरुष को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में संगापत्ति हो जाये अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में संगत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाये। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है, किन्तु निमित्त कारण है। जो चेतन से

जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है, वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये, सो नहीं है। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण है।" (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

इन सांख्य-सूत्रों से स्पष्ट है कि कपिलाचार्य ने ईश्वर की सत्ता का निषेध कहीं भी नहीं किया है, परन्तु परब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानकर सृष्टि-उत्पत्ति मानने वालों के पक्ष में दोष दिखाये हैं। और सांख्य-सूत्रों में (३। ५५-५७) ईश्वर को सर्ववित्, जीवों के कर्मफलों का दाता, तथा प्रकृति का नियन्ता मानकर ईश्वर की सत्ता को स्पष्टरूप से माना है। और पञ्च-माध्याय के (५। ४५-५१) सूत्रों में तो ईश्वरोक्त वेद को भी अपौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण माना है। इसलिये यहाँ भी वेदों को ईश्वरोक्त मानने से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है। और वेदों को ईश्वरोक्त मानने पर बल देते हुए यह भी लिखा है कि वेद का कर्त्ता कोई भी मुक्तात्मा अथवा बद्धपुरुष नहीं हो सकता है।

[४] **योग-दर्शन**—महर्षि-पतञ्जलिरचित योगदर्शन में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का स्पष्टरूप से कथन किया गया है। सांख्य और योग के सिद्धान्तों में पर्याप्त समता है। इसमें ईश्वर का सत्यस्वरूप, मोक्षप्राप्ति के उपाय तथा वैदिक उपासना-पद्धति का विशेषरूप से वर्णन किया गया है। योग किसे कहते हैं? जीव के बन्धन के कारण क्या हैं? योग-साधक की विभिन्न स्थितियाँ तथा विभूतियाँ कौन-कौन सी हैं? मन की वृत्तियां कौन-सी हैं? मन का सम्बन्ध कब तक पुरुष के साथ रहता है? चित्तवृत्तियों के निरोध के क्या उपाय हैं? इत्यादि यौगिक विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है। वर्त्तमानकाल में आस्तिक-जगत् में उपासना-पद्धति के नाम पर जो पाखण्ड तथा परस्पर-विरोधी परम्परायें प्रचलित हो रही हैं, वे इस उपासना-योग की पद्धति के अनुकूल न होने से मिथ्या हैं। देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा, देवी-जागरण, कब्रों की पूजा, उच्चस्वर से ईश्वर का आह्वान करना, घण्टाघडियाल बजाकर ईश्वर की उपासना समझना, इत्यादि सभी मान्यतायें योगभ्रष्ट एवं योग से विमुख लोगों द्वारा चलाई गई हैं। परमेश्वर के मुख्य नाम 'ओम्' (प्रणव) का जाप न करके अन्य नामों से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना अपूर्ण ही है। योग-दर्शन के अनुसार परमेश्वर का ध्यान बाह्य न होकर आन्तरिक ही होता है। जब तक इन्द्रियाँ बाह्यमुखी होती हैं, तब तक परमेश्वर का ध्यान कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये ईश्वर की सच्ची भक्ति के लिये योग-दर्शन एक अनुपम शास्त्र है। योग-दर्शन पर महर्षि-व्यास का प्राचीन एवं प्रामाणिक-भाष्य उपलब्ध होता है।

[५] **मीमांसा-दर्शन**—महर्षि-जैमिनि द्वारा प्रणीत इस दर्शन में धर्म और धर्मी का वर्णन किया गया है। इस दर्शन में वैदिक-यज्ञों में मन्त्रों का विनियोग, यज्ञों की साङ्गोपाङ्ग प्रक्रियाओं का ऊहापोह किया गया है। यदि योग-दर्शन अन्तःकरण की शुद्धि के उपायों तथा अविद्या के नाश के उपायों का वर्णन करता है, तो मीमांसा मानव के पारिवारिक जीवन से राष्ट्रिय-जीवन तक के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यों का वर्णन करता है। जिससे समस्त राष्ट्र की सर्वविध-उन्नति सम्भव है। अश्वमेधादि यज्ञों का वर्णन इसी बात के परिचायक हैं। वैशेषिक-दर्शन के 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' तथा इसी दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य के 'तच्चेश्वरनोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव' में जो वेदों को ईश्वरोक्त होने से प्रामाणिक माना गया है और वेदोक्त बातों को ही धर्म माना है, उन्हीं बातों की पुष्टि मीमांसा में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा 'चोदनालक्षणो धर्मः' कहकर की है। यथार्थ में क्रियात्मक धर्म का उदात्तरूप यज्ञ है। और यज्ञों की मीमांसा इस दर्शन में की गयी है। यज्ञादि कर्म-काण्ड से वेद-मन्त्रों का अत्यधिक सम्बन्ध है। सम्पूर्ण कर्मकाण्ड मन्त्रों के विनियोग पर आश्रित है। मीमांसा शास्त्र में मन्त्रों के विनियोग का विधान किया गया है। अतः धर्म के लिये वेद को जैमिनि ने भी परम-प्रमाण माना है। और जैसे—निरुक्त में वेद-मन्त्रों की सार्थकता के विषय में कौत्स के पूर्वपक्ष को रखकर युक्तियुक्त उत्तर दिया गया है, वैसे ही मीमांसा (१।२।१) में वेदमन्त्रों को सार्थक कहकर विपक्ष के प्रश्नों का समाधान किया है।

और मीमांसा में वैदिकयज्ञों पर साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह भी किया गया है। इसमें प्रधान भाग तीन माने हैं—दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम=सोमयाग, और अश्वमेध। ये तीनों प्रकृति याग होने से प्रधान हैं और उनके जो विकृत याग अग्निष्टोम आदि हैं, वे अप्रधान माने गये हैं। यज्ञों में मन्त्रों के विनियोग पर जैमिनिमुनि ने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, और समाख्या, ये मौलिक आधार माने हैं, जिन की व्याख्या इस दर्शन में ही देखी जा सकती है। ऋत्विजों के कर्मों पर विचार, संवत्सर-यज्ञादि का वैज्ञानिक वर्णन, मन्त्र का लक्षण, वेद का लक्षण, वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का भेद, वेदों का स्वतःप्रामाण्य, मन्त्रों के स्वरसहितपाठ और यज्ञ में एकश्रुति पाठ पर विशेष विचार, देवताविचार, वर्णों को यज्ञाधिकार, स्त्रियों को यज्ञ का अधिकार, निषाद को भी यज्ञ करने का अधिकार, इत्यादि विषयों पर इस दर्शन में बहुत गूढ एवं स्पष्ट विचार किया गया है।

[६] **वेदान्त-दर्शन**—महर्षि-व्यास द्वारा प्रणीत इस दर्शन को 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'उत्तरमीमांसा' भी कहते हैं। इस दर्शन पर शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्यादि विभिन्न आचार्यों ने अपने मत की मान्यता के अनुसार व्याख्यायें

करके इस दर्शनके यथाथ स्वरूप को ही छिपा दिया है। और अधिकतर इन आचार्यों की अपनी मान्यताओं को ही 'वेदान्त' नाम से माना जाने लगा है। परन्तु यथार्थ में मूलदर्शन के विरुद्ध व्याख्याकारों की मान्यतायें कैसे माननीय हो सकती हैं? विचार करने की बात तो यह है कि यदि अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैत-वाद, शुद्धाद्वैतादि वेदान्त-दर्शन के मौलिक सिद्धान्त हैं, तो इन वादों का प्रवर्त्तक इन आचार्यों को क्यों माना गया है। फिर तो वेदान्त-दर्शनकार को ही इन वादों का प्रवर्त्तक मानना उचित है। परन्तु ये वाद वेदान्त के नही हैं। ये इन आचार्यों ने स्वयं कल्पना करके बनाये हैं और ये एक-दूसरे के प्रबल विरोधी हैं।

'वेदान्त' का अर्थ है—वेदों के अन्तिम सिद्धान्त। व्यासमुनि के शिष्य जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे वास्तव में व्यासमुनि को भी अभीष्ट हैं। जैमिनि ने 'चोदना लक्षणो धर्मः' कहकर धर्म को वेदोक्त माना है। और धर्म का उद्देश्य है—मोक्ष अथवा ईश्वर की प्राप्ति। वेदान्त-दर्शन उस ईश्वर (ब्रह्म) का ही विशेष प्रतिपादन करता है। धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता संहर्त्ता होने से जगत् का निमित्त कारण है, उपादान अथवा अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं। ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दमय, नित्य, अनादि, अनन्तादि गुणविशिष्ट शाश्वत-सत्ता है। वह जन्म-मरणादि क्लेशों से रहित है, वह निराकार तथा नित्य है। प्रकृति को कार्य-रूप करके जगत् की रचना करता है, परन्तु स्वयं अखण्ड, निर्विकार-सत्ता है। ऋग्वेदादि चारों वेदों का उपदेष्टा वही है जगत् की समस्त रचना तथा वेदोक्त बातों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है, अतः समन्वय होने से वेद-ज्ञान को देनेवाला तथा जगत् का कर्त्ता एक ही ब्रह्म है। वह ही सर्वनियन्ता होकर जीवों को कर्मानुसार फलों की व्यवस्था करता है।

जीव-ब्रह्म की एकता तथा जगन्मिथ्या का सिद्धान्त मूल-वेदान्त के विरुद्ध होने से मिथ्या है। इस दर्शन के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से ही स्पष्ट होता है कि जिसे जानने की इच्छा है, वह ज्ञेय=ब्रह्म से भिन्न है। अन्यथा स्वयं को ही जानने की इच्छा कैसे हो सकती है। और यह सर्वविदित है कि जीवात्मा अल्पज्ञ, एकदेशी तथा अल्पसामर्थ्य वाला है तथा वह दुःखों से छूटना चाहता है। परन्तु ब्रह्म के गुण इससे भिन्न हैं। वेदान्त में मोक्ष में भी जीवात्मा की सत्ता पृथक् से स्वीकार की है। और जो वस्तु सत् है, उसका कारण में लय तो संभव है, अभाव नहीं, इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यजगत् को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। और नवीन वेदान्तियों का यह कथन भी मिथ्या है कि

वेदान्त में कर्मों के त्याग तथा केवल ज्ञान का उपदेश है। इस दर्शन में कर्म करने का स्पष्ट उपदेश मिलता है। इस विषय में वेदा० (३।१।९–११) सूत्रों में सुकृत-दुष्कृत कर्मों का, वेदा० ३।३।३ में स्वाध्याय करने का, वेदा० ३।४।६०–६१ सूत्रों में काम्यकर्मों को करने का कथन और वेदा० ३।४।१९ में अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म की उपासना के लिये यमादि योगांगों के अनुष्ठान करने का वर्णन किया गया है। अतः नवीन-वेदान्त की मान्यतायें मूल वेदान्त से सर्वथा विरुद्ध होने से मिथ्या ही हैं।

(५) क्या दर्शनो में परस्पर विरोध है ?

उपर्युक्त छः दर्शन ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं। और वैदिक-वाङ्मय में इनका विशिष्ट स्थान है। समस्त दर्शनों का मुख्य उद्देश्य सृष्टि के मूल तत्त्वों, एवं चेतन-तत्त्वों (जीवात्मा-परमात्मा) का यथार्थ ज्ञान कराकर दुःखों से निवृत्ति कराना है। 'ऋषि' शब्द का अर्थ है—जो किसी पदार्थ का साक्षात्कार कर लेता है, वह उस विषय का ऋषि कहलाता है। जैसे—इस शरीर में नेत्रादि इन्द्रियाँ भी ऋषि हैं। जिस वस्तु को हम नेत्र से देख लेते हैं, उसके विषय में सन्देह नहीं रहता। अथवा जिसके विषय में कानों से सुना है, उस पर भी पूर्ण विश्वास करते हैं। इसी प्रकार ऋषियों की बातें भी प्रामाणिक होती हैं। और जिस विषय का साक्षात्कार करके शास्त्रों में उल्लेख किया गया है, उस विषय में भ्रान्ति होना कदापि सम्भव नहीं है, और नहीं दो ऋषियों की बातों में भी परस्पर विरोध की सम्भावना हो सकती है।

परन्तु दुर्भाग्यवश मध्यकालीन मत-मतान्तरों के प्रवर्त्तक कतिपय दर्शनों के व्याख्याताओं ने अपने-अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की पुष्टि में दर्शनशास्त्रों को भी दार्शनिक-संघर्ष-मञ्च का अखाडा बना दिया है। जिन दर्शनों को पढ़-कर मानव की ज्ञानपिपासा की तृप्ति, अज्ञान की निवृत्ति तथा दुःखों से मुक्ति होती थी वे ही परस्पर-विरोधों की दलदल में भ्रान्तियों के स्रोत माने जाने लगे और दर्शनों की मौलिक बातों को ही ओझल करके दर्शनकार ऋषियों को ही परस्पर-विरोधी कहना प्रारम्भ कर दिया। परस्पर-विरोध, मिथ्या कल्पित भ्रान्तिरूप मेघों से दर्शनरूप सूर्य को पूर्णतः ढक दिया गया है। और जैसे सूर्य के अभाव में हजारों दीपक भी घोर अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते, वैसे ही सत्यज्ञान के प्रकाश के विना मत-मतान्तरों के क्षुद्र-दीपक अविद्या, मिथ्याज्ञान को दूर नहीं कर सकते।

महाभारत के पश्चात् पांच हजार वर्षों के बाद इस देश में एक ऋषि ने

जन्म लेकर तथा योग-साधना के द्वारा कुशाग्रबुद्धि होकर समस्त वाङ्मय को भलीभांति परखा और शास्त्रों के वचनों पर पूर्वापर विचार करके सत्यस्वरूप को समझा और दर्शनसूर्य के आवरक मेघसमूह को छिन्न-भिन्न करते हुए स्पष्ट रूप से यह घोषणा की —दर्शनों में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है, अपने अपने विषय का वर्णन प्रत्येक शास्त्रकार ने अपने ढंग से किया है। महर्षि लिखते हैं—

"छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है—**मीमाँसा** में ऐसा कोई कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाये। **वैशेषिक में**—समय न लगे विना बने ही नहीं। **न्याय** में उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता। **योग** में विद्या, ज्ञानविचार न किया जाये तो नहीं बन सकता। **सांख्य** में तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता और **वेदान्त** में बनाने वाला न बनाये तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके। इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है, उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं है।

जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें, वैसे ही सृष्टि-रूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है। जैसे पांच अन्धे और एक मन्दहष्टि को किसी ने हाथी का एक एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है ? उनमें से एक ने कहा खम्भे, दूसरे ने कहा सूप, तीसरे ने कहा—मूसल, चौथे ने कहा—झाड़ू, पांचवे ने कहा—चौंतरा, और छठे ने कहा काला काला चार खम्भों के ऊपर कुछ भैंसा सा आकार वाला है। इसी प्रकार आजकल के अनार्ष नवीन ग्रन्थों के पढ़ने··············ऋषिप्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर···········एक दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है"।

(सत्यार्थ० अष्टम समु०)

(ख) "(प्रश्न) जैसा सत्यासत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है, वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टि-विषय में छः शास्त्रों का विरोध है—मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल, न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति, और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है, क्या यह विरोध नहीं है ?

(उत्तर) प्रथम तो विना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी और इनमें विरोध भी नहीं। क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में अथवा भिन्न भिन्न विषयों में ?

(प्रश्न) एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो उसको विरोध कहते हैं। यहाँ भी सृष्टि एक ही विषय है।

(उत्तर) क्या विद्या एक है वा दो ? एक है। जो एक है तो व्याकरण वैद्यक, ज्योतिष, आदि भिन्न भिन्न विषय क्यों हैं ? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टि-विद्या के भिन्न भिन्न छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं है। जैसे—घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्हार कारण हैं, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है, उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है, उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं"।
(सत्यार्थ० तृतीय समु०)

इन दोनों सन्दर्भों से महर्षि-दयानन्द की मान्यता बिल्कुल स्पष्ट हो रही है कि वे छः शास्त्रों में परस्पर-विरोध नहीं मानते। महर्षि की इस अलौकिक सूझ का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। दर्शनों के निष्पक्ष अध्येता विद्वान्-पुरुष महर्षि की इस मान्यता की हृदय से प्रशंसा करते हैं। और अब तो इन शास्त्रों के अनुशीलन से भी स्पष्ट है कि इनकी मौलिक मान्यताओं में कहीं भी विरोध नहीं है प्रत्युत पर्याप्त एकरूपता मिलती है। जैसे—दर्शनों की कुछ मान्यतायें निम्नलिखित हैं—

(१) त्रिविध दुःखों की निवृत्ति से मोक्ष-प्राप्ति होती है।

(२) सृष्टि की रचना में तीन अनादि कारण हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति।

(३) सत् पदार्थ का अभाव और असत् पदार्थ का भाव कभी नहीं हो सकता।

(४) वेद ईश्वरोक्त होने से स्वतःप्रमाण ग्रन्थ है।

(५) जीवात्मा शरीरादि से भिन्न अपरिणामी चेतनतत्त्व है।

(६) परमात्मा जीवात्मा से भिन्न सर्वज्ञ, व्यापक व सर्वशक्तिमान् सत्ता है।

(७) जीवात्मा अपने कर्मानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से कर्मफलों को भोगता है।

(८) यह दृश्यजगत् प्रकृति का विकार है ।

(९) जीवात्मा के बन्धन का कारण अज्ञान है ।

(१०) जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है ।

(११) जीवात्मा अविनश्वर, चेतन, शाश्वत-सत्ता है ।

(१२) परमात्मा निराकार होने से कभी शरीरधारण नहीं करता है, इत्यादि ।

इसी प्रकार मुक्ति के विषय में छः शास्त्रों की एकरूपता बताते हुए महर्षि-दयानन्द ने पूना में दिये उपदेश में कहा था—

"षड् दर्शनों के प्रणेताओं की मुक्ति के विषय में क्या सम्मति है ? इसका तत्त्व मालूम हो जायेगा । पहले जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा में कहा है—कि धर्म अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है और वहाँ 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि शतपथ··· ···············फिर कणादमुनि ने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है । न्याय-दर्शन के रचयिता गोतम ने अत्यन्त दुःख निवृत्ति को मुक्ति माना है । मिथ्याज्ञान के दूर होने से··················यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है, वही मुक्ति की अवस्था है । योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मानते हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध करने से शान्ति और ज्ञान प्राप्त होते हैं और इससे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है । साँख्य-शास्त्र के प्रणेता महामुनि कपिल कहते हैं कि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति होना ही परम पुरुषार्थ (मुक्ति) है । अब देखिये कि उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन के रचयिता बादरायण (व्यास)··················मत से मुक्ति की दशा में अभाव और भाव दोनों रहते हैं । मुक्त-जीवात्मा का परमेश्वर के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है" ।

(उपदेश० १४ वाँ उपदेश)

इससे स्पष्ट है कि मुक्ति-विषय में सब शास्त्रों का कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है । शास्त्रों में परस्पर-विरोध की बात कहना अथवा मानना शास्त्रों से अनभिज्ञता प्रकट करना है ।

योगदर्शन का प्रतिपाद्य विषय

जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र के चार मुख्य अंग होते हैं—रोग, रोग का कारण, आरोग्य और आरोग्य का साधन औषध (दवा) उसी प्रकार योग-दर्शन के भी चार भाग हैं—

(१) हेय=दुःख का वास्तविकस्वरूप क्या है ? जो हेय=त्याज्य है ।

(२) हेयहेतु=त्याज्यदुःख का वास्तविक कारण क्या है ?

(३) हान=दुःख का अत्यन्त अभाव क्या है ?

(४) हानोपाय=हान=दुःखनिवृत्ति का उपाय क्या है ?

इन चारों प्रश्नों का उत्तर योगदर्शन में इस प्रकार दिया है—

(१) यो० २।१६ सूत्र में कहा है—जो भावी दुःख है, वह ही त्याज्य है। जो दुःख भोगा जा चुका अथवा वर्त्तमान में भोगा जा रहा है, उसकी निवृत्ति के विषय में सोचना निरर्थक है।

(२) यो० २।१७ सूत्र में दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया है--द्रष्टा=जीवात्मा तथा दृश्य=प्रकृति का संयोग ही दुःख का कारण है। और वह संयोग अविद्यावश होता है।

(३) यो० २।२५ सूत्र के अनुसार अविद्या के अभाव होने से प्रकृति-पुरुष के संयोग का न होना ही हान (मोक्ष) है। उस समय पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठ, शुद्ध व केवली हो जाता है।

(४) और यो० २।२६ सूत्र के अनुसार अविप्लवा विवेकख्याति ही हान=मोक्ष का उपाय है। मिथ्याज्ञान के दग्धबीजवत् होने और परवैराग्य से पवित्र होने से निर्दोष विवेकख्याति ही मोक्ष का उपाय है।

इस सम्पूर्ण शास्त्र में इन चार अंगों का ही प्रतिपादन किया गया है।

योगदर्शन के प्रतिपाद्यविषयों से त्रैतवाद की सिद्धि

(१) **चेतन-तत्त्व**--जिसे 'पुरुष' शब्द से भी कहा गया है। सुख-दुःख किसे होता है ? इसका उत्तर इस दर्शन में स्पष्ट दिया है कि प्रकृति से भिन्न द्रष्टा को ही दुःखानुभूति होती है। और द्रष्टा पुरुष का दुःख स्वाभाविक धर्म नहीं है। अन्यथा दुःख से मुक्ति सम्भव ही न हो। प्रकृति परिणाम वाली है और पुरुष परिणामरहित है। यह शाश्वत चेतनसत्ता परब्रह्म से भिन्न है तथा मोक्ष में भी उसकी पृथक्ता बनी रहती है।

(२) **प्रकृति**—यह चेतन-तत्त्व से भिन्न अचेतनतत्त्व है। यह परिणाम-धर्मा है। इसके संयोग से पुरुष में जो आसक्ति उत्पन्न होती है, वही दुःख का कारण है। यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इसी के पञ्चस्थूलभूत तथा इन्द्रियाँ कार्यपदार्थ हैं। और इसकी प्रवृत्ति पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिये ही

होती है। मूल-प्रकृति के प्रकृति-विकृत रूप से चार विभाग किये हैं—विशेष= सूक्ष्म-स्थूलभूत तथा ११ इन्द्रियाँ। अविशेष=विशेष का कारण शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा तथा अस्मिता=अहंकार। लिङ्ग=अविशेषों का उपादान कारण महत्तत्त्व, यह प्रकृति का प्रथमविकार है। अलिङ्ग=महत्तत्त्व का उपादान कारण है। इसका कारण कोई नहीं है। यह शाश्वतसत्ता है। यह समस्त संसार प्रकृति का ही कार्य है।

(३) **पुरुष-विशेष** (ईश्वर)=यह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सब तरह के बन्धनों से मुक्त, क्लेश, कर्म, विपाकाशय से सर्वथा रहित, आनन्दस्वरूप, भोगादि रहित चेतनसत्ता है। इसी को योगदर्शन में वेद-ज्ञान का दाता परम-गुरु माना है। इसका ऐश्वर्य सर्वातिशायी है। सब कार्यों का इसी परमगुरु के अर्पण करना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। इसी परमतत्त्व के ध्यान से मन वश में होता है। मोक्ष में इसी के स्वरूप में जीवों की स्थिति होती है। यही सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता तथा संहर्त्ता है। इसी का मुख्य नाम प्रणव=ओम् है। उपासक को इसी का जप करना चाहिये। स्वाध्याय तथा योगसाधना से इसी परमात्मा का प्रकाश होता है। यह एक अद्वितीय, शाश्वत, चेतनसत्ता है, जो समस्त जीवों के कर्मानुसार फलों की भी व्यवस्था करता है।

योगदर्शनकार का काल

योग-दर्शन के सूत्रकार महर्षि-पतञ्जलि किस काल में हुए, यह निणय करना अतीव कठिन कार्य है। समस्त वैदिक वाङ्मय के अधिकांश इतिहास के नष्ट होने से इतिहासनिर्णय विषयक प्रमाणों का अभाव ही मिलता है और महर्षियों की ऐसी परम्परा रही है कि वे अपने काल तथा जीवन के विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखते थे। इस कारण से भी काल-निर्णय में अत्यधिक-बाधा होती है। पुनरपि यथोपलब्ध अनुसंधानों के अनुसार यहां कुछ लिखा जा रहा है—

किन्हीं विद्वानों का ऐसा मत है कि व्याकरणमहाभाष्य, वैद्यक की चरक-संहिता और योगदर्शन के प्रणेता एक ही पतञ्जलि-ऋषि हैं। ऐसे लोग परम्परा के आश्रय से निम्न श्लोक का उद्धरण दिया करते हैं—

> योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
> योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

अर्थात् जिसने योगशास्त्र से चित्त के, वैद्यक के द्वारा शरीर के और व्याकरणमहाभाष्य के द्वारा वाणी के मलों को दूर किया है, ऐसे मुनिवर

पतञ्जलि को मैं नमस्कार करता हूँ। इस पक्ष के समर्थक यह भी कहते हैं कि व्याकरणमहाभाष्य में 'अथ शब्दानुशासनम्' तथा योगदर्शन के 'अथ योगानुशासनम्' सूत्रों की एकरूपता को देखकर भी दोनों के प्रारम्भ करने वाले एक ही ऋषि प्रतीत होते हैं।

परन्तु यह नामसाम्य से ही भ्रान्ति प्रतीत होती है। क्योंकि योगदर्शन की अपेक्षा महाभाष्य तथा चरक-संहिता बहुत ही परवर्त्ती है। इसमें कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं—

(१) महाभाष्य अष्टाध्यायी के सूत्रों पर लिखा गया ग्रन्थ है। और अष्टाध्यायी में 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (अ० ४। ३। ११०) महर्षि-पराशर के पुत्र वेद-व्यास के प्रोक्त वेदान्त-सूत्रों के पढ़ने का निर्देश कैसे सम्भव है? जबकि महर्षि-व्यास का समय पाणिनि से पूर्व था और योगसूत्रकार उससे भी पूर्ववर्त्ती हैं।

(२) योगसूत्रों पर महर्षि-बादरायण-व्यास का भाष्य मिलता है। और बादरायण-व्यास ने महाभारत की रचना की है, इसलिये योगसूत्रों के रचयिता महाभारत से पूर्ववर्त्ती हैं।

(३) व्याकरण-महाभाष्यकार महर्षि-पतञ्जलि का काल राजा पुष्यमित्र का काल सिद्ध होता है। क्योंकि महाभाष्य में—'पुष्यमित्रो यजते, इह पुष्यमित्रं याजयामः' (अ० ३। १। २६ तथा अ० ३। २। १२३) उदाहरण मिलते हैं। जिनसे उनकी समकालीनता सिद्ध होती है। शुँगवंशीय पुष्यमित्र मौर्यवंश से परवर्त्ती हैं। जिसका काल विक्रम-संवत् से लगभग १२०० वर्ष पहले है।

(४) और चरकसंहिता का मूल नाम आत्रेयसंहिता है। और आत्रेय तक्षशिला में रहते थे। आत्रेय ने अग्निवेश को चरक का उपदेश किया था। पतञ्जलि का उल्लेख चरकसंहिता में कहीं नहीं है। इसलिये चरक की रचना भी परवर्त्ती सिद्ध होती है।

(५) महर्षि-वेदव्यास ने वेदान्तसूत्रों तथा महाभारत की रचना की है। और योगसूत्रों पर भाष्य भी किया है। इससे स्पष्ट है कि योगदर्शन की रचना व्यास से पूर्ववर्त्ती है। और व्याकरण-महाभाष्य तथा चरकसंहिता की रचना बहुत समय के बाद (लगभग दो हजार वर्ष पश्चात्) हुई है। अतः परवर्त्ती ग्रन्थों की रचना परवर्त्ती किसी पतञ्जलि की है, जो योगदर्शनकार से भिन्न है।

(६) यदि यह कहा जाये कि योग-भाष्यकार महर्षि-व्यास को ही

महाभारतकार से भिन्न दूसरा ऋषि क्यों नहीं मानलिया जाये ? इस पक्षवाले अपने मत की पुष्टि में यह हेतु भी देते हैं। क्योंकि यो० ३ । १४–१५ तथा ४ । १४–२१ सूत्रों के व्यासभाष्य में विज्ञानवादी बौद्धमत का खण्डन किया गया है, अतः बौद्धमत से परवर्त्ती ही व्यास सिद्ध होते हैं। परन्तु यह युक्ति ठीक प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि व्यासभाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में विज्ञान-वाद को रखकर उसका खण्डन किया है। वहाँ कहीं भी बौद्धों का नाम निर्देश नहीं मिलता बौद्धों की मान्यता की समानता को लेकर काल-निर्धारण करना न्याय-संगत नहीं हो सकता। क्योंकि पक्ष-विपक्ष तो सदा ही रहते रहे हैं।

(७) श्री जे० एच० वूड्स ने महर्षि-व्यास का समय छठी शताब्दी से पहले नहीं माना है उसका कारण उसने यह दिया है कि व्यास-भाष्य (यो० ३।१३) में शून्य[1] का उपयोग किया है। और शून्य-पद्धति का प्रयोग वराहमिहिर ने छठी शताब्दी में किया है। परन्तु यह मान्यता निराधार होने से मिथ्या है। क्योंकि समस्त गणितज्ञों का यह सर्वमान्य मत है कि संख्याओं का स्थानीयमान तथा शून्य का उपयोग भारतवर्ष में ही प्रथम आविष्कृत हुआ है। और प्राप्त प्रमाणों के आधार पर भी छठी शताब्दी से पूर्व शून्य का उपयोग मिलता है।

(८) वेदान्तदर्शन व्यास-प्रणीत है। उसमें बादरि का उल्लेख है, जो व्यास के पिता थे। और साथ ही जैमिनि का नाम भी आता है, जो व्यास के शिष्य थे। वेदान्तदर्शन में (१ । ३ । २९) वेदों की नित्यता को स्वीकार किया है और योगदर्शन के भाष्य में भी (१ । २७) वेदों की नित्यता मानी है। अतः स्पष्ट है कि वेदान्तसूत्रों के प्रणेता तथा योगभाष्यकर्त्ता वेदव्यास एक ही हैं। और वेदान्तसूत्रों में भी सांख्य तथा योग का उल्लेख मिलता है। अतः योग-सूत्रकार वेदान्तदर्शन से पूर्ववर्त्ती हैं।

(९) 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस वेदान्तदर्शन के सूत्र से अनेक विद्वान् यह कल्पना भी करते हैं व्यास ने योग का खण्डन किया है। किन्तु यह मत सर्वदा अयुक्त है। क्योंकि व्यास ने केवल यह दिखलाया है कि प्रकृति जगत् का निमित्त-कारण नहीं हो सकती। इस प्रकार यदि कोई खण्डन करने का ही आग्रह करे तब भी यह तो स्पष्ट है कि योगसूत्रकार का समय वेदान्त से पूर्ववर्त्ती है। योगदर्शन, सांख्यदर्शन के बाद का प्राचीन दर्शन है। वेदान्त के कर्त्ता वेदव्यास तथा योग के भाष्यकार वेदव्यास दोनों एक ही हैं, जो महाभारत काल के हैं और योगसूत्रकार उनसे पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं। और योगसूत्रों के प्रणेता महर्षि-पतञ्जलि का ही दूसरा नाम हिरण्यगर्भ भी आता है। जैसे—'हिरण्यगर्भो

---

१. यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं च ॥ (व्यासभा० ३ । १३)

योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥'(महाभारत शा० २४६ । ६५) में 'हिरण्यगर्भ' का प्रयोग मिलता है। और योगसूत्रकार पतञ्जलि व्याकरण-महाभाष्यकार तथा चरकसंहिता के प्रणेता पतञ्जलि से सर्वथा भिन्न तथा इनसे बहुत पूर्ववर्त्ती हैं।

(६) **व्यास-भाष्य के चिन्त्य-स्थल**—

योग-दर्शन पर महर्षि-व्यास का प्राचीन प्रामाणिक भाष्य है, जिसे सभी मानते हैं। परन्तु इस भाष्य में भी कुछ स्थल ऐसे हैं, जो विद्वानों और योगियों से अनुसन्धान के योग्य हैं। ऋषियों द्वारा लिखित बातों को सहसैव अप्रामाणिक कहने का भी साहस हम नहीं कर सकते, क्योंकि ऋषियों का स्तर हम अल्प-बुद्धियों से बहुत उन्नत होता है। परन्तु जब ऋषियों के लेखों में भी परस्पर-विरोध, सृष्टि-क्रम से विरोध अथवा ईश्वरोक्त वेद-ज्ञान से विरोध उपस्थित हो जाता है, उस समय अवश्य विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। और दूसरा कारण यह भी है कि महाभारत के पश्चात् का समय अन्धकारपूर्ण समय है। इस समय में विभिन्न मत-मतान्तर वालों ने अपनी कल्पित-मिथ्या मान्यताओं को वेदादि-शास्त्रों से प्रमाणित होते न देखकर ऋषियों के नाम से न केवल ग्रन्थों की ही रचना की है, प्रत्युत ऋषियों के ग्रन्थों में भी उन्होंने प्रक्षेप करने का दुस्साहस यथास्थान किया है। प्राचीन वाङ्मय में समय-समय पर प्रक्षेप हुए हैं, इस बात को प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसलिये व्यास-भाष्य के कुछ स्थल, जो हमें सत्य प्रतीत नहीं होते, उसका निर्देश यहाँ कर रहे हैं और साधक योगियों से विशेषतः प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसे स्थलों पर गम्भीर चिन्तन करके सत्य-ज्ञान के प्रकाश करने में अवश्य सहायक बनें। यदि हमें इस प्रकार का सहयोग सहृदय साधक व विद्वज्जन सुझायेंगे, तो अग्रिम संस्करणों में उनका संशोधन अवश्य कर दिया जायेगा। कुछ प्रमुख विचारणीय स्थल निम्नलिखित हैं—

(१) यो० ३ । २६ सूत्र के व्यासभाष्य में जो सात लोकों का विस्तृत-वर्णन किया गया है, वह व्यासभाष्य में मिश्रण प्रतीत होने से सन्दिग्ध है। इनमें भी नीचे के १४ लोकों में सात प्रकार के नरक, और सात पाताल लोकों का कथन मिथ्या ही है। क्योंकि इनमें नरक लोकों में जीवों का दुष्कर्मों का फल भोगने के लिये जाना मिथ्या ही है। और सात पातालों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, किंपुरुष, भूत, प्रेतादि का निवास बताना भी सृष्टि-क्रम के विरुद्ध काल्पनिक ही है। इसी प्रकार महेन्द्रलोक में पितरों का वास मानना और भूमि से ऊपर के लोकों में बसे देवों की आयु एक कल्प के समान बतानादि बातें सत्य नहीं हैं।

(२) यो० ३।३८ सूत्र के भाष्य में योगी का अपने शरीर से चित्त निकालकर दूसरे शरीरों में प्रवेश कराना तथा इन्द्रियों का चित्त का अनुसरण करना भी सत्य प्रतीत नहीं होता।

(३) यो० ३।५१ सूत्र के भाष्य में 'कल्पवृक्ष' पुण्या मन्दाकिनी, तथा अप्सराओं की बातें भी पौराणिकयुग की देन हैं।

(४) यो० ४।१ सूत्रभाष्य में मन्त्रों से आकाशगमन, अणिमादि सिद्धियाँ चिन्त्य हैं।

(५) यो० ४।४ सूत्रभाष्य में योगी द्वारा एक समय में अनेक शरीरों का निर्माण करने की बात अयुक्तियुक्त होने से चिन्त्य है।

(६) यो० ४।१० सूत्रभाष्य में दण्डकारण्य का शून्य करने तथा अगस्त्य-मुनि की भांति समुद्र का पीना पौराणिक गप्प ही लगता है। इत्यादि स्थलों पर और अधिक यौगिक क्रियात्मक अनुसन्धान की अपेक्षा है।

(१०) इस भाष्य की विशेषतायें—

(१) महर्षि-दयानन्द ने समस्त वैदिक-माङ्मय के अवगाहन के पश्चात् जो निर्भ्रान्त निर्णय किया था, उसमें वैदिक उपासना-पद्धति के सत्य-स्वरूप पर उन्होंने विशेष विचार किया था। क्योंकि आस्तिक जगत् में ईश्वरोपासना के विषय में जितनी विभिन्नतायें तथा मतभेद दिखाई देते हैं, उतना अन्य विषयों में नहीं हैं। महर्षि ने उपासना के विषय में निम्नलिखित निर्णय किया था—'उपासनाकाण्ड-विषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्त शास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना'। (ऋ० भू० प्रतिज्ञाविषय) इसलिये योगदर्शन उपासना-विषयक प्रमुख शास्त्र है। और इसको परमेश्वर के सच्चे उपासक ही समझ सकते हैं। वर्त्तमान समय में योग के विषय में अत्यधिक भ्रान्तियाँ फैलायी जा रही हैं। अपने आप को स्वयम्भू महायोगी बताकर योग के नाम से जो ठग-विद्या चल रही है, उस का निराकरण इस योग-भाष्य से अवश्य हो सकेगा। क्योंकि महर्षि-दयानन्द इस युग के महान् योगी हुए हैं और उन्होंने अपने ग्रन्थों में इस दर्शन के पर्याप्त सूत्रार्थों को स्पष्ट किया है। इस भाष्य में महर्षि-दयानन्द की उन व्याख्याओं को यथास्थान रक्खा गया है।

(२) पातञ्जल-योग सूत्रों पर प्राचीन तथा प्रामाणिक महर्षि-व्यास का संस्कृत-भाष्य उपलब्ध होता है। ऋषियों के रहस्य को ऋषि ही अधिक समझ-कर यथार्थ व्याख्या कर सकते हैं, इसलिये व्यास-भाष्य की योगसूत्रों के समझाने में अधिक उपादेयता है। प्रायः व्याख्याकार व्यास-भाष्य के संस्कृत में होने से छोड़ देते हैं, जिससे पाठक मूलभाष्य से वञ्चित ही रहते हैं। इस भाष्य में

व्यास-भाष्य को अक्षुण्ण तथा शुद्धरूप से प्रकाशित कर उसकी आर्य-भाषा में जनसाधारण के लाभार्थ व्याख्या की गई है।

(३) महर्षि-व्यास ने सूत्रगत किस पद की क्या व्याख्या की है, यह व्यास-भाष्य के पाठक को स्पष्ट हो सके, एतदर्थ व्यास-भाष्य में [ ] ऐसा कोष्ठक बनाकर सूत्र के पदों का निर्देश भी किया गया है।

(४) इस भाष्य में अनेक जटिल समस्याओं को योगदर्शन तथा व्यास-भाष्य की अन्त:साक्षियों से समझाया गया है। जैसे—कतिपय इस प्रकार हैं—

(क) यो० १।२ के भाष्य में जीवात्मा को 'अनन्ता' तथा यो० १।६ के भाष्य में 'निष्क्रिय' कहा है, जो पाठक को भ्रान्ति में डाल देते हैं, इसकी सुसंगत व्याख्या इसमें पढ़िये।

(ख) यो० १।१६ सूत्र में विदेहयोगी तथा प्रकृतिलययोगियों का कथन है, इनका यथार्थ तात्पर्य क्या है? भवप्रत्यय तथा उपायप्रत्यय-योगियों में क्या अन्तर है? इसकी व्याख्या यो० १। २६ में पढ़िये।

(ग) ईश्वर साकार है अथवा निराकार? ईश्वर अवतार लेता है अथवा नहीं। इत्यादि आस्तिक जगत् की जटिल-समस्याओं का समाधान यो० १। २४–२६ सूत्रों में पढ़िये।

(घ) ईश्वर का मुख्य नाम क्या है? उपासक को उपासना के समय किस नाम का जप करना चाहिये? इसका उत्तर यो० १। २७–२८ सूत्रों पर पढ़िये।

(ङ) यो० १।३६ में 'यथाभिमतध्यान' का क्या अभिप्राय है।

(च) परब्रह्म की प्रकृति से भी सूक्ष्मता तथा भिन्नता १। ४५ सूत्र पर पढ़िये।

(छ) यो० १।४६ सूत्र में वेदज्ञान को सामान्य-ज्ञान क्यों कहा है?

(ज) वेदान्तियों की अविद्या तथा योग की अविद्या में अन्तर पढ़िये—यो० २। ५ तथा २। २३ सूत्र पर।

(झ) क्या मनुष्य की आयु पूर्वकर्मों से ही निश्चित हो जाती है—२। १३ सूत्र पर पढ़िये।

(ञ) प्रकृति का कार्य-कारण भावरूप से यथार्थ स्वरूप २। २६ सूत्र पर पढ़िये।

(ट) जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप २। २० सूत्र पर पढ़िये।

(ठ) मोक्ष सकारण होने से अनित्य है। २। २३ सूत्र पर पढ़िये?

(ड) क्या मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती? २। २५ सूत्र पर पढ़िये।

(ढ) अणिमादि सिद्धियाँ शारीरिक हैं अथवा मानसिक ? २ । ४३ तथा ३ । ४५ सूत्र पर पढ़िये ।

(ण) देव, ऋषि तथा सिद्ध पुरुषों के दर्शन का क्या आशय है । २ । ४४ तथा ३ । ३२ सूत्र पर पढ़िये ।

(त) 'अनन्त' का अर्थ शेषनाग कदापि नहीं है, २ । ४७ सूत्र पर पढ़िये ।

(थ) प्राणायाम का यथार्थ स्वरूप २ । ४९–५१ सूत्रों पर पढ़िये ।

(द) क्या 'बाह्ये वाविषये' (व्यासभा० ३।१) के अनुसार धारणा शरीर से बाहर करनी चाहिये, ३ । १ सूत्र पर पढ़िये ।

(ध) ध्यान का यथार्थ स्वरूप ३ । २ सूत्र पर पढ़िये ।

(न) क्या योगी दूसरों के पूर्वजन्मों को जान सकता है ? ३ । १८ सूत्र पर पढ़िये ।

(प) क्या मरणासन्न व्यक्ति यमराज के दूतों को देखता है ? ३ । २३ सूत्र पर पढ़िये ।

(फ) शरीर में जीवात्मा का निवास स्थान हृदय कहाँ पर है ? १ । ३६ तथा ३ । ३४ सूत्र पर पढ़िये ।

(ब) मोक्ष का यथार्थ स्वरूप ३ । ५०, ३ । ५५ तथा ४ । ३४ सूत्र पर पढ़िये ।

(भ) 'जात्यन्तर-परिणाम' का क्या अभिप्राय है ? ४ । २ सूत्र पर पढ़िये ।

(म) क्या योगी अनेक चित्तों का निर्माण कर सकता है ? ४ । ४ सूत्र पर पढ़िये ।

(य) चित्त का परिणाम कैसा है ? सूत्र ४ । १० पर पढ़िये ।

(५) और इस भाष्य में योगदर्शन तथा व्यासभाष्य से एक विस्तृत विषय सूची तैयार की गई है, जो स्वाध्यायशील तथा अनुसन्धान कर्त्ताओं के लिये अतीव उपयोगी है ।

(६) इन विशेषताओं के अतिरिक्त शुद्धाशुद्धिपत्र, व्यासभाष्य की सूक्तियाँ, सूत्रसूची, के साथ साथ बढ़िया कागज पर उत्तम छपाई तथा लागत मात्र मूल्य (केवल २० रु०) होने से पाठकों के लिये यह भाष्य सुलभ हो सकेगा ।

(११) आभार-प्रदर्शन—(नमो ब्रह्मणे परमर्षिभ्यो विद्वद्भ्यो गुरुजनेभ्यश्च)

समस्त शुभकर्मों का प्रेरक सविता देव है उसी की कृपा से मांगलिक कार्यों की निर्विघ्न समाप्ति होती है, अतः उस आराध्य परमेश्वर की असीम कृपा का ही फल है कि इस योग-दर्शन के भाष्य को मैं निर्विघ्न पूर्ण करसका हूँ, एतदर्थ उस परमप्रभु को बार-बार नमस्कार करता हूँ । तदनन्तर जिन गुरु-

जनों के सान्निध्य में रहकर मैंने विद्यार्जन करके शास्त्रीयज्ञान को सीखा और जिन्होंने आर्ष-ज्ञान के प्रति मेरी रुचि पैदा की, उन पूज्यपाद गुरुओं का स्मरण करता हुआ उनके प्रति हार्दिक नमन करता हूँ। साथ ही वे वैदिक विद्वान् भी मेरे वन्दनीय हैं, जिन्होंने महर्षि-दयानन्द की छत्रछाया में रहते हुए इस दार्शनिक विचारधारा को पौराणिक काल्पनिक विचारों से उन्मुक्त करने की पद्धति को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। और ऋषियों के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा आस्था रखने वाले आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्थापक श्री स्व० दीपचन्द आर्य का मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, उन्होंने इस योग-भाष्य के लिखने की ही प्रेरणा नहीं दी, अपितु स्वयं भी इसकी प्रेसकापी को अक्षरशः पढ़कर आत्म-सन्तोष प्राप्त करते थे और महर्षि की व्याख्या के यथास्थान सन्निवेश को देखकर गदगद हो जाते थे। उनकी स्वाध्यायशीलता एवं लग्न का ही परिणाम है कि जो इस प्रकार के गूढ दर्शनों का प्रकाशन हो सका है। साथ ही मैं उन सहयोगियों का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस भाष्य के प्रकाशन एवं प्रूफ-रीडिंग करने में पूरी लग्न से सहयोग किया है। श्री पं० रामहौसला मिश्र और उनके सहयोगियों ने कम्पोज करने तथा श्री कर्मवीर शर्मा ने प्रूफरीडिंग करने में जो आत्मीयता दिखाई है, वह उनका पुरुषार्थ प्रशंसनीय है। और पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त रखकर इस परिश्रम-साध्य कार्य में धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पलता जी ने भी मुझे पूर्ण सहयोग दिया है, एतदर्थ उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हुआ विद्वज्जनों से यह अभ्यर्थना करता हूँ कि इस भाष्य में जो भी अच्छाइयाँ हैं, वह ऋषि-मुनियों एवं गुरुजनों की देन हैं, और इसमें जो त्रुटियाँ रह गई हों, वे मेरी अल्पज्ञता के कारण हैं, इसलिये जो त्रुटियाँ इसमें दिखाई देवें, उनका समाधानपूर्वक दिग्दर्शन अवश्य कराते रहें, क्योंकि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

स्थानम्—
भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर (उ० प्र०)
चैत्र पौर्णमासी सं० २०३९ वि०
८ अप्रैल, १९८२ ई०

विदुषामनुचरः—
राजवीर शास्त्री

योग-दर्शन की विस्तृत-विषयनिर्देशिका

(द्वितीय-पादः)

(तृतीय-पादः)

(चतुर्थ-पादः)

इति विषयनिर्देशिका ॥

उद्धृत-ग्रन्थों के संकेतों का विवरण

ऋ० भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
स० प्र०	सत्यार्थप्रकाश
सं० वि०	संस्कार-विधि
उप० मं०, उपदेश०	उपदेश-मञ्जरी
द० शास्त्रा०, शास्त्रा०	दयानन्द-शास्त्रार्थसंग्रह
ऋ०	ऋग्वेद
यजु०	यजुर्वेद
अथर्व०	अथर्ववेद
यो०	योग-दर्शन
न्याय०, न्या०	न्याय-दर्शन
वेदान्त०, वेदा०	वेदान्तदर्शन
सां०	सांख्यदर्शन
वैशे० वै०	वैशेषिकदर्शन
अ०	अष्टाध्यायी
उणादि०	उणादिकोष
वा०	वार्त्तिक-सूत्र
समा०	समाधिपाद (योगदर्शन का)
मनु०	मनुस्मृति
भर्तृहरि०	भर्तृहरिशतकम्
निरु०, नि०	निरुक्त
महा० शान्ति०	महाभारत शान्तिपर्व
मुण्ड०	मुण्डकोपनिषद्
कठो०	कठोपनिषद्
बृहदारण्यकोप०, बृ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
छान्दोग्योप०, छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
तैत्तिरीय आ०	तैत्तिरीयारण्यक

❀ ओ३म् ❀

ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

अथ पातञ्जलयोग-दर्शनम्

तत्र

प्रथमः समाधिपादः प्रारभ्यते

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

महर्षिव्यासदेवकृतभाष्यम्

[अथ] अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। [योगः] योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते।

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद—[अथ] सूत्र में 'अथ' पद अधिकार के लिए है। 'योगानुशासन' नामक शास्त्र अथवा योग की शिक्षा देना इस समस्त शास्त्र का अधिकार= प्रतिपाद्यविषय समझना चाहिए। [योगः] योग का अर्थ समाधि है और वह समाधिरूप योग चित्त की सब क्षिप्तादि भूमियों=अवस्थाओं में सिद्ध हुआ चित्त= मन का धर्म=गुण है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की पाञ्च भूमियाँ=अवस्थाएँ हैं। उनमें विक्षिप्त[1] चित्त की अवस्था में विक्षेपों के

१. चित्त की क्षिप्त तथा मूढ दशा में तो समाधि होती ही नहीं, अतः विक्षिप्त दशा से भाष्यकार ने कथन प्रारम्भ किया है।

कारण—रजोगुण से अनुविद्ध होने से गौण हुई समाधि योगपक्ष में नहीं मानी जाती। और जो चित्त की एकाग्र दशा में समाधि होती है, वह जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही प्रदर्शित कर देती है, अविद्यादि पाञ्च क्लेशों को क्षीण करती है तथा कर्मों के बन्धनों को शिथिल (ढीला) कर देती है, और निरोधरूप चित्त को अन्तिम भूमि की ओर प्रवृत्ति कराती है। वह एकाग्रसमाधि सम्प्रज्ञात योग शब्द से कही जाती है। और वह समाधि वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार की एकाग्रसमाधि होती है, इसका व्याख्यान आगे[1] करेंगे। चित्त की सब वृत्तियों के निरोध होने पर तो असम्प्रज्ञात-समाधि होती है।

भावार्थ—'अथ' शब्द यहाँ अधिकारवाचक है। जैसे व्याकरण महाभाष्य में भी 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र पर महर्षि-पतञ्जलि ने लिखा है—'अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते'। और 'द्विगता अपि हेतवो भवन्ति' इस न्याय से 'अथ' शब्द मंगलवाचक भी है। और 'अनुशिष्यतेऽनेनेत्यनुशासनम्' इस व्युत्पत्ति से 'अनुशासन' शब्द योगशास्त्र का पर्यायवाची है। 'योगस्यानुशासनं=शास्त्रं योगानुशासनम्' इस समास से यह शब्द योग-शास्त्र का पर्यायवाची है। और 'योग' शब्द 'युज् समाधौ' (पाणिनीयधातु) धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। सूत्र का आशय यह है कि सम्पूर्ण योगशास्त्र का विषय योग[2]=समाधि का उपदेश करना है।

व्यास-भाष्य में चित्त की पाञ्च दशाओं का वर्णन किया है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। इनमें प्रथम दो दशाओं में योग सम्भव नहीं है, अतः व्यास-भाष्य में चित्त की विक्षिप्त दशा से योग का सम्बन्ध वर्णन किया है। क्षिप्त-दशा में रजोगुण की और मूढ-दशा में तमोगुण की प्रधानता होने से योग (समाधि) सम्भव नहीं है। और विक्षिप्त-दशा में सत्त्वगुण की प्रधानता होने हुए भी रजोगुण से अनुविद्ध होने से चित्त अन्यत्र विषयाभिमुख हो जाता है। और चित्त की एकाग्र-दशा ध्येय-पदार्थ का पूर्णरूप से साक्षात्कार कराती है, अविद्यादि क्लेशों को क्षीण (दग्धबीज के समान) अंकुरित होने में असमर्थ कर देती है कर्म-बन्धन=कर्माशय=कर्मसंस्कारों के बन्धन को शिथिल=फलोन्मुख होने में असमर्थ कर देती है और निरोधरूप चित्त की अन्तिम दशा को प्राप्त

---

१. समाधिपाद के १७ वें सूत्र में इनका वर्णन है।

२. योगशास्त्र वेदों के उपांग हैं। अतः योगविद्या का विस्तार वेदों के आश्रय से ही किया गया है। 'युञ्जानः प्रथमं मनः' 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियः' इत्यादि यजुर्वेद के ११ वें अध्याय के मन्त्र योगविद्या के ही प्रतिपादक हैं।

कराने में वैराग्य को उत्पन्नकर सहायक होती है। इसे संप्रज्ञातयोग कहते हैं। और इसके वितर्कानुगतादि चार भेद होते हैं। और निरोध दशा में सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध होने से असंप्रज्ञात नामक योग कहलाता है ॥ १ ॥

अव०—तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते।

(अर्थ)—उस द्विविधयोग का लक्षण कहने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

व्यासभाष्यम्

[योगः] सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। [चित्तम्] चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धरजोमात्रया धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यता-ख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। [वृत्तिनिरोधः] चितिशक्तिपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं संस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किंचित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥२॥

सूत्रार्थ—चित्त की वृत्तियों को सब बुराईयों से हटाके शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराईयों में फंसके उससे दूर हो जाना ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—(योगः) सूत्र में योग की परिभाषा में 'सर्व' पद का ग्रहण न करने से सम्प्रज्ञातयोग (एकाग्र-समाधि) भी योग कहलाता है। [चित्तम्] चित्त प्रख्या=सतोगुण (प्रकाशशील), प्रवृत्ति=रजोगुण (क्रियाशील) और स्थितिः=तमोगुण (जडता) स्वभाव वाला होने से त्रिगुणी[1] है। जब चित्त सतोगुणी होता हुआ, रजोगुण और तमोगुण से मिला हुआ होता है तब वह ऐश्वर्य और विषयों की ओर झुका हुआ होता है। वही चित्त जब तमोगुण

---

१. त्रिगुणों की व्यासकृत व्याख्या यह है—प्रकाशशीलं सत्त्वं, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तमः ॥ (व्यासभाष्यम् २। १८)

से युक्त होता है, तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर झुका रहता है। और वही चित्त जब मोह के आवरण से रहित, सब ओर से प्रकाशमान रजोगुण से युक्त होता है, तब वह धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर झुका होता है। और जब वही चित्त रजोगुण के मल से रहित, अपने स्वरूपमात्र में स्थित तथा सत्त्व=चित्ततत्त्व और पुरुष=चेतनतत्त्व की भिन्नता के विवेकज्ञान से युक्त होता है, तब धर्ममेघध्यान=विशुद्ध आत्मधर्मरूप अमृतत्व का सिञ्चन करने वाली धर्ममेघ समाधि[1] की अवस्था को प्राप्त होता है। ध्यानी=योगी लोग उस उत्कृष्ट स्वरूप को प्रसंख्यान=उत्कृष्टज्ञान नाम से कहते हैं।

[चित्त-वृत्तिनिरोधः] और चेतनाशक्ति उक्त सत्त्वादि गुणों के परिणामों से रहित, निर्लेप, विषयों को चित्त द्वारा दिखाने से उपरत, शुद्ध और अनन्त[2]=अविनश्वर है। इस चेतनाशक्ति से चित्त की सत्त्वगुणात्मिका=विवेकज्ञान से युक्त चित्त की दशा भिन्न है। इसलिए उस विवेकख्याति से विरक्त चित्त उस विवेकज्ञान की स्थिति का भी निरोध कर देता है। उस अवस्था में चित्त संस्कारोन्मुख=संस्कारमात्र शेष हो जाता है। वह निर्बीज[3] नाम की समाधि होती है। इस में किसी बाह्यवस्तु का ज्ञान नहीं रहता, अतः असम्प्रज्ञातसमाधि कहाती है। इसलिए चित्त की वृत्तियों का निरोधरूप योग सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार का है।

विमर्श—गतसूत्र के व्यास-भाष्य में चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध पाञ्च अवस्थायें बताई हैं। क्षिप्त और मूढ दशा में योग सम्भव नहीं है और विक्षिप्त दशा में भी गौण-समाधि कहकर योग का निषेध किया है। उसी बात को यहाँ स्पष्ट किया है—चित्त (मन) प्रकृति का विकार है अतः वह सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण रंगों वाला कहाता है। इनमें योग की दशा इस प्रकार समझनी चाहिये—(१) चित्त की रजोगुण व तमोगुण से संसृष्ट=मिश्रित सात्त्विक वृत्ति योग नहीं कहाती,

१. 'धर्ममेघ' समाधि का स्वरूप यो० कैवल्यपाद के २९ वें सूत्र में बताया है अर्थात् प्रसंख्यान=उत्कृष्टज्ञान होने पर वासनारहित विवेकज्ञान से धर्ममेघसमाधि होती है।

२. 'अनन्ता' का अर्थ भाष्यकारों ने असंगत ही किया है। जीवात्मा अनन्त कदापि नहीं हो सकता। अतः 'न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्याः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अविनश्वर' अर्थ ही संगत होता है।

३. 'निर्बीजः' अर्थात् संसार में आवागमन के बीज=कारण क्लेश, कर्म तथा वासनायें इस समाधि में नष्ट हो जाती हैं।

क्योंकि रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव के कारण चित्तरूपी दर्पण निर्मल नहीं होता। जैसे शुक्ल-वस्त्र रक्त व कृष्णगुणयुक्त होने पर स्वच्छ नहीं कहाता। (२) तमोगुण वाले सात्त्विक मन का निरोध भी योग नहीं कहाता, क्योंकि तामसवृत्ति के कारण अज्ञानादि बना ही रहता है। (३) रजोवृत्ति वाले सात्त्विक मन का निरोध भी योग नहीं है, क्योंकि इसमें रजोगुण के कारण शुक्ल-वस्त्र की भांति मन शुद्ध नहीं होता। (४) तामस व राजस वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। क्योंकि सात्त्विक वृत्ति के उदय होने से विवेकख्याति होती है। (५) और तामस, राजस तथा सात्त्विक तीनों वृत्तियों के निरोध को उत्तम योग कहते हैं। इसमें निश्चित कैवल्य होता है।

महर्षि-दयानन्द ने इस सूत्र का सूत्रार्थ अन्यत्र सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"मनुष्य रजोगुण तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो, पश्चात् उसका निरोधकर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त का ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना" ॥

और व्यास-मुनि ने यहाँ चेतन तथा अचेतन का भेद भी स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है—

(१) **चितिशक्तिरपरिणामिनी**—चेतनपुरुष परिणामरहित है क्योंकि उसमें परिणाम=विकार=परिवर्त्तन नहीं होता। चेतन से भिन्न प्रकृति परिणामी है। प्रकृति का ही विकार यह समस्त जड़ जगत् है। जैसे—जड़ वस्तुओं का उपादान कारण प्रकृति है, वैसे चेतन किसी वस्तु का उपादान कारण नहीं है। और नहीं चेतन का ही कोई कारण है अतः 'सदकारणवन्नित्यम्' इस नित्य की परिभाषा के अनुसार चेतनपुरुष नित्य है।

(२) **अप्रतिसंक्रमा**—चेतनपुरुष को व्यासमुनि ने 'नास्ति प्रतिसंक्रमः संगो विषयेषु यस्याः' अर्थात् जिसका विषयों में संग नहीं है, अतः निर्लेप कहा है। इसी भाव को अन्यत्र भी इस प्रकार समझाया गया है—

'अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा-वासना आशयाः ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति"। (यो० व्यासभाष्ये १।१।२४) अर्थात् अविद्यादि क्लेश, पुण्य-अपुण्य कर्म, उनका फल और उनकी वासनायें मन में रहती हैं, किन्तु जीवात्मा में उनका व्यवहार इसी प्रकार होता है कि जैसे योद्धा-पुरुषों का जय, पराजय उनके स्वामी राजा का कहा जाता है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने उपर्युक्तपद का 'निष्क्रिया' अर्थ किया है, वह ऋषियों की मान्यता तथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकता। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक न्याय से इस शरीर में समस्त क्रियायें जीवात्मा के कारण हो रही हैं। इस के पृथक् होने पर जड-शरीर निष्क्रिय हो जाता है। और बिना क्रिया के जीव इधर-उधर शरीरान्तरों में न जा सके। और जीवात्मा की गणना वैशेषिकदर्शन में नौ द्रव्यों में की है और द्रव्य की परिभाषा में 'क्रियागुणवत्' कहकर क्रियावान् व गुणवान् को द्रव्य कहा है।

(३) **दर्शितविषया**—जीवात्मा को यहाँ भोक्ता मानकर ही 'दर्शितविषया' कहा है। क्योंकि सांसारिक समस्त विषयों की प्राप्ति मनादि साधनों से होती है। तदनन्तर उनसे सुख-दुःखों का भोग जीवात्मा करता है। परिणाम में सांसारिक विषयों में सुख न समझकर ही जीवात्मा को पूर्ण वैराग्य होता है।

(४) **शुद्धा**—अशुद्धि क्या है ? इसका स्पष्टीकरण व्यासमुनि ने (२। २८) में 'पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य' कहकर पांच प्रकार के अविद्यादि क्लेशों को ही अशुद्धि कहा है। और वे मन में रहते हैं, अतः जीवात्मा यथार्थ में शुद्ध ही है। किन्तु उसमें नैमित्तिक अशुद्धि तो कही जा सकती है। जैसे जल का गुण शीतलता होते हुए भी अग्नि के कारण उष्णतादि गुण आ जाते हैं।

(५) अनन्ता='न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्याः' इस व्युत्पत्ति से जीवात्मा अनन्त=अविनश्वर है। अचेतन प्रकृति से बने सब पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। चेतनशक्ति नित्य एवं अमरणधर्मा है। संसार की कोई वस्तु इसे छिन्न-भिन्न करके नष्ट नहीं कर सकती। इसी भाव को उपनिषदों में इस प्रकार कहा है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (कठो०)

अर्थात् जीवात्मा अजन्मा, अमरणधर्मा, अविकारी, नित्यसत्ता है। और इस विनश्वर शरीर के साथ जीवात्मा का नाश नहीं होता।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 'अनन्ता' शब्द का अर्थ 'पूर्ण' किया है। यह प्रसंगविरुद्ध होने से असंगत अर्थ है। यहाँ योग का प्रकरण है। चित्त की वृत्तियों का निरोधादि परमात्मा में तो सम्भव है ही नहीं। वह तो सदामुक्त तथा निराकार, शरीरादि से रहित है। और जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्य-वाला, तथा सीमित है, उसको पूर्ण कैसे कहा जा सकता है ? ॥ २ ॥

अव०—तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति—

(अर्थ)—वृत्तिनिरोधावस्था वाले चित्त में बाह्य विषयों का अभाव होने से बुद्धि बोधात्मा=घट पटादि विषयों का बोध करना ही जिसका स्वरूप है, ऐसा पुरुषः=शरीर में शयन करने वाला जीवात्मा किस स्वभाव वाला हो जाता है ?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

व्यासभाष्यम्

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—"(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटाके स्थिर की जाती है, तब कहाँ पर स्थिर होती है ? इसका उत्तर यह है कि (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चलके कहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर[1] हो जाती है"। (ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—(तदा) चित्त की सब वृत्तियों के बाह्यविषयों से निरोध होने पर (द्रष्टुः) जीवात्मा (स्वरूपेऽवस्थानम्) स्वरूप=निज रूप में प्रतिष्ठित=स्थिर हो जाता है अर्थात् चित्त के सम्पर्क से रहित होने से जीवात्मा त्रिगुणातीत हो जाता है। जैसे—कैवल्य=मोक्ष में जीवात्मा प्राकृतिक बन्धनों से छूट जाता है। और अनन्त परमात्मा के आश्रय से अव्याहतगति से विचरता है।

भावार्थ—इससे प्रथम सूत्र में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है और निरोध=चित्त की निरोध दशा में किसी बाह्यवस्तु का ज्ञान नहीं रहता। जीवात्मा इस दशा में परमात्मा के आनन्द में निमग्न हो जाता है। इसी भाव को व्यास-भाष्य में 'यथा कैवल्ये' कहकर स्पष्ट किया है। निरोध-दशा में मोक्ष जैसी स्थिति रहती है। अतः सूत्रस्थ 'तदा' शब्द भी निरोधदशा का द्योतक है, उस समय 'द्रष्टुः' पद का अर्थ जीवात्मा न होकर परमात्मा ही करना संगत है। योगिराज महर्षि-दयानन्द ने सूत्रार्थ की संगति अपने साक्षात् अनुभव के

---

१. महर्षि दयानन्द ने इस सूत्र की व्याख्या संस्कृत में इस प्रकार की है—

"यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते"। (ऋ० भू० उपासना०)

आधार पर लगाते हुए लिखा है—"जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है"। (स० प्र० नवम) इसलिये जीवात्मा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है, ऐसा सूत्रार्थ करने वाले अधूरा अर्थ ही करते हैं। और सूत्रों की पूर्वापर संगति भी उनके अर्थ से विरुद्ध है। इससे अगले सूत्र में इस (१।३) से विरुद्ध दशा का वर्णन किया है। अर्थात् व्युत्थान चित्त की दशा में जीवात्मा में दृश्य विषयों की प्रतीति होती है और समाधि-दशा में केवल ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। अतः 'द्रष्टुः' पद का अर्थ परमात्मा ही करना उचित है।

विमर्श—यहाँ व्यास-भाष्य में निरोधावस्था में जीवात्मा को स्वरूपप्रतिष्ठित कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा का प्रकृतिजन्य स्थूल, सूक्ष्म शरीरादि से सम्पर्क नहीं रहता, जैसे कि कैवल्य=मोक्ष में नहीं रहता। यहाँ स्वरूपप्रतिष्ठा से अभिप्राय यही है कि उस समय चित्त=अन्तःकरण का भी सम्बन्ध नहीं रहता। योगदर्शनकार ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ (यो० ३।५५)

अर्थात् सत्त्वशुद्धि=बुद्धिसत्त्व के शुद्ध होने पर जीवात्मा की शुद्धि मानी जाती है। उस अवस्था में—"एतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यं तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति"। (व्यास भा० ३।५५) सत्त्वादि गुणों के कार्य समाप्त होने से जीवात्मा के दृश्य बनकर उपस्थित नहीं होते और स्वरूपमात्र ज्योति, शुद्धात्मा केवल होता है।

और यहाँ केवली कहने का आशय प्रकृति-सम्पर्क का अभाव ही है, परमेश्वर का नहीं। क्योंकि मोक्ष-सुख परमेश्वर के आश्रय के बिना कैसे भोगा जा सकता है ॥ ३ ॥

अव०—व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा, कथं तर्हि ? दर्शितविषयत्वात्—

(अर्थ)—व्युत्थानचित्त दशा में अर्थात् निरोधावस्था से अलग होने पर जीवात्मा (योगी की चेतनशक्ति) निजरूप में होता हुआ भी कैवल्य (मोक्ष) के समान नहीं होता। कैसा होता है ? चित्त के द्वारा समस्त विषयों का ज्ञान कराने के कारण—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

व्यासभाष्यम्

[इतरत्र] व्युत्थाने [वृत्तिसारूप्यम्] याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः । तथा च सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति । चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः । तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः संबन्धो हेतुः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—"(वृत्तिसा०) अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष शोक रहित आनन्द में प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष शोक रूप दुःख संसार में ही डूबी रहती है । उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है"[1] ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—उपासक योगी व्युत्थानकाल=निरोधावस्था अर्थात् समाधि से भिन्न व्यवहार काल में समाधिस्थ चित्त की वृत्तियों के समानधर्म वाला होता है । इसमें दूसरे पञ्चशिखाचार्य का सूत्र (एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्) प्रमाण है । अर्थात् योगी पुरुष का व्यवहार तथा समाधिस्थ बुद्धि दर्शन=वृत्तिबोध एक ही होता है । उसका व्यवहार दर्शन बुद्धि बृत्ति से भिन्न नहीं होता । योगी का चित्त अयस्कान्तमणि=चुम्बक के समान समीप होने मात्र से काम करने वाला होता है । पुरुष रूपी स्वामी का चित्त दृश्य होता हुआ स्व=धन हो जाता है । इससे चित्त की वृत्तियों के बोध में पुरुष=जीवात्मा का चित्त के साथ सम्बन्ध अनादि=बहुत पुराना है । (जीवात्मा के समान अनादि नहीं, क्योंकि चित्त का सम्बन्ध (प्रकृतिजन्य होने से) सृष्टि के आदि में परमेश्वर जीवात्मा के साथ कराता है । और मोक्ष में नहीं रहता ।)

भावार्थ—'वृत्ति' शब्द का अर्थ है—व्यापार । चित्त का वृत्ति के साथ समवायसम्बन्ध है । जीवात्मा चित्त से भिन्न किन्तु चित्त का स्वामी है । जीवात्मा

---

१. महर्षि-दयानन्दकृत संस्कृत व्याख्या—

यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्-तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद् विलक्षणेत्यत्राह—इतरत्र=सांसारिक व्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठा ऽतीव तीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति" । (ऋ० भू० उपासना०)

के इच्छा प्रयत्नादि गुण होने से जब देखनादि की इच्छा जीवात्मा करता है, तब वह मन को प्रेरित करता है, और मन इन्द्रियों से सम्बद्ध होकर बाह्यवस्तु से सम्बन्ध करता है। और निरोध-दशा में बाह्यवस्तु से सम्पर्क न होने से चित्त की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी रहती हैं और उनका प्रवाह आत्मा की ओर होता है। इस रहस्य को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—

चित्त[1] एक सरोवर के समान है, चित्त की वृत्तियाँ तरंगों की भांति हैं। बाह्यवृत्ति के समय चित्त को ये तरंगें बाह्य इन्द्रियों की ओर प्रवाहित होती हैं और विषयोन्मुख रहती हैं और अन्तर्मुखी होने पर इन्द्रियों से सम्पर्क न होने से इनका सम्पर्क परमात्मा रूपी गंगा से हो जाता है। चित्त को व्यास-भाष्य में अयस्कान्तमणि=(चुम्बक पत्थर) के समान बताया है, यदि उसका निरोध न किया जाये, तो यह लोहे के सदृश बाह्यविषयों को अपनी ओर खींचता रहता है। और जीवात्मा स्फटिकमणि (बिल्लोर) की भांति शुद्ध है, परन्तु अपने समीपस्थ मन आदि के सदृश रंग वाला प्रतीत होता है। इसी भाव को सूत्रकार ने 'वृत्तिसारूप्य' कहकर स्पष्ट किया है। चित्त इन्द्रियों के सान्निध्य से जिस विषय को उपस्थित करता है, जीवात्मा उसको ग्रहण करता है। यही जीवात्मा की व्युत्थान दशा कहाती है। समाधि-दशा इससे बिल्कुल भिन्न होती है, जिसमें बाह्यविषयों से सम्पर्क न होने से ब्रह्मानन्द की अनुभूतिमात्र ही होती है ॥ ४ ॥

अव०—ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य—

(अर्थ)—वे चित्त की वृत्तियाँ बहुत्व होने पर निरोध करने योग्य हैं, वे ये हैं—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

व्यासभाष्यम्

[क्लिष्टवृत्तिः] क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। [अक्लिष्टवृत्तिः] ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। [वृत्तिः] क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। तदेवंभूतं चित्त-

१. व्यास-भाष्य (यो० १। १२) में चित्त को एक नदी की भांति कहा है—"चित्त-नदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च"।

मवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलय वा गच्छतीति । ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—"(वृत्तयः) अर्थात् सब जीवों के मन में पाञ्च प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसके दो भेद हैं। एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेश-सहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेश-रहित शान्त होती हैं" ।।
(ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—(क्लिष्टवृत्ति) अविद्यादि क्लेशों से उत्पन्न होने वाली तथा कर्माशयों=कर्म-सम्बन्धी वासनाओं की उत्पत्ति में क्षेत्रीभूत=खेतरूप बनी हुई चित्त-वृत्तियाँ क्लिष्ट कहलाती हैं (अक्लिष्टवृत्ति) और ख्यातिविषयाः=चित्त तथा पुरुष का पृथक्-पृथक् बोध करानेवाली, सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणों के अधिकार=कार्यक्षेत्र का विरोध करने वाली वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं।

(वृत्ति) क्लिष्ट व अक्लिष्ट वृत्तियों की इस सामान्यस्वरूप से भिन्न भी विशेष स्थितियाँ होती हैं। जैसे—क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह[1]=उद्गम स्थान से निकली हुई भी अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं। (भाव यह है कि जिन अविद्यादि क्लेशों अथवा अतिशय घृणित कर्मों से क्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उनके दोषों को देखकर अत्यन्त घृणा पैदा हो जाती है और अपरवैराग्य हो जाता है। और क्लिष्ट वृत्तियों के उत्पत्तिस्थान से भी अक्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न हो जाती हैं। इसी बात को भाष्यकार ने यह कहकर स्पष्ट किया है कि—'क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति' अर्थात् क्लिष्टवृत्तियों के छिद्र=दोष-दर्शन होने पर (पापकर्मों से घृणादि होने से) अक्लिष्टवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

इसी प्रकार 'अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति'=अक्लिष्ट वृत्तियों में भी जो विरोधी विक्षेपरूप छिद्र के अवसर होते हैं, उनके उदय होने पर क्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। (जो समाधि में योगी के लिये बाधा या क्लेश उत्पन्न करती रहती है। जो योगी सजग होते हैं, वे इन विक्षेपों से बच जाते हैं।)

और क्लिष्ट-अक्लिष्ट प्रकार के संस्कार वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से तत्तज्जातीय वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वृत्ति-संस्काररूप चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस प्रकार का चित्त (जिसमें वृत्ति-संस्कार का चक्र चलता रहता है) (वृत्ति निरोध होने पर) अवसिताधिकारम्=अपने सत्त्व,

---

१. प्रवहन्ति यस्मात् स प्रवाह इति कर्त्तृभिन्नकारके घञ्।

रज तथा तमरूप गुणों का कार्यक्षेत्र समाप्त होने पर (जीवात्मा के शुद्ध तथा केवली अर्थात् मोक्ष होने पर) आत्मकल्पेन[1]=जीवात्मा के सदृश=(जीवन्मुक्त दशा में) जीवात्मा के अनुकूल शुद्ध होकर रहता है अथवा मोक्ष होने पर प्रलय=चित्त अपने कारणरूप प्रकृति में विलीन हो जाता है। (इसी दशा का नाम कैवल्य है)।

भावार्थ—चित्त के व्यापार को वृत्ति कहते हैं और चित्त प्रकृतिजन्य होने से त्रिगुणात्मक है। क्योंकि चित्त की बाह्यवृत्ति और अन्तर्वृत्ति होने से दो प्रमुख दशायें होती हैं, इसलिये चित्तवृत्तियों के पाञ्च भेद होते हुए भी क्लिष्ट-अक्लिष्ट भेद दो मुख्य भेद होते हैं। सूत्रकार ने (१।६) सूत्र में आगम, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति पांचों वृत्तियों का परिगणन करके पुनः आगे क्रमशः व्याख्या की है। और (२।३) सूत्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाञ्च क्लेश माने हैं। ये अविद्यादि क्लेश जिन वृत्तियों की उत्पत्ति में कारण होते हैं, वे क्लिष्टवृत्तियाँ होती हैं। क्योंकि इन क्लेशों के कारण चित्त की वृत्तियों का प्रवाह विषयों की ओर होने से दुःखों को पैदा करता है। और अविद्यादि क्लेशों के क्षीण होने पर ईश्वरानुग्रह और योगियों के सत्संग से योगाभ्यासी पुरुष के चित्त में जब आध्यात्मिक-भाव उत्पन्न होते हैं, विवेक-ख्याति होने से सत्त्वादिगुणों के कार्यक्षेत्र का प्रबल विरोध करने वाली वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं।

और इसके विपरीत भी हो जाता है अर्थात् क्लेशों के कारणों से अक्लिष्ट वृत्तियाँ और अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह से क्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सामान्य मनुष्य सत्त्वादि गुणों से अभिभूत और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के कारण क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह में बहता हुआ सांसारिक दुःखों से अत्यधिक खिन्न हो जाता है और सौभाग्य से किसी सद्गुरु के उपदेश से आध्यात्मिक मार्ग का पथिक बन जाता है। तब क्लिष्ट हेतुओं से विवेक-ख्याति की ओर अग्रसर करने वाली अक्लिष्टवृत्तियाँ पैदा होती हैं।

और ऐसा भी हो जाता है कि योग-मार्ग पर अग्रसर होते हुए तथा अक्लिष्ट वृत्तियों के विद्यमान रहते हुए भी अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब अभिभूत क्लिष्ट वृत्तियाँ उचित कारण की उपस्थिति में उभर जाती हैं और

१. यहाँ चित्त को जो आत्म-कल्पेन' कहा है, इसका भाव यह नहीं है कि चित्त जीवात्मा के सदृश हो जाता है। क्योंकि चित्त प्रकृतिजन्य होने से जड है, वह चेतन के समान कैसे हो सकता है? व्याकरण के अनुसार यहाँ ईषदसमाप्ति=कुछ न्यूनता' अर्थ में 'कल्पम्' प्रत्यय है। अतः गुणों के प्रभाव से हीन होने पर कुछ समता हो जाती है।

योगी के मार्ग में बाधारूप में आ जाती हैं। बहुत सतत सचेत व जागरूक योगी ही ऐसी बाधाओं से अपने को बचा पाते हैं। परन्तु ये बाधायें तभी तक रहती हैं, जब तक प्रसुप्त या अभिभूत संस्कार दग्ध-बीज की भांति प्रसव=फलोन्मुख होने में असमर्थ नहीं हो जाते हैं, अथवा अपने कारण में लीन नहीं हो जाते। क्योंकि विवेक-ख्याति होने से पूर्व तक संस्कारों से वृत्तियाँ और वृत्तियाँ से संस्कारों का क्रम निरन्तर चलता रहता है ॥ ५ ॥

अव०—ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः।

(**अर्थ**)—वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाञ्च प्रकार की होती हैं।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—'वे पाञ्च वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण), (दूसरी विपर्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा) और पांचमी स्मृति'' ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—प्रमाणादि पाञ्च प्रकार की वृत्तियों की व्याख्या स्वयं सूत्रकार ने (१।७ से ११ में) की है, अतः वहीं द्रष्टव्य है ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

व्यासभाष्यम्

[प्रत्यक्ष] इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः।

[अनुमान] अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः।

[आगम] आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—''उनके विभाग और लक्षण ये हैं''। (ऋ० भू० उपासना०)

''इनमें से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों

के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और। फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं"।

"और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान होता हो वह अनुमान कहाता है। जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता-पिता आदि हैं वा अवश्य थे, इत्यादि उसके उदाहरण हैं"॥

"जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय कराने वाला है। जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है। यह आप्तों का उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है। (ऋ० भू० वेदविषय०)

भाष्यानुवाद—[प्रत्यक्ष] नेत्रादि इन्द्रियद्वार से चित्त का बाह्य-वस्तु के साथ संबन्ध होने से बाह्यवस्तु-विषयक सामान्य और विशेष धर्मों वाले पदार्थों में विशेष-धर्म का प्रधानरूप से निश्चय कराने वाली चित्त की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। पुरुष द्वारा चित्तवृत्ति का बोध होना ही इस प्रमाण का सामान्य फल है। इस प्रत्यक्षज्ञान का अनुभव करने वाला पुरुष है, यह आगे सिद्ध करेंगे।

[अनुमान] अनुमेय=साध्यपक्ष के समान जाति वालों=सपक्षों में अनुगत=रहने वाला और भिन्न जातीयों=विपक्षों से व्यावृत्त=पृथक्=न रहने वाला जो सम्बन्ध=ज्ञापकलिङ्ग है, तद्विषया=उसके ज्ञान से उत्पन्न होने वाली और अनुमेय पदार्थ के सामान्य-धर्म का मुख्यरूप से ग्रहण कराने वाली चित्त-वृत्ति अनुमान कहलाती है। जैसे चन्द्र तथा तारे एकस्थान में देख पुनः दूसरे स्थान पर देखने से गतिवाले हैं, चैत्र नामक मनुष्य की भांति अर्थात् चैत्र को प्रथम काशी में देखा था, फिर दिल्ली में देखकर यह अनुमान किया कि गति करके ही यहाँ आया है। ऐसे ही बिना गति के चन्द्रादि एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं दिखाई दे सकते। यह सजातीय पदार्थों में पाये जाने वाले सम्बन्ध का उदाहरण है। विजातीय का उदाहरण यह है—जो पदार्थ गतिमान नहीं है, वह भिन्न देशों में नहीं पाया जाता। जैसे—विन्ध्य पर्वत।

[आगम] आप्तपुरुष=यथादृष्ट अथवा यथाश्रुत बात को कहने वाले पुरुष के द्वारा प्रत्यक्ष जाना हुआ अथवा अनुमान किये पदार्थ का जब दूसरे पुरुषों में (स्वबोधसंक्रान्तये) अपने ज्ञान को प्रदान करने के लिये शब्दों से उपदेश किया जाता है, तब शब्दों को सुनने से उस पदार्थ-विषयक श्रोता की जो चित्तवृत्ति बनती है, वह आगम-वृत्ति है। जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेय=श्रद्धा न करने योग्य अर्थ=पदार्थ वाला हो और पदार्थ को वक्ता ने स्वयं प्रत्यक्ष या

अनुमान न किया हो, वह आगम प्लवते=आगम प्रमाण से च्युत हो जाता है अर्थात् वह प्रामाणिक नहीं होता। और मूलवक्ता के साक्षात् अथवा अनुमान से पदार्थ के जानने पर आगम निर्विप्लव=निर्भ्रान्त प्रमाण होता है।

भावार्थ—योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों में प्रमाण वृत्ति के तीन भेद माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण—चित्त का ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से बाह्यवस्तु का प्रथम सम्पर्क होता है, फिर उस पदार्थ-विषयक वृत्ति बनती है। यद्यपि वह पदार्थ **सामान्य** और विशेष धर्मों से युक्त होता है, किन्तु उसके **विशेष धर्म** से निश्चयात्मक जो वृत्ति बनती है, वह प्रत्यक्ष है। जैसे—सूर्य की किरणों से सन्तप्त सिकता (बालूरेती) के कणों को देखकर प्रथम जल के सदृश प्रतीति होती है, परन्तु उसके निकट जाने पर जल से भिन्न विशेष धर्मों को देखकर भ्रान्ति दूर हो जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्षवृत्ति से सामान्य तथा विशेष धर्मों का ग्रहण होता है। परन्तु विशेष-ज्ञान के बिना प्रत्यक्ष-ज्ञान अपूर्ण होता है। विशेष धर्म ही किसी वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न करते हैं। जो धर्म समानरूप से अनेक पदार्थों में रहता है, उसे सामान्य धर्म कहते हैं और जो किसी वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न करते हैं, उन्हें विशेष धर्म कहते हैं।

और जो धर्म समान जातीय धर्मी=पदार्थ में नियतरूप से रहता है और भिन्नजातीय धर्मी=पदार्थ में नहीं रहता, ऐसे धर्म को लिङ्ग तथा उस धर्म-युक्त पदार्थ को लिङ्गी कहते हैं। जैसे किसी ने रसोईघर में अग्नि व धूम का नियत सम्बन्ध प्रत्यक्ष देखा और यह निश्चय किया कि धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता, अतः जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। तदनन्तर पर्वत प्रदेश में दूर से धूम को देखकर अग्नि का निश्चय हो जाता है। इस चित्त की वृत्ति को अनुमान कहते हैं। व्यास-भाष्य में इसी वृत्ति को समझाने के लिये अन्वयी और व्यतिरेकी दोनों प्रकार के उदाहरण दिये हैं। जैसे चन्द्र व तारे प्रत्यक्ष रूप से गति वाले नहीं दिखाई देते, परन्तु स्थानान्तरित होते हैं, अतः गतिमान् हैं। इसमें चैत्र नामक व्यक्ति का उदाहरण अन्वयी और विन्ध्यपर्वत का उदाहरण व्यतिरेकी है।

और जो प्रत्यक्ष या अनुमान से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके और दूसरे पुरुष को भी यथार्थ ही कहने की इच्छा करता है, उसे आप्त पुरुष कहते हैं। उस आप्तपुरुष से सुनकर जो चित्तवृत्ति बनती है, उसे आगम कहते हैं। परन्तु वह आप्तपुरुष यथार्थवक्ता होने से श्रद्धा करने योग्य होना चाहिये॥ ७॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

व्यासभाष्यम्

[विपर्ययः] स कस्मान्न प्रमाणम्। [मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्] यतः प्रमाणेन बाध्यते, भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा—द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति।

सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति। एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—"(विपर्ययो०) दूसरी विपर्यय कि जिस से मिथ्याज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य भावना कर लेना इसको विपर्यय कहते हैं" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—(विपर्यय) वह विपर्यय-वृत्ति प्रमाण क्यों नहीं मानी जाती? क्योंकि विपर्यय=मिथ्याज्ञान प्रमाण द्वारा बाधित=निराकृत हो जाता है। प्रमाण का विषय भूतार्थविषय=यथार्थ विषयक ज्ञान होता है। (और विपर्यय अयथार्थ ज्ञान है) और उनमें प्रमाण से अप्रमाण का बाध=निराकरण देखा जाता है। जैसे—दो चन्द्रों का दीखना सत्तात्मक एक चन्द्र दर्शन से निराकृत हो जाता है।

वह यह विपर्यय वृत्ति, जिसे अविद्या कहते हैं, पाञ्च पर्वों=भेदों वाली होती है। जिनको अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश नामक क्लेश कहते हैं। ये ही पाञ्च क्लेश अपने अर्थानुरूप तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामों से भी कहे जाते हैं। ये क्लेश चित्त के मल के प्रसंग से आगे कहे जायेंगे।

भावार्थ—शब्दों के पर्यायवाची शब्दों से भी शब्दार्थ-बोध होता है। जैसे—न्याय-दर्शन में 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' कहकर बुद्धि का अर्थ ज्ञान किया है। वैसे ही विपर्यय वृत्ति को समझाने के लिये सूत्रकार ने 'मिथ्याज्ञान' और 'अतद्रूपप्रतिष्ठ' शब्द सूत्र में पढे हैं। जो वस्तु जैसी है, उसे अन्यथा समझना विपर्ययवृत्ति होती है। जैसे—रस्सी को देखकर सांप समझ लेना और सीप को चाँदी समझना। यह विपर्ययवृत्ति योगमार्ग में सर्वाधिक बाधक है। इसकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञान से होती है। अतः योगी को पूर्ण विद्वान् होना चाहिये, बिना विद्या के योग का अभ्यास नहीं किया जा सकता। मिथ्याज्ञान में डूबा व्यक्ति प्रकृति, आत्मा व परमात्मा को नहीं जान सकता।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

व्यासभाष्यम्

[विकल्पः] स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा—चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते।

भवति च व्यपदेशे वृत्तिः। यथा 'चैत्रस्य गौरिति' तथा 'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः,' तिष्ठति बाणः' 'स्थास्यति' 'स्थित इति', गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। 'तथाऽनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति'—

उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः।
तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—"तीसरी विकल्प-वृत्ति (शब्द-ज्ञाना०) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुनके कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है—सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं। सो झूंठी बात है अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम विकल्प है" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—[विकल्प] वह विकल्प-वृत्ति प्रमाणवृत्ति के उपारोही=अन्तर्गत नहीं है और नहीं विपर्यय के अन्तर्गत मानी जा सकती। (क्योंकि प्रमाण-वृत्ति यथार्थज्ञान है, और विपर्यय-वृत्ति सीप में चाँदी का भ्रम दूर होने पर समाप्त हो जाती है)। परन्तु विकल्प वृत्ति में वस्तु के न होने पर भी शब्द-जनितज्ञान के प्रभाव से युक्त व्यवहार देखा जाता है।

जैसे—(१) चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्=पुरुष=जीवात्मा का स्वरूप चेतनता है। जब चेतनता ही पुरुष है, तब यहाँ किससे किसको भिन्न कहा जा रहा है? (क्योंकि इस वाक्य से पुरुष चेतनता का स्वामी है, यह स्व-स्वामी-भाव प्रकट हो रहा है) और वृत्ति[1]=षष्ठी विभक्ति भेद-व्यवहार में होती है। जैसे—चैत्रस्य गौः=चैत्र नामक पुरुष की गाय। (यहाँ चैत्र नामक पुरुष तथा गाय दोनों भिन्न-भिन्न सत्तात्मक वस्तुएँ हैं, दोनों का स्व-स्वामी भाव संबन्ध है। परन्तु 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इस वाक्य में चेतनता पुरुष से भिन्न नहीं है। किन्तु

१. व्याकरण-शास्त्र में पांच वृत्तियाँ मानी हैं—कृत, तद्धित, समास, कारक और एकशेष। यहाँ वृत्ति शब्द चित्तवृत्ति को न बताकर व्याकरण के अनुसार कारक को बता रहा है।

शब्द-ज्ञान के प्रभाव से वस्तु के न होने पर भी जो शाब्दिक ज्ञान हो रहा है, यह विकल्पवृत्ति है।)

और इसी प्रकार (अभेद में भेद का अन्य उदाहरण) 'प्रतिषिद्ध-वस्तु-धर्मो निष्क्रियः पुरुषः' इस उदाहरण में 'प्रतिषिद्धाः=शास्त्रेषु प्रत्याख्याताः वस्तुनः=घटपटादेर्धर्मा यस्मिन् स पुरुषः' जिस पुरुष में घटपटादि वस्तुओं के गन्धादि धर्मों का निषेध किया है, और निष्क्रियः='निर्गताः क्रिया यस्मात् स पुरुषः' अर्थात् जिसमें सब[1] क्रियाओं का अभाव है, वह पुरुष है। (इस वाक्य में पुरुष के दोनों विशेषण एक एक विकल्पवृत्ति को उत्पन्न करते हैं। क्योंकि धर्मों का प्रभाव और परिणामादि क्रिया का अभाव दोनों ही वस्तुशून्य शाब्दिक व्यवहार है।)

इसी प्रकार 'तिष्ठति बाणः, स्थास्यति, स्थित इति'=बाण ठहरता है, ठहरेगा, ठहर गया, इस उदाहरण में तीनों कालों की क्रियाओं में 'स्था' धातु का गतिनिवृत्ति अर्थ ही प्रतीत होता है। (यथार्थ में बाणनिष्ठगतिनिवृत्तिक्रिया 'गच्छति, पचति' की भांति नहीं हो रही है। पुनरपि यह शाब्दिक व्यवहार होने से विकल्पवृत्ति का उदाहरण है।)

वैसे ही "अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः=पुरुष उत्पत्तिधर्म के अभाव वाला है"। इस उदाहरण में पुरुष में उत्पत्तिधर्म का अभाव प्रतीत हो रहा है, किन्तु अनु-त्पत्तिधर्मत्व पुरुष से संवद्ध कोई धर्म नहीं है। यह अभाव नामक धर्म पुरुष में शाब्दिक होने से विकल्पवृत्ति है, उसी का लोक में व्यवहार है।

भावार्थ—किसी शब्द को सुनकर वस्तु के न होने पर जो शाब्दिक ज्ञान होता है, उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। जैसे—आकाश का फूल, वन्ध्या का पुत्र, खरगोश के सींगादि विकल्पवृत्ति के ही उदाहरण हैं। यह वृत्ति न तो प्रमाण-वृत्ति के अन्तर्गत हो सकती है, क्योंकि प्रमाणवृत्ति यथार्थज्ञान होता है, विकल्प-वृत्ति में नहीं। विकल्प वृत्ति में वस्तु का सर्वथाअभाव होता है, और प्रमाण में वस्तु का सद्भाव होना आवश्यक है। और विकल्पवृत्ति का विपर्ययवृत्ति में

१. जीवात्मा को निष्क्रिय कहने से सन्देह होता है कि दूसरे दर्शनकार तो जीवात्मा को क्रियावान् द्रव्य मानते हैं, किन्तु यहाँ निष्क्रिय क्यों कहा है? इस प्रसङ्ग के पूर्वापर विचार करने से स्पष्ट है कि व्यासमुनि का अभिप्राय जीवात्मा में परिणाम=विकारादि क्रियाओं के अभाव से है। क्योंकि जीवात्मा नित्य अविकारी चेतनसत्ता है। जीवात्मा इस शरीर में मनादि इन्द्रियों को प्रेरणा करके विभिन्न क्रियाओं को करता है और इसीलिये मृतक शरीर में जीवात्मा के पृथक् होने पर किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। अतः अन्वय-व्यतिरेकन्याय से क्रिया या प्रयत्न जीवात्मा का ही कर्म है।

भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि विपर्ययवृत्ति में भी वस्तुओं का अस्तित्व आवश्यक है और यह विपर्यय=मिथ्याज्ञान पूर्वदृष्ट एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान होता है। और यह यथार्थ ज्ञान होने अथवा भ्रम के कारण को दूर करने से दूर हो जाता है। अतः विकल्पवृत्ति एक वस्तुशून्य शाब्दिक व्यवहार होने से पृथक् स्वतन्त्र वृत्ति है।

और यह शाब्दिक (वस्तुशून्य) व्यवहार एक दूसरे प्रकार से भी किया जाता है। अभिन्न वस्तु में भेद मानकर और भिन्न वस्तुओं में अभेद मानकर भी शाब्दिक व्यवहार लोक में किया जाता है। व्यास-भाष्य में इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। जैसे—

(१) चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्=चेतनता पुरुष का स्वरूप है। षष्ठी विभक्ति भेद अर्थात् दो वस्तुओं के सम्बन्ध को अथवा स्व-स्वामी भावादि को बताती है। जैसे—'चैत्रस्य गौः' उदाहरण में चैत्र और गाय दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं और षष्ठीविभक्ति स्व-स्वामी भाव को बता रही है। अर्थात् चैत्र नामक व्यक्ति गाय का स्वामी है। और 'पुरुषस्य चैतन्यम्' यहाँ चेतनता पुरुष से भिन्न नहीं है, चेतनता ही पुरुष है। फिर किससे किसको भिन्न कहा जा सकता है? यहाँ अभेद में भेद का व्यवहार शाब्दिक विकल्पवृत्ति से किया जा रहा है। वास्तव में पुरुष से भिन्न चैतन्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है। व्यास-भाष्य में इस व्यवहार को व्यपदेश=अमुख्य में मुख्य की भांति व्यवहार भी कहा है।

(२) 'निष्क्रियः पुरुषः' तथा 'अनुत्पत्तिधर्मापुरुषः'—यहाँ पुरुष में परिणामादि क्रिया का अभाव और उत्पन्न होने का अभाव बताया गया है। यहाँ जिन धर्मों का निषेध किया है, वे पुरुष में कदापि नहीं रहते। परिणामादि क्रियाओं का अभाव और अनुत्पत्तिरूप पुरुष का स्वरूप ही है, भिन्न कोई वस्तु नहीं है। पुनरपि भिन्न पदार्थों की भांति शाब्दिक व्यवहार विकल्पवृत्ति से होता है।

(३) तिष्ठति बाणः, स्थास्यति बाणः=बाण ठहरता है, बाण ठहरेगा। इस उदाहरण में भेद में अभेद दिखाया गया है। प्रत्येक क्रिया अपने कर्त्ता के प्रयत्न को बताती है। यहाँ 'ठहरना' क्रिया का कर्त्ता बाण है। परन्तु बाण तो अचेतन होने से प्रयत्न गुण वाला कभी नहीं हो सकता। प्रयत्न तो चेतन का धर्म है, और इस उदाहरण में चेतन कोई भी नहीं दिखाई देता। और चेतन तथा बाण दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। अतः यहाँ चेतन पुरुष और बाण में अभेद मानकर विकल्पवृत्ति से व्यवहार किया गया है॥ ९॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

व्यासभाष्यम्

[निद्रा] सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः । कथं, सुखमहमस्वाप्सम् । प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदी करोति । दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम् । गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम् । गुरूणि मे गात्राणि । क्लान्तं मे चित्तम् । अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति । स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा । सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—"चौथी (निद्रा) अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम निद्रा है" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—और वह निद्रावृत्ति जागने पर पत्यवमर्श=पश्चात् स्मरण होने से ज्ञान विशेष है । कैसे । (जागने पर) मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है और बुद्धि को निर्मल कर रहा है । (अथवा) मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अकर्मण्य=अलसाया हुआ है और चञ्चल होने से भ्रान्त हो रहा है । (अथवा) मैं मूढ=बेखबर होकर सोया, मेरे शरीर के अंग भारी हो रहे हैं, मेरा मन थका हुआ है, अलसाया हुआ है और खोया खोया सा है । जागे हुए पुरुष को यह निश्चय से अनुभवात्मक ज्ञान के बिना स्मरण न होना चाहिये और इस अनुभवात्मक ज्ञान के आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ अनुभवात्मक ज्ञान के विषय में न हो सकें । इसलिये निद्रावृत्ति ज्ञान विशेष है । और इस निद्रावृत्ति को भी समाधि में अन्य वृत्तियों की भांति निरुद्ध=रोकना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँ प्रसंग चित्त-वृत्तियों का चल रहा है । अतः इन सूत्रों में बार बार वृत्ति शब्द का पाठ नहीं किया गया है । परन्तु इस सूत्र में 'वृत्ति' शब्द का पाठ विशेष प्रयोजन का द्योतक है । निद्रा एक तमोगुणप्रधान वृत्ति है, यह योगाभ्यासी के लिये एक प्रबल बाधा है । उसको रोकना अत्यन्त आवश्यक है । इसीलिये व्यासमुनि ने इसे रोकने के लिये विशेष बल दिया है ।

निद्रावृत्ति में इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का अभाव रहता है, इस वृत्ति को सुषुप्ति-अवस्था भी कहा जाता है । इस दशा में जाग्रत व स्वप्न दशा की भांति कोई इन्द्रिय-जन्य ज्ञान नहीं होता । निद्रा के पश्चात् जब मनुष्य जागता है, तब ऐसा अनुभव करता है—मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे उस समय किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था । यह प्रतीति ही इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के अभाव को बताती है । और जब ऐसी प्रतीति होती है, तब तमोगुण के साथ सतोगुण की मात्रा भी

अवश्य होती है, अन्यथा सुखपूर्वक सोने की अनुभूति नहीं हो सकती। और जब ऐसी अनुभूति होती है—मैं दुःख पूर्वक सोया, मेरा मन चञ्चल हो रहा है, मेरे शरीर के अवयव भारी से हैं, इत्यादि उस समय तमोगुण के साथ रजोगुण का मिश्रण होता है। इस निद्रा नामक चित्तवृत्ति का अन्य वृत्तियों में समावेश न होने से यह एक स्वतन्त्र वृत्ति है ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

व्यासभाष्यम्

[स्मृतिः] किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति। ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति।

तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः। ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी—भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्तव्या। जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—"पांचमी (स्मृति) (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को (असंप्रमोष[1]) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं" ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—(स्मृति के समय) क्या चित्त प्रतीतिरूप=अनुभवरूप ज्ञान का स्मरण करता है अथवा विषय का=अनुभूत पदार्थों का ? (उत्तर) ग्राह्य=ग्रहण करने योग्य घटादि पदार्थों से सम्बद्ध अनुभवरूप ज्ञान ग्रहण करने योग्य वस्तु और ग्रहण=इन्द्रिय दोनों के आकार को लिये विषयानुभव वैसे ही संस्कार को उत्पन्न करता है। अपने व्यञ्जक=निमित्त से अभिव्यक्त हुआ वह संस्कार तदाकार=विषय और ज्ञान दोनों के आकार वाली (ग्राह्य-ग्रहणोभयाकार) स्मृति को उत्पन्न करता है। (अतः स्मृति न तो विषय की और नहीं केवल प्रतीतिरूप ज्ञान की होती है, किन्तु स्मृति का हेतु है—संस्कार। और संस्कार

---

१. असंप्रमोषः=चुराया न जाना=न भूलना=खोया न जाना।

की उत्पति होती है—विषय तथा इन्द्रिय द्वारा हुए प्रतीतिरूप ज्ञान से। अतः स्मृति में विषय और ज्ञान दोनों ही कारण हैं।)

उस उभयाकार स्मृति में यह नियम है—कि जो बुद्धि=प्रतीतिरूप (अनुभवात्मक) ज्ञान है, वह ग्रहणाकारपूर्वा=इन्द्रियों के आधीन है और स्मृति में अनुभूत घटादि विषय प्रधान होता है। [अर्थात् अनुभव करते समय (घटं पश्यामि इत्यादि में) यद्यपि घट और उसका ज्ञान दोनों प्रकाशित रहते हैं, किन्तु ये इन्द्रियाधीन हैं। और स्मृति में संस्कार के अनुरूप विषय और ज्ञान दोनों उद्बुद्ध हो जाते हैं, किन्तु ग्राह्य=घट के आकार-प्रकारादि मुख्य होते हैं।]

और वह स्मृति दो प्रकार की है—भावित=कल्पित (अयथार्थ) स्मरणीय विषय वाली और अभावित=अकल्पित (यथार्थ) स्मरणीय विषय वाली। स्वप्न-दशा में कल्पित-स्मरणीय होता है और जागरण-दशा में यथार्थ स्मरणीय होता है।

और ये सब स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति, इन पाञ्चों के अनुभव से होती हैं। और ये सब वृत्तियाँ सुख, दुःख मोहरूप हैं। सुख, दुःख और मोह की क्लेशों में व्याख्या करनी योग्य है। सुख-भोग के पश्चात् जो उसकी वासनायें रहती हैं, वह राग कहलाता है। दुःख-भोग के पश्चात् जो क्रोधादि की भावना होती है, वह द्वेष कहलाता है। और मोह तो अविद्या ही है। ये सब वृत्तियाँ निरोध करने योग्य हैं। इन सब के निरोध होने पर सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियाँ होती हैं।

भावार्थ—सूत्र गें 'असम्प्रमोषः' पद में 'सम्+प्र+मुष् (स्तेये=चोरी करना) +घञ्' प्रत्यय हुआ है। जिसका अर्थ है—अच्छी प्रकार चुराया जाना अथवा भूल जाना। और उससे (सम्प्रमोष) नञ् समास करने पर उससे भिन्न अर्थ हो गया—अनुभूत विषय का पूर्ण रूपेण व्यक्ति के अधिकार में बने रहना। जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं, उसके संस्कार मन में एकत्र हो जाते हैं, और वे संस्कार कालान्तर में उचित निमित्त को पाकर उपस्थित हो जाते हैं, इसी चित्तवृत्ति का नाम स्मृति है। अनुभव के अनुरूप संस्कार और संस्कार के अनुरूप स्मृति होती है। स्वप्न-दशा में स्मृतियाँ अव्यवस्थित रूप से होती रहती हैं, इसमें निद्रादि दोष कारण होता है। परन्तु यह सत्य है कि विना अनुभव के स्मृति नहीं हो सकती, इसीलिये जो जन्म से अन्धे व्यक्ति होते हैं, उन्हें रूपवाली वस्तु का स्वप्न नहीं आता है।

और जब हम अनुभव करते हैं तब वह वस्तु और उसका ज्ञान दोनों

प्रकाशित रहते हैं। जैसे—'घटं पश्यामि' वाक्य में घट और उसका देखना रूप ज्ञान दोनों रहते हैं। अतः अनुभव के समान संस्कार और स्मृति में भी ग्राह्य=घटादि और ग्रहण=उसका स्वरूपबोधादि दोनों रहते हैं। स्मरण के समय घटज्ञान की भांति घट के आकार, रूपादि सामने दिखाई से पड़ते हैं। अनुभव और स्मृति में यह अन्तर होता है कि अनुभव में ग्रहण=ज्ञान की प्रधानता और स्मृति में ग्राह्य=विषय की प्रधानता होती है।

और ये सब वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक होने से सुख, दुःख, मोहात्मक हैं। इनके सम्पर्क से जीवात्मा राग, द्वेष और मोहग्रस्त रहता है। और रागादि क्लेशों के मूलकारण होने से परित्याज्य हैं। इसलिये इन सब का निरोध करना आवश्यक है॥ ११॥

अव०—अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति—

(अर्थ)—"इन पाञ्च वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का क्या उपाय है"? (ऋ० भू० उपासना०)

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

व्यासभाष्यम्

चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १२॥

सूत्रार्थ—"(अभ्यास०) जैसा अभ्यास[1] उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य[2] अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पाञ्च वृत्तियों को रोकके उनका उपासना योग में प्रवृत्त रखना"॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भाष्यानुवाद—चित्तरूप नदी दो ओर बहने वाली है, वह कल्याण के लिये बहती है और पाप के लिये बहती है। जो चित्तवृत्ति कैवल्य=मोक्ष की

---

१. अभ्यास का लक्षण—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ (योग० १। १३)

२. वैराग्य का लक्षण—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ (यो० १। १५)

ओर प्राग्भारा[1]=उन्मुख=झुक जाती है, और विवेकख्याति की ओर जाने वाली होती है, वह कल्याण की ओर बहती है। और जो चित्तवृत्ति सांसारिक विषय भोगों की ओर उन्मुख=झुकती है और विवेक-ज्ञान विरोधी=अज्ञान मार्ग की ओर जाने वाली होती है, वह पाप की ओर बहती है। उनमें वैराग्य के द्वारा विषय-स्रोतः=सांसारिक विषयों की ओर जाने वाला प्रवाह खिली-क्रियते=कम किया जाता है=बन्द किया जाता है और विवेकज्ञान के अभ्यास से विवेकस्रोतः=मोक्ष की ओर जाने वाला प्रवाह खोला जाता है=निर्बाध प्रवाह किया जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति का निरोध दोनों=अभ्यास और वैराग्य के आधीन है।

भावार्थ—सूत्रकार ने चित्तवृत्तियों के निरोध करने के दो उपाय बताये हैं—१ अभ्यास, २ वैराग्य। सूत्र में 'तत्' पद से उपर्युक्त वृत्तियों का संकेत किया गया है। परमेश्वर प्रत्येक जीवात्मा के साथ साधन रूप में चित्त को देता है। और यह चित्त एक नदी के प्रवाह के समान वृत्तियों के प्रवाह वाला है। जिसमें सृष्टि के प्रारम्भ से वृत्तियों का अनवरत प्रवाह चलता रहता है। और इस प्रवाह की दो दिशायें हो सकती हैं—(१) अज्ञान वश संसार में आसक्ति के कारण संसार-सागर की ओर प्रवाहित होना (२) विवेकख्याति के द्वारा संसार-सागर से वृत्ति प्रवाह को रोककर ब्रह्मानन्द की ओर प्रवाहित करना। व्यासमुनि ने संसार की ओर प्रवाहित होने को पाप और मोक्षानन्द की ओर प्रवाहित होने को पुण्य कहा है। चित्त-नदी की धारा को पुण्य की ओर प्रवाहित करना सरल कार्य नहीं है। कठोपनिषद् में इसे 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहकर तेज असि-धारा पर चलने के समान बहुत कठिन मार्ग बताया है। इस मोक्ष-मार्ग पर चलने के लिये मनुष्य के जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्म और संस्कार भी साधक अथवा बाधक बनते हैं। जिसके जितने कर्म व संस्कार शुद्ध होंगे, वह सद्गुरु के सान्निध्य, मोक्षशास्त्रों के पढ़ने और प्रभुभक्ति के उचित वातावरण को पाकर पुण्य की ओर चित्तनदी को प्रवाहित कर सकता है। इस चित्त-नदी के प्रवाह को वैराग्य के बांध द्वारा विषयों की ओर से हटाकर मोडा और विषयस्रोत को सुखाया जा सकता है और फिर निरन्तर दृढता के साथ विवेकख्याति के अभ्यास के द्वारा विवेकस्रोत को शुद्ध करके समस्त चित्तवृत्तियों के प्रवाह को एकमुख करके द्विगुणा किया जा सकता है। इस प्रकार मोक्ष का कठिन मार्ग भी इन दोनों साधनों से अत्यन्त सुगम हो जाता है।

---

१. 'प्राग्भारा' शब्द का अर्थ 'उन्मुख होना' 'की तरफ बहना' ही ठीक है। योग० ४। २६ सूत्र में इस शब्द की संगति देखिये।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

व्यासभाष्यम्

[स्थितौ] चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। [यत्नः] तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। [अभ्यासः] तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद—[स्थितौ][1] अवृत्तिकस्य[2]=अल्पवृत्ति वाले (जिसमें रजोगुणी व तमोगुणी वृत्ति शान्त हो गई है, केवल सतोगुण की ही प्रधानता है)=सतोगुण प्रधान चित्त की जो प्रशान्तवाहिता=निस्तरङ्ग नदीप्रवाह की भांति चञ्चलता-रहित प्रशान्तरूप बना रहना है, उसे स्थिति कहते हैं। [यत्नः] उस स्थिति के लिये=चित्त की ऐसी दशा बनाने के लिये जो प्रयत्न=प्रयास=पराक्रम अथवा उत्साह करना है, वही यत्न है। [अभ्यासः] उस प्रयत्न के करने की इच्छा से जो उसके साधनों=यम-नियमादि योगाङ्गों का अनुष्ठान=सेवन या आचरण करना अभ्यास कहलाता है ॥

सूत्रार्थ—(तत्र) उन अभ्यास और वैराग्य में से (स्थितौ) चित्त की स्थिरता के निमित्त (यत्नः) जो प्रयत्न=चित्त परिकर्मों का उत्साह से अनुष्ठान करना है, वह अभ्यास है।

भावार्थ—चित्त प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक है। और इन गुणों में से कभी कोई प्रबल हो जाता है, दूसरे दबकर रहते हैं और कभी दूसरे गुण प्रबल हो जाते हैं। तमोगुण व रजोगुण के प्रबल होने पर मन विक्षिप्त दशा में होने से योग-मार्ग में बाधक होता है। और सतोगुण-प्रधान होने पर मन में शुद्धि व शान्ति रहती है। इस सतोगुण प्रधान दशा को सूत्र में 'स्थिति' शब्द से कहा है। इसे चित्त की एकाग्रता भी कह सकते हैं। इस स्थिति को बनाये रखने के लिये निरन्तर व उत्साह से इसके साधनों के अनुष्ठान (योगाङ्गानुष्ठान) में लगे रहना, शिथिलता न आने देना ही अभ्यास कहलाता है ॥ १३ ॥

---

१. ''स्थितौ' पद में 'निमित्तात्कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या' (वा० २। ३। ३६) इस नियम से निमित्त में सप्तमी विभक्ति है। यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्ति ॥

२. यहाँ अल्पता अर्थ में नञ् समास है, जैसे अनुदरा कन्या का अर्थ अल्पोदर वाली कन्या अथवा कृशोदरी कन्या होता है ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।। १४ ।।

व्यासभाष्यम्

दीर्घकालासेवितो[1] निरन्तरासेवितः सत्कारासेवितः। [सत्कार] तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च [आसेवितः] संपादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति [दृढभूमिः] व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—और वह अभ्यास दीर्घकाल पर्यन्त, निरन्तर=लगातार और सत्कार से सेवन किया गया दृढभूमिः=सुदृढ हो पाता है। अर्थात् अस्थिर वृत्ति-प्रवाह से दबता नहीं है ।।

भाष्यानुवाद—और वह दीर्घकाल तक किया गया, निरन्तर=नियम-पूर्वक प्रतिदिन किया गया और सत्कारपूर्वक अर्थात् तपसा=सुखदुःखादिद्वन्द्वों को सहते हुए, ब्रह्मचर्येण=वीर्यरक्षा करते हुए, विद्यया=वेदादिसत्यविद्या पढ़ते हुए, श्रद्धया च=और सत्यधारण करते हुए किया गया सत्कारवान्=सुसेवित अभ्यास दृढभूमि=सुदृढ (सुस्थिर) हो जाता है। और वह अभ्यास व्युत्थान[2] संस्कारों=चञ्चल वृत्तिप्रवाह के संस्कारों से शीघ्र दबने वाला नहीं होता।

भावार्थ—जब योगी मोक्ष-मार्ग पर चलने के लिये अग्रसर होता है और योग के साधनों का श्रद्धा व उत्साह से अनुष्ठान भी करता है, उस समय जन्म-जन्मान्तरों के अनादि-संस्कार प्रबल-बाधक बनकर उपस्थित होते रहते हैं, उनका प्रतिरोध करना सरल कार्य नहीं है। उनका मुकाबला करने के लिये योगाभ्यासी को भी सतत जागरूक, दृढता, शक्ति, विद्यादि गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है, अन्यथा बाधायें उसे योगमार्ग से भ्रष्ट कर देंगी। एतदर्थ सूत्रकार ने तीन उपाय बताये हैं—

(१) **दीर्घकालासेवित**—योगी को योगाङ्गों का अनुष्ठान दीर्घकाल तक करना होगा। इनके अनुष्ठान में कदापि अवकाश न करे। कुछ दिन अभ्यास किया और फिर छोड़ दिया, इससे सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि व्यु-त्थान-दशा के प्रबल संस्कार ऐसे अधकचरे योगाभ्यासी को समूल उन्मूलन करके फैंक देते हैं और अपना साम्राज्य जमा लेते हैं।

---

१. 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस व्याकरण नियम से 'आसेवित' पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध समझना चाहिये।

२. 'व्युत्थान' दशा को 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (यो० १। ४) कहकर समाधिदशा से भिन्न बताया है।

(२) **निरन्तरासेवित**—योगाभ्यासी को दीर्घकाल के साथ 'निरन्तर' शब्द पर भी ध्यान रखना चाहिये। जो अशुद्ध संस्कारों की पूँजी अधिक इकट्ठी किये हुए हैं, वे कुछ दिन अभ्यास करके प्रायः योगाभ्यास को छोड़ देते हैं। क्योंकि जितने संस्कार अच्छे नहीं होंगे, उतना ही निरन्तर अभ्यास करना अत्यावश्यक है। इसलिये ऐसे व्यक्ति को अनेक बार सफलता न होने से निराशा हो जाती है। जो व्यक्ति दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर अभ्यास करते हुए निराशाग्रस्त नहीं होता, वह योग-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ अवश्य सफलता को प्राप्त करता है।

(३) **सत्कारासेवित**—योगी को योग-साधनों का अनुष्ठान दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर और श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। श्रद्धा के अभाव में योगी बाह्य दिखावे के लिये भी योगी बना रहता है और यथार्थ में योगानुष्ठान में उसकी उपेक्षा होती है। व्यासभाष्य में इन तीनों उपायों की दृढता के लिये यह भी स्पष्ट किया है कि इनका पालन वही योगी कर सकता है, जो तपस्वी हो, ब्रह्मचारी=संयमी हो और पूर्ण विद्वान् हो। जो तपस्या, ब्रह्मचर्य व्रत तथा विद्या-प्राप्ति से घबराता है, उसका योगाभ्यास दिखावा मात्र होकर दीर्घकालीन, निरन्तर तथा श्रद्धापूर्वक नहीं हो सकता। योगाभ्यासी को तप और विद्या से आत्मिकशक्ति ('विद्यातपोभ्यां भूतात्मा' मनु०) और ब्रह्मचर्यपालन से शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक सर्वविध शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। और इन शक्तियों से सम्पन्न योगाभ्यासी ही व्युत्थान संस्कारों पर विजय प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं॥ १४॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

व्यासभाष्यम्

[दृष्ट] स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य [आनुश्रविक] स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य [वशीकारसंज्ञा] दिव्यादिव्यविषयसंयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—दृष्ट=नेत्रादि इन्द्रियों से साक्षात् किये हुए विषयों से और वेदादि शास्त्रों में पढ़े अथवा शास्त्रज्ञ-आचार्यों से सुने गये (पारलौकिक अथवा

अतीन्द्रिय) विषयों से वितृष्ण=वासना रहित मनुष्य की वशीकारसंज्ञा[1]=स्वाधीनत्वानुभूति (विषयों में आसक्त न होना) वैराग्य है।

भाष्यानुवाद—[दृष्ट] स्त्रियों के प्रति आसक्ति, अन्न-पान=भोग्य पदार्थों के प्रति आसक्ति और ऐश्वर्य=(ईश्वरस्य भावः) प्रभुता (उन्नत पदों की लालसा). इन दृष्टविषयों में वितृष्ण=वासना रहित चित्त का [आनुश्रविक] ('अनुश्रवो वेदः, तत्र विदितः इस व्युत्पत्ति से वेदबोधित) स्वर्ग=पारलौकिकादि सुखविशेष, वैदेह्य[2]=योगियों की संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त से मोक्षसुख सी अनुभूति, प्रकृतिलयत्व=योगियों की चित्त के प्रकृतिलीन न होने तक मोक्ष-सुख के समान अनुभूति, इन आनुश्रविक विषयों में वितृष्ण=वासनारहित विरक्त, दिव्य[3]-अदिव्य=दिव्यगन्धादि का ज्ञान, और सामान्य विषयों के संयोग होने पर भी विषयों के दोषों को जानने वाले चित्त की विवेकज्ञान के बल से विषयों के भोगों के प्रति त्यागात्मिका, हेय=त्याज्य भावों (द्वेषादि), उपादेय=ग्राह्य भावों (रागादि) से शून्य जो वशीकारसंज्ञा=स्वाधीनत्वानुभूति=विषयों में आसक्त न होने की दशा है, उसको वैराग्य कहते हैं। (अग्रिम-सूत्र में पर-वैराग्य कथन से यह अपर वैराग्य कहाता है।)

भावार्थ—चित्त की वृत्तियों के प्रवाह को रोकने के लिये वैराग्य बांध के समान होता है। जैसे बांध लगाने से जल का प्रवाह रुक जाता है, वैसे ही वैराग्य भी विषयोन्मुख चित्तवृत्तियों के प्रवाह को रोक देता है। 'वैराग्य' शब्द का अर्थ भी यही बताता है—'विगतो रागो विषयेषु यस्मात् स विरागः, विरागस्य भावो वैराग्यम्' अर्थात् रूपादि विषयों से राग-रहित होना वैराग्य है।

---

१. यहां 'संज्ञा' शब्द नाम का वाचक न होकर "संज्ञानं=सम्यगनुभूति=संज्ञा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यौगिकार्थ का बोधक है। इसमें व्यास-भाष्य ही प्रमाण है। अन्यथा व्यास जी 'वशीकारसंज्ञं वैराग्यम्' ऐसा लिखते।

२. वैदेह्य तथा प्रकृतिलयत्व सुखों की व्याख्या (यो० १। १९ व्यास-भाष्य में) देखिये।

३. 'दिव्य' शब्द का अभिप्राय दिव्यगन्ध, दिव्यरसादि की अनुभूति से है। योगाभ्यासी नासिका, जिह्वा, तालु आदि स्थानों पर चित्त की धारणा से दिव्यगन्ध, दिव्यरस, दिव्यरूपादि का अनुभव करता है। इस बात का स्पष्टीकरण (यो० १।३५) सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि ने किया है। जैसे—"नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः"। यह स्थिति यद्यपि मन को एकाग्र करने में साधक तो है, किन्तु चरम-लक्ष्य न होने से इस स्थिति में ही रुक जाना अथवा अपने को कृतकृत्य समझ लेना योगमार्ग में प्रबलबाधा भी है। इसलिये योगी इन दिव्यविषयों के दोषों तथा अदिव्य=सामान्य विषय दोषों को समझ-कर इनके प्रति त्याज्य भावना रखता है।

और राग का अर्थ है 'सुखानुशयी रागः' (व्यासभाष्ये १ । ११) लौकिक भोगों से जो उसके प्रति लालसा पैदा हो जाती है, उसका नाम राग है।

लोक में रागोत्पादक विषय दो प्रकार के हैं— (१) दृष्ट=जो लोक में भोगे जाते हैं, जैसे—स्त्रियों के प्रति राग, अन्न-पान=भोग्यपदार्थों के प्रति लालसा और ऐश्वर्य=धनादि ऐश्वर्य अथवा उन्नत पद को प्राप्त करने की इच्छा ये सभी ऐसे विषय हैं जो ऐन्द्रियिक होने से इस शरीर में ही भोगे जाते हैं। इन्हीं विषय-सुखों को भाष्यकार ने दिव्यादिव्य शब्दों से भी स्पष्ट किया है। अर्थात् सामान्य जनों को अनुभूतविषय अदिव्य कहलाते हैं और जो योगाभ्यास करते हुए मन को एकाग्र करते समय नासिकाग्र भागादि स्थानों पर दिव्यगन्ध, दिव्यरस, दिव्यरूपादि की अनुभूति होती है वे दिव्यविषय कहलाते हैं। यद्यपि ये दिव्यविषय मन को एकाग्र करने में प्रथम सहायक होते हैं, किन्तु ये विषय भी साधक के आगे बढ़ने में प्रबल बाधक होते हैं।

(२) दूसरे विषय आनुश्रविक=शास्त्र द्वारा जाने जाते हैं। इनमें स्वर्ग=सुखविशेष, जो यज्ञादि श्रेष्ठकार्यों से कालान्तर में प्राप्त होता है, वह इस वर्त्तमान शरीर में अथवा देहान्तर में भी प्राप्त हो सकता है। और वैदेह्य तथा प्रकृति-लयसुख के विषय में व्यासमुनि ने इस प्रकार वर्णन किया है—"**विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथा जातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति ॥** (यो० भा० १ । १९ सूत्र) अर्थात् वैदेह्य व प्रकृतिलय दोनों सुख योग की उत्कृष्टदशा में प्राप्त होते हैं। वैदेह्यसुख वह दशा है कि जब योगी के कर्म व कर्माशय दग्धबीज की भांति हो जाते हैं किन्तु संस्कार अभी शेष रहते हैं। और प्रकृतिलयसुख वह दशा है कि जब संस्कार भी शेष नहीं रहते, परन्तु चित्त के प्रकृति में विलय होने से पूर्व की वह अवस्था होती है।

इस प्रकार लौकिक रागोत्पादक भोगों, यज्ञादि से प्राप्त सुखों तथा योग-सिद्धिजन्यसुखों के दोषों को भी जिसने जान लिया है, और विवेकज्ञान के कारण जब इन सुखों में किसी प्रकार की भी आसक्ति नहीं रहती, उस राग-द्वेष शून्य स्वाधीनत्वानुभूति को 'वैराग्य' कहते हैं ॥ १५ ॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

व्यासभाष्यम्

[पुरुषख्यातेः] दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्-

तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धि [गुणवैतृष्ण्यम्] गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। यस्योदये योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते—प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः। यस्याविच्छेदाज्जनित्वाम्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—(पुरुषख्यातेः) पुरुषज्ञान से (पुरुषविशेष ईश्वर के साक्षात्कार से (गुणवैतृष्ण्यम्) सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण के प्रति तृष्णा=वासना का अभाव होना (तत्परम्) वह सर्वोत्कृष्ट वैराग्य है। (इस प्रकार अपरवैराग्य और परवैराग्य के भेद से वैराग्य के दो भेद हैं।)

भाष्यानुवाद—दृष्ट=इन्द्रिय प्रत्यक्ष लौकिक (स्त्री, अन्न-पान-ऐश्वर्यादि) और आनुश्रविक=वैदिक स्वर्गादि विषयों के दोषों को जानने वाला (विरक्तः) विषय-वासना से रहित[1] (पुरुषदर्शनाभ्यासात्) परमात्मदर्शन के अभ्यास से (तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिः) जो अलौकिक शुद्धि, उससे विवेकज्ञान की प्राप्ति से विकसित बुद्धिवाला (व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो गुणेभ्यो विरक्तः) प्रकट तथा अप्रकटधर्म वाले सत्त्वादिगुणों से विरक्त[2]=सर्वथा प्रथक् होकर पर-वैराग्य को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वैराग्य दो प्रकार का है। उनमें जो पिछला (परवैराग्य) वैराग्य है (तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्) वह ज्ञान का चरमकोटिक विकास है।

जिस ज्ञान के उदय होने पर (प्रत्युदितख्यातिः योगी) प्रतिभासित परमात्म-दर्शन वाला योगी इस प्रकार समझता है—प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया, क्षीण करने योग्य अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये, (श्लिष्टपर्वा) जिसके पर्व=खण्ड मिले हुए हैं, ऐसा (भवसंक्रमः) एक देह से दूसरे देह की प्राप्तिरूप संसार का आवागमन छिन्न-भिन्न हो गया है, जिसके छिन्न-भिन्न न होने से प्राणी उत्पन्न होकर मरता रहता है और मरकर पैदा होता रहता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा[3]=चरमसीमा ही वैराग्य है। इस (अन्तिम ज्ञान

१. अपर वैराग्य को प्राप्त हुआ।

२. परवैराग्य को प्राप्त हुआ।

३. ज्ञान की अन्तिम सीमा को ही वैराग्य कहने से संशय सम्भव है कि ज्ञान को ही वैराग्य मान लिया है। परन्तु ज्ञान वैराग्य का कारण है। जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान व वैराग्य में कारण-कार्य सम्बन्ध है। यहाँ व्यासभाष्य में इन दोनों में तादात्म्यसम्बन्ध से कारण (ज्ञान) को कार्य (वैराग्य) कहा है।

विकास अथवा पर वैराग्य से) से ही मोक्ष की प्राप्ति (नान्तरीयकम्[1]) अवश्य-भावी है।

भावार्थ—इस सूत्र में 'पर-वैराग्य' का स्वरूप बताया है। जिससे स्पष्ट है कि पूर्वसूत्र में कहा वैराग्य अपर-वैराग्य है। इन दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुए व्यासमुनि ने इस प्रकार लिखा है—अपर-वैराग्य में विषयों से होने वाले सुखों के दोषों को जानकर उनके प्रति घृणाभाव होने से वैराग्य होता है। यह निम्नस्तर का वैराग्य है और परवैराग्य आनन्द के भण्डार परमात्मा के साक्षात्कार होने से उत्कृष्टतम सुख की प्राप्ति होने से अन्य दोषयुक्त सुखों के प्रति प्रवृत्ति न होना है। इन दोनों भेदों को इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे किसी बालक को लाल मिर्च खाने पर मुंह जलनादि दोषों को देखकर मिर्च के प्रति घृणा होना अपर वैराग्य है और जो किसी रसीले मीठे फल के खाने से आनन्द प्राप्त करके मुंह जलाने वाली मिर्च के प्रति सर्वथा प्रवृत्ति न होना है, वह पर-वैराग्य है।

और जैसे सम्प्रज्ञातसमाधि और असम्प्रज्ञातसमाधि में भेद होते हुए भी दोनों में एक क्रम होता है, एक समाधि पूर्वावस्था है, दूसरी उत्तर-दशा है। पूर्व समाधि को प्राप्त करके उत्तर समाधि को प्राप्त किया जा सकता है, वैसे ही अपर वैराग्य भी पर-वैराग्य की प्राप्ति में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त परवैराग्य में ज्ञान की अन्तिम स्थिति परम-शुद्धि, सत्त्वादि प्रकृतिजन्यगुणों से सर्वथा विरक्ति, और विवेक-ज्ञान से विकसित-बुद्धि होने से परमात्म-साक्षात्कार होता है। और इस दशा में योगी ऐसा अनुभव करता है—प्राप्त करने योग्य प्राप्त कर लिया, अविद्यादि सब क्लेश नष्ट हो गये, जन्म-मरण का सांसारिक प्रबन्ध छिन्न-भिन्न हो गया है। इस प्रकार उत्कृष्टतम परमात्मा ज्ञान के होने से यह पर-वैराग्य सर्वोच्चस्तर का होता है ॥ १६ ॥

अव०—अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति ॥

(**अर्थ**) अब दोनों (अभ्यास और वैराग्य) उपायों से निरुद्ध हुई चित्त-

---

१. नान्तरीयकम्=अविनाभावी या अवश्यंभावी। 'येन विना यन्न भवति तन् नान्तरीयकम्'। अत्र 'अन्तरा' शब्दो विनार्थे, ततो गहादित्वाच्छः प्रत्ययः। ततः स्वार्थे कः। न अन्तरीयकम्=नान्तरीयकम्।

वृत्ति वाले पुरुष की सम्प्रज्ञात[1] समाधि कैसे होती है ? यह बतलाते हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

व्यासभाष्यम्

वितर्कश्चित्तस्याऽऽलम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के रूपानुगम=अनुगत होने अथवा उपस्थित रहने से सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद हैं।

भाष्यानुवाद—चित्त के आलम्बन में=चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये प्रथम आश्रय विशेष=नासिकाग्रभागादि में स्थूल विषय का आभोगः[2]=आश्रय करना 'वितर्क' कहाता है। सूक्ष्म विषय का आश्रय करना 'विचार' कहाता है। चित्त के आलम्बन में (ह्लादः) चित्तगत तमस् व रजस् में क्षीण होने तथा सुखमय सत्त्वगुण प्रधान होने पर अव्यक्त प्रकृति का आश्रय करना 'आनन्द' कहाता है। और चित्त के आलम्बन में (एकात्मिता संविद्) एक आत्मा की प्रतीति 'अस्मिता' है। इनमें सवितर्का समाधि में चारों (स्थूल-सूक्ष्मादि) की उपस्थिति रहती है। दूसरी सविचार समाधि में वितर्क का अभाव (शेष तीनों की उपस्थिति) रहता है। तीसरी सानन्द-समाधि में (वितर्क और) विचार का अभाव (शेष दो की उपस्थिति) रहता है। और चौथी अस्मितागत समाधि में 'अस्मितामात्र' होता है। ये सभी समाधियाँ सालम्बन=आलम्बनसहित होती हैं।

भावार्थ—संप्रज्ञात-समाधि के वितर्कादि चारों भेद सालम्बन होते हैं। योगाभ्यास के प्रारम्भिक स्तर में चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये किसी स्थूल वस्तु का आलम्बन करना होता है। जैसे—लक्ष्य-वेध का अभ्यास करने वाला प्रथम स्थूल पदार्थों को लक्ष्य बनाता है, फिर अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म

---

१. सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से समाधि के दो भेद हैं। सम्प्रज्ञात समाधि का आशय है कि इसमें किसी वस्तु का आश्रय होने से उसका बोध बना रहता है और असम्प्रज्ञात में कोई आलम्बन नहीं होता। आलम्बन भेद से सम्प्रज्ञात के चार भेद हैं।

२. आभोगः=शरीरम्=आश्रयः। 'भोगशब्दः शरीरवाच्यपि दृश्यते' (महाभाष्ये ५।१।६)

लक्ष्य का भी वेधन करने लगता है। वैसे ही योगाभ्यासी को प्रथम देह से भिन्न देह में नासिकाग्र, भ्रुकुटि, हृदय, मस्तिष्कादि का स्थूल ग्रालम्बन करना पड़ता है। इस प्रथम स्तर की समाधि में स्थूल भूतों का मुख्य ग्राधार होने से इसे वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ग्रौर इसमें स्थूल-भूतों (वितर्कानुगत) स्थूल भूतों के कारण सूक्ष्मतन्मात्राग्रों का ग्राधार होने से विचारानुगत, स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन करने ग्रौर चेतनात्मा को उससे पृथक् जानने से जो सुखानुभूति होती है, उससे ग्रानन्दानुगत ग्रौर ज्ञान करने वाले जीवात्मा की ग्रनुभूति (ग्रस्मितानुगत) होने से चारों ग्राधारों का ग्रवलम्बन होता है।

योगाभ्यास करते हुए वृत्तिनिरोध करने का दूसरा स्तर विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है, इसमें स्थूल वस्तुग्रों का ग्राश्रय न होकर सूक्ष्म तन्मात्राग्रों का ग्राश्रय करना होता है। इससे सूक्ष्म प्रकृति ग्रौर उसके विकारों का चिन्तन होने से इसमें वितर्कानुगत को छोड़कर शेष तीन ग्राधार रहते हैं। इस स्तर में निरन्तर योगाभ्यास करने से चित्त में सत्वगुण की ग्रधिकता ग्रौर तमस् व रजस् क्षीण या ग्रभिभूत होने लगते हैं। ग्रौर जड-चेतन के सूक्ष्मभेद का चिन्तन होने से इसे विचारानुगत समाधि कहते हैं।

वृत्तिनिरोध के तीसरे स्तर में चित्त में सत्त्व-गुण की प्रबलता ग्रौर दूसरे रजस् व तमस् गुणों के क्षीण होने से सत्त्व-प्रधान बुद्धि ग्रौर ज्ञाता जीवात्मा का ही ग्रालम्बन होता है। इस दशा में जड-चेतन के यथार्थ स्वरूप के बोध से ग्रात्मा को ग्रपने लक्ष्य की ग्रोर जाने में सफलता होने से सुखानुभूति होने लगती है। इसलिये इसे ग्रानन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

ग्रौर वृत्ति-निरोध के ग्रन्तिम-स्तर को ग्रस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यद्यपि 'ग्रस्मिता' का योगदर्शन में (२। ६ में) क्लेशों में भी परिगणन किया है, परन्तु यहाँ वह क्लेश नहीं है। इस स्तर में शुद्ध चित्तवृत्ति से जीवात्मा के स्वरूप का कुछ साक्षात्कार होने से 'ग्रहम् ग्रस्मि' मैं हूँ ग्रथवा मेरी प्रकृति से भिन्न सत्ता है, इस प्रकार का बोध होने से इसे ग्रस्मितानुगत समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात-योग के इस स्तर में केवल जीवात्मा का ही ग्रालम्बन होता है, ग्रन्य स्थूलादि का नहीं। ग्रतः भाष्यकार व्यासमुनि ने इस दशा को 'एकात्मिका संविद्' कहा है। यह तत्त्व-ज्ञान की प्रमुख प्रक्रिया है। जिसे यजुर्वेद के चालीसवें ग्रध्याय में "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते" ग्रर्थात् विनाश=सूक्ष्म ग्रव्यक्त प्रकृति के ग्रौर सम्भूत्या=कार्य स्थूलजगत् के ज्ञान से मृत्यु को तरके मोक्ष-प्राप्ति का कथन किया है॥ १७॥

अव०—अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किं स्वभावो वेति ॥

(अर्थ)—अब असम्प्रज्ञात समाधि किस उपायवाली और किस स्वभाव वाली होती है, यह कहते हैं—

विराम[1]प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

व्यासभाष्यम्

[विराम] सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये [संस्कारशेषः] संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः। [प्रत्यय] तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनी क्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—सब वृत्तियों के विराम=निरोध के प्रत्यय=कारण (परवैराग्य) के बार बार अभ्यास करने पर (संस्कारा एव शेषा यस्मिन्) संस्कार ही जिसमें शेष हैं ऐसी निरोध रूप (चित्त की समाधि) सम्प्रज्ञात से भिन्न असम्प्रज्ञात-समाधि कहलाती है।

भाष्यानुवाद—[विराम] चित्त की सब वृत्तियों के विलीन हो जाने पर [संस्कारशेषः] संस्कार ही जिसमें शेष रह जाते हैं ऐसी निरोधरूप चित्त की समाधि ही असम्प्रज्ञात समाधि है। [प्रत्यय] उस समाधि का उपाय परवैराग्य है। (सम्प्रज्ञात समाधि में किया गया वितर्कादि के आश्रय से) आलम्बन-सहित किया गया अभ्यास असंप्रज्ञात समाधि की सिद्धि के लिये समर्थ नहीं होता, इसलिये विराम=वृत्तिनिरोध के प्रत्यय=कारण परवैराग्य [का अभ्यास] बिना किसी वस्तु के आश्रय से किया जाता है। और वह अभ्यास वस्तुशून्य होता है। उस निरालम्बनपूर्वक किया गया, परवैराग्य के अभ्यास वाला चित्त आलम्बनहीन होने से अभावरूप सा हो जाता है। यह निर्बीज=क्लेशकर्माशयादि बीजों से शून्य समाधि ही असंप्रज्ञात-समाधि है।

भावार्थ—यहाँ 'विराम' पद का अर्थ है—चित्त की समस्त वृत्तियों का विषयों के प्रति आकृष्ट न होना अर्थात् चित्त के व्यापार का विषयों के प्रति समाप्त हो जाना। इस विराम-स्थिति का उपाय परवैराग्य है। परवैराग्य के

---

१. विरामः=सर्ववृत्तीनामुपरमो निरोधः, तस्य प्रत्ययः कारणं परवैराग्यं, तस्य परवैराग्यस्य अभ्यासः पौनःपुन्येन अनुष्ठानं पूर्वं यस्य सः 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः'।

अभ्यास से यह स्तर (ज्ञान की उत्कृष्ट दशा) प्राप्त होता है। इस दशा में जीवात्मा कैवल्य=अपने स्वरूप स्थिति का अनुभव करने लगता है। और चित्त में कर्मों के संस्कार बने रहते हैं। उन संस्कारों को दग्ध करने के लिये निरन्तर परवैराग्य का अभ्यास अत्यन्तावश्यक है। अन्यथा ये संस्कार उचित अवसर पाकर प्रबल होकर योगी के पतन के कारण बन सकते हैं। सम्प्रज्ञातसमाधि में किया गया सालम्बन-अभ्यास संस्कारों के दग्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः आलम्बन-रहित=किसी वस्तु के आश्रय के विना ही अभ्यास करते करते निर्बीज=क्लेश-कर्माशयादि से शून्यस्थिति जब हो जाती है, उस को असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं। अगले सूत्र में इस समाधि के भेद-कथन करने से स्पष्ट है कि इस समाधि के भी विभिन्न स्तर होते हैं। और इसलिये ही मोक्ष प्राप्त होने से पूर्व की दशाओं में संस्कार शेष रहना माना गया है। इसी बात की पुष्टि (यो० १।१९) सूत्र के व्यासभाष्य में 'स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन' कहकर विदेह योगियों के स्तर का वर्णन किया है। परन्तु मोक्ष में संस्कार भी नहीं रहते। मोक्ष में तो ब्रह्मानन्द में मग्न होने से तन्मयता=ब्रह्मरूपता का ही कथन किया गया है। इसी बात को व्यासमुनि ने कहा है "तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभाव-प्राप्तमिव भवति" अर्थात् अभ्यास करते हुए असंप्रज्ञातसमाधि की अन्तिम दशा में चित्त अभावरूप सा हो जाता है। जब मोक्ष से पूर्व ऐसी दशा होती है तो चित्त के विलय होने पर जीवात्मा की ब्रह्मानन्द में तन्मयता का स्वतः ही अनु-मान किया जा सकता है।

और असंप्रज्ञात-समाधि की दशा के संस्कार भी ज्ञान उत्कृष्टदशा में पहुँचने पर दग्ध हो जाते हैं। उपनिषदों में भी 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' उस परमात्म-साक्षात्कार होने पर योगी के कर्म=कर्माशय और संस्कार क्षीण होना कहा है और यही ज्ञानाग्नि से संस्कारों का भस्म होना कहलाता है। महर्षि-दयानन्द ने कर्माणि का अर्थ सब पाप कर्म किया है ॥१८॥

अव०—स खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति।

(**अर्थ**)—वह असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है—(१) उपायप्रत्यय और (२) भवप्रत्यय। उनमें उपाय-प्रत्यय[1]-समाधि योगियों को होती है।

---

१. उपाय-प्रत्ययसमाधि का आशय है—उपाय=परमेश्वर के अतीव निकट होकर प्रत्यय=अनुभूति। अथवा—'उपायः (यमनियमादयः) प्रत्यय=कारणं यस्य' अर्थात् जो यमनियमादि योग के उपायों से प्राप्त होवे।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

व्यासभाष्यम्

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञातसमाधि विदेह और प्रकृतिलय योगियों की होती है।

भाष्यानुवाद—विदेह नामक देवों की 'भवप्रत्यय' समाधि होती है। वे निश्चय से अवशिष्ट संस्कारों के उपयोग करने वाले चित्त से मोक्ष जैसा सुख अनुभव करते हुए उस उस प्रकार के अपने संस्कारों के फल पर निर्वाह करते हैं अथवा संस्कारों के फल को भोगते हैं। उसी प्रकार प्रकृतिलययोगी चित्त के निवृत्त न होने पर सत्त्वादि गुणों वाले चित्त के रहते हुए कैवल्य=मोक्षपद जैसा आनन्द अनुभव करते हैं, जब तक चित्त अधिकारवश=भोगापवर्गरूपी कार्य पूरा न होने से लौटता नहीं अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होने पर भी तब तक शरीरादि बना ही रहता है।

भावार्थ—असम्प्रज्ञात-समाधि के प्रकारों में 'भवप्रत्यय' के विषय में प्रायः बहुत ही भ्रान्ति है। वे भूल जाते हैं कि इस असम्प्रज्ञात-समाधि में किसी प्रकार का आलम्बन नहीं होना चाहिये। प्रायः व्याख्याकार 'भवप्रत्यय' का अर्थ जन्म-मूलक मानते हैं अथवा अविद्यामूलक मानते हैं। किन्तु यह व्यास-भाष्य से विरुद्ध होने से ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान की पराकाष्ठा[1]=चरमसीमा को वैराग्य माना है। वैराग्य के बिना कोई भी समाधि नहीं होती। फिर असंप्रज्ञातसमाधि में अज्ञानमूलकता कैसे सम्भव है? इस सूत्र के व्यास-भाष्य से भी उस अर्थ की कोई संगति नहीं लगती। व्यास-भाष्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो रहा है—प्रकृतिलय और विदेह जीवन्मुक्त योगी होते हैं। और 'भवप्रत्ययः' का आशय यही है कि वे असम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त होकर भी शरीरधारी होने से भव=संसार का प्रत्यय=बोध रखते हैं। और 'उपाय-प्रत्यय' योगी असम्प्रज्ञात समाधि में पहुंचकर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं और शरीरादि के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। अतः 'भवप्रत्यय' योगियों के विषय में इस प्रकार समझना चाहिये—

---

१. इस विषय में यो० १। १६ सूत्र पर पादटिप्पणी द्रष्टव्य है।

(१) **प्रकृतिलययोगी**—परमात्मा की उपासना के दो प्रकार हैं—सगुण और निर्गुण। निर्गुण-उपासना के दो भेद हैं, एक ईश्वर में प्रकृति[1] के धर्मों का अभाव मानकर उपासना की जाती है। ऐसे उपासकयोगी प्रकृतिलय कहलाते हैं। और वे गन्धतन्मात्रादि से लेकर मूलप्रकृति तक निरोध करके असम्प्रज्ञातसमाधि तक पहुंच चुके होते हैं। और इनकी नश्वरता को जानकर विरक्त होते हैं।

(२) **विदेह-योगी**—उसी निर्गुण-उपासना में ईश्वर में जीवात्मा के धर्मों का अभाव मानकर उपासना करने वाले योगी विदेहयोगी कहलाते हैं। और वे देह[2] अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मनादि अन्तःकरण के सम्बन्ध से विगत होकर योग के अभ्यास द्वारा अहंकार का भी निरोधकर असम्प्रज्ञातसमाधि तक पहुंच चुके होते हैं। और निरन्तर अभ्यास द्वारा इनकी (मनादि से) नश्वरता को जानकर इनसे विरक्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिलय और विदेहयोगी जड प्रकृति और चेतनात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर परमात्म-साक्षात्कार के स्तर तक पहुंच जाते हैं। परन्तु इस स्तर पर पहुंचकर भी जो योगी सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते। इसलिये अगले सूत्र में उपाय-प्रत्यय मुमुक्षु=परमात्म-साक्षात्कार करने वालों के लिये श्रद्धादि उपायों का कथन किया गया है ॥ १९ ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

व्यासभाष्यम्

[इतरेषाम्] उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। [श्रद्धा] श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥ २० ॥

---

१. यहाँ प्रकृति से अभिप्राय तन्मात्रा, अहंकार, महत्तत्त्व और मूलप्रकृति से है।

२. यहाँ देह से अभिप्राय शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकारादि से है। और प्रकृतिलय तथा विदेह योगी 'भवप्रत्यय' के भेद हैं। 'भव' का अर्थ संसार है अर्थात् संसार के मूल उपादान कारण प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य देहादि के स्वरूप को जानकर इनसे विरक्त होने के कारण इन्हें 'भवप्रत्यय' योगी कहते हैं।

सूत्रार्थ—(इतरेषाम्) विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों की असम्प्रज्ञातसमाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा उपायपूर्वक होती है। (इन उपायों को क्रम से करने से यह समाधि प्राप्त होती है।)

भाष्यानुवाद—[इतरेषाम्] विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों की 'उपायप्रत्यय'=ईश्वर-सान्निध्य से मोक्ष को प्राप्त कराने वाली असम्प्रज्ञातसमाधि होती है। [श्रद्धा] चित्त की प्रसन्नता तथा रागादि से शून्य होने से निर्मलता श्रद्धा है। वह श्रद्धा निश्चय से कल्याण करने वाली होती है और वह योगी की (विघ्नों से) रक्षा करती है। उस श्रद्धावान् विवेकार्थी योगी का वीर्य=सामर्थ्य प्रकट होता है। सामर्थ्यवान् योगी की स्मृति=पूर्वाभ्यस्त स्थिति को याद रखना है। स्मृति के आने पर अनाकुलम्=चञ्चलतादि बाधा से रहित चित्त समाहित=संयम को प्राप्त करता है, संयत चित्तवाले योगी का प्रज्ञाविवेक=विवेकरूप उत्कर्षज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे योगी वस्तुओं[1] को यथार्थरूप में जान लेता है। उस विवेकज्ञान के अभ्यास से तथा तद्विषय=विवेकज्ञान के प्रति भी वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

भावार्थ—योगदर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने वाले योगियों के स्तर-भेद से अनेक भेद किये हैं। इससे प्रथम सूत्र में भवप्रत्यय अर्थात् प्रकृतिलय तथा विदेहयोगियों का कथन करके इस सूत्र में उपाय-प्रत्यय=मुमुक्षु परमात्म-साक्षात्कार की इच्छा वाले योगियों के लिए श्रद्धादि उपायों का कथन किया गया है। इस स्तर पर पहुंचकर योगी को अत्यधिक सचेत रहने की आवश्यकता होती है। श्रद्धादि उपायों से परमात्म-प्रत्यय (बोध) होने के कारण ही इन योगियों का नाम 'उपाय-प्रत्यय' प्रसिद्ध हुआ है। उप=अत्यन्त परमात्म-सामीप्य को प्राप्त करके परमात्मा का बोध करना ही इन योगियों का प्रमुख लक्ष्य रहता है। सूत्रकार ने निम्नलिखित उपाय उपाय-प्रत्यय योगियों के लिये बताये हैं—

(१) **श्रद्धा**—चित्त को प्रसन्न (निर्मल) रखना। बिना श्रद्धा के योगी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। नाना प्रकार के विघ्नों और मलों से श्रद्धा ही योगी की रक्षा करती है। और योगी अनन्यचित्त होकर श्रद्धावश परमात्म-साक्षात्कार करने में तत्पर रहता है।

(२) **वीर्य**—शक्ति तथा उत्साह। श्रद्धावान् योगी के लिये वीर्य=शक्ति

१. व्यासभाष्ये 'वस्तु' इति जातावेकवचनम्।

(सामर्थ्य) की भी परमावश्यकता रहती है। जिससे विघ्नों का प्रतिकार कर सके और अपने लक्ष्य पर उत्साह से बढ़ता रहे और शक्ति के बिना उत्साह नहीं हो सकता।

(३) **स्मृति**—पूर्वाभ्यस्त स्थितियों को याद रखना। श्रद्धा व वीर्यसम्पन्न योगी अपनी समस्त पूर्वाभ्यस्त स्थितियों को स्मरण रखता हुआ सदा सावधान रहता है। अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिये कौन-कौन सी बाधायें सम्भव हैं, और उनसे कैसे रक्षा करनी चाहिये, यह स्मृति उपाय है। इससे योगी अग्रिम स्तर पर पहुंचने के लिये अपने आप को सुदृढ़ कर लेता है। और बाधारित चित्त समाधि को प्राप्त कर लेता है।

(४) **समाधि**—चित्त का निरोध होना। इस स्तर पर पहुंचकर भी अनेक बार योगी का मन विवेक से उत्पन्न झलकमात्र से ही सन्तुष्ट होकर लक्ष्य को भूल जाता है। और लक्ष्य से विमुख होने लगता है। अतः चित्त को निरोध करने की इस स्तर में भी परमावश्यकता रहती है।

(५) **प्रज्ञा**—ऋतम्भरा बुद्धि का प्रकट होना। परमात्म-साक्षात्कार के स्तर की ओर बढ़ते हुये योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है, जिससे यथार्थ बोध के साथ परमात्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट स्थिति को योगी प्राप्त कर लेता है। इनके अभ्यास तथा परवैराग्य से असंप्रज्ञात-समाधि की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है और योगी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

अव०—ते खलु नवयोगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति। तद्यथामृदूपायो-मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायस्त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्र-संवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति। तत्राधिमात्रोपायानाम्—

(अर्थ)—वे (श्रद्धादियुक्त योगी) निश्चय से मृदु, मध्य और अधिमात्र उपायों के भेद से नौ होते हैं। जैसे—मृदु-उपायवाला, मध्य-उपायवाला, अधिमात्र-उपायवाला। उनमें मृदु-उपाय योगी तीन प्रकार के होते हैं—मृदु-संवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग। वैसे ही मध्योपाय वाले तथा अधिमात्र-उपाय वाले योगियों के तीन तीन प्रकार होते हैं। उनमें से अधिमात्रोपाय वाले योगियों की—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

व्यासभाष्यम्

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद—समाधि की सिद्धि और समाधि का फल=कैवल्य (मोक्ष) तीव्रसंवेग वाले योगियों के आसन्नः=निकट होता है।

सूत्रार्थ—तीव्रसंवेग[1]=तीव्र[2]=शुद्ध (दोषरहित) है संवेग=वैराग्य जिनका, उन वैराग्ययुक्त योगियों की समाधि-सिद्धि और समाधि का फल समीप होता है। अथवा 'संवेग' शब्द से (१।२०) सूत्रोक्त श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, व प्रज्ञा का ग्रहण करना चाहिये, इन्हीं को यौगिक क्रियानुष्ठान भी कह सकते हैं। शीघ्र समाधि के लिये वैराग्य तथा श्रद्धादि का जितना आधिक्य होगा, उतनी ही समाधि-सिद्धि शीघ्र होगी। और यहाँ भी ध्यान रखना चाहिये कि इस सूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि में पहुँचे हुए योगियों के विषय में कथन किया गया है, सामान्य स्तर के लिये नहीं। अतः पूर्वसूत्रोक्त श्रद्धादि का ग्रहण ही करना उचित है॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

व्यासभाष्यम्

[मृदुमध्याधिमात्रत्वात्] मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। [ततोऽपि विशेषः] तद्विशेषादपि मृदुतीव्रसंवेगस्याऽऽसन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्याऽऽसन्नतरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद—[मृदुमध्याधिमात्रत्वात्] मृदुतीव्र, मध्यतीव्र तथा अधिमात्र-तीव्र, भेद होने से [ततोऽपि विशेषः] उस पूर्वोक्त (तीव्रसंवेग) से भी विशेषता

---

१. 'संवेगः' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'विजिर् पृथक्भावे' (जु०) धातु से निष्पन्न है। सम्यक् वेगः=संसारात् पृथक्भावः=संवेगः (वैराग्यम्)। अर्थात् जो संसार के सुखों से सर्वथा पृथक् होना है, उसे 'संवेग' कहते हैं।

२. 'तीव्रम्' का अर्थ 'शुद्ध किया हुआ' भी है। देखिये ऋ० ५।५।१ का महर्षि-भाष्य।

है अर्थात् मृदुतीव्रसंवेग योगी को समाधिलाभ और समाधिफल निकट होता है, और उस योगी से मध्यतीव्रसंवेग वाले योगी को आसन्नतर=अतिशय निकटतर और उस योगी से भी अधिमात्र तीव्रसंवेग अधिमात्रोपाय वाले योगी को समाधि-लाभ और समाधि का फल (मोक्ष) अतिशय निकट होता है।

सूत्रार्थ—(पूर्वसूत्रोक्त तीव्रसंवेग वाले योगियों में) मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, और अधिमात्रतीव्र[1] भेद से (ततोऽपि विशेष:) उन तीव्रसंवेग वाले योगियों से भी शीघ्र समाधिलाभ और समाधि का फल (मोक्ष) होता है।

भावार्थ—(२१–२२) इन दोनों सूत्रों में उपाय-प्रत्यय योगियों के भी विभिन्न स्तर बताये हैं। असंप्रज्ञातसमाधि की पूर्ण सिद्धि तक पहुंचने के लिये निम्न प्रकार से नौ स्तर बताये हैं। तीव्र वैराग्य तथा तीव्रक्रियानुष्ठान में भी अल्प व आधिक्य होने से समाधिलाभ विलम्ब तथा अल्पकाल में होता है। वे स्तर इस प्रकार हैं—

प्रथम इन योगियों के तीन भेद किये हैं—(१) मृदूपाययोगी (२) मध्योपाययोगी (३) अधिमात्रोपाययोगी। तदनन्तर प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं। तद्यथा—

१ मृदूपाययोगी	२ मध्योपाययोगी	३ अधिमात्रोपाययोगी
(१) मृदुवैराग्य, मृदुक्रियानुष्ठान।	(१) मध्यवैराग्य मृदुक्रियानुष्ठान।	(१) अधिमात्रवैराग्य, मृदुक्रियानुष्ठान।
(२) मृदुवैराग्य, मध्यक्रियानुष्ठान।	(२) मध्यवैराग्य मध्यक्रियानुष्ठान।	(२) अधिमात्रवैराग्य, मध्यक्रियानुष्ठान।
(३) मृदुवैराग्य, अधिमात्रक्रियानुष्ठान।	(३) मध्यवैराग्यअधिमात्रक्रियानुष्ठान।	(३) अधिमात्रवैराग्य अधिमात्रक्रियानुष्ठान।

इनमें सर्वाधिक काल मृदूपाय के प्रथम भेद में लगता है और उससे कम क्रमश: करते करते सर्वापेक्षा अल्पकाल अधिमात्रोपाययोगी के तृतीय भेद में लगता है। और जब 'संवेग' शब्द के वैराग्य और क्रियानुष्ठान दोनों अर्थ होते हैं, तब उपर्युक्त भेदों में विपर्यय भी हो सकता है। जैसे—

---

१. यहाँ 'अधिमात्र' शब्द में 'अधि' शब्द अधिकतम अर्थ का बोधक है। जिससे और अधिक न हो सके, उसे 'अधिमात्र' कहते हैं। 'तीव्र' शब्द से इसमें विशिष्ट अर्थ का बोध कराया गया है। क्योंकि तीव्र शब्द में सापेक्ष होने से न्यूनता व अधिकता की भी सम्भावना रहती है।

(१) मृदुक्रियानुष्ठान, मृदुवैराग्य ।	(१) मध्यक्रियानुष्ठान, मृदु वैराग्य ।	(१) अधिमात्र क्रियानुष्ठान मृदु वैराग्य ।
(२) मृदुक्रियानुष्ठान, मध्यवैराग्य ।	(२) मध्यक्रियानुष्ठान, मध्यवैराग्य ।	(२) अधिमात्रक्रियानुष्ठान मध्यवैराग्य ।
(३) मृदुक्रियानुष्ठान, अधिमात्रवैराग्य ।	(३) मध्यक्रियानुष्ठान, अधिमात्रवैराग्य ।	(३) अधिमात्रक्रियानुष्ठान, अधिमात्रवैराग्य ।

इन उपर्युक्त योगियों के भेदों में से उत्तरोत्तर अधिक कठिन तथा बाधाओं से पूर्ण हैं। इसलिये कठोपनिषत्कार ने 'दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' कहकर इस रहस्य को स्पष्ट किया है। इस समाधिलाभ के लिये अनेक जन्म-जन्मान्तरों में निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिये इस स्तर पर पहुंचने वाले योगी को निराशा व निरुत्साह जैसे योगमार्ग के प्रबल शत्रुओं को नष्ट करने के लिये श्रद्धा, वीर्यादि उपायों का विशेषरूप से पालन करना चाहिये ॥ २२ ॥

अव०—किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति ?

(**अर्थ**) क्या इन तीव्र संवेगादि (परवैराग्यादि) से समाधि अतिशय निकट होती है अथवा इस (असंप्रज्ञात-समाधि) की सिद्धि में दूसरा भी कोई उपाय है या नहीं ?

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

व्यासभाष्यम्

[प्रणिधानाद्] भक्तिविशेषाद् आवत्तित[1] ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद—[ईश्वरप्रणिधानाद्[2]] ईश्वर की विशेष भक्ति करने

१. 'आवत्तित' इति पाठो महर्षिदयानन्दकृत ऋ० भा० भूमिकायाम् । अन्यत्र 'आवर्जित' इति पाठान्तरम् ।

२. अन्यत्र 'ईश्वर-प्रणिधान' शब्द की व्याख्या योगभाष्य में इस प्रकार की है—ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा' (योगभा० २ । १) अर्थात् सब क्रियाओं का परमगुरु परमात्मा में अर्पण तथा उनके फल की इच्छा न करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है ।

से आवर्त्तित=मन से सर्वथा अभिध्यान ईश्वर अभिध्यानमात्र=मन का प्रणिधान[1] करने से उस उपासक पर अनुकम्पा करता है। उस के अभिध्यान करने से योगियों की समाधि सिद्धि और समाधि का फल अतिशय निकट हो जाता है।

सूत्रार्थ—"तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेषभक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है"॥ (ऋ० भू० उपासना०)

"(ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना"।

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—इस सूत्र में 'वा' समुच्चयार्थक है, वैकल्पिक नहीं। उपाय-प्रत्यय योगियों को परमात्म-साक्षात्कार के लिये पूर्वोक्त अभ्यास, वैराग्यादि उपायों के अतिरिक्त ईश्वरप्रणिधान=ईश्वर की विशेष-भक्ति करके ईश्वर का अनुग्रह-पात्र बनना भी अति आवश्यक है। 'ईश्वर-प्रणिधान' शब्द की व्याख्या व्यासमुनि ने (२।१ में) इस प्रकार की है—उस परम गुरु परमेश्वर में अपनी समस्त क्रियाओं का अर्पण करना और उसके फलों का परित्याग करना। और सूत्रकार ने ईश्वर का स्वरूप अग्रिम-सूत्र (१।२४) में स्पष्ट किया है। तथा 'प्रणिधान' का अर्थ है अनन्यचित्त होकर ईश्वर की विशेष-भक्ति करना। इसी स्थिति को 'ईश्वर का प्रसाद' भी कहते हैं। परमेश्वर ऐसे योगी के अभीष्ट-साधन में दयालु पिता की भांति अवश्य सहायक होता है।

और यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ईश्वर कोई चाटुकार की भांति खुशामद नहीं चाहता। वह तो सदा ही दयालु-भाव सब प्राणियों पर दर्शाता है। और जो उसको प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास का अनुष्ठान सतत कर रहा है, ऐसे सुपात्र योगी पर परमेश्वर अवश्य अनुकम्पा करते हैं। परन्तु जो परमात्म-साक्षात्कार के साधनों को नहीं अपनाता, केवल प्रभु का नामस्मरण ही करता रहता है, उस पुरुषार्थ-हीन पर परमेश्वर कदापि अनु-कम्पा नहीं करते॥ २३॥

---

१. प्राणेण निधीयते मनोऽनेनेति प्रणिधानम्। (प्र+नि+धा+ल्युट् करण-कारके)

अव०—अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?

(अर्थ)—प्रधान=प्रकृति और पुरुष=जीवात्मा से भिन्न यह ईश्वर कौन=किस स्वरूपवाला है ?

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

व्यासभाष्यम्

[क्लेश] अविद्यादयः क्लेशाः। [कर्म] कुशलाकुशलानि कर्माणि। [विपाक] तत्फलं विपाकः। [आशय] तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। [पुरुषविशेषः] यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।

कैवल्यं प्राप्तस्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि च्छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ता ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य योद्धृषु पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्।

शास्त्रं पुनः किंनिमित्तं, प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्।

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वर सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्।

तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति। अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति॥ २४॥

भाष्यानुवाद—[अविद्या] अविद्या[1], अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाञ्च क्लेश हैं। [कर्म] कुशल=पुण्यजनक, अकुशल=अपुण्यजनक

---

१. योग० २। ३–९ सूत्रों में अविद्यादि के लक्षण द्रष्टव्य हैं।

कर्म हैं। [विपाक] उन कर्मों के फल को विपाक[1] कहते हैं। [आशय] उन कर्मों के फलों के अनुरूप बनी (संस्कारों की) वासनायें 'आशय'[2] हैं। और वे अविद्यादि मन में रहते हुए पुरुष=पुरि शरीरे शयनात्=जीवात्मा में व्यवहृत होते हैं। इसमें कारण यह है कि जीवात्मा उन अविद्यादि के फलों का भोगने वाला है। जैसे जय और पराजय योद्धाओं=राजा के सैनिकों में होता है किन्तु जय-पराजय का व्यपदेश=व्यवहार स्वामी=राजा में होता है। क्योंकि जो इन क्लेशकर्मादि तथा इनके भोग से अपरामृष्टः[3]=सम्पर्करहित=असंबद्ध है, वह पुरुषविशेष[4] ईश्वर है।

केवलिनः=कैवल्य [मोक्ष] को जिन्होंने प्राप्त किया है, ऐसे मुक्तपुरुष बहुत हुए हैं। वे निश्चय से त्रीणि बन्धनानि=स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-शरीरों के बन्धनों को काटकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, किन्तु ईश्वर का इन शरीरादि बन्धनों[5] से न कभी सम्बन्ध हुआ है और न भविष्य में होगा। जैसी मुक्ति को प्राप्त योगी की पूर्वाबन्ध कोटिः=मुक्ति से पूर्वकाल में शरीरादि के बन्धन की स्थिति होती है, इस प्रकार ईश्वर की नहीं है। अथवा जैसे प्रकृतिलीनस्य[6]=प्रकृतिलययोगी की (चित्तादि के निवृत्त न होने से) उत्तरा=शरीरत्याग के बाद बन्धकोटिः=शरीरादि के बन्धन की स्थिति सम्भव है, इस प्रकार ईश्वर की नहीं। वह तो सदा ही मुक्त है और सदा ही ईश्वर=सर्वातिशायी ऐश्वर्य वाला है।

[प्रश्न] जो यह ईश्वर का प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्=सर्वोत्कृष्ट सर्वाति-

---

१. जाति, आयु और भोग ये कर्मों के फल हैं। योग० २। १३ के भाष्य में विशेष द्रष्टव्य है।

२. अत्र आङ्पूर्वक शीङ्धातुः स्थित्यर्थे, यथा जलाशय इति।

३. अत्र सर्वथाऽभावार्थे नञ्समासः ईश्वरस्याभोक्तृत्वे वैदिकम्प्रमाणमपि—'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। (ऋ०)

४. पुरुषशब्देन जीवेश्वरावुभावपि गृह्येते। तत्र प्रकरणानुसारमर्थो ग्राह्यः। अत्र जीवाद् ईश्वरस्य किमन्तरमिति प्रसङ्गे परमेश्वर एव पुरुषशब्दस्यार्थः। निरुक्ते पुरुष शब्दस्यायमेवार्थो निर्वचनेन स्पष्टीक्रियते—"पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तर्पुरुषमभिप्रेत्य"। (निरुक्त० २। ३)

५. वेदे परमेश्वर एव 'अकायम्-अव्रणम्, अस्नाविरम्' (यजु०) इत्यादिविशेषणैः प्रोक्तः। अनेन परमेश्वरस्यावतारवादः सर्वथा प्रत्याख्यातः।

६. प्रकृतिलययोगिनो व्याख्या यो० १। १९ सूत्रे द्रष्टव्या।

शयी) सत्त्व[1]=प्रलयादि में भी अविनश्वर अनादि अथवा सत्त्व=शुद्धस्वरूपादि गुणों के ग्रहण करने से शाश्वतिकः=सार्वकालिक (सदा रहने वाला) उत्कर्षः=ऐश्वर्य है, क्या वह सनिमित्तः[2]=प्रमाणसहित है अथवा प्रमाणरहित है ?

[उत्तर] उस ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्रम्=वेद प्रमाण है। वेद का प्रमाण क्यों है ? प्रकृष्ट-सत्त्व निमित्तम्=अनादि शुद्ध स्वरूप ईश्वर प्रमाण है (क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। जैसा कि वेदान्तदर्शन में स्पष्ट कहा है—'शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् वेद का कारण परब्रह्म है) इन वेद और ऐश्वर्य का ईश्वर के सत्त्व=शुद्धस्वरूप में सदा वर्त्तमान होने से अनादि सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ऐश्वर्य वाला है. और सदा ही मुक्त है। और वह उसका ऐश्वर्य साम्य=तुल्यता तथा अतिशयता से रहित है अर्थात् ईश्वर के समान तथा अधिक कोई नहीं है। और वह ईश्वर किसी दूसरे ऐश्वर्य से अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। जो सर्वातिशायी है वही ईश्वर का ऐश्वर्य है। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य[3] की काष्ठाप्राप्तिः=चरमसीमा है, वह ईश्वर है। उसके समान किसी का ऐश्वर्य नहीं है (अर्थात् वह राजाओं का भी राजा है, उसके ऊपर किसी की ऐश्वर्य=प्रभुता नहीं है)। इसमें कारण यह है कि दो तुल्य-वस्तुओं में अभीष्ट किसी एक वस्तु में एक ही काल में यह व्यवहार होता है—यह नवीन है, यह प्राचीन है। इस प्रकार एक वस्तु की इष्टसिद्धि होने पर दूसरी वस्तु की अभीष्टसिद्धि में विघात=विरोध होने से न्यूनता=कमी हो जाती है। और यह कभी नहीं हो सकता कि दो तुल्यवस्तुओं की एकसाथ अभीष्टसिद्धि हो सके। क्योंकि दोनों वस्तुओं के (नवीनत्व व पुराणत्व रूप) अर्थ विरुद्ध हैं। इसलिये जिसका ऐश्वर्य साम्यता=तुल्यता और अतिशयता=

---

१. 'सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति' इति (निरुक्त० १३। १६) पाठात् सत्त्वस्य शुद्धमर्थः। सत्त्वं=सत्प्राति० भावे त्वः प्रत्ययः।

२. निमित्त शब्दोऽत्र प्रमाणार्थे। निश्चयेन मीयते ज्ञायते येन तन्निमित्तम्। निपूर्वक मानार्थक 'मि' धातोः करणे कारक औणादिकः क्तः।

३. (क) 'ऐश्वर्य' का आशय केवल धन-दौलत ही नहीं है। 'ईश्वरस्य भाव ऐश्वर्यम्' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार 'ऐश्वर्य' का अर्थ 'प्रभुता' भी है। वह ईश्वर सब जगत् का स्वामी है। जैसे वेद में कहा है—'ईशावास्यमिदं सर्वम्०' (यजु०)

(ख) "(ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। 'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः' जिसका सत्यविचार, शील, ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम ईश्वर है"। (स० प्र० प्रथम समु०)

अधिकता से निश्चय से मुक्त=रहित है, वह ही ईश्वर है। और वह ईश्वर पुरुषविशेष=पूर्णपुरुष है।

सूत्रार्थ—(क) "अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं, जो अविद्यादि पाञ्च क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो-जो वासना, इन सबसे जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। फिर वह कैसा है ? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्द, ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं" ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

(ख) "जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष ईश्वर कहाता है" ॥

(स० प्र० सप्तमसमुल्लास)

(ग) "अविद्यादि क्लेशों और शुभाशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुलना से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है" ॥ (लघु० वेदविरुद्धमतखण्डन०)

भावार्थ—(१) इस सूत्र में परमेश्वर के सत्य-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। वह परमेश्वर प्रकृति तथा जीवों से भिन्न है, इस कथन से स्पष्ट है कि योग-दर्शन में स्पष्टरूप से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों शाश्वत सत्ताओं को स्वीकार किया है। प्रकृति अचेतन होने से जड़ है और ईश्वर व जीव दोनों चेतन हैं परन्तु दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। इसलिये सूत्रकार ने 'पुरुष विशेष' कहकर ईश्वर की विशेषता बताई है। (१) ईश्वर एक है और जीवात्मा अनेक हैं। (२) जीवात्मा अविद्यादि क्लेशों, शुभाशुभ कर्मों और उनकी वासनाओं के फलों से संबद्ध होता है, तथा उन फलों का भोक्ता है। परन्तु ईश्वर इनसे सदा असम्बद्ध रहता है। (३) जीवात्मा स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों के बन्धन में आता है और योगाभ्यास करके बन्धनों से मुक्त भी हो जाता है। परन्तु ईश्वर को ऐसा बन्धन कभी नहीं होता, क्योंकि वह सदा मुक्त है। (४) जीवात्मा अल्पज्ञ है, ईश्वर वेद-ज्ञान का उपदेष्टा तथा सर्वज्ञ है। (५) और जीवात्मा का ऐश्वर्य न्यूनाधिक होता रहता है परन्तु ईश्वर का ऐश्वर्य सर्वातिशायी होता है। इत्यादि जीवों से भिन्न विशेषतायें होने से ईश्वर 'पुरुष विशेष' कहाता है। और देहादि बन्धनों से रहित एवं सदामुक्त कहने से ईश्वर का जन्म तथा अवतारवादादि का सर्वथा खण्डन हो जाता है। और अवतारवाद की मान्यता ईश्वर के सत्यस्वरूप को न जानने से शास्त्र-विरुद्ध तथा काल्पनिक होने से मिथ्या है। और योगदर्शन में वेद-मन्त्रों के अनुकूल ही ईश्वर का स्वरूप बताया है। यजुर्वेद (४०। ८) में लिखा है—"स पर्यगाच्छुक्रम्, अकायम् अव्रणम्

अस्नाविरम्०, अर्थात् वह परमेश्वर सब प्रकार के शरीरों से रहित, सर्व-व्यापक, और नसनाडियों के बन्धन से सर्वथा रहित है। यहाँ व्यास-भाष्य में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी''। अर्थात् ईश्वर का शरीरादि से सम्बन्ध न तो कभी हुआ है और न कभी होगा।

(२) इस सूत्र के भाष्य से यह भी स्पष्ट है कि कोई भी मुक्तात्मा जग-द्रचनादि कार्यों को नहीं कर सकता। क्योंकि मुक्तात्माओं का मुक्ति से पूर्व बन्धन अवश्य होता है। और उस बन्धनकाल में भी संसार विद्यमान था। जिससे स्पष्ट है कि मुक्तात्मा से भिन्न ईश्वर ने इस संसार की रचना की है। और जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करके भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, अतः वह जगत्-रचनादि कार्य नहीं कर सकता।

(३) और भाष्य से यह भी स्पष्ट है कि वेद ईश्वर का ज्ञान है। वेद और ईश्वर का अनादि सम्बन्ध है। वेदों की निर्भ्रान्त प्रामाणिकता ईश्वरीय ज्ञान होने से ही है। और वह ईश्वर ही जीवों को वेदों का उपदेश करता है, इसीलिये वह 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योग०) समस्त पूर्वजों का भी गुरु कहलाता है॥ २४॥

अव०—किं च।

(अर्थ)—और भी (पुरुष विशेष की विशेषता कहते हैं)—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥

व्यासभाष्यम्

[सर्वज्ञबीजम्] यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहण-मल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद् [निरतिशयम्] द्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति। [सर्वज्ञ] यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति।

सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्याऽऽत्मानुग्रहाभावेऽपि भूता-नुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानु-द्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्—'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भग-वान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति'॥ २५॥

भाष्यानुवाद—[सर्वज्ञबीजम्] जो यह अतीत=भूतकालिक, अनागत=भविष्यत् कालिक, प्रत्युत्पन्न=वर्त्तमानकालिक पदार्थों में से प्रत्येक=किसी एक का अथवा समुच्चय=सामूहिक रूप में अतीन्द्रिय=परोक्ष विषय का ज्ञान है, जो किसी में कम=न्यून है और किसी में बहु=अधिक है, यह सर्वज्ञता का बीज=कारण है। [निरतिशयम्] जिसमें बढ़ता बढ़ता हुआ यह ज्ञान निरतिशय=अतिक्रान्तता से रहित होकर रहे, वह ईश्वर सर्वज्ञ है। सर्वज्ञबीज=ईश्वर के अतिशय ज्ञान होने से काष्ठाप्राप्तिः=चरमसीमा है, परिमाण की तरह। अर्थात् जैसे छोटे से छोटे परमाणु-परिमाण तथा बड़े से बड़े महत्परिमाण वाले पदार्थों की काष्ठाप्राप्तिः=चरमसीमा होती है, वैसे ही ज्ञान की भी अतिसीमा है।

[सर्वज्ञ] जिस ईश्वर में ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति=चरमसीमा है वह सर्वज्ञ है। और वह पुरुषविशेष है।

और अनुमान-प्रमाण (किसी अतीन्द्रिय पदार्थ के) सामान्यज्ञान का बोध कराकर समाप्त हो जाता है, अतः विशेष-ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता है। उस ईश्वर के संज्ञा=नामादि विशेष-ज्ञान की आगमप्रमाण[1]=शब्दप्रमाण (वेद से) से खोज करनी चाहिये। (ऐसा पुरुषविशेष ईश्वर से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। ऋषि-मुनि ज्ञानवान् तथा विशेषज्ञानवान् हो सकते हैं, किन्तु निरतिशय ज्ञानवान् नहीं हो सकते।) उस ईश्वर का (वेदोपदेशादि करने में) अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी भूतानुग्रहः=प्राणियों पर अनुग्रहः=कृपा करना ही प्रयोजन है कि ज्ञानोपदेश तथा धर्मोपदेश से कल्पप्रलय और महाप्रलय में (प्रलय समाप्त होने पर) सांसारिक पुरुषों का उद्धार करूँगा। वैसा कहा भी है—भगवान्=समग्रैश्वर्य के स्वामी परमर्षि आदिविद्वान्[2] परमेश्वर ने निर्माणचित्तम्=संकल्पमय चित्त के आश्रय से करुणा के कारण जिज्ञास-

---

१. ईश्वर के नामादि का ज्ञान वेद से होता है—(क) "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः"॥ (ऋ० १।१६४, ४६) (ख) ओं खम्ब्रह्म॥ (यजु० ४०।१७) (ग) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु० (घ) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (यजु०) इत्यादि।

२. आदिविद्वान् परमेश्वर ही है। क्योंकि वह ही सृष्टि के प्रारम्भ में वेदोपदेश द्वारा मनुष्यों को ज्ञान देता है। जैसा कि इसी शास्त्र में आगे कहा गया है—"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"॥ (यो० १।२६)

मानाय=जानने के लिये इच्छुक आसुरि[1]=जीवात्मा के लिये तन्त्रम्=वेदशास्त्र का उपदेश किया ॥

सूत्रार्थ—"(तत्र निरति०) **जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें"** ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—(१) और इस सूत्र में भी जीवात्मा से ईश्वर में विशेषता बताते हुए कहा है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि ईश्वर में निरतिशय ज्ञान है। और कोई भी जीवात्मा कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, फिर भी वह निरतिशय ज्ञान वाला नहीं हो सकता। क्योंकि जीवात्मा का सामर्थ्य अल्प है। और ईश्वर की निरतिशयता का स्पष्टीकरण व्यासभाष्य में परिमाण की भांति कहकर किया है। अर्थात् जैसे जब हम प्राकृतिक पदार्थों में अल्पता की दृष्टि से विचार करें कि सबसे छोटी वस्तु कौन सी है, जिससे छोटी अन्य न हो सके, तब परमाणु को निरतिशय छोटा माना जाता है और महत्ता की दृष्टि से आकाश को निरतिशय माना जाता है। इसी प्रकार ज्ञान चेतनात्मा का गुण है। इस चेतन धर्म के विषय में भी ईश्वर में निरतिशय ज्ञान है। अतः वह सर्वज्ञ होने से सृष्टि-रचनादि कार्यों के करने में समर्थ है।

(२) और ईश्वर का वेदापदेश करने तथा सृष्टिरचनादि करने का प्रयोजन है—जीवात्माओं पर दया करना। इससे भी ईश्वर से जीवों का भेद स्पष्ट होता है। और वह ईश्वर यह ज्ञानोपदेश सृष्टि के आदि में जीवों को करता है। जिससे जीवात्मा ज्ञान-प्राप्ति करके अपने परम-लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं ॥ २५ ॥

स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

व्यासभाष्यम्

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स

---

१. असुरस्यापत्यम्=आसुरि जीवात्मा। 'असुर' परमात्मा का नाम है, क्योंकि वह 'असून्=प्राणान् राति ददाति' प्राणों को प्रदान करता है। उसका अपत्य=पुत्र होने से 'आसुरि' जीवात्मा के लिये यहाँ आया है।

एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथाऽस्य सर्गस्याऽऽदौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्त-सर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद—हमारे पूर्ववर्त्ती गुरु तो काल से अवच्छिन्न=सीमित होने से नष्ट हो जाते हैं। जिस ईश्वर में अवच्छेदार्थक=नाश का हेतु काल उपस्थित नहीं होता, वह यह ईश्वर पूर्वज ऋषि-महर्षियों का भी (अग्नि आदि का भी) गुरुः[1]=ज्ञान-धर्म का उपदेष्टा है। जैसे इस सृष्टि के आदि में प्रकर्षगत्या=प्रकृष्ट ज्ञानादि के कारण सिद्ध है, वैसे पिछली सृष्टियों के आदि में भी जानना चाहिये।

सूत्रार्थ—"यः पूर्वेषां सृष्टयादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्यांगिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः। स च सर्वदा नित्योऽस्ति। तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्।"

"(स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, अदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सबका गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है॥" (ऋ० भू० वेदानां नित्यत्व०)

"जैसे वर्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है। क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिये यह निश्चित जानना चाहिये कि विना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता॥ (स० प्र० सप्तम समु०)

भावार्थ—(क) और वह ईश्वर इसलिये भी जीवों से भिन्न पुरुषविशेष है कि जीवात्मा भी यद्यपि अजन्मा, अमर, शाश्वत चेतनसत्ता है परन्तु वह

---

१. 'गुरु' शब्द की व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

'(गृ शब्दे) इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। 'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः' "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" योग०। जो सत्यधर्म प्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'गुरु' है॥' (स० प्र० प्रथम समु०)

शरीरादि से सम्बद्ध होकर जन्म लेना और पृथक् होकर मृत्यु होनादि बन्धनों से बन्ध जाता है। और जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है, यह ईश्वर का अटल नियम है। इसलिये व्यासमुनि लिख रहे हैं—

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते ॥

अर्थात् जितने भी ऋषि-मुनि विद्वान् व्यक्ति आज तक हुए हैं, वे सब देहधारण करने से काल से सीमित कहलाते हैं, क्योंकि देह सदा नहीं रहता। और देहधारण के विना कोई भी जीवात्मा ज्ञान का उपदेश नहीं कर सकता। परन्तु ईश्वर देहादि के बन्धन में कभी नहीं आता अतः वह काल से भी सीमित नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक सर्ग के आदि में वह सर्वज्ञ व कालादि से नष्ट न होने वाला ईश्वर जीवों को वेदों का उपदेश करता है। इसलिये सूत्रकार ने ईश्वर को पूर्वजों का भी गुरु कहा है।

(ख) और इससे अनेक भ्रान्तियों का भी निराकरण हो जाता है। जैसे वेदों को सृष्टि के आदि में दिया गया ईश्वरीय ज्ञान न मानना, अथवा वेद-ज्ञान को नित्य मानते हुए भी ईश्वरीय-ज्ञान (ईश्वरीय उपदेश) न मानकर सुप्त प्रबुद्ध न्याय से मनुष्यों को स्मरण होने की बात मानना, वेदों को बहुत अर्वाचीन मानना, और वेदों को ऋषि-मुनि प्रणीत मानना इत्यादि भ्रान्तियों का निवारण व्यासमुनि के भाष्य से बहुत ही स्पष्ट रूप से हो रहा है॥ २६॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

व्यासभाष्यम्

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीप-प्रकाशवदवस्थितमिति?

स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

भाष्यानुवाद—प्रणव[1] = ओ३म् शब्द से वाच्य = कहा जाने वाला ईश्वर है।

---

१. 'प्रणवः' शब्द परमेश्वर का वाचक इसलिये है कि 'प्रकर्षेण नूयते स्तूयत ईश्वरो येन स प्रणवः' अर्थात् जिसके द्वारा ईश्वर की स्तुति प्रकृष्टरूप से की जाती है।

[प्रश्न] इस प्रणव का वाच्य-वाचकत्व संबन्ध क्या संकेतकृत=कृत्रिम है, अथवा प्रदीप[1] के प्रकाश से प्रकाशित पदार्थ की भांति अवस्थित=नित्य है ? [उत्तर] इस वाच्य ईश्वर का वाचक=प्रणव के साथ स्थायी=नित्यसम्बन्ध है। ईश्वर का संकेत तो पहले से स्थित=नित्य है, यह प्रणव शब्द उस वाच्य-वाचकसम्बन्धरूप अर्थ को ही प्रकाशित करता है। जैसे—पिता-पुत्र के स्थित=नियत संबन्ध को संकेत के द्वारा प्रकाशित किया जाता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है। दूसरे सर्गों (सृष्टियों) में भी वाच्य-वाचक शक्ति की अपेक्षा से वैसा ही (नित्यसम्बन्ध) संकेत किया जाता है। और इसलिये आगमिनः=वैदिक (वेद के पढ़ने पढ़ाने वाले) लोग शब्दार्थ के ज्ञान की नित्य परम्परा से शब्द, अर्थ तथा सम्बन्ध नित्य है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं।

सूत्रार्थ—"(तस्य वा०) जो ईश्वर का ओङ्कार नाम है; सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का [अग्नि आदि की भांति] वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है" ।।

(ऋ० भू० उपासना०)

"(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। क्योंकि इसमें जो अ, उ, और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय बना है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे—अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि। उकार से—हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है" ।। (स० प्र० प्रथम समु०)

"सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम (ओ३म्) को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं" ।। (स० प्र० प्रथम समु०)

भावार्थ—(१) आजकल वेदानुयायी आस्तिक मनुष्यों में भी परमेश्वर की भक्ति के विभिन्नरूप दिखाई देते हैं। किन्तु यह विभिन्नता अज्ञानमूलक होने से सत्य नहीं है। जैसे—परमेश्वर की उपासना में किस नाम का उच्चारण व जप करना चाहिये, इस विषय में सर्वाधिक भ्रान्ति फैली है। परन्तु उपासना के इस वैदिक शास्त्र में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

'अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं (तस्य वाचकः)'

---

१. प्रदीपेन प्रकाशः=प्रकटीभवनं यस्य (कलशादेः) तत् प्रदीपप्रकाशम्, तेन तुल्यं प्रदीपप्रकाशवत्। अर्थात् जैसे पूर्व से विद्यमान घटादि पदार्थों को दीपक प्रकाशित करता है, बनाता नहीं, वैसे ही ईश्वर नित्य है, उसका वाचक 'प्रणव' है।

अतः उपासना पद्धति में प्रणव=ओंकार का उच्चारण तथा उसी के अर्थ की भावना करनी चाहिये। क्योंकि इससे भिन्न नाम परमेश्वर और अन्य पदार्थों के भी हैं, अतः वे नाम गौण हैं। और राधेश्याम, सीतारामादि नामों का माहात्म्य तो शास्त्रविरुद्ध होने से मिथ्या ही है। महर्षि पतञ्जलि तथा महर्षि-व्यास ने इस की पुष्टि इस प्रकार की है—

(क) तज्जपस्तदर्थभावना॥ (यो० १।२८)

(ख) प्रणवादि पवित्राणां जपः॥ (यो० भा० २।१)

और वेदादि सत्य शास्त्रों में इसी नाम का प्रतिपादन किया गया है।

(ग) और 'ओ३म्' को शास्त्रकार ने यहाँ 'प्रणव' शब्द से जो कहा है, उसका ईश्वरोपासना में अपना विशेष महत्त्व है। इस पद में 'प्र पूर्वक णु स्तुतौ' धातु का प्रयोग है। जिससे प्रकृष्टरूप से परमात्मा की स्तुति आदि इसी शब्द से हो सकती है। परमेश्वर के दूसरे नाम तो किसी एक एक गुण का ही बोध कराते हैं, परन्तु प्रणववाच्य 'ओ३म्' शब्द परमेश्वर के समस्तगुणों का बोध कराता है। जैसे 'अमर' पद का जो अर्थ है, उसे 'अभय' पद नहीं बताता, अथवा 'अभय' पद का जो अर्थ है, उसे 'अजर' शब्द नहीं बताता। अतः परमेश्वर के स्वरूप की अभिव्यक्ति एक 'ओ३म्' शब्द ही से हो सकती है। परमात्मा के सच्चिदानन्द वाले स्वरूप को इसी एक शब्द से जाना जा सकता है। इसलिये योगज्ञ शास्त्रकार ने 'ओ३म्' और ईश्वर का नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। अतः परमेश्वर के समस्त उपासकों को प्रणव वाच्य ओंकार को ही अपनाने में निःश्रेयस को प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। यह ऋषियों की योगज सत्य खोज है॥ २७॥

अव०—विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

(अर्थ)—(प्रणव के) वाच्य-वाचकसम्बन्ध को जानने वाले योगी को—

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥

व्यासभाष्यम्

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ २८॥

भाष्यानुवाद—प्रणव=ओङ्कार का जप=स्मरण और प्रणववाच्य=ईश्वर की भावना=आन्तरिक अनुभूति करनी चाहिये। इस योगी पुरुष का चित्त प्रणव=ओङ्कार का जप करते हुए और प्रणव के अर्थ की भावना (रक्षादि करने वाले ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन) करते हुऐ एकाग्र हो जाता है ऐसा कहा भी है—

स्वाध्याय[1]=पवित्र 'ओ३म्' के जप करने तथा मोक्ष का उपदेश करने वाले शास्त्रों के पढ़ने से योग=चित्तवृत्ति निरोध करके उपासना[2] करे और योग=चित्तवृत्ति के निरोध से स्वाध्याय=ओ३म् के जप का आमनेत्=(म्ना अभ्यासे) अभ्यास करे। इस स्वाध्याय और योग की सिद्धि से परमात्मा का ज्ञान हो जाता है अथवा 'भक्तिविशेषादावर्त्तित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति' (यो० भा० १।२३) इस प्रमाण से परमात्मा उपासक पर अनुग्रह करता है और समाधि का शीघ्र फल प्राप्त हो जाता है।

सूत्रार्थ—"(तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय"॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—(१) इस सूत्र में 'तत्' सर्वनाम का दो बार पाठ किया है और यह 'तत्' पद प्रणव=ओंकार का परामर्श करता है। अतः सूत्र का अर्थ है—परमेश्वर की उपासना के लिये 'ओ३म्' का जप करना चाहिये और इसी के अर्थ की भावना (चिन्तन) करनी चाहिये। इस जप करने का फल[3] व्यास-भाष्य में चित्त का एकाग्र होना बताया है और परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। अतः जो उपासना के नाम से मूर्त्ति आदि का आश्रय करना इसलिए आवश्यक बताते हैं कि इससे मन एकाग्र हो जाता है, यह उनकी मिथ्या धारणा है। सीमित बाह्य वस्तु में मन कदापि एकाग्र नहीं हो सकता।

(२) और ओंकारोपासना का विस्तृत वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में दर्शनीय है। जिसमें ओंकार का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

---

१. 'स्वाध्याय' शब्द के अर्थ को योग-भाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है 'स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा'। (योग० २।१) अर्थात् प्रणवादि पवित्र-कारक मन्त्रों का जप तथा मोक्षविज्ञापक शास्त्रों के अध्ययन को 'स्वाध्याय' कहते हैं॥

२. आसीत्=उपासीत, सेवेत, कुर्याद्वा इत्यर्थः।

३. और इस प्रणव-जप का फल सूत्रकार ने (१।२९ में) विघ्नों का नाश और परमात्म-साक्षात्कार बताया है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्व-मोङ्कार एव ॥ (माण्डूक्योप०)

अर्थात् ओंकार ही परमात्मा का व्याख्यान होने से परमात्मा का मुख्य नाम है।

(३) और प्रश्नोपनिषद् में ओंकार के जप का विधान और उसका फल बताते हुए लिखा है—

(क) ओङ्कारमभिध्यायीत।

(ख) यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ॥ (प्रश्नो० ५ प्रश्न)

अर्थात् ओंकार का जप करने से उपासक अविद्यादि क्लेशों से वैसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे सर्प अपनी त्वचा=कांचली से मुक्त हो जाता है।

(४) **जप के भेद**—विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥
(मनु० २। ८५)

अर्थात् अग्निहोत्र करने से जप करना दशगुणा अधिक फल देता है। परन्तु बोलकर जप करने से उपांशुजप=जो दूसरे को सुनाई न देवे, और होठ हिलते रहे, ऐसा जप सौगुणा अधिक फल देता है। और इन दोनों जपों से **मानस** जप करना हजार गुणा श्रेष्ठ होता है। मनु प्रोक्त इस जप के प्रकार से स्पष्ट है कि परमेश्वर की उपासना वाक्-इन्द्रिय के व्यापार से शून्य मानसिक बहुत ही शान्त होकर और अन्तर्मुख होकर करनी चाहिये। परन्तु आज के उपासक की दशा ही विपरीत होती जा रही है। प्रथम तो वे ओंकार को जप के स्थान पर दूसरे ही नामों का उच्चारण करते हैं और वह भी ध्वनि-प्रसारण यन्त्र लगाकर। क्या इस विपरीत रीति के पथिक सच्चे उपासक बन सकते है?

(५) **जप का स्थान**—अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥
(मनु० २। १०४)

"जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करताहुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल चलन को करे, परन्तु यह जन्म से करना उत्तम है" ॥ २८ ॥

(स० प्र० तृतीय०)

अव०—किंचास्य भवति ?

(अर्थ)—इस प्रणव के जप करने वाले योगी को क्या (फल) होता है ?

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २६ ॥

व्यासभाष्यम्

[अन्तरायाभावः] ये तावदन्तराया[1] व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति । [प्रत्यक् चेतनाधिगमः] स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद—जो (योग के) व्याधि[2] आदि अन्तराय=विघ्न हैं, वे ईश्वर-प्रणिधान=भक्ति-विशेष (प्रणवजपादि) से अथवा सब क्रियाओं को ईश्वर-अर्पण करके और उनके फल की इच्छा के त्याग से नहीं होते हैं। और ईश्वर-प्रणिधान करने वाले योगी का स्वरूप दर्शन=अपने आत्मा (जीवात्मा) के स्वरूप का अथवा परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है। जैसे पुरुष=पूर्ण ईश्वर शुद्धः=अविद्यादि दोष रहित होने से सदा पवित्र, प्रसन्नः=पापाचरणादि का सर्वथा अभाव होने से सदा निर्मल, केवलः=असहाय (सृष्टि आदि के रचनादि में किसी दूसरे की अपेक्षा न रखने वाला) अनुपसर्गः=निर्विकार अथवा जात्यायुर्भोगादिरूप उपसर्ग=सम्पर्क से रहित है, वैसे जो यह (जीवात्मा) बुद्धि (बुद्धिरिति ज्ञानेन्द्रियाणामुपलक्षणम्) से होने वाले ज्ञान का प्रतिसंवेदी=अनुभव करने वाला है, पुरुषः=शरीर में शयन करने वाला है, उस अपने स्वरूप का सम्यक् बोध प्राप्त करता है।

सूत्रार्थ—**"फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है.........(ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोग रूप विघ्नों का नाश हो जाता है ॥"** (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—इस सूत्र में ओंकार-जप (परमेश्वर की उपासना) के दो लाभ बताये हैं। (१) अन्तरात्मा का साक्षात्कार। (२) विघ्नों का नाश।

सूत्र में 'प्रत्यक् चेतनाधिगमः' शब्द पठित है। जिसका अर्थ है हमारे अन्दर बैठा चेतनात्मा। इससे आत्मा व परमात्मा दोनों का ग्रहण होता है। परन्तु प्रसङ्गानुसार अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण ही संगत होता है। क्योंकि

१. 'तावत्' निपातो वाक्यालंकारेऽर्थे ।

२. व्याधि आदि विघ्न योग० १। ३० सूत्र में द्रष्टव्य हैं।

इस सूत्र में ओंकार के जप का फल बताया गया है। ओंकार के जप तथा तदर्थ-भावना करने से 'ओ३म्' का ही साक्षात्कार होना चाहिये। और क्योंकि परमेश्वर के साक्षात्कार के लिये परमेश्वर की भांति आत्मा को भी शुद्ध होना चाहिये। इसलिये जीवात्मा भी जप करता-करता शुद्ध हो जाता है। यही उसका अपना स्वरूप जानना है। और व्यास-भाष्य का भी यही अभिप्राय है कि ईश्वर-प्रणिधान से स्वरूपदर्शनमपि=जीवात्मा के स्वरूप का भी बोध हो जाता है। यहाँ 'अपि' शब्द समुच्चयार्थक है। जिससे परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों के स्वरूप का ज्ञान अभिप्रेत है।

और इस सूत्र में आत्म-तत्त्व का बोध जो फल कहा है वह योग की अन्तिम-दशा है। इससे प्रथम जीवात्मा का चित्तादि (प्रकृतिजन्य) से भी सम्पर्क बना रहता है। इसलिये जब तक जीवात्मा के साथ प्रकृति का सम्पर्क है, तब तक जीवात्मा शुद्ध, केवल व निर्विकार नहीं हो सकता। अतः इस अन्तिम दशा में पहुँचकर ही जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप को जान पाता है। अतः परमात्म-साक्षात्कार की दशा व जीवात्मा की स्वरूपस्थिति को पृथक्-पृथक् कहना भी अज्ञानमूलक है। और विघ्नों का नाश दूसरा फल बताया है। ये विघ्न योग के प्रथम स्तर से लेकर योग की अन्तिम दशा तक बाधक बनते रहते हैं। यद्यपि ये विघ्न योगाभ्यासी के लिये उत्तरोत्तर अल्पमात्रा में ही रह जाते हैं, परन्तु इनका पूर्णतः अभाव परमात्म-साक्षात्कार होने पर ही होता है। अतः सूत्र में दोनों फलों का कथन एकसाथ किया है। और इन विघ्नों का स्वरूप स्वयं सूत्रकार ने अगले सूत्र (१। ३० में) स्पष्ट किया है॥ २९॥

अव०—केऽन्तराया चित्तस्य विक्षेपाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ?

(अर्थ)—चित्त को विक्षिप्त करने वाले (योग के) विघ्न कौन से हैं और वे कितने हैं ?

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

व्यासभाष्यम्

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। तत्र १—व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। २—स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। ३—संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं

स्यादिति। ४—प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। ५—आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। ६—अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। ७—भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। ८—अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। ९—अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते॥ ३०॥

भाष्यानुवाद—नव अन्तराय=योग के विघ्न (व्याधि आदि) चित्त को विक्षिप्त करने वाले हैं। ये (विघ्न) चित्तवृत्तियों के साथ ही होते हैं। इनके अभाव होने पर पूर्वोक्त चित्त की वृत्तियाँ (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) नहीं होती। उन विघ्नों में व्याधिः=वात, पित्त, कफरूप धातुओं की विषमता, (खाए पिये आहार के) रस की विषमता और इन्द्रियों की विषमता का नाम व्याधि=रोग है। स्त्यानम्=चित्त की अकर्मण्यता (श्रेष्ठ कार्य से जी चुराना) स्त्यान विघ्न है। संशय=ऐसा ज्ञान जो उभयकोटिस्पृक्=दोनों किनारों को छूने वाला=दो विरुद्ध मार्गों की ओर जाने वाला=द्विधा पैदा करने वाला है, यह ऐसा हो सकता है या नहीं, इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं। प्रमादः=समाधि के साधनों का न करना प्रमाद विघ्न है। आलस्यम्=शरीर और चित्त के (तमः प्रधान होने पर) जो भारीपन होने से (योगसाधना में) प्रवृत्त न होना है, वह आलस्य विघ्न है। अविरतिः=चित्त की (रूप-रसादि) विषयों के संप्रयोगरूप जो इच्छा है, वह अविरतिः=विरक्ति का अभाव है। भ्रान्तिदर्शनम्=विपरीत अथवा मिथ्या ज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं। अलब्धभूमिकत्वम्=समाधि की भूमिका को प्राप्त न करना। अनवस्थितत्वम्=समाधि की प्राप्त भूमि (दशा) में चित्त का न लगना। समाधि की सिद्धि होने पर चित्त स्थित होना चाहिये। ये नव चित्त के विक्षेप योगमलाः=योग के मल (दोष) योगप्रतिपक्षाः=योग के शत्रु और योगान्तरायाः=योग के विघ्न कहे जाते हैं।

सूत्रार्थ—"वे विघ्न नव प्रकार के हैं। (व्याधि) एक व्याधि अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना, दूसरा (स्त्यान) अर्थात् सत्यकर्मों में अप्रीति, तीसरा (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उसका यथावत् ज्ञान न होना, चौथा (प्रमाद) अर्थात् समाधि साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना, पांचवाँ (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना, छठा (अविरति) अर्थात् विषय-सेवा में तृष्णा का होना, सातवाँ (भ्रान्तिदर्शन) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना जैसे—जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना, आठवां (अलब्ध-

भूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना और नववाँ (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना, ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासना योग के शत्रु हैं'' ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—चित्त को विक्षिप्त करने के क्या क्या कारण हो सकते हैं ? उन सबका सूत्र में दिग्दर्शन कराया गया है। ये सभी योगाभ्यासी के मार्ग में प्रबल बाधक बनते रहते हैं। ये सभी विघ्न एकसाथ ही आते हैं, ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत योगाभ्यासी के मार्ग में विभिन्न स्तरों में ये विघ्न आ सकते हैं। अतः योगाभ्यासी को इनसे सदा जागरूक रहना चाहिये। ये नौ विघ्न इस प्रकार हैं—

(१) **व्याधि**—व्यासभाष्य के अनुसार इस की उत्पत्ति तीन करणों से होती है—धातु=शरीरस्थ रस से लेकर वीर्य पर्यन्त धातुओं में अथवा वात, पित्त व कफ में विषमता=विकार आ जाने से, रस=अभक्ष्य, विपरीताहार या मिथ्याहार के करने से (क्योंकि जो कुछ हम खाते हैं उसका ही रस बनता है) और करण=इन्द्रियों में विषमता=विकार आने से व्याधि=शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है और ये रोग योग में विघ्न हैं।

(२) **स्त्यान**—इसका अर्थ है चित्त की अकर्मण्यता। अर्थात् तमोगुण के आधिक्य के कारण भारीपन बना रहता है और उससे सत्यकर्मों में प्रीति नहीं रहती।

(३) **संशय**—योगाभ्यासी को योग का फल तुरन्त तो मिलता नहीं। योग-फल तो निरन्तर दीर्घकाल के अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होने लगता है। इतने समय तक धैर्य तथा श्रद्धादि गुणों को बनाये रखना परमावश्यक है। परन्तु फल प्राप्ति से पूर्व ही सन्देह पैदा हो जाये—कि इसका फल मिलेगा या नहीं, मैं इस कार्य को कर भी सकूँगा या नहीं ? यह सन्देह चित्त को विक्षिप्त कर देता है। क्योंकि ऐसी कहावत प्रसिद्ध है—'द्विविधा में दोनों गये माया मिली न राम'।

(४) **प्रमाद**—योग के साधनो में उपेक्षा रखना और उनका विधिवत् अनुष्ठान न करना।

(५) **आलस्य**—योग-साधनों के अनुष्ठान का सामर्थ्य होते हुए भी तमोगुणादि के प्रभाव वश शरीर व मन में भारीपन होने से योग-साधनों में प्रवृत्त न होना।

(६) **अविरति**—सांसारिक विषयों के प्रति रुचि बने रहना। जिससे

तृष्णादि दोषों के कारण विरति=वैराग्य का अभाव हो जाता है। इससे योग-साधनों के प्रति प्रीति नहीं रहती।

(७) **भ्रान्तिदर्शन**—मिथ्याज्ञान का होना, जो एक क्लिष्ट वृत्ति मानी गई है। इसके कारण गुरु-उपदिष्ट अथवा शास्त्रों में कही बातों को गलत समझने से योग के प्रति अश्रद्धा पैदा हो जाती है। योगाभ्यासी का यह सबसे प्रबल शत्रु है।

(८) **अलब्धभूमिकत्व**—समाधि की उत्कृष्ट दशा बहुत समय के अभ्यास के बाद प्राप्त होती है। उससे पूर्व ही निराशा उत्पन्न होना। इसी प्रकार समाधि दशा से पूर्व भी अनेक सफलतायें होती हैं, उनकी प्राप्ति न देखकर योग-मार्ग को छोड़ बैठना भी विघ्न है।

(९) **अनवस्थितत्व**—अथवा योग में कुछ सफलता होने पर अपने कर्त्तव्य को पूर्ण समझकर योग-मार्ग का अभ्यास छोड़ बैठना। अथवा पूर्ण सफलता न होने से योग-साधना में चित्त का न लगाना विघ्न है। क्योंकि इसके लिये ही योगदर्शन (१।१४) में दृढ़-भूमि करने के लिये दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास करने का विधान किया है॥ ३०॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ ३१॥

व्यासभाष्यम्

[दुःख] दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। [दौर्मनस्य] दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः। [अङ्गमेजयत्व] यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। [श्वास] प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। [प्रश्वास] यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति॥ ३१॥

भाष्यानुवाद—[दुःख[1]] आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद

---

१. इन त्रिविध-दुःखों की व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है—

"त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—एक 'आध्यात्मिक' जो आत्मा=शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा—'आधिभौतिक' जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा—'आधिदैविक' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन, और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है।" (स० प्र० प्रथम समु०)

से दुःख (तीन प्रकार का) है। जिससे पीडित होकर प्राणी उसके नाश के लिये प्रयत्न करते हैं, वह दुःख होता है। [दौर्मनस्य] इच्छा के पूर्ण न होने से चित्त का क्षुब्ध होना दौर्मनस्य है। [अङ्गमेजयत्व] जो अङ्गों को कम्पित करता है, वह अङ्गमेजयत्व है। [श्वास] जो [प्राण] बाह्य वायु को आचामति= पीता है=अन्दर खींचता है, वह श्वास है। [प्रश्वास] जो कौष्ठ्यं वायुम्= उदरस्थ वायु को निकालता है वह प्रश्वास है। ये दुःखादि विक्षेपसहभुवः= विक्षेपों के साथ उत्पन्न होते हैं, अतः विक्षिप्त चित्त वाले पुरुष को ही ये होते हैं और जो समाहितचित्त=एकाग्रचित्त वाले योगी हैं, उनको ये उत्पन्न नहीं होते।

सूत्रार्थ—"अब इनके (व्याधि आदि विघ्नों के) फल लिखते हैं (दुःखदौर्म०) **अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कम्पन, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं, ये सब क्लेश अशान्त चित्त वाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्त वाले को नहीं॥"** (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—इस सूत्र में व्याधि आदि नौ विघ्नों के साथ उत्पन्न होने के कारण दुःखादि को विक्षेपसहभू=विघ्नों के साथी कहा है। इन दुःखादि को पूर्व सूत्रोक्त विघ्नों का फल कहना चाहिये। क्योंकि इनकी उत्पत्ति के कारण वे व्याधि आदि विघ्न ही हैं। और जिसका चित्त विक्षिप्त है, उसे ये दुःखादि बाधायें सताती हैं, किन्तु जिसका चित्त एकाग्र हो गया है, उसको नहीं सताते। अतः इन बाधाओं को भी योगाभ्यासी को अभ्यास व वैराग्य के द्वारा दूर करना चाहिये। इन उपविघ्नों को व्यास-भाष्य में इस प्रकार समझाया है—

(१) **दुःख**—जिससे पीडित होकर प्राणी उसको दूर करने का प्रयत्न करते हैं, वह प्रतिकूल अनुभूति दुःख कहलाता है। प्राणियों के समस्त दुःखों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) आध्यात्मिक—जो शरीर से सम्बन्ध रखता है। इसके अन्तर्गत शारीरिक ज्वरादि रोगों और मानसिक राग-द्वेषादि से होने वाले दुःख आते हैं। (२) आधिभौतिक—जो शत्रुओं, सिंह, व्याघ्र, सर्प और मच्छरादि से दुःख प्राप्त है, उसे भूत=प्राणिसमूह से प्राप्त होने के कारण आधिभौतिक कहते हैं। (३) आधिदैविक—जो देव अर्थात् मन व इन्द्रियों की अशान्ति से और प्राकृतिक विपदाओं=अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अति सर्दी और अतिगर्मी से प्राप्त होता है।

(२) **दौर्मनस्य**—इच्छा की पूर्त्ति न होने अथवा उसमें कोई बाधा आ जाने पर मन में जो क्षोभ (उद्विग्नता) उत्पन्न होता है, उसे दौर्मनस्य कहते हैं।

इस विघ्न के उपस्थित होने पर योगाभ्यास के प्रति प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु एकाग्रचित्त वाले योगी को यह विघ्न विक्षिप्त नहीं करता।

(३) **अङ्गमेजयत्व**—शरीर के अङ्गों का कम्पित—हिलना, डुलना। यह कम्पन चाहे किसी रोग के कारण हो, अथवा आसन की सिद्धि न होने से हो, यह योगानुष्ठान में बाधक होता है। इसलिये 'आसन' के अभ्यास के द्वारा निश्चेष्ट बैठने का अभ्यास करना चाहिये। और कम्पन रोग हो तो औषधादि से दूर करना चाहिये।

(४-५) **श्वास-प्रश्वास**—नासिका-छिद्रों से बाहर के वायु का अन्दर ले जाना 'श्वास' और अन्दर के वायु को नासिका-छिद्रों से बाहर निकालना 'प्रश्वास' कहलाता है। यद्यपि श्वास-प्रश्वास की गति स्वाभाविक होती है, परन्तु इनका दुःख, घबराहट, भय, धूल, धुआँदि अथवा दमादि रोग के कारण अत्यन्त वेग से आना जाना योगाभ्यास में बाधक होता है। क्योंकि ऐसी दशा में श्वास-प्रश्वास साधक की इच्छा के विपरीत हो जाता है। और जब प्राणायाम (रेचक, कुम्भकादि) का अभ्यास करने लगता है, उस समय ये उपविघ्न बाधक बन जाते हैं॥ ३१॥

अव०—अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

(अर्थ)--समाधि के शत्रु इन विक्षेपों का उन अभ्यास और वैराग्य नामक उपायों से निरोध करना चाहिये। उनमें से अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार यह कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ ३२॥

व्यासभाष्यम्

[तत्प्रतिषेधार्थम्] विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वालम्बनं चित्तमभ्यसेत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनिय-

तत्त्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति ।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथंचित्समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति ।

किं च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथं, यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः । एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः । कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥

भाष्यानुवाद—[तत्प्रतिषेधार्थम्] उन व्याधि आदि चित्त के विक्षेपों को हटाने के लिये एकतत्त्व=एक (अद्वितीय) ब्रह्मतत्त्व ही अवलम्बन=ध्येय विषय है, जिसका वह चित्त (उस अवलम्बन का) अभ्यास करे ।

[क्षणिक चित्तवाद का प्रत्याख्यान] जिसके मत में प्रत्यर्थनियतम्=प्रत्येक पदार्थ के लिये चित्त पृथक्-पृथक् नियत है, प्रत्ययमात्रम्=प्रतीतिमात्र और क्षणिक=केवल एक क्षण तक रहने वाला है, उसके मत में सभी चित्त एकाग्र हैं और विक्षिप्त चित्त हो ही नहीं सकता । (अर्थात् उनके मत को मानने पर चित्त की विक्षिप्तता ही नहीं बन सकती और उन्हें फिर समाधि और एकाग्रता की कोई आवश्यकता नहीं है ।)

और यदि यह कहा जाये कि चित्त को सब ओर से प्रत्याहृत्य=अलग हटाकर किसी एक पदार्थ में समाहित किया जाता है, तब चित्त एकाग्र होता है । किन्तु यह चित्त प्रत्यर्थनियत=प्रत्येक पदार्थ के लिये अलग-अलग नियत है, यह नहीं कहा जा सकता ।

और जो (क्षणिकवादी) सदृशप्रत्ययप्रवाहेण=सदृश प्रतीति के प्रवाह से चित्त को एकाग्र मानता है (अर्थात् प्रथम वस्तु के नियत चित्त ने लाल रंग की वस्तु को देखा, पुनः तत्पश्चात् दूसरी वस्तु के नियत चित्त में पूर्व लाल रंग की वस्तु की प्रतीति का प्रवाह आ गया) इससे दूसरी वस्तु का चित्त एकाग्र हो गया । (इसमें दोष) यदि (यह एकाग्रता) प्रवाह चित्त का धर्म है, तो प्रवाह-चित्त के क्षणिक होने से (पहिला और पिछला प्रवाहचित्त) एक नहीं बन सकता ।

और यदि प्रतीति के प्रवाह के एक भाग का ही धर्म (एकाग्रता) माना गया है तब तो वह चाहे सदृश प्रतीति का प्रवाह हो अथवा असदृश प्रतीति का, प्रत्येक पदार्थ में अलग-अलग नियत होने से चित्त एकाग्र ही है, इसलिये विक्षिप्त चित्त का होना सिद्ध नहीं हो सकता।

इसलिये चित्त एक होता हुआ अनेक वस्तुओं में रहने वाला एक नियत=अक्षिणक चित्त है।

और यदि (क्षणिकवादी का यह मत हो कि) एक चित्त से अनन्वित=असंबद्ध भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले ज्ञान हो जाते हैं तो (इसमें दोष यह है कि) दूसरे चित्त से देखे गये (पदार्थ) का दूसरा चित्त कैसे स्मरण कर सकता है? और (क्षणिकवाद में यह भी दोष है) दूसरे चित्त के द्वारा अर्जित कर्माशय=कर्म व संस्कारों का फल-भोग करने वाला दूसरा चित्त कैसे हो सकता है? और (यदि क्षणिकवादी) किसी प्रकार इस दोष का समाधान करने का यत्न करे भी, तो वह एक गोमय-पायसीय[1] न्याय के तुल्य निन्दा का कारण हो जाता है।

और (क्षणिकवादी के मत में और भी असंगति देखिये) अपने आत्मा का अनुभव भी अपह्नव=मिथ्या हो जाता है, (प्रत्येक पदार्थ में) पृथक्-पृथक् चित्त होने से। कथम्=किस प्रकार? (यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, उसका उत्तर यह है) 'जिस पदार्थ को मैंने देखा था, उसको मैं छूता हूँ और जिसे मैंने छुआ था, उसे मैं देखता हूँ' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सब ज्ञान के साधन भूत चित्त के भिन्न-भिन्न होने पर प्रत्ययिनि=ज्ञाता में अभेद=एकत्व=अभिन्नरूप से वर्त्तमान रहती है। (एकप्रत्ययविषयो०) एक ही ज्ञान का विषय बनने वाला=एक ही चित्त से अनुभूयमान होने वाली इस अभेदात्मा=एक रूप से होने वाली प्रत्यभिज्ञा का (अहमिति प्रत्ययः) 'अहम्' शब्द से जानने योग्य स्वानुभूति अर्थात् मैंने देखा या मैंने पूर्वदृष्ट पदार्थ को छुआ, इस प्रकार की प्रतीति अत्यन्त भिन्न क्षणिक चित्तों में कैसे

१. गोमय-पायसीय-न्याय का अभिप्राय यह है कि गोमय=गोबर और पायस=खीर दोनों ही गौ से उत्पन्न या बनने के कारण गव्य हैं, परन्तु दोनों में समानता कदापि नहीं है। गव्य के कारण गोमय और पायस को समान बनाना सर्वथा अयुक्त है। इसी प्रकार चित्त जातीय की समानता होते हुए भी दूसरे चित्त से देखे गये पदार्थ का दूसरा चित्त कैसे स्मरण कर सकता है?

सम्भव है ? और कैसे अत्यन्त भिन्न चित्तों में विद्यमान एक सामान्य प्रत्ययी= ज्ञाता[१] को आश्रय बनायेगा ?

(और यदि क्षणिकवादी इस 'अहम्' शब्द से होने वाली प्रत्यभिज्ञा को ही मानने से इन्कार करता है, तो इसका उत्तर देते हैं) (स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः) यह अभिन्नरूप अनुभूति (प्रत्यभिज्ञा) (प्रत्येक मनुष्य को) अपने अनुभव से ग्राह्य है=प्रत्यक्षानुभूति है। और प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व दूसरे किसी प्रमाण से दबाया=खण्डित नहीं किया जा सकता। (क्योंकि) प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण तो प्रत्यक्षप्रमाण के बल से ही प्रमाणरूप व्यवहार को प्राप्त करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि चित्त एक है, वह अनेक पदार्थों के ज्ञान कराने के लिये है और अवस्थित[२]=(कैवल्य प्राप्ति तक) स्थित रहने वाला है!

सूत्रार्थ—"(तत्प्रतिषेधा०) **जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है, उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञा पालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेम-भाव से परमेश्वर के उपासना योग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायें"** ।। (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—(१) योग-दर्शन में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि तत्त्वों को माना गया है। और मुमुक्षु जीवात्मा को विवेक-ख्याति प्राप्त करने के लिये प्रकृति अथवा प्रकृति के कार्यों से पृथक् होने का उपदेश दिया है। जीवात्मा का प्रकृति के बन्धन से छूटकर आत्म-स्वरूप को जानना ही तो कैवल्य कहलाता है। अतः इस सूत्र में 'एकतत्त्व' पद का अर्थ ईश्वर ही है। जीवात्मा

---

१. क्षणिकवादी की मान्यता में जीवात्मा के स्थान पर 'विज्ञान' तत्त्व माना है। और योगदर्शन में 'विज्ञान' को चित्त शब्द से कहा है। चित्त के क्षणिक मानने वालों के मत में 'जिसको मैंने देखा था, उसको अब मैं छूता हूँ' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का होना कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके मत में ज्ञाता=चित्त क्षणिक है, अतः प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है।

२. चित्त=मन के विषय को वेद-मन्त्रों (शिवसंकल्प मन्त्रों) में बहुत ही स्पष्ट किया है। अर्थात् यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय में मन के विषय में कहा है—मन अत्यन्त वेग वाला, रात-दिन कार्य करने वाला, हृदय में स्थित, नियन्ता सारथी के तुल्य, अजिर= कभी बूढ़ा न होने वाला, तीनों कालों के व्यवहारों के जानने में साधक, इन्द्रियों का प्रकाशक, सब कर्मों को सिद्ध करने वाला, निश्चयात्मक, स्मरण, अहंकारादि वृत्तियों वाला, अमृत=शरीर के साथ नष्ट न होने वाला, और ज्ञान-विज्ञान का साधक है।

प्रकृति से पृथक् होकर और किसका ध्यान कर सकता है ? और सूत्र में 'अभ्यास' पद का अभिप्राय प्रणवादि का जप करना, तदनुसार अर्थ-चिन्तन करना और प्रणिधान=समस्त क्रियाओं व उनके फलों को ईश्वरार्पण करनादि है। इस एकतत्त्व=ब्रह्म की उपासना तथा उसकी आज्ञा का पालन करने से व्याधि आदि विघ्नों और उनके साथ होने वाले दुःखादि उपविघ्नों की निवृत्ति हो जाती है। अथवा होते हुए भी ईश्वर-प्रणिधान करने वाले योगी को विघ्न विक्षिप्त नहीं कर पाते।

(२) **चित्त के क्षणिक-वाद का खण्डन**—दार्शनिक-जगत् में एक मान्यता यह है—कि यह चित्त प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। इस क्षणिकवाद में एक क्षण में चित्त में जो वृत्ति रहती है, उसमें दूसरी वृत्ति का उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं। अतः इस पक्ष में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग मानने की मान्यता व्यर्थ हो जाती है। क्योंकि एक समय में चित्त में अनेक वृत्तियाँ नहीं रह सकतीं। वृत्त्यन्तर होते ही दूसरा चित्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप चित्त में एक वृत्ति का ही समावेश होने से चित्त एकाग्र ही रहता है, अतः क्षणिकवाद में यह एकाग्र करने का उपदेश देने वाला योग-शास्त्र चित्त की विक्षिप्त दशा के न होने से निरर्थक है।

क्षणिक-वाद की मान्यता में दोष—(१) यदि क्षणिकवादियों का अभिप्राय यह है कि यद्यपि चित्त प्रत्यर्थनियत=प्रत्येक पदार्थ को जानने के लिये पृथक्-पृथक् नियत होने से पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु सब विषयों से हटाकर एक पदार्थ में एकाग्र करना ही योग है। यह उनका कथन स्ववचन (प्रतिज्ञा) विरोध के कारण असंगत है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के लिये पृथक्-पृथक् चित्त नियत हैं, इससे उनका विरोध हो जाता है। पृथक्-पृथक् नियत चित्तों का एक पदार्थ में नियत करना कदापि सम्भव नहीं हो सकता।

(२) और यदि उनका चित्त को एकाग्र करने का अभिप्राय यह हो कि पृथक् पदार्थों के ग्रहण करने वाले भिन्न-भिन्न चित्तों का एक पदार्थ में एकाग्र करना तो सम्भव नहीं है, परन्तु प्रतिक्षण चित्त बदलते रहते हैं, जब उन चित्तों में विसदृशप्रवाह=भिन्न-भिन्न विषयों का प्रवाह चलता है तो यह चित्त की विक्षिप्तदशा है और इस विसदृश प्रवाह को रोकने के लिये ही योगाङ्गों का उपदेश किया गया है। जिससे वे चित्त सदृश प्रवाह=एक विषय को ही ग्रहण करने वाले हो सकें। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रतिक्षण चित्त तो परिवर्त्तित होते रहे, परन्तु उनमें वृत्ति एक ही रही, इसी का नाम एकाग्रता है।

इस मान्यता का खण्डन करने के लिये व्यास-भाष्य में प्रश्न किया गया है कि क्षणिकवादी यह बतायें कि यह जो एक ज्ञान विषयक प्रवाह रूप वृत्ति आपने मानी है, यह चित्त का धर्म है अथवा प्रत्यय=ज्ञान का ? इनमें प्रथमपक्ष तो स्वतः ही धराशायी हो जाता है, क्योंकि जो चित्त प्रतिक्षण बदलते रहे हैं उनकी सदृश प्रवाहरूप वृत्ति किसके आश्रय से रहेगी ? धर्म और धर्मी का तो समवाय सम्बन्ध होता है। जो चित्त नष्ट हो गया, उसी की वृत्ति का वर्त्तमान रहना और चित्त को क्षणिक मानना परस्पर विरोधी कथन है। और दूसरे पक्षमें चित्त की विक्षिप्त दशा ही सम्भव नहीं है। क्योंकि जो प्रत्यय=ज्ञान हो रहा है, चाहे वह सदृश प्रवाह वाला हो या विसदृश प्रवाह वाला हो, वह भी क्षणिक ही होगा। और क्षणिक चित्त में एक विषयक वृत्ति ही होने से एकाग्रता स्वतः ही बनी रहेगी। उसके लिये योग का उपदेश करना निरर्थक है।

(३) और यदि क्षणिकवादी का अभिप्राय यह है कि हम भिन्न-भिन्न चित्तों के सदृश-प्रत्यय=एक विषयज्ञान प्रवाह को एकाग्रता नहीं मानते, प्रत्युत एक ही चित्त से उससे असंबद्ध भिन्न-भिन्न ज्ञान हो जाते हैं। यही एकाग्रता का स्वरूप है। इसमें दोष यह है कि प्रतिक्षण चित्त के बदलने से दूसरे चित्त से होने वाले ज्ञान का दूसरा चित्त कैसे स्मरण करेगा। ज्ञान किसी दूसरे चित्त से हो रहा हो, और उसका स्मरण दूसरा चित्त कर लेवे, यह बात गोमय-पायसीय न्याय के तुल्य निन्दनीय होने से मान्य नहीं हो सकती। जैसे—गोमय भी गव्य है और पायस=खीर भी गव्य है, क्या इस कारण पायस के तुल्य गोमय को भी खाया जा सकता है ? इसी प्रकार दूसरे चित्त से होने वाले ज्ञान को दूसरा चित्त इसलिये स्मरण कर लेगा कि दोनों समान धर्म वाले चित्त हैं, यह कथन ठीक नहीं है।

और क्षणिकवाद पर सबसे महान् दोष यह आता है कि उनकी मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है। लोक में सब मनुष्यों को यह प्रतीति होती है कि—जिसको पहले कभी देखा, छुआ, या सूंघा हो, उस पदार्थ को देखकर यह प्रत्यभिज्ञा=प्रतीति सबको होती है कि मैंने जिसे देखा था उसी का स्पर्श कर रहा हूँ। अथवा जिसका स्पर्श किया था, उसी को देख रहा हूँ। यद्यपि देखने सुनने आदि के साधन (इन्द्रियाँ) भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन्द्रियों के द्वारा जानने वाला चित्त एक ही है। यह प्रतीति अत्यन्त भिन्न चित्तों में कदापि सम्भव नहीं है। और प्रत्यक्ष प्रतीति का किसी दूसरे प्रमाण से खण्डन नहीं किया जा सकता। क्योंकि दूसरे अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष के आश्रय से ही व्यवहार में आते हैं। इसलिये प्रत्यर्थनियत चित्त=प्रत्येक पदार्थ को जानने के लिये क्षणिक-

वादी की अनेक चित्तों की मान्यता मिथ्या ही है। और अनेक पदार्थों का ज्ञान कराने वाला चित्त एक ही है, इसमें कोई दोष नहीं आता। इसी पक्ष में योग-दर्शन का समस्त उपदेश संगत होता है।

विमर्श—इस सूत्र के 'एकतत्त्व' पद की व्याख्या योगवार्त्तिककार विज्ञान-भिक्षु ने भ्रान्त की है। उनका कथन है कि यहां 'एकतत्त्व' पद से ईश्वर का ग्रहण करना उचित नहीं है। क्योंकि 'एकतत्त्व' एक सामान्य शब्द है, उससे किसी भी स्थूलादि पदार्थ का चित्त को एकाग्र करने के लिये अभ्यास किया जा सकता है, केवल ईश्वर का नहीं। और ईश्वर-परक अर्थ करने में पुनरुक्त दोष भी है। क्योंकि प्रणवजप और ईश्वर-प्रणिधान का कथन प्रथम कर दिया गया है। उसी बात का पिष्टपेषण करना ठीक नहीं है।

विज्ञानभिक्षु के ये दोनों ही तर्क असंगत हैं। सामान्य शब्द से विशेष अर्थ का बोध न मानना अनुचित एवं शास्त्रविरुद्ध है। सूत्रकार ने 'तज्जपस्तदर्थ-भावना' आदि सूत्रों में भी सामान्य शब्द से विशेष का ग्रहण किया है। प्रसंगानुसार सामान्य शब्दों का विशेष अर्थ भी होता है। और यदि इस प्रकार के सामान्य शब्दों का विशेष अर्थ न माना जाये, तो ऐसे शब्दों का प्रयोग ही निरर्थक हो जाये। क्योंकि उनसे किसी अर्थ की प्रतीति तो हो ही नहीं सकती। और सूत्र में 'एकतत्त्व' शब्द पढ़ा है, और यह एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है। क्योंकि ईश्वर से भिन्न कोई भी पदार्थ यथार्थ में एकतत्त्व नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि सभी पदार्थ पञ्चतत्त्वों के संयोग से बने हैं।

और ईश्वर-परक व्याख्या में पुनरुक्तिदोष भी नहीं आता। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि—ब्राह्मणा आयाताः=क्या ब्राह्मण आ गये हैं? और उसके बाद पूछा—वसिष्ठोऽप्यायातो न वेति=वसिष्ठ भी आये या नहीं। यहाँ यद्यपि वसिष्ठ भी ब्राह्मण ही हैं, पुनरपि विशेष होने से दुबारा पूछा गया है। इसी प्रकार इस मोक्ष-शास्त्र में मोक्ष ईश्वरानुग्रह के विना कदापि सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर के चिन्तन का वार-वार कथन भी पुनरुक्तिदोषयुक्त नहीं कहा जा सकता। और दृष्टविषयों से विरक्त होने को वैराग्य मानने वाला शास्त्र दृष्टविषयों में आसक्त होने का उपदेश कैसे कर सकता है? अतः इसका ईश्वरपरक अर्थ ही करना ठीक है॥ ३२॥

अव०—यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ।

(**अर्थ**)—जिस अवस्थित=अक्षणिक चित्त का इस शास्त्र से परिकर्म[1]=क्रियाकलाप निर्दिष्ट किया गया है, वह किस प्रकार का होता है ?

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

व्यासभाष्यम्

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् । दुःखितेषु करुणाम् । पुण्यात्मकेषु मुदिताम् । अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । [चित्तप्रसादनम्] ततश्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें सुखी और भोग (साधन) सम्पन्न सभी प्राणियों के प्रति (उपासक) मित्रता की भावना करे, दुःखी प्राणियों के प्रति दया की भावना करे, पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष की भावना करे, (और) अपुण्यात्माओं = पाप करने वालों के प्रति उपेक्षा=उदासीनता की भावना करे। इस प्रकार भावना करते हुए इस उपासक की आत्मा में शुक्लधर्मः=सत्यधर्म का प्रकाश उत्पन्न होता है और इस सत्यधर्म के प्रकाश से चित्त प्रसन्न=निर्मल=रागादि से रहित शुद्ध हो जाता है। प्रसन्न=शुद्ध हुआ चित्त एकाग्र होकर स्थिर हो जाता है।

सूत्रार्थ—"(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा, पापात्मा, मित्र व शत्रु आदि सभी प्रकार के मनुष्यों से सम्पर्क होता रहता है। सामान्य-जनों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे अनुकूल व्यक्तियों से राग, प्रतिकूल व्यक्तियों से द्वेष, सुखी व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या, दुःखी

---

१. 'परिकर्म' शब्द का यहाँ भाव यह है कि समाधि के योग्य बनाने, चित्त को स्थिर करने और उसके परिशोधन के लिये जो तैयारी की जाती है, उसे 'परिकर्म' शब्द से कहा गया है।

व्यक्ति को देखकर घृणाभावादि करते रहते हैं। ये सभी रागादि युक्त भावनायें चित्त को विक्षिप्त व मलीन करने वाली होती हैं। अतः योगाभ्यासी को इनसे बचना चाहिये। योगी का व्यवहार कैसा होना चाहिये, उसका दिग्दर्शन इस सूत्र में कराया है अर्थात् लोक में जो सुखी प्राणी हैं, योगी उनसे ईर्ष्या न करके मित्र-भावना रखे, दुःखी प्राणियों से घृणा न करके करुणा=दया भावना रखे, उनके प्रति हार्दिक सहानुभूति की भावना सदा रखे और उनके दुःख को दूर करने का उपाय करने वा सन्मार्ग बताने से चित्त में शान्तिभाव बना रहता है। और इसी प्रकार जो पुण्यात्मा हैं, उनके प्रति हर्ष-भावना तथा पापात्माओं के प्रति उपेक्षा-भाव सदा रखे। जो पापी-व्यक्ति होते हैं, उनको सन्मार्ग पर चलाने की बात कहनी तो चाहिए, परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शत्रुता वश बाधक न बन जायें। इस प्रकार लौकिक व्यवहार करने से योगी का चित्त स्वच्छ व शान्त रहता है और एकाग्रता या सम्प्रज्ञात-योग को प्राप्त करने में यह व्यवहार बहुत सहायक होता है ॥ ३३ ॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

व्यासभाष्यम्

[प्रच्छर्दन] कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत् ॥ ३४ ॥

भाष्यानुवाद—अथवा कौष्ठ्य=उदरस्थ वायु का नासिकापुटों=नासिका के दोनों छिद्रों से प्रयत्न विशेष=योगशास्त्रीय रीति से वमन=वमन की भांति वेग से बाहर निकालना प्रच्छर्दन है और [विधारण] (बाह्य-वायु को प्रत्यन विशेष से ही) भीतर ले जाकर धारण करना=वहीं रोकना 'प्राणायाम' कहलाता है। (ताभ्याम्) उन दोनों=प्रच्छर्दन तथा विधारण की क्रिया से मन की स्थिरता सिद्ध करे ॥

सूत्रार्थ—"(प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारं-वार मग्न करना चाहिए" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

"जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच के वायु को बाहर फेंक दे। जब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे, तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो और मन में (ओ३म्) इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यन्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोक के, तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध उससे न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय।

ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर, बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे" ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

भावार्थ—(१) चित्त की स्थिरता के लिये प्राणायाम एक मुख्य उपाय है। यथार्थ में शरीरस्थ सभी क्रियाओं का आधार प्राण है। इसलिये समस्त इन्द्रियाँ भी प्राण के आश्रय से कार्य करती हैं। उपनिषदों में इसी रहस्य को समझाने के लिये प्राण के साथ इन्द्रियों के विवाद का आलंकारिक वर्णन आता है। इन्द्रियाँ बड़ी हैं, या प्राण? इस विवाद में प्राण के बाहर निकलते ही इन्द्रियों को उसके महत्त्व का पता लग गया और उन्होंने प्राण की महत्ता स्वीकार की। इसलिये प्राण के नियन्त्रण से मनादि इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। इसलिये ही किसी संस्कृत के कवि ने कहा है—'चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्'। चित्त प्राण के चञ्चल होने से चञ्चल होता है और प्राण के निश्चल होने पर निश्चल हो जाता है।

(२) और मनुस्मृति में प्राण के निग्रह करने का फल बताते हुए लिखा है—

> दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
> तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनु०)

"यह मनुस्मृति का श्लोक है। जैसे—अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं के मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं" ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

अतः चित्त को निर्मल व स्थिर करने के लिये प्राणायाम करना अत्यन्त आवश्यक है। योग के अनुभवी योगियों ने भी प्राणायाम का विशेष महत्त्व बताया है कि प्राणायाम मनादि इन्द्रियों के मलों को समूल नष्ट कर देता है। परन्तु प्राणायाम प्रतिदिन विधिपूर्वक सामर्थ्य के अनुसार ही करना चाहिये। अन्यथा यह हानि भी कर देता है। महर्षि-दयानन्द इस युग के महान् योगी थे, उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर प्राणायाम की सरल व पूर्ण विधि लिखी है, जो ऊपर दिखाई गई है। और इसलिये सन्ध्या में भी प्रतिदिन प्राणायाम करने का विधान महर्षि ने किया है और प्राणायाम की मात्रा तीन से लेकर इक्कीस तक धीरे-धीरे बढ़ाते हुए करनी चाहिये, यह उन्होंने सामान्य लोगों के लिये एक सरल विधि लिखी है। और इस सूत्र के आधार पर ही प्राणायाम के चार प्रमुख भेद महर्षि ने ऊपर दिखाये हैं। यद्यपि हठयोगादि में प्राणायाम के इनसे भिन्न विधियां और भेद भी लिखे हैं, किन्तु महर्षि ने उनको नहीं अपनाया। क्योंकि उनसे लाभ के स्थान पर हानि भी सम्भव है।

(३) और सूत्र में 'प्राण' शब्द से श्वास-प्रश्वास के वायु का ही ग्रहण किया गया है। श्वास-प्रश्वास का लक्षण योग० १। ३१ सूत्रभाष्य में द्रष्टव्य है। और कुछ व्याख्याकार 'प्रच्छर्दन' का अर्थ श्वास-प्रश्वास परक मानते हैं अर्थात् जो वायु शरीर के अन्दर बाहर से जाता है, तथा भीतर से बाहर जाता है, दोनों ही 'प्रच्छर्दन' हैं। परन्तु यह व्यासभाष्य के विरुद्ध है। क्योंकि प्रच्छर्दन शब्द की व्याख्या व्यास मुनि ने 'वमन' शब्द से की है, जो शरीर से बाहर निकलने वाले वायु के लिये ही संगत होता है। और इसीलिये सूत्रकार ने द्विवचन का प्रयोग किया है। जिससे स्पष्ट है कि बार-बार से भीतर जाने वाले प्राण को सूत्रकार 'विधारण' मानते हैं, प्रच्छर्दन नहीं।

(४) और योगदर्शन में योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होना माना है, उसमें भी प्राणायाम प्रमुख है। और योगांगों में प्राणायाम का चौथा स्थान है। महर्षि-पतञ्जलि ने यह क्रम भी सोचसमझकर रक्खा है। अतः प्राणायाम की सिद्धि तब तक सम्भव नहीं जब तक, यम-नियमों का पूर्णतः पालन नहीं किया जाता और आसन-सिद्धि नहीं होती। क्योंकि यम-नियमों का पालन और आसन-सिद्धि से प्राणायाम निर्विघ्न होने से चित्त शीघ्र एकाग्र हो जाता है। और जो यम-नियमों का पालन न करने से दिनभर मिथ्याभाषण,

हिंसा, चोरी, लोभ, मोहादि दोषों में ग्रस्त रहते हैं और प्रातः सायं योगाभ्यास करने का प्रयास करते हैं, उन्हें योगाभ्यास में सफलता नहीं मिलती और इसलिये वे अपने दोषों पर ध्यान न देकर योग की निन्दा करने लगते हैं। अतः प्राणायाम की सिद्धि के लिये पूर्ववर्त्ती योगांगों का अनुष्ठान करना परमावश्यक है ॥ ३४ ॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥३५॥

व्यासभाष्यम्

[विषयवती प्रवृत्तिः] नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारी भवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथाऽपि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि आऽपवर्गाच्छ्रद्धीयते एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते। अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति। तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति॥ ३५ ॥

भाष्यानुवाद—नासिका के अग्रभाग पर धारणा=चित्त को स्थिर करने वाले योग-साधक पुरुष को जो दिव्यगन्ध की अनुभूति होती है, वह गन्धप्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग पर चित्त को स्थिर करने से जो दिव्यरस की अनुभूति होती है, वह रसप्रवृत्ति है। तालु में चित्त को स्थिर करने से जो दिव्य रूप की अनुभूति होती है, वह रूपप्रवृत्ति है। जिह्वा के मध्य में चित्त को स्थिर करने से जो दिव्य स्पर्श की अनुभूति होती है, वह स्पर्श-प्रवृत्ति है और जिह्वा के मूल में चित्त को स्थिर करने से जो दिव्य शब्द की अनुभूति होती है, वह शब्दप्रवृत्ति है। ये पाञ्च प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिरता की दशा में बान्धती हैं=एकाग्र करने योग्य बनाती हैं, संशय का निराकरण करती हैं, और समाधिजन्य (ऋतम्भरा नामक) प्रज्ञा की प्राप्ति में द्वार=

कारण बनती हैं। इससे चन्द्र, सूर्य ग्रह, मणि, प्रदीप, रश्मि आदि में (चित्त को स्थिर करने से) उत्पन्न दिव्य प्रवृत्ति भी विषयवती=विषयसम्बद्ध ही जाननी चाहिये।

(अब जो यह कहा गया है कि संशयं विधमन्ति=प्रवृत्ति संशय को दूर करती है, उसको स्पष्ट करते हैं) यद्यपि उन-उन शास्त्रों=विषयानुसार बने दूसरे शास्त्रों से, अनुमानादि प्रमाणों से और आचार्यों के उपदेशों से जो अर्थ-तत्त्व=पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है, वह सद्भूत=यथार्थ ही होता है, क्योंकि उनमें (शास्त्रों, प्रमाणों तथा उपदेशों में) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन का सामर्थ्य है। फिर भी जब तक (किसी पदार्थ का) एक भाग भी अपने मन से प्रत्यक्षानुभव नहीं होता, तब तक सब ज्ञान (शास्त्रों, प्रमाणों तथा उपदेशों से जाना गया) परोक्ष की तरह (अविश्वसनीय) होता है और मोक्षादि सूक्ष्म या गहन विषयों में दृढ़ बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेशों (से ज्ञात पदार्थों) को सार्थक बनाने के लिये अवश्य (ज्ञात-पदार्थों के) किसी अर्थविशेष=विषय विशेष का मन से प्रत्यक्ष करना चाहिये।

इन (मोक्षादि सूक्ष्म विषयों) में से शास्त्रादि के द्वारा उपदिष्ट=ज्ञात पदार्थ के किसी भाग के स्वयं प्रत्यक्ष करने पर मोक्षपर्यन्त सभी सूक्ष्मविषय श्रद्धास्पद=विश्वसनीय हो जाते हैं। इसीलिये यह चित्त का परिकर्म=(यो० १।३३) में बताया सुखी प्राणियों में मित्रतादि प्रवृत्ति पर्यन्त निर्दिष्ट किया जाता है। इन विषयवती तथा अनियत[1]=अस्थायी गन्धादि प्रवृत्तियों में तद्विषय=उन-उन दिव्य गन्धादि विषयों में वशीकारसंज्ञा[2]=अपर वैराग्य उत्पन्न होने पर (चित्त) उन-उन ध्येय पदार्थों के प्रत्यक्ष करने के लिये समर्थ हो जाता है। और वैसा होने पर=वैराग्य के सिद्ध होने पर योगी को (अस-म्प्रज्ञातसमाधि के साधनभूत) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि निर्विघ्नरूप से सिद्ध हो जायेंगे।

---

१. इन प्रवृत्तियों को यहाँ अनियत=अस्थायी कहकर स्पष्ट किया है कि ये प्रवृत्तियाँ केवल चित्त को प्रारम्भ में स्थिर करने में ही सहायक होती हैं। इनके उत्पन्न होने पर इनकी अनियतता=अस्थिरता को देखकर साधक इनके प्रति विरक्त हो जाता है और इनको छोड़ दिया जाता है।

२. **वशीकारसंज्ञा**—(यो १।१५) सूत्र में अपर वैराग्य के लक्षण में स्पष्ट कहा है कि दृष्ट तथा श्रुत विषयों से तृष्णारहित मनुष्य की वशीकारसंज्ञा होती है। क्योंकि वह विषयों में उन्मुक्त होकर स्वाधीनत्व की अनुभूति करने लगता है।

सूत्रार्थ—"इससे प्रतिमा-पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन्हों में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और बाह्यमुख जो वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना योगी लोगों को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और जो होवे तो मूर्त्तिमान् धन, पुत्र, दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता किसी की भी नहीं होती"॥ (हुगली शास्त्रार्थ प्रतिमापूजन विचार से)

भावार्थ—(१) चित्त को स्थिर करने के प्रमुख उपाय प्राणायाम का कथन करके अब चित्त को स्थिर करने के अन्य गौण उपायों का भी कथन किया है। उनमें एक उपाय इस सूत्र में कहा है—नासिकाग्र, जिह्वाग्र, जिह्वा-मध्यादि स्थानों पर चित्त को स्थिर करने से जो दिव्यगन्धादि की अनुभूति होती है, वह प्रवृत्ति=सामान्य व्यापार न होकर प्रकृष्ट-व्यापार होता है। इस गन्धादि की अनुभूति चित्त को एकाग्र करने में प्रथम स्तर पर पर्याप्त सहायक होती है। और अतीन्द्रिय तत्त्वों के जानने में विश्वास व श्रद्धा को पैदा कर देती है।

(२) इस दिव्य-गन्धादि की प्रतीति के लाभ बताते हुए भाष्यकार ने लिखा है—(क) इससे विक्षिप्त चित्त की वृत्तियों का प्रवाह रुककर एकाग्र हो जाता है। (ख) और संशय को नष्ट करती है। योगाभ्यासी पुरुष ने जो कुछ गुरुजनों से सुना तथा शास्त्रों में पढ़ा, जब तक उनके किसी भाग का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक संशय ही बना रहता है। इस दिव्यगन्धादि की प्रतीति की प्रथम सफलता से संशय दूर हो जाता है और मोक्षविषयक शास्त्रीय वचनों एवं गुरु-उपदेशों के प्रति अतिशय श्रद्धा बढ़ जाती है। (ग) और समाधि-बुद्धि=ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति में यह चित्त की एकाग्रता कारण बन जाती है। और योगसाधनों के अनुष्ठान में प्रोत्साहित कर देती है। परन्तु योग की उत्कृष्टदशा प्राप्त होने पर यह विषयवती प्रवृत्ति भी हीन होने से त्याज्य हो जाती है। क्योंकि यह भी विषय-संबद्ध प्रवृत्ति मोक्ष के चरम-लक्ष्य में बाधक ही रहती है॥ ३५॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

व्यासभाष्यम्

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। [ज्योतिष्मती] हृदयपुण्ड-

रीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थिति-वैशारद्यात्प्रवृत्तिः "सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते"। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम् "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते" इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥ ३६॥

भाष्यानुवाद—पूर्व सूत्र से 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी' इन पदों की अनुवृत्ति आ रही है। हृदयपुण्डरीक[1]=हृदय कमल में धारणा=मन को स्थिर करने वाले योगी को जो बुद्धिसंवित्=बुद्धि की प्रतीति होती है, वह बुद्धिवस्तु प्रकाशमान आकाश के समान (निर्मल) होती है, वहाँ चित्त की स्थिति=स्थिरता, तथा वैशारद्य=निर्मलता के कारण प्रवृत्ति=सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि की भांति प्रभारूपाकारवाली (ज्योतिष्मती) बनती है। और अस्मिता=अपनी आत्मानुभूति में समाहित किया चित्त तरङ्ग-रहित सागर के समान शान्त=रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव से शून्य, अनन्त=बहुत बड़ा प्रतीत होने वाला और अस्मितामात्रम्=आत्मानुभूतिमात्र करने वाला हो जाता है। जिस विषय में यह कहा जाता है उस अणुरूप=सूक्ष्मरूप अपने आत्मा को अनुभव करके अस्मीति='मैं हूँ' इस प्रकार (आत्मानुभूति) का सम्यक् ज्ञान=साक्षात्-कार करता है। यह दो प्रकार की विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है—एक विषय-वती (बुद्धिसंविद्रूपा) और दूसरी अस्मिता मात्रा कही जाती है। जिस प्रवृत्ति[2] से योगी-पुरुषों का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

---

१. 'हृदयपुण्डरीक' की व्याख्या महर्षि-दयानन्द ने 'अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म०' (छान्दो०) प्रमाण की व्याख्या में इस प्रकार की है—

"(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल का आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में··· ············खोज करने से मिल जाता है"। (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

२. ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में चित्त नितान्त सात्त्विक, प्रकाशमय एवं आकाश के तुल्य निर्दोष रहता है। चित्त के सूर्यादि के तुल्य प्रकाशित होने का भाव यह है कि उस दशा में सांसारिक विषयों से सम्बद्ध किसी वृति का प्रभाव नहीं रहता। केवल अस्मिता वृत्ति=स्वरूप साक्षात्कार की वृत्ति उद्भासित रहती है। इस दिव्य आलोक की दशा में साधक इतना प्रफुल्ल हो जाता है कि उस समय शोक-दुःखादि का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता, इसी कारण इस दशा को 'विशोका ज्योतिष्मती' कहा गया है।

"इसमें यह देखना चाहिये कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी है। इससे निर्मल प्रकाश स्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु० प्रकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि, इन्हों की जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।

तथा अस्मितामात्रा अर्थात् यह मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है, तब चित्त निस्तरंग अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नांई एकरस व्यापक होता है। तथा शान्त, निरुपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है अर्थात् मेरा आत्मा है, सो विगत अर्थात् शोकरहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं। तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है" ।।

(हुगली शास्त्रार्थ में प्रतिमापूजन विचार से)

सूत्रार्थ—इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी' पदों की अनुवृत्ति आती है। जब चित्त विशोका=रजस् व तमस् के प्रभाव से रहित सतोगुणप्रधान होने से दुःख-शोकादि की अनुभूति से रहित हो जाता है और ज्योतिष्मती=निर्मल व शान्त होने से प्रकाश स्वरूप हो जाता है, ऐसी चित्त की प्रवृत्ति होने पर चित्त एकाग्र हो जाता है।

भावार्थ—यह विशोका ज्योतिष्मती चित्त की प्रवृत्ति विषयवती प्रवृत्ति से उच्च-स्तर की होती है। इस दशा में चित्त रजोगुण, तमोगुण के प्रभाव से हीन होने से सात्त्विक, प्रकाशमय और आकाश के समान निर्मल हो जाता है। जीवात्मा का निवास-स्थान हृदय इस दशा में सूर्य, चन्द्र और मणि के प्रकाश के समान प्रकाशमान हो जाता है। इस स्थिति की विशोका विषयवती और अस्मितामात्रा ज्योतिष्मती भेद से दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है। दोनों में अन्तर यह है कि विशोकाविषयवती की स्थिति में शोकादि की अनुभूति न होने पर भी विषयवती=लौकिक विषयों का बोध रहता है और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में अस्मिता मात्रा=अपने सूक्ष्म आत्मा के शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का बोध होने से अन्य लौकिक वस्तुओं का बोध नहीं रहता। इस समय चित्त निस्तरंग समुद्र की भांति शान्त अनन्त[1]=सीमारहित और आत्मा के साथ अभिन्नरूप सा होकर साक्षात् आत्मा की अस्मिता=**मैं** हूँ, इस प्रकार की ही अनुभूति करता है। प्राचीन आचार्य पञ्च-शिख ने भी इसी बात की पुष्टि की है। यद्यपि इस स्थिति से योगी का चित्त

---

१. यहाँ 'अनन्त' शब्द का अभिप्राय यह नहीं है कि चित्त बहुत बड़ा हो जाता है, किन्तु उस समय में ऐसी अनुभूति होती है कि चित्त बहुत बड़ा है।

उत्साहित होने से एकाग्र हो जाता है, किन्तु यह स्थिति वृत्त्यात्मक होने के कारण स्थायी नहीं होती। क्योंकि सर्ववृत्ति निरोध होने पर ही पूर्णयोग हो पाता है ॥ ३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

व्यासभाष्यम्

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

भाष्यानुवाद—अथवा राग से रहित चित्त के आलम्बन में संलग्न योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

सूत्रार्थ—'वीतः=अपगतो रागो यस्मात् स वीतरागः स वीतरागो विषयः=ध्येयविषयो यस्य तत् वीतरागविषयं (चित्तम्)' अर्थात् जो रागादि दोषों से सर्वथा पृथक् है, ऐसे योगी[1] पुरुषों के ध्यान में जिसका चित्त लगा है, उस साधक योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

भावार्थ—चित्त को स्थिर करने का एक अन्य उपाय सूत्रकार ने यहाँ बताया है। सूत्रकार ने पहले चित्त-निरोध करने के वैराग्य तथा अभ्यास दो उपाय बताये हैं। तत्पश्चात् उनके सहायक उपायों का ही कथन किया गया है। उन उपायों में चित्त में वैराग्य-भावना उत्पन्न करने के लिये विरक्त-योगियों के चरित्र तथा उनका सान्निध्य सहायक होते हैं। जैसे—पूर्णस्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को देखकर वैसा ही बनने की भावना चित्त में उत्पन्न होती है, वैसे ही राग-द्वेषादि दोषों से शून्य शान्त, पूर्ण विरक्त और हर्ष-शोक से व्यथित न होने वाले योगियों के चरित्रों के चिन्तन और वर्त्तमान योगियों के सान्निध्य से चित्त में वैसे ही भाव जागृत होते हैं और साधक वैसा ही बनने के लिये प्रोत्साहित होकर प्रयत्न करने लगता है। इस प्रकार प्रयत्न करते-करते साधक का चित्त लौकिक विषयों से विरक्त होकर स्थिरता को प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

---

१. विरक्त योगियों के चरित्रों के चिन्तन से भी साधक के चित्त में विरक्त के भाव जागृत हो जाते हैं कि मैं भी वैसा ही शान्त तथा विरक्त बनूं।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

व्यासभाष्यम्

स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थिति-पदं लभत इति ॥ ३८ ॥

भाष्यानुवाद—अथवा स्वप्नज्ञान का आलम्बन तथा निद्राज्ञान का आल-म्बन करने वाला तदाकार योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

सूत्रार्थ—"जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान् चित्त होता है, ऐसा ही जागृतावस्था में जब योगी ध्यान करता है। इस प्रकार आलम्बन से तब योगी का चित्त स्थिर हो जाता है" ॥ (हुगली शास्त्रार्थ प्रतिमापूजन विचार से)

भावार्थ—सूत्रार्थ भाष्यानुवाद से स्पष्ट है। सूत्रस्थ ज्ञान शब्द का सम्बन्ध स्वप्न और निद्रा दोनों से है। निद्रा शब्द से यहाँ सुषुप्ति दशा का ग्रहण किया गया है। यद्यपि निद्रा एक तामस दशा होने से चित्त की एक त्याज्य वृत्ति है, पुनरपि उसका यहाँ ग्रहण सात्त्विक निद्रा से है। जब कोई सोकर जागने के बाद यह अनुभूति करता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया' तब चित्त-एकाग्र करने में निद्राज्ञान सहायक होता है। क्योंकि उस समय तमोगुण-प्रधान निद्रा में सतोगुण की मात्रा भी अवश्य होती है, अन्यथा कोई ज्ञान न हो सके।

इसी प्रकार स्वप्न-ज्ञान से अभिप्राय ऐसे स्वप्नों से है, जो वासना-मूलक न होने पर चित्त को प्रसन्न करने वाले हों। जिनको निरन्तर देखने की उत्कण्ठा बनी ही रहती है। इस प्रकार के स्वप्नों में प्राकृतिक रमणीक दृश्य, विरक्त शान्त साधुओं के आश्रम, तथा वहाँ रहने वाले साधुओं का सुखद-सम्पर्क, उनके शिक्षाप्रद उपदेशादि का देखना हो सकता है। इस दशा में भी चित्त एकाग्र होता है। इस प्रकार के स्वप्नों व निद्रा दशा का स्मरण व चिन्तन मन को एकाग्र करने में सहायक होता है ॥ ३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

व्यासभाष्यम्

यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

भाष्यानुवाद—अथवा उपर्युक्त स्थानों में से किसी भी अभीष्ट स्थान में चित्त को धारण करे। उस अभीष्ट-स्थान में स्थिर हुआ चित्त अन्य विषयों में भी स्थिरता को प्राप्त करता है।

सूत्रार्थ—**"इससे लेके 'निद्राज्ञानावलम्बनं वा' यहाँ तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हों में से किसी स्थान में योगी चित्त को धारण करें। जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये" ॥**

(हुगली शास्त्रार्थ प्रतिमापूजन विचार से)

भावार्थ—इस सूत्र का यह अर्थ कदापि नहीं है कि साधक उपर्युक्त उपायों से भिन्न अपनी रुचि के अनुसार किसी पदार्थ में भी (मूर्त्ति आदि में) मन को स्थिर कर सकता है। यहाँ व्यास-भाष्य में इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए स्पष्ट कहा है कि उपर्युक्त उपायों में से जो उपाय साधक को अभीष्ट हो, वहीं ध्यान करके चित्त को स्थिर करे। महर्षि-दयानन्द ने भी ऐसी ही व्याख्या की है और यह व्याख्या ही योगदर्शन के अनुकूल है। क्योंकि समस्त योगदर्शन का विषय बाह्यवृत्ति को समाप्त करके अन्तर्वृत्ति करना है। फिर यहाँ बाह्य-वृत्ति परक सूत्रार्थ कैसे हो सकता है? और बाह्य सीमित पदार्थों में मन स्थिर हो भी नहीं सकता। यह मन का स्वभाव है कि वह थोड़ी देर तक किसी बाह्यविषय को देखकर बाद में परांगमुख हो जाता है और इधर-उधर भागने लगता है। अतः उपर्युक्त उपायों का ही इस सूत्र में विकल्प दिखाया गया है। ऐसा न मानने पर नशादि करने या वासनामूलक अशास्त्रीय उपायों का भी ग्रहण कोई कर सकता है, जो कि शास्त्रविरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

व्यासभाष्यम्

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः। तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥ ४० ॥

भाष्यानुवाद—(योगी का चित्त) सूक्ष्म में निविशमान=प्रवेश करता हुआ=स्थिर होता हुआ परमाणु पर्यन्त पदार्थों में स्थिरता को प्राप्त करता है। और स्थूल पदार्थों में निविशमान=स्थिर करते हुए परम-महत्त्व पर्यन्त (जिस

से बड़ा कोई न हो ऐसे आकाश पर्यन्त) पदार्थों में स्थिरता को प्राप्त करता है। इस प्रकार उन दोनों (सूक्ष्म तथा स्थूल) कोटि=किनारों की ओर भागते हुए इस योगी के चित्त का जो अप्रतिघात=अबाधित वशीकार=स्वाधीनत्व है वह उत्कृष्ट=सब से उत्तम है। उस वशीकार=उत्कृष्ट स्वाधीनत्व से परिपूर्ण=परिपक्व योगी का चित्त अभ्यास-साध्य परिकर्मों=उपायों की फिर अपेक्षा नहीं करता।

सूत्रार्थ—(अस्य) इस योगी के चित्त की (वशीकारः) स्थिरता=स्वाधीनता परमाणु और परममहत्त्व पर्यन्त होती है। अर्थात् योगी अभ्यास करते-करते ऐसी दशा में पहुंच जाता है कि वह अपने चित्त को सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् पदार्थों में भी स्थिर कर सकता है।

भावार्थ—३४ सूत्र से लेकर ३९ सूत्र तक चित्त को स्थिर करने के विभिन्न उपायों का कथन किया गया है। इस सूत्र में उनका फल बताया गया है। अर्थात् जब उपर्युक्त उपायों से चित्त एकाग्र होने लगता है तब योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म (परमाणु-पर्यन्त) और महान् से महान् लौकिक पदार्थों में (आकाश-पर्यन्त) भी अपने मन को एकाग्र करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। और उन पदार्थों को जान भी सकता है। और ऐसा योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म गहन विषयों में चित्त को स्वेच्छा से लगाकर उनका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद चित्त को एकाग्र करने के अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। इस चित्त-एकाग्रता की दशा को प्राप्त करने के बाद क्या स्थिति होती है, उसका वर्णन अगले सूत्र में किया गया है ॥ ४० ॥

अव०—अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति तदुच्यते—

(अर्थ)—(चित्त के परिकर्मों से) स्थिरता को प्राप्त हुए चित्त की समापत्ति=ध्येय विषय में तदाकार-प्रतीति किस स्वरूपवाली और किस विषय की होती है?

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

व्यासभाष्यम्

[क्षीणवृत्तेः] क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव

मणेरिति दृष्टान्तोपादानम् । [समापत्तिः] यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपो-परक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्म-स्वरूपाभासं भवति । तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति । तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति ।

तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेषु द्रष्टव्यम् । ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमा-पन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारा-पत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ।। ४१ ।।

भाष्यानुवाद—[क्षीणवृत्तेः] सूत्र-पठित इस पद का अर्थ है जिस चित्त की प्रत्यय=घटपटादि प्रतीतियाँ अस्त=शान्त हो गई हैं, उस चित्त का अभि-जात मणि=निर्मल स्फटिक के समान दृष्टान्त सूत्रकार ने दिया है । [समापत्तिः] जैसे—शुद्ध स्फटिक समीपस्थ भिन्न-भिन्न पदार्थों के आश्रय से उन-उन पदार्थों से उपरक्त=तत्तदाकार होकर निकटस्थ पदार्थों के आकार वाला प्रतीत होता है, वैसे चित्त ग्राह्य=ग्रहण करने=ध्येय पदार्थ के (गन्धादि) विषयों के आल-म्बन से उपरक्त=लगाव रखता हुआ ग्राह्य के साथ तदाकारता को प्राप्त हुआ ग्राह्य के स्वरूप के समान भासित होता है । तथा=और उदाहरण स्वरूप सूक्ष्मभूत=पञ्च तन्मात्राओं से उपरञ्जित चित्त सूक्ष्मभूतों के आकार वाला होकर सूक्ष्मभूतों के स्वरूप जैसा भासित होता है । तथा=और स्थूल=पञ्च महाभूतों से उपरञ्जित चित्त स्थूलभूतों के आकारवाला होकर स्थूलभूतों के स्वरूप जैसा भासित होता है । तथा=और उसी प्रकार विश्वभेद=समस्त घट-पटादि वस्तुओं से उपरञ्जित चित्त विश्वभेद=घटपटादि वस्तुओं के आकार वाला होकर घटपटादि के स्वरूप जैसा भासित होता है ।

वैसे ग्रहणों[1]=विषयों के ग्रहण करने के जीवात्मा के साधन इन्द्रियों में भी जानना चाहिये । ग्रहण=इन्द्रियों से उपरञ्जित चित्त ग्रहण के आकार-वाला होकर ग्रहण के स्वरूप जैसा भासित होता है । तथा=उसी प्रकार ग्रहीता पुरुष=जीवात्मा से उपरञ्जित चित्त ग्रहीतापुरुष के आकार वाला होकर

१. ग्रहण=गृह्यन्त एभिरर्था इति ग्रहणानीन्द्रियाणि । यहाँ ग्रहण=इन्द्रिय से अभिप्राय चक्षुरादि गोलकों से नहीं है, प्रत्युत अतीन्द्रियशक्ति से है । क्योंकि ये गोलक तो ग्राह्य के ग्रहण से ही गृहीत हो जाते हैं ।

ग्रहीतापुरुष के स्वरूप जैसा भासित होता है। तथा=उसी प्रकार मुक्त-पुरुष से उपरञ्जित चित्त मुक्त-पुरुष के आकार वाला होकर मुक्त-पुरुष के स्वरूप जैसा भासित होता है।

इस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि के सदृश ग्रहीता=जीवात्मा, ग्रहण=इन्द्रिय और ग्राह्य=पञ्चभूतादि आलम्बनों में स्थिरता को प्राप्त चित्त का जो तत्तदाकार[1] होना है, उसे समापत्तिः=इस शास्त्रीय नाम से कहा जाता है।

सूत्रार्थ—(क्षीणवृत्तेः) जिसकी राजस तथा तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं, ऐसा चित्त (अभिजातस्य) स्वच्छ=निर्मल (मणेः इव) स्फटिक मणि के समान (पूर्वोक्त परिकर्मों से) और शान्त निर्दोष, शुद्ध होने से (ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु ग्रहीता=जीवात्मा, ग्रहण=इन्द्रिय तथा ग्राह्य=स्थूल व सूक्ष्म ध्येय पदार्थों में (तत्स्थ-तदञ्जनता[2]) स्थित होकर जो उसी जैसा (तत्तदाकार वाला) प्रतीत होता है, उसे 'समापत्ति' कहते हैं।

भावार्थ—जब योगाभ्यासी का चित्त अभ्यास और वैराग्यादि उपायों से शुद्ध और एकाग्र हो जाता है, उस समय उस की दशा ऐसी होती है जैसी स्वच्छ सफेद स्फटिक पत्थर की होती है। श्वेत स्फटिक के समीप लाल, पीला, नीलादि रंगों वाली जैसी रंगीन वस्तु रखी होती है, वह पत्थर भी वैसा लाल, पीलादि रंगों वाला प्रतीत होने लगता है। ठीक यही दशा शुद्ध व एकाग्र चित्त की होती है। चित्त प्रकृति का विकार होने से सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण वाला है। जब योगाभ्यासी के चित्त में राजस व तामस गुण अभिभूत होकर प्रभाव-हीन हो जाते हैं और सतोगुण की मुख्यता होने से चित्त निर्दोष, शुद्ध एवं शान्त हो जाता है, उस समय चित्त जिन पदार्थों का ध्यान करता है, उन ध्येय पदार्थों जैसा ही चित्त प्रतीत होने लगता है।

व्यास-भाष्य में ध्येय-पदार्थों को तीन भागों में विभक्त किया है—ग्रहीता=जीवात्मा, ग्रहण=इन्द्रिय तथा ग्राह्य=स्थूल व सूक्ष्मभत। योग-साधना की दृष्टि से इनको विपरीत क्रम से समझना चाहिये। अर्थात् प्रथम ग्राह्य, फिर ग्रहण और सबसे अन्त में ग्रहीता। क्योंकि साधक स्थूल पदार्थों का अभ्यास करता-करता उत्तरोत्तर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है। साधक सहसैव सूक्ष्म

---

१. आशय यह है कि जब चित्त में राजस तथा तामस गुणों का प्रभाव बिल्कुल भी नहीं रहता, तब सात्त्विक शुद्ध चित्त ध्येय पदार्थ के आकार वाला ही भासिक होता है।

२. यहाँ 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' इस धात्वर्थ के अनुसार अञ्जू धातु का व्यक्ति=प्रकट होना अर्थ गृहीत होता है।

पदार्थों को ध्येय का विषय नहीं बना सकता। ग्राह्य पदार्थों में स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो भेद हैं। प्रथम साधक जिस स्थूल भूत पर चित्त का संयम करता है, चित्त ध्येयाकार=तत्तदाकार वाला होकर उसको जानने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार साधक सूक्ष्मभूतों, इन्द्रियों तथा ग्रात्मा=ग्रपने ग्राप को ध्येय बनाकर चित्त को तत्तदाकार वाला बनाकर उनके स्वरूप को यथार्थ में जान लेता है। व्यास-भाष्य में इसी तथ्य को ग्राह्य (स्थूल, सूक्ष्मभूत) ग्रहण, तथा ग्रहीता के क्रम से ही दिखाया है। इस क्रम में उत्तरोत्तर योग के उन्नत स्तर को दिखाते हुए ग्रन्त में चित्त को पुरुषाकार वाला बताया है। किन्तु यह स्थिति चिरकालीन ग्रभ्यास के पश्चात् प्राप्त होती है। इसीलिये व्यास-भाष्य में इसे मुक्त-पुरुष की स्थिति कहा है। यहाँ 'मुक्तपुरुष' से ग्रभिप्राय ग्रपने से भिन्न पुरुषविशेष का ग्राश्रय नहीं, प्रत्युत जो ग्रात्मा मोक्ष का ग्रधिकारी बन गया है, वह ही ग्रपने चित्त को ध्येय ग्रात्मा के ग्राकार वाला बना सकता है।

इस प्रकार एकाग्र एवं शुद्ध चित्त का जो ध्येय-पदार्थ से प्रतिबिम्बित होकर तदञ्जनता=तदाकार वाला होना है, इसे ही 'समापत्ति'[1] कहते हैं॥ ४१॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

व्यासभाष्यम्

तद्यथा गौरितिशब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्। विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा ग्रन्येऽर्थधर्मा ग्रन्ये ज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः। तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थ समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते॥ ४२॥

भाष्यानुवाद—तो जसे 'गौः' यह ध्वनिरूप शब्द है, 'गौः' शब्द बोध्य (सास्नादिमान् पशुविशेष) उसका ग्रर्थ है ग्रौर 'गौः' यह (गो पदार्थाकार बुद्धि-वृत्ति) ज्ञान है। इन तीनों विभक्त=भिन्न-भिन्न हुग्रों का भी ग्रभेद से ग्रहण देखा जाता है। विभक्तों का शब्दधर्म, ग्रर्थधर्म, ग्रौर ज्ञानधर्म भिन्न-भिन्न है। एवं इनका मार्ग=ग्रस्तित्व पृथक्-पृथक् है। उस (विषय) में समापन्न=सात्त्विक शुद्ध चित्त वाले योगी की समाधि-प्रज्ञा में जो 'गाय' इत्यादि ग्रर्थ है, वह यदि

---

१. 'समापत्ति' शब्द का (सम्+ग्रा+पद गतौ+क्तिन्) इस व्याकरण प्रक्रिया के ग्रनुसार सम्=ग्रच्छी प्रकार से ग्रा=सब ग्रोर से पत्ति=प्राप्ति होना ग्रर्थ है।

शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पानुविद्ध=पारस्परिक भेद से युक्त है अर्थात् मिला हुआ प्रकट हो तो वह संकीर्ण=मिश्रित होने से संकरयुक्त समापत्ति=समाधि सवितर्का कहलाती है।

सूत्रार्थ—उन (समापत्ति के भेदों[1] में) शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प= भेद में अभेद और अभेद में भेद के अध्यास से संकीर्ण=मिश्रित समापत्ति 'सवितर्का' है। (अर्थात् लोकव्यवहार में शब्द, अर्थ और ज्ञान के भिन्न-भिन्न होते हुए भी 'गौः' शब्द को सुनकर अभेदरूप से तीनों का बोध होता है। और सवितर्का समापत्ति में योगी को शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों का मिश्रित रूप से प्रत्यक्ष होता है।)

भावार्थ—जब योगी का एकाग्र तथा शुद्ध चित्त ध्येय=स्थूल सूक्ष्म पदार्थों में तत्तदाकार होने लगता है, उस दशा में स्थूल विषयों से सम्बद्ध समापत्ति के दो भेद होते हैं—सवितर्का और निर्वितर्का। और सूक्ष्मविषय से सम्बद्ध समापत्ति का वर्णन १।४४ में किया है। और इस सूत्र में सवितर्का समापत्ति का लक्षण किया है।

लोक-व्यवहार में स्थूल वस्तुओं के ज्ञान करने के लिये जो ज्ञान होता है, वह गुरुमुखादि से सुनकर, शास्त्रों में पढ़कर अथवा अनुमानादि से होता है। उसमें ज्ञान की प्रक्रिया शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीन रूपों में होती है। प्रथम शब्द सुनकर उसके अर्थ का बोध होना तदनन्तर उस पदार्थ का ज्ञान होता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों भिन्न-भिन्न[2] होते हुए भी इनका संकीर्ण तथा असंकीर्ण रूप अर्थात् भेद में अभेद का तथा अभेद में भेद का दर्शन भी होता है। योगाभ्यासी पुरुष को सम्प्रज्ञात समाधि में जिस दशा में शब्द, अर्थ व ज्ञान का संकीर्ण=मिश्रित प्रत्यक्ष होता है, उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं। इस दशा में योगी को शब्द, अर्थ व ज्ञान तीनों सहभाव से अभिव्यक्त होते रहते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष से इस योगज प्रत्यक्ष में अन्तर यह है कि लौकिक-प्रत्यक्ष में एक क्रम होता है, योगज में नहीं। योगज प्रत्यक्ष में शब्द, अर्थ व ज्ञान की एक-साथ उपस्थिति रहती है॥ ४२॥

---

१. पूर्वसूत्रपरिभाषित 'समापत्ति' के चार भेद हैं—सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा।

२. जैसे—'गौ' यह शब्द ध्वनिमात्र है, गो शब्द का जो अर्थ=सास्नादिमान् विशेष प्राणी है, वह अर्थ है और जो इस अर्थ की प्रतीति है वह ज्ञान है।

अव०—यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते, सा च निर्वितर्का समापत्तिः। तत्परं प्रत्यक्षम्। तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्। ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्। तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति। निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते—

(अर्थ)—जब शब्दसंकेत और स्मृति की परिशुद्धि=निवृत्ति होने पर अर्थात् शब्दसंकेत और स्मृति के भेद के न होने पर और श्रुतज्ञान=शास्त्रीयज्ञान तथा अनुमानज्ञान के विकल्प=भेदों से शून्य होने पर समाधि से उत्पन्न प्रज्ञा में अपने शुद्धस्वरूप मात्र से ही उपस्थित वस्तु अपने स्वरूप का बोध कराने से अवच्छिद्यते=जानी जाती है। वह उच्चस्तर का प्रत्यक्ष है। और वह श्रुतज्ञान तथा अनुमानज्ञान का कारण है। क्योंकि उससे श्रुत व अनुमान ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। और यह पर-प्रत्यक्ष रूप दर्शन=ज्ञान श्रुतज्ञान और अनुमान-ज्ञान के साथ उत्पन्न नहीं होता। इसलिये दूसरे प्रमाणों से असंकीर्ण=न मिला हुआ योगी का निर्वितर्क-समाधि से उत्पन्न ज्ञान (पर-प्रत्यक्ष) होता है। इस निर्वितर्का समापत्ति का अगले सूत्र से लक्षण बताया जाता है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

व्यासभाष्यम्

[स्मृतिपरिशुद्धौ] या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्य-स्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः।

तथा च व्याख्यातम्—तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः।

स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति। धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरो भवति। स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते। योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते।

यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्या-ज्ञानमिति।

तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात् । यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाऽऽम्नातम् । तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयो भवति ॥ ४३ ॥

भाष्यानुवाद—जो शब्दसंकेत=शब्दार्थज्ञान, श्रुत=शास्त्र का ज्ञान और अनुमानज्ञान के विकल्प=भेदों की स्मृति से परिशुद्धौ[1]=रहित ग्राह्य=ध्येय पदार्थ के स्वरूप से उपरञ्जित प्रज्ञा अपने ग्रहणात्मक प्रज्ञास्वरूप को छोड़कर पदार्थमात्रस्वरूपा=ग्राह्यपदार्थ[2] के स्वरूप को धारण की हुई होती है, वह निर्वितर्का नामक समापत्ति=समाधि होती है ।

इसी प्रकार (अन्य आचार्यों ने भी) व्याख्या की है—[अवयवी की सिद्धि] एकबुद्ध्युपक्रमः=‘एकां बुद्धिं उपक्रमते=जनयति’ अर्थात् एक पदार्थ के रूप में अनुभूयमान=एक बुद्धि उत्पन्न करने वाला, अर्थात्मा=पदार्थरूप अणुप्रचयविशेषात्मा=‘अणूनां प्रचयः (स्थूलरूपः परिणामः) एवात्मा=स्वरूपं यस्य’ परमाणुओं के स्थूल परिणाम वाला, गवादिः, घटादिर्वा=गायादि अथवा घटादि पदार्थ लोकः=लोकज्ञान के विषय हैं ।

और वह संस्थानविशेषः=परमाणुओं के समूहरूप (गवादि या घटादि) भूतसूक्ष्माणाम्=सूक्ष्मभूतों=तन्मात्राओं=परमाणुओं का साधारण-धर्मः=समान रूप से धर्म है=सभी तन्मात्राओं का धर्म है (किन्हीं दो चार का नहीं) (किन्तु) आत्मभूतः[3]=वह स्थूलरूप सूक्ष्मभूतों के स्वरूप वाला है (उनसे भिन्न कोई पदार्थ भी नहीं) व्यक्त=समूह रूप में प्रकट होने वाले घटादि स्थूलरूप फल से जिनकी (घटादि की) सत्ता का अनुमान किया जाता है, स्वव्यञ्जकाञ्जनः=‘स्वव्यञ्जकेन कारणेनाञ्जनं प्रकटीकरणं यस्य’ अर्थात् अपने कारणभूत सूक्ष्मभूतों (परमाणुओं) के रूप से जो प्रकट होता है, ऐसा स्थूलरूप (अवयवी) उत्पन्न होता है । और कपालादि अन्य धर्मों के उदये=अभिव्यक्त होने पर अर्थात् घटादि के खण्ड-खण्ड होने पर घटादि रूप छिप जाता है । वह यह सूक्ष्मभूतों का (स्थूलरूप) घटादि पदार्थ ‘अवयवी’ के नाम से कहलाता है । और जो वह एकत्व बुद्धिवाला, महान्=स्थूलरूप (बड़ा) अणीयांश्च=और छोटा है, स्पर्शवान्=

१. ‘परिशुद्धि’ शब्द का प्रकरणानुकूल अर्थ है—सर्वथा सफाया होना=निवृत्त होना ।

२. ‘निर्वितर्का समापत्ति’ का विषय भिन्न-भिन्न परमाणु न होकर एक अवयवी होता है ।

३. यहाँ भाष्यकार ने घटादि पदार्थों को परमाणुओं से भिन्न बताकर ‘आत्मभूतः’ शब्द से अभिन्न बताया है ।

और इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य होने से स्पर्श गुणवाला, क्रियाधर्मकः=जलादि धारणरूप क्रिया का साधक अनित्यश्च=और खण्ड-खण्ड होने से धर्मान्तर व्यक्त होने से नष्ट होने वाला है। उस 'अवयवी' कहे जाने वाले (घटादि पदार्थों के द्वारा) लोक में व्यवहार किये जाते हैं।

[अवयवी को न मानने वालों का खण्डन]

और जिसके मत में वह परमाणुओं का स्थूलरूप अवयवी अवस्तुकः=सत्ताहीन है, उसके मत में कारणभूत सूक्ष्म परमाणु तो अनुपलभ्यम्=उपलब्धि (प्रत्यक्ष) के योग्य नहीं है (और) अविकल्पस्य=अभेदरूप अवयवी की सत्ता न मानने से अतद्रूपप्रतिष्ठम्[1]=पदार्थ के निजरूप में सब ज्ञान अप्रतिष्ठित ही कहलायेगा। इसलिये प्रायेण=बाहुल्य से सर्वमेव=सभी ज्ञान (लोकविदित) मिथ्या हो जायेगा। और तब ज्ञान का विषय (अवयवी घटादि) न होने से यथार्थ ज्ञान भी क्या होगा? वास्तव में जो-जो (पदार्थ) उपलब्ध हो रहा है वह-वह अवयवी रूप से कहा गया है। इसलिये (अवयवों से भिन्न) 'अवयवी' नामक घटादि पदार्थ अवश्य है, जो महत्त्वादि=बड़ा छोटादि व्यवहार का विषय होता है। और वही अवयवी निर्वितर्का समापत्ति का विषयो=ध्येय-विषय=आलम्बन बनता है।

सूत्रार्थ—(स्मृतिपरिशुद्धौ) शब्द-प्रमाण तथा अनुमान-प्रमाण की स्मृति के निवृत्त होने पर (स्वरूपशून्या, इव) स्वरूप=चित्त के ग्रहणात्मकरूप से शून्य जैसी (अर्थमात्रनिर्भासा) केवल पदार्थ का भान कराने वाली (चित्त-वृत्ति की स्थिति का नाम) निर्वितर्का समापत्ति है। इस सूत्र में पिछले सूत्र से 'समापत्तिः' पद की अनुवृत्ति आती है।

भावार्थ—(१) इस सूत्र में चित्त के एकाग्र व शुद्ध होने पर निर्वितर्का समापत्ति का स्वरूप बताया गया है। सवितर्का और निर्वितर्का में अन्तर यह है कि यद्यपि ये दोनों समापत्तियाँ स्थूल ध्येय विषयों के आकार वाली ही भासित होती हैं, परन्तु सवितर्का में गो-घटादि ध्येय पदार्थों की शब्द, अर्थ व ज्ञान तीनों के संकीर्ण=मिश्रित रूप की स्मृति रहती है। परन्तु निर्वितर्का में चित्त की एकाग्रता और उच्चस्तर की होने से चित्त का अपना स्वरूप शून्य की भांति हो जाता है, इसलिये शब्द, अर्थ, व ज्ञान की मिश्रित स्मृति न रहने से वह पदार्थमात्र ही भासित होता है। अभिप्राय यह है कि इस दशा में पदार्थ के वाचक शब्द की स्मृति और ग्रहण करने वाले चित्त का स्वरूप निवृत्त हो जाता है। चित्त की इस स्थिति को 'निर्वितर्का समापत्ति' कहते हैं।

---

१. 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' योग० १। १८ में इसकी व्याख्या द्रष्टव्य है।

(२) और इस सूत्र में 'स्वरूपशून्या इव' पदों का पाठ है। यहाँ 'स्वरूप' शब्द से अभिप्राय ग्रहण करने वाले चित्त से है। इस दशा में चित्त की सत्ता का अभाव नहीं होता, प्रत्युत ध्येय पदार्थ में इस प्रकार तदाकार हो जाता है कि उसका अपना ग्रहणात्मक स्वरूप प्रतीत नहीं होता। यदि चित्त का इस दशा में अभाव मान लिया जाये तो योगाभ्यासी को ध्येयपदार्थ का ज्ञान भी न हो सके। इस अर्थ-मात्र ज्ञान को व्यास-भाष्य में पर-प्रत्यक्ष=उच्चस्तर का कहा है। इसे योगज-प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं।

(३) और इस योगज-प्रत्यक्ष के विषय में व्यासमुनि ने कुछ स्पष्टीकरण भी किया है। यह पर-प्रत्यक्ष ज्ञान श्रुत=शास्त्र (शब्दप्रमाण) और अनुमान का कारण होता है। उसी प्रत्यक्ष ज्ञान से (सामान्य जनों को योगी पुरुषों से रचित शास्त्रों को पढ़कर) अर्थतत्त्व विषयक शब्दप्रमाणजन्य ज्ञान और आनुमानिक ज्ञान होता है। ये शब्दप्रमाण तथा अनुमान उस पर-प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायक नहीं होते। इसलिये इस ज्ञान को दूसरे प्रमाणों से असंकीर्ण=अमिश्रित कहा है।

(४) और इस निर्वितर्का-समापत्ति की दशा में जिस ध्येय घटादि का आभास होता है, उसे दर्शनकारों ने 'अवयवी' नाम से कहा है। यह अवयवी अनेक अवयवों का संघातरूप होता है। सामान्य-जन जब किसी अवयवी को जानते हैं, वे प्रथम एक भाग का ही प्रत्यक्ष करके अनुमान से दूसरे भागों को जान पाते हैं। परन्तु योगी इस दशा में पहुंचकर सम्पूर्ण अवयवी को योगाभ्यास से जान लेता है।

(५) कुछ आचार्य 'अवयवी' की कोई सत्ता ही नहीं मानते हैं। व्यास-भाष्य में उनकी मान्यता का खण्डन करते हुए एक अवयवी का प्रतिपादन किया है। यद्यपि अवयवी अपने सूक्ष्म कारणों का एक समूह होता है, परन्तु उसे अनेक परमाणुरूप भी नहीं कहा जा सकता। यह अवयवी सूक्ष्म कारणों से उत्पन्न होकर भी अपने एक भिन्न स्वरूप वाला होता है और अपने स्वरूप (घट के कपालादि) के प्रकट होने पर प्रकट होता है और उस स्वरूप के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इसीलिये घड़े के चूरा-चूरा होने पर जब उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है, तो कोई भी उसे घड़ा नहीं कहता है। इस संघातरूप अवयवी का एक, महान् या सूक्ष्म, स्पर्शवान्, क्रियागुणयुक्त और अनित्य[१] रूप में लोक में व्यवहार होता है।

और एक अवयवी को न मानने वालों के पक्ष में दोष लगाते हुए व्यास-

१. अनित्य से अभिप्राय प्रादुर्भाव-तिरोभाव होने वाले से है।

मुनि लिखते हैं—(१) कि यह मान्यता समस्त लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय प्रमाणों से विरुद्ध होने से सत्य नहीं है। जैसे—जो जलाहरणादि कार्य घटादि से सम्पन्न होता है, वह परमाणु-पुञ्ज से कदापि नहीं हो सकता। (२) और जो पर-प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को होता है, वह भी मिथ्या हो जायेगा। क्योंकि निर्वितर्का समापत्ति में योगी को घटादि एक पदार्थविषयक ज्ञान होता है, वह एकत्वबोधक ज्ञान वास्तविक न होने से मिथ्या ही कहलायेगा। क्योंकि योगी का इस दशा में ध्येयविषय स्थूल भूत (भौतिक द्रव्य) होते हैं। और सूक्ष्म-भूत अतीन्द्रिय होने से उपलब्ध नहीं हो सकते। उनके समूह (अवयवी) की सत्ता स्वीकार न करने से योगी को होने वाला एकत्वबोधक ज्ञान मिथ्या हो जायेगा। इसलिये एक अवयवी को बिना माने लोक-व्यवहार तथा सम्यक् ज्ञान कदापि नहीं हो सकता॥ ४३॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

व्यासभाष्यम्

[सविचारा] तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठत।

[निर्विचारा] या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतनैव स्वरूपेणाऽऽलम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति।

प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते। तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च। एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति॥ ४४॥

भाष्यानुवाद—[सविचारा] उन में देश=स्थान जहाँ बैठकर गन्धादि का ग्रहण की जाये, काल=जिस समय गन्धादि का ग्रहण की जाये, निमित्त=जिस वस्तु के द्वारा गन्धादि ली जाये, इन तीनों के अनुभव से सम्बद्ध अभिव्यक्तधर्मक=प्रकट धर्म वाले=साक्षात् योगज प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले भूतसूक्ष्म=चन्दनादि पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्मतत्त्व=गन्धतन्मात्रादि में जो

समापत्तिः=उस उस वस्तु के धर्मों में तद्रूप होना है वह 'सविचारा' कही जाती है। उसमें भी एकबुद्धिनिर्ग्राह्यम्=एकबुद्धि से ग्रहण की जाने वाली [अर्थात् जिस वस्तु के द्वारा यदि गन्धतन्मात्रा का अभ्यास किया जा रहा हो, तो उसकी रूपतन्मात्रा, रसमात्रादि में चित्त का न लगना, केवल गन्ध को ही ग्रहण करना] उदितधर्मविशिष्टम्=वस्तु के किसी धर्म विशेष को ही प्रकट करने वाली गन्धमात्रादि पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्म तत्त्वों का आलम्बन समाधि-प्रज्ञा में उपस्थित रहता है।

[निर्विचारा] और जो सर्वथा=सब प्रकार से, सर्वतः=सब ओर से शान्त=भूतकाल, उदित=वर्त्तमान तथा भविष्यत्काल, देश, निमित्तादि के समस्त धर्मों से असम्बद्ध=अस्पृष्ट होते हुए सभी कार्यरूप धर्मों में अनुगत होने वाले, सभी धर्मों के कारणरूप तन्मात्रादि सूक्ष्मभूतों में समापत्ति होती है, वह 'निर्विचारा'[1] कहलाती है। इस रूप वाला तन्मात्रादि सूक्ष्मभूत केवल स्वरूप से आलम्बन बना हुआ ही समाधिकाल की प्रज्ञा के स्वरूप को उपरञ्जित=तन्मय कर लेता है।

और जिससे समाधि प्रज्ञा अपने स्वरूप की प्रतीति न करती हुई सी जब अर्थमात्रा=ध्येयार्थ के ही रूपवाली हो जाती है, तब 'निर्विचारा' समापत्ति कही जाती है।

उनमें स्थूल वस्तु को विषय बनाने वाली सवितर्का और निर्वितर्का समा-पत्तियाँ होती हैं तथा सूक्ष्मवस्तु को विषय बनाने वाली सविचारा और निर्वि-चारा समापत्तियाँ होती हैं। इस प्रकार इस निर्वितर्का समापत्ति के द्वारा ही दोनों=निर्वितर्का और निर्विचारा समापत्तियों की विकल्पहानिः=भेद-शून्यता=देश, काल, निमित्तादि भेदों से शून्यता बताई गई है।

सूत्रार्थ—(एतयैव) इस सवितर्का-निर्वितर्का समापत्ति के व्याख्यान से ही सविचारा और निर्विचारा की व्याख्या समझनी चाहिये। सवितर्का-निर्वितर्का का ध्येयविषय स्थूल होता है, परन्तु (सूक्ष्मविषया) सविचारा-निर्विचारा में ध्येयविषय सूक्ष्म होता है। यह इनमें भेद है।

---

१. सविचारा तथा निर्विचारा में अन्तर यह है कि सविचारा में ध्यान का विषय सूक्ष्मभूत गन्धतन्मात्रादि शब्द, अर्थ, ज्ञान, देश, काल, निमित्त से संकीर्ण रहता है और निर्विचारा में ध्यान का विषय शब्द, ज्ञान, देश, काल, निमित्त के चिन्तन की निवृत्ति होकर अर्थमात्र रहता है। यद्यपि शब्द, ज्ञान, देशकालादि सब धर्म ध्येय विषय में अन्त-र्निहित रहते हैं, परन्तु वे अर्थमात्र के ध्यानकाल में उभरते नहीं, दबे रहते हैं।

भावार्थ—योगी का जब ध्येय-विषय स्थूल होता है, तब सवितर्का तथा निर्वितर्का नामक समापत्तियाँ होती हैं और जब एकाग्रता की स्थिति के उन्नत होने पर ध्येय-विषय सूक्ष्म हो जाता है, तब सविचारा तथा निर्विचारा नामक समापत्तियाँ होती हैं। परन्तु जो भेद सवितर्का व निर्वितर्का में है, वही भेद सविचारा व निर्विचारा में है। अर्थात् जैसे सवितर्का समापत्ति में शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद बना रहता है और निर्वितर्का में अर्थमात्र की प्रतीति होती है। वैसे ही सविचारा समापत्ति में सूक्ष्मध्येय विषय का शब्द, अर्थ, ज्ञान के साथ देश=स्थान (ऊपर, नीचे, इधर-उधरादि) की काल=वर्त्तमान-भूत-भविष्यत् का तथा उसके कारण=तन्मात्रादि का चिन्तन वर्त्तमान रहता है और निर्विचारा समापत्ति में सूक्ष्मध्येय विषय के शब्द, अर्थ, ज्ञान तथा देश, काल, निमित्त के भेद की निवृत्ति होने से केवल सूक्ष्म अर्थमात्र ही ध्यान का विषय होता है। ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

व्यासभाष्यम्

[सूक्ष्मविषयत्वम्] पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। आप्यस्य रसतन्मात्रम्। तैजसस्य रूपतन्मात्रम्। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहंकारः। अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति ?। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति। सत्यम्। यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किन्तु, लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति। हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

भाष्यानुवाद—पृथिवी के अणु=परमाणु का सूक्ष्मविषय[1] गन्धतन्मात्रा है। जलीय परमाणु का सूक्ष्मविषय रसतन्मात्रा है। अग्नि के परमाणु का सूक्ष्मविषय रूपतन्मात्रा है। वायु के परमाणु का सूक्ष्मविषय स्पर्शतन्मात्रा है और आकाश के परमाणु का सूक्ष्मविषय शब्दतन्मात्रा है। उन सब तन्मात्राओं

---

१. कार्य की अपेक्षा कारण सूक्ष्म होता है। यहाँ कार्य कारण के क्रम से ही सूक्ष्मता का वर्णन किया है। पृथिवी आदि महाभूतों का कारण सूक्ष्मभूत=पंचतन्मात्रायें हैं। सूक्ष्मभूतों का कारण अहंकार, अहंकार का कारण महत्तत्त्व, महत्तत्त्व का कारण प्रकृति है। यह व्यवस्था उपादान कारण के विषय में समझनी चाहिये।

का सूक्ष्मविषय अहंकार है। इस अहंकार का भी सूक्ष्मविषय लिङ्गमात्र=महत्तत्त्व है। इस लिङ्गमात्र=महत्तत्त्व का भी सूक्ष्म विषय अलिङ्गम्[1]=अव्यक्त प्रकृति है। इस अव्यक्त प्रकृति से सूक्ष्म कुछ नहीं है। निश्चय से (अव्यक्त प्रकृति से) सूक्ष्म पुरुष=परमात्मा है। ठीक है, पुरुष प्रकृति से सूक्ष्म हैं। किन्तु जैसे लिङ्ग=महत्तत्त्व से अलिङ्ग=अव्यक्तप्रकृति की सूक्ष्मता है, वैसी सूक्ष्मता (व्यक्त या अव्यक्त की तुलना में) पुरुष की नहीं है, (क्योंकि) पुरुष लिङ्ग=महत्तत्त्व का अन्वयिकारण=उपादान कारण नहीं है, हेतुस्तु=निमित्त कारण तो है। इसलिये प्रधाने=प्रकृतितत्त्व में निरतिशयम्=अतुलनीय सूक्ष्मता यहां कही है।

सूत्रार्थ—पूर्वसूत्र में सविचारा—निर्विचारा समापत्ति का ध्येयविषय सूक्ष्म बताया है। और यह सूक्ष्मविषयता (अलिङ्गपर्यवसानम्) मूल प्रकृति पर्यन्त होती है।

भावार्थ—(क) इस सूत्र में 'अलिङ्ग' पद मूलप्रकृति के लिये आया है। जो लीन=अन्तर्हित अर्थ का बोध कराये, वह लिङ्ग होता है। प्रत्येक कार्य अपने कारण का लिङ्ग होता है। क्योंकि कार्य को देखकर उसके अदृश्य कारण का ज्ञान होता है। और कार्य से कारण सूक्ष्म होता है। इससे पहले सूत्र में सविचारानिर्विचारा समापत्ति का ध्येय विषय सूक्ष्म कहा है। योगी इस समापत्ति का अभ्यास करते करते मूल प्रकृति तक पहुंच सकता है। व्यासभाष्य में मूल प्रकृति के विभिन्न स्थूलकार्यों को बताया गया है। अर्थात् पृथिवी आदि अणु सूक्ष्मभूतों (तन्मात्राओं) के कार्य हैं, सूक्ष्मभूत अहंकार के कार्य हैं, अहंकार महतत्त्व का कार्य है, और महत्तत्त्व मूलप्रकृति का कार्य है। अतः उपादान मूलक इस कार्य-कारण परम्परा में प्रकृति मूलकारण है और उसका कारण कोई नहीं है।

(ख) यद्यपि पुरुष=आत्मतत्त्व प्रकृति से भी सूक्ष्म है, परन्तु उपादान मूलक इस कार्य-कारण (स्थूल-सूक्ष्म) परम्परा में उसका परिगणन नहीं किया है। क्योंकि पुरुष निर्विकार है, उसका कार्य कोई पदार्थ नहीं है अथवा इस प्रकार कहना चाहिये कि पुरुष किसी का उपादान कारण नहीं है। यहाँ किसी को इस प्रकार का सन्देह न हो जाये कि प्रकृति से सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है,

---

१. अलिङ्गम्=लीनमर्थं गतयति बोधयतीति लिङ्गम्, न लिङ्गम् अलिङ्गम्। कार्य अपने कारण का बोधक होने से लिङ्ग है। क्योंकि प्रकृति का कारण कोई नहीं है, अतः वह अलिङ्ग है।

एतदर्थ व्यासभाष्य में स्पष्ट कहा है कि प्रकृति से सूक्ष्म पुरुष=आत्मतत्त्व है। परन्तु वह लिङ्गान्वयिकारण=उपादानकारण नहीं है, निमित्त कारण तो है अतः उपादान कारण की दृष्टि से प्रधान=प्रकृति को निरतिशय सूक्ष्म कहा है।

(ग) सूत्रकार ने यो० १। १७ में सम्प्रज्ञात समाधि के वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता, ये चार भेद बताये हैं। उनमें वित्तर्क में ध्येय विषय स्थूल और विचार में सूक्ष्म होता है। इनसे उन्नततर स्थिति आनन्द और अस्मिता है। आनन्द में रजोगुण व तमोगुण क्षीण होने से सत्त्व का प्राधान्य रहता है। परन्तु इस दशा में भी ध्येय सूक्ष्म प्रकृति ही होती है और अस्मिता में एकात्मिका संविद्=एक अपने आत्मा की प्रतीति होती है। सम्प्रज्ञात समाधि की इस अन्तिम दशा में भी शुद्ध आत्मतत्त्व ध्येय नहीं होता है। क्योंकि इस दशा में प्रज्ञा से अभिभूत आत्मा ध्यान का विषय होता है परन्तु आत्म-साक्षात्कार की झलक साधक को अवश्य प्राप्त हो जाती है।

(घ) और इस भाष्य में पुरुष=परमात्मा से भिन्न प्रकृति की सत्ता मानी है और परमात्मा के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है कि वह निर्विकार तथा प्रकृति को कार्यरूप करने में निमित्त कारण है। जिससे स्पष्ट है कि परमात्मा सृष्टि का कर्ता है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

व्यासभाष्यम्

ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः। सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

भाष्यानुवाद—वे चारों समापत्तियाँ=सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा नामक चारों समाधियाँ ही बहिर्वस्तुबीजाः=बाह्यवस्तु बीज वाली=बाह्य आलम्बन वाली हैं, इसलिये समाधि भी सबीज है। उनमें स्थूल वस्तु में सवितर्क व निर्वितर्क समापत्ति नामक समाधि रहती है और सूक्ष्म-वस्तु में सविचार व निर्विचार समापत्ति वाली समाधि रहती है। इस प्रकार सबीज (सम्प्रज्ञात) समाधि चार प्रकार से कही जाती है।

सूत्रार्थ—(ता एव) वे चारों सवितर्कादि समापत्तियाँ ही सबीजः=

'बीजेन आलम्बनेन सह वर्तत इति सबीजः' प्रकृति के आधार वाली होने से सबीज समाधि=सम्प्रज्ञात समाधियाँ हैं।

भावार्थ—ऊपर सम्प्रज्ञात-समाधि के जो भेद गिनाये हैं, इन सब में बीज=कारण (प्रकृति-संयोग) साधक के साथ बना रहता है। साधक सात्त्विक चित्तवृत्ति के आश्रय से इस स्तर तक पहुंच पाता है। अतः बन्धन का कारण=प्रकृति-संयोग बना रहने से संप्रज्ञातयोग को 'सबीज' कहते हैं॥ ४६॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥ ४७॥

व्यासभाष्यम्

[वैशारद्य] अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते [अध्यात्मप्रसादः] तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः। तथा चोक्तम्—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥ ४७॥

भाष्यानुवाद—(रजोगुण तथा तमोगुण की) अशुद्धि रूपी आवरण करने वाले मल से रहित, प्रकाशस्वरूप, सात्त्विक चित्त का जो रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से रहित स्वच्छ (निर्मल) स्थिति प्रवाह=निरन्तर स्थिर बने रहना=एकाग्रता की धारा है वह 'वैशारद्य' कहलाता है। जब निर्विचारस्य समाधेः=निर्विचारसमापत्तिवाली सम्प्रज्ञात समाधि का यह वैशारद्य=निर्मलरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् निरन्तर चित्त की एकाग्रता तथा सात्त्विकरूप बना रहता है, तब योगी को अध्यात्मप्रसाद=चित्त (बुद्धि) की निर्मलता प्राप्त होती है। (वह अध्यात्मप्रसाद कैसा है?) भूतार्थविषयः=यथार्थविषयक (कल्पनादि से शून्य) क्रमाननुरोधी=क्रम को बाधित न करने वाला स्फुटः=शुद्ध प्रज्ञालोकः=बुद्धि प्रकाश प्रकट हो जाता है। और वैसे कहा भी गया है—प्रज्ञाप्रसाद=अध्यात्मप्रसाद=चित्त की निर्मलता को प्राप्त होकर और अशोच्यः=शोकादि से रहित प्राज्ञः=बुद्धिमान् योगी शोक करने वाले दूसरे अयोगी मनुष्यों को ऐसे देखता है, शैलस्थ=पर्वत पर स्थित मनुष्य नीचे भूमि पर स्थित मनुष्यों को देखता है।

सूत्रार्थ—(निर्विचारवैशारद्ये) पूर्वोक्त निर्विचारा समापत्ति के और अधिक

निर्मल होने पर योगी को (अध्यात्मप्रसादः) आन्तरिक प्रज्ञालोक=बुद्धिप्रकाश प्रकट हो जाता है।

भावार्थ—इस सूत्र में 'प्रसाद' पद का अर्थ है—चित्तवृत्ति की निर्मलता तथा एकाग्रता। निर्विचारा-समापत्ति सूक्ष्मविषय वाली कही है। और जब इसकी उन्नत दशा में साधक की चित्तस्थिति ऐसी हो जाती है कि रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव से रहित सतोगुण के मुख्य होने से अशुद्धिरूपी मल से पृथक् और चित्तवृत्ति निर्बाधरूप से एकाग्र हो जाती है, तब साधक को अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है। अर्थात् उसकी बुद्धिवृत्ति ऐसी शुद्ध हो जाती है कि वह क्रम को भंग न करके पदार्थों का यथार्थबोध कराने वाली हो जाती है। और उसका ज्ञान भ्रान्तिरहित होने से शोकादि दुःखों के प्रभाव से रहित हो जाता है। और उसे इस उन्नत स्वरूप का बोध वैसा ही होने लगता है, जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष पर्वत के शिखर पर चढ़कर भूमि पर स्थित, त्रिविधदुःखों से युक्त और शोकादि से प्रभावित मनुष्यों को देख रहा हो ॥ ४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

व्यासभाष्यम्

तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति। तथा चोक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ॥ ४८ ॥

भाष्यानुवाद—उस (निर्विचार समाधि में अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होने पर) एकाग्र चित्तवाले योगी को जो प्रज्ञा प्रकट होती है, उसका ऋतम्भरा नाम होता है, और वह नाम सार्थक है। क्योंकि वह (अर्थानुसार) ऋत= सत्य को ही धारण करती है। इस प्रज्ञा में विपर्यास=मिथ्या अथवा विपरीत ज्ञान की गन्ध भी नहीं होती। और इस विषय में कहा भी है—

आगम=वेदशास्त्रों के श्रवण से, अनुमान=अनुमान-प्रमाण से अथवा मनन से, ध्यानाभ्यासरस=ध्यानाभ्यास से (निदिध्यासन के द्वारा) इन तीनों प्रकारों से बुद्धि को प्रकृष्ट बनाता हुआ साधक उत्तम योग=असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है।

सूत्रार्थ—(तत्र) उस प्रज्ञालोक के प्रकट होने पर (ऋतम्भरा) 'ऋतम्=सत्यं बिभर्त्ति धारयतीति सा' अर्थात् सत्य को धारण करने वाली ऋतम्भरा नामक बुद्धि प्रकट होती है।

भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग की निर्विचारासमापत्ति में चित्त की जब उन्नत एकाग्रता हो जाती है, तव जो विशिष्ट बुद्धिवृत्ति पैदा होती है, उसको 'ऋतम्भरा' कहते हैं। इस शब्द से ही इस प्रज्ञा की विशेषता का बोध हो रहा है कि यह सत्य को ही ग्रहण करती है। उसमें विपरीत ज्ञान का लेशमात्र भी नहीं होता। इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा के सहाय से ही योगी उत्तमयोग=असम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है॥ ४८॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ ४९॥

व्यासभाष्यम्

श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्। न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं। कस्मात्। न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव। यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्राप्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम्। अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति।

न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। न चास्य विशेषस्याप्रमाणस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति॥ ४९॥

भाष्यानुवाद—जो श्रुत=आगमप्रमाणजन्य ज्ञान है, वह सामान्य अंश को विषय बनाता है। आगमप्रमाण से विशेषरूप को नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विशेष वाले अंश से शब्द में संकेत नहीं किया गया (अर्थात् शब्द के द्वारा किया गया अर्थ का संकेत उसके विशेषरूप को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।) उसी प्रकार अनुमानप्रमाणजन्यज्ञान (वस्तु के) सामान्य अंश को ही विषय बनाने वाला होता है। (जैसे) जिसमें प्राप्तिः=स्थानान्तर में जाने का गुण है, उसमें गति अवश्य है और जिसमें अप्राप्तिः=पहुंचने का गुण नहीं है, उसमें गतिशीलता नहीं है, ऐसा (अनुमान से) कहा जाता है। और अनुमान के द्वारा सामान्य अंश से ही उपसंहार=ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। इसलिये आगम और अनुमान प्रमाण का विषय किसी वस्तु का विशेष अंश नहीं होता।

और नहीं इस सूक्ष्म, व्यवधानवाली अथवा दूरस्थ वस्तु का लोक-प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ग्रहण होता है और न वस्तु के विशेष अंश का, जिसे लौकिक प्रमाणों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, अभाव ही है। इसलिये उस विशेष अंश का समाधिप्रज्ञा=ऋतम्भरा से ही ग्रहण होता है, चाहे वह विशेष अंश पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्मतत्त्वसम्बन्धी हो अथवा पुरुष=जीवात्मा-परमात्मा सम्बन्धी हो। इसलिये उस ऋतम्भरा प्रज्ञा का आगम और अनुमान प्रज्ञा से भिन्न विषय होता है, क्योंकि वह विशेष अंश का बोध कराती है।

सूत्रार्थ—इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' की अनुवृत्ति आती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा की विशेषता यह है—यह प्रज्ञा श्रुत प्रज्ञा=आगमप्रमाणजन्य और अनुमानप्रमाण-जन्य प्रज्ञा से भिन्न विषयवाली होती है। क्योंकि (विशेषार्थत्वात्) आगम[1] और अनुमान से पदार्थों का सामान्य ज्ञान ही होता है, किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से पदार्थों के विशेषरूप का ज्ञान होता है।

जैसे आगमादि के द्वारा 'गो' शब्द का जो अर्थ जाना जाता है, वह गायमात्र में सामान्य से अन्वित होता है। परन्तु जब गाय को प्रत्यक्ष देख लेता है, तो गाय के विशेषरूप को भी जान लेता है, जिससे द्रष्टा दूसरी गायों से भिन्नता को जानकर विशेष=भेदक गुण को भी जान लेता है।

भावार्थ—(क) इससे पूर्वसूत्र में योगज-ऋतम्भरा-प्रज्ञा का कथन किया गया है, जिसके द्वारा योगी सूक्ष्म व अतीन्द्रिय पदार्थों को यथार्थ रूप में जान लेता है। यदि यह ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा शास्त्रों से हो सकता है, तो फिर इस प्रज्ञा-प्राप्ति के लिये क्यों इतना कठोर श्रम (योगसाधना) किया जाये? इस का समाधान इस सूत्र में किया गया है। इस सूत्र में 'श्रुत' शब्द से शब्द-प्रमाण का निर्देश किया गया है। (ख) प्रत्येक पदार्थ का रूप सामान्य तथा विशेष दो प्रकार का होता है। सामान्यरूप उसी प्रकार के अन्य पदार्थों में

---

१. यहाँ वेद के ज्ञान को सामान्य कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि वेद का ज्ञान अपूर्ण है अथवा अधूरा है। वेद का ज्ञान निर्भ्रान्त तथा पूर्ण है। किन्तु ज्ञान की पूर्णता चार प्रकार से होती है—(१) आगमकाल=गुरुमुख से पढ़ना, (२) स्वाध्यायकाल=स्वयं मनन करना, (३) प्रवचनकाल=दूसरों को पढ़ाना या उपदेश करना, (४) व्यवहारकाल=व्यवहार में लाना। जैसे—गुरुमुख से जो ज्ञान प्राप्त किया है, वह पूर्ण होता हुआ भी व्यवहारकाल तक की विधियों के बिना अपूर्ण है, वैसे ही वेद का ज्ञान तब तक अधूरा ही है, जब तक योगाभ्यासादि के द्वारा उसको व्यवहार में नहीं लाया जाता। यहाँ व्यासमुनि का भी यही आशय है।

रहता है और विशेषरूप वह है कि जो सामान्यरूप के होते हुए भी कोई भेदक विशिष्ट निजीरूप होता है। जैसे—'गो' शब्द पशुविशेष जाति को सामान्यरूप से बताता है। परन्तु किसी गो-विशेष से जब कार्य होता है, तो उसके विशेष-रूप=कृष्ण, पीत, स्थूलादि से व्यवहार होता है।

(ग) शब्द-प्रमाण से और अनुमान से जो ज्ञान होता है, वह पदार्थ के सामान्य रूप का ही होता है। विशेषरूप का नहीं। क्योंकि गुरुमुखादि से सुना हुआ शब्द जो अर्थबोध कराता है वह उसके विशेषरूप को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जैसे किसी ने 'गो' पद से गाय पशुविशेष की जानकारी तो प्राप्त कर ली, परन्तु जब तक उसको साक्षात् नहीं देखता, तब तक सन्देह दूर नहीं होता। इस प्रकार अनुमान-ज्ञान भी है। जैसे—पहले हम जानते हैं कि बिना गति के कोई पदार्थ स्थानान्तर में नहीं जा सकता। तत्पश्चात् हमने सूर्य को उदय के समय अन्यत्र और अस्त होते समय अन्यत्र देखकर सूर्य की गति का ज्ञान किया। किन्तु यह सामान्य-ज्ञान ही है, विशेष नहीं। अर्थात् सूर्य की गति उत्क्षेपणरूप है, अपक्षेपणरूप है या प्रसारणरूप है? और जब प्रत्यक्ष देख लेता है तब उसकी विशेषरूप का बोध होने से भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है।

(घ) यदि यहाँ कोई ऐसा कहे कि प्रत्यक्षप्रमाण से विशेषरूप का बोध होने से ऋतम्भरा=प्रज्ञा प्राप्ति के लिये योगसाधना निरर्थक है। ऐसी आशंका करना भी निरर्थक है। क्योंकि जो पदार्थ अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, दूरस्थ तथा व्यवहित हैं, उनका बाह्य-प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। और उन पदार्थों का अभाव भी नहीं कहा जा सकता। अतः उन पदार्थों के विशेषरूप को जानने के लिये इस समाधिप्रज्ञा की महती आवश्यकता है। इसके बिना सूक्ष्मादि पदार्थों के विशेषरूप का तथा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः इस समाधि-प्रज्ञा को शब्दादि प्रमाणों से भिन्न विषय होने से प्राप्त करना योगी के लिये परमावश्यक है॥ ४९॥

अव०—समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते।

(अर्थ)—समाधि-प्रज्ञा=ऋतम्भराप्रज्ञा के प्राप्त होने पर योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा नया नया संस्कार पैदा होता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

व्यासभाष्यम्

[तज्जः] समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो [अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी] व्युत्थान-

संस्काराशयं बाधते। व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति। प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो जायते। ततश्च प्रज्ञा, ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्काराशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति। न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति। ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

भाष्यानुवाद—ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार दूसरे व्युत्थान-संस्कारों (समाधिविरोधी संस्कारों) तथा उनके आशय=संस्कारों को उत्पन्न करने वाली वासना को बाधते=अपने कार्य करने में असमर्थ कर देता है। व्युत्थान=समाधिविरोधी संस्कारों के दबने=नष्ट होने से उनसे उत्पन्न होने वाली प्रतीतियाँ (ज्ञान) नहीं होतीं। उन प्रतीतियों (ज्ञानों) के निरोध होने पर समाधि की उपस्थिति हो जाती है। उस समाधि से समाधिजा प्रज्ञा =समाधि-जन्यप्रज्ञा (ऋतम्भरा) और तत्पश्चात् प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार (उत्पन्न हो जाते हैं) इस प्रकार नया नया संस्कारों का आशय=समूह पैदा होने लगता है। और उनसे समाधिजा प्रज्ञा और उस प्रज्ञा से संस्कार पैदा होते हैं।

[प्रश्न] यह प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का समूह चित्त को साधिकार=अपने कर्तव्य भोगोन्मुख वृत्तिवाला क्या नहीं बनायेगा ?

[उत्तर] वे समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अविद्यादि क्लेशों के नाश का कारण होने से चित्त को अधिकारविशिष्ट=साधिकार=भोगोन्मुख वृत्तिवाला नहीं कर सकते। क्योंकि वे प्रज्ञाकृत संस्कार चित्त को अपने कार्य से=भोगोन्मुखवृत्ति से पृथक् कर देते हैं। और चित्त की क्रियायें ख्यातिपर्यवसानम्=विवेकख्याति पर्यन्त ही होती हैं। (अर्थात् विवेकख्याति सिद्ध हो जाने पर चित्त का सब व्यापार समाप्त हो जाता है।)

सूत्रार्थ—(तज्जः) उस ऋतम्भराप्रज्ञा से उत्पन्न (संस्कारः) संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) समाधिविरोधी व्युत्थानसंस्कारों का बाधक=रोकने वाला होता है।

भावार्थ—जब योगी का चित्त निरन्तर अभ्यास करते-करते एकाग्रता के अन्तिम स्तर तक पहुँच जाता है, तब योगी को यथार्थ बोध कराने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् उस प्रज्ञा से अध्यात्मविषयक ऐसे प्रबल संस्कार उत्पन्न होते हैं, जो व्युत्थान संस्कारों=समाधिविरोधी

संस्कारों को रोक देते हैं। उससे उन संस्कारों से होने वाली व्युत्थानकालिक प्रतीतियाँ तथा वासनायें समाप्त हो जाती हैं। और इस समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि इन्हें व्युत्थान-संस्कार रोकने में समर्थ नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि ऋतम्भराप्रज्ञा से यथार्थ बोध होता है, समस्त भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, इसलिये इस समाधिज—प्रज्ञा से क्लेशों का समूल क्षय हो जाता है। क्योंकि क्लेशों का मूलकारण अविद्या होती है। और योगी के चित्त को ये समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार विषयों को भोगने की ओर जाने में शिथिल कर देते हैं। इसलिये इन संस्कारों से चित्त भोगों की ओर प्रवृत्त नहीं होता और भोगों की भावना नितान्त शान्त हो जाती है ॥ ५० ॥

अव०—किञ्चास्य भवति ?

(**अर्थ**)—और ऋतम्भराप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के समूह का क्या (फल) होता है ?

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

व्यासभाष्यम्

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति। कस्मात्। निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति।

निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्। व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृतावस्थितायां प्रविलीयते। तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति। यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥ ५१ ॥

भाष्यानुवाद—वह (निर्बीजसमाधि) न केवल समाधि-प्रज्ञा (ऋतम्भराप्रज्ञा) की ही विरोधी नहीं है, किन्तु उस प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का भी निरोध करती है। किस कारण से ? निरोधजन्य-संस्कार समाधिजन्यसंस्कारों (ऋतम्भराप्रज्ञाजन्यसंस्कारों) को भी बाधित करते=दबाते=नष्ट करते हैं।

[यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या निरोध से भी संस्कार उत्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं।]

निरोधावस्था के कालक्रम के अनुभव से निरोधकालीन चित्त में उत्पन्न संस्कारों की सत्ता अनुमान-प्रमाण से जानी जाती है।

[अब यहाँ फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन निरोधजन्य संस्कारों का निरोध किससे होता है? क्या ये निरोधजन्य संस्कार चित्त में बने ही रहते हैं? भाष्यकार इसका समाधान करते हैं।]

(व्युत्थान निरोधसमाधिप्रभवैः[1]) व्युत्थानसंस्कारों का निरोध करने वाली असम्प्रज्ञातसमाधि में उत्पन्न (कैवल्यभागीयैः संस्कारैः सह) मोक्षप्रापक संस्कारों के साथ चित्त अपनी प्रकृति में (कारण में) लीन हो जाता है। इसलिये वे (निरोधजन्य) संस्कार चित्त के (अधिकारविरोधिनः) कार्य=भोगोन्मुख-वृत्ति के विरोधी होते हैं, चित्त की स्थिति=बने रहने के कारण नहीं बनते। क्योंकि जब चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है, तब वह मोक्षप्रापक संस्कारों के साथ निवृत्त हो जाता है [अर्थात् चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है, उसके साथ निरोधजन्यसंस्कारों का भी लय हो जाता है।]

उस चित्त के निवृत्त हो जाने पर अर्थात् भोगापवर्गरूप कार्य से निवृत्त हो जाने (कारण में लय होने) पर पुरुषः=जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसलिये उस समय पुरुष=जीवात्मा शुद्ध=त्रिगुणातीत, केवल और मुक्तः=त्रिविधदुःखों से छूटा हुआ कहा जाता है।

सूत्रार्थ—(तस्यापि निरोधे) उन ऋतम्भराप्रज्ञा-जनित संस्कारों के भी निरोध किये जाने पर (सर्वनिरोधात्) (मोक्षप्रापक) समस्त संस्कारों के निरोध होने से (चित्त के साथ ही प्रकृति में लय होने से) (निर्बीजः समाधिः) बाह्यवस्तु के आलम्बन से रहित असम्प्रज्ञात नामक समाधि सिद्ध हो जाती है।

भावार्थ—(क) इस सूत्र में असम्प्रज्ञात-समाधि का स्वरूप बताया गया है। सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तिम-स्तर पर पहुंचने पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा, उससे उत्पन्न संस्कार, उन संस्कारों से भोगोन्मुखवृत्ति का निरोध तथा क्लेशों का क्षय हो जाता है। इसमें चित्त-वृत्ति का अधिकार बना रहता है, क्योंकि चित्त का व्यापार विवेक-ख्याति पर्यन्त रहता है। यद्यपि इस स्तर पर चित्त-वृत्ति अध्यात्म-चिन्तन में लगी रहती है, पुनरपि प्रकृति-जन्य होने से चित्त-वृत्ति का भोगों की ओर प्रवाहित होना सम्भव है। और यह भोगों की ओर झुकना ही संसार

१. व्युत्थानस्य संप्रज्ञातसमाधिपर्यन्तस्य संस्काराणां निरोधरूपः समाधिः=(असम्प्रज्ञातसमाधिः)=व्युत्थाननिरोधसमाधिः, सः प्रभव उत्पत्तिस्थानं येषां तैः (संस्कारैः)

(जन्म-मरण) का कारण है। इसलिये सम्प्रज्ञात-योग को 'सबीज-योग' कहा जाता है।

(ख) तदनन्तर योगाभ्यास करते-करते साधक की स्थिति और उन्नत हो जाती है और विवेक-ख्याति होने से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। इस दशा में समाधिज-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का भी निरोध चित्त के निरोधज-संस्कारों से होता है। परन्तु ये निरोधज-संस्कार अनुमान से ही जानने योग्य होते हैं। और आत्म-साक्षात्कार होने पर इन निरोधज संस्कारों के साथ चित्त अपने कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। इस दशा में चित्त-वृत्ति का क्रम पूर्णरूप से समाप्त हो जाने से संसार=जन्ममरण के बीज=कारण की भी सम्भावना नहीं रहती। अतः इस समाधि को 'निर्बीज-समाधि' कहा जाता है।

(ग) समाधि की इस चरम-दशा में जीवात्मा प्रकृति के सम्पर्क से सर्वथा पृथक् होने से स्वरूपमात्र में स्थित हो जाता है। प्रकृति का सम्पर्क ही जीवात्मा की अशुद्धि और बन्धन होता है। इसलिये प्रकृति का सम्पर्क न रहने से जीवात्मा शुद्ध और बन्धनमुक्त हो जाता है। इस दशा में जीवात्मा को 'केवल' कहने का यह आशय नहीं है कि उसके साथ परमात्मा का भी सम्पर्क नहीं रहता अथवा जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है। परमात्मा का सम्पर्क तो सदा रहता है, और रहेगा, परन्तु जिस प्रकृति के सम्पर्क से बन्धनों में जीवात्मा फंसता है, उससे पृथक् होने से ही जीवात्मा को 'केवल' कहा है। क्योंकि शुद्ध व मुक्त विशेषणों के साथ 'केवल' को भी वैसी ही संगति लगाना उचित है ॥ ५१ ॥

इति पातञ्जलसूत्र-व्यासभाष्ययोर्भाषार्थप्रकाशिते महर्षि-दयानन्दव्याख्या-
विभूषिते च पातञ्जलयोगशास्त्रे समाधिस्वरूपप्रतिपादकः
प्रथमः समाधिपादः समाप्तिमगात् ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयः साधनपादः प्रारभ्यते ॥

अव०—उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते—

(**अर्थ**)—(उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः) एकाग्र चित्त वाले साधक के लिये प्रथम समाधि पाद में योग का उपदेश किया गया। (कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते) किस प्रकार विक्षिप्त चित्त वाला भी योग से युक्त होता है, यह इस द्वितीय साधन पाद में आरम्भ किया जाता है—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

व्यासभाष्यम्

[तपः] **नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते।** [**स्वाध्याय**] **स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।** [**ईश्वरप्रणिधान**] **ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥**

भाष्यानुवाद—जो योगसाधक तपस्वी नहीं है, उसका योग सिद्ध नहीं होता। प्रवाह से अनादि पुण्यापुण्य कर्मों, अविद्यादि क्लेशों की वासनाओं (संस्कारों) से पूर्ण विविध प्रकार के विषयों के समूह को उपस्थित करने वाली (रजस् व तमोगुण से पूर्ण) चित्त को उन्मुख करने वाली अशुद्धिः=मलीनता तपस्या के विना भिन्न नहीं होती=शिथिल होकर नष्ट नहीं होती। अतः सूत्र में 'तपः' शब्द का (क्रियायोग में सर्वप्रथम) ग्रहण किया है। और यह तपस्या इस साधक को ऐसी करनी चाहिये, जिससे साधक के चित्त की प्रसन्नता=

निर्मलता और अबाधमानम्=व्याधि आदि शारीरिक पीड़ा देने वाली न हो, ऐसा योगियों के द्वारा माना गया है।

'स्वाध्याय' का अभिप्राय है---प्रणव=ओम् आदि पवित्रकारक वचनों तथा मन्त्रों का जप करना और मोक्ष का उपदेश करने वाले शास्त्रों का पढ़ना। 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ है—साधक का अपनी सब क्रियाओं को परमगुरु= परमेश्वर में समर्पित करना तथा उन क्रियाओं के फल का परित्याग करना।

सूत्रार्थ—(तपः) योग की तरफ बढ़ते हुए द्वन्द्वों=सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीत-हार इत्यादि द्वन्द्वों का सहन करना, (स्वाध्याय) प्रणव=ओ३म् आदि पवित्र वचनों और मन्त्रों का जप करना तथा मोक्ष-शास्त्रों का पढ़ना (ईश्वरप्रणिधान) साधक को अपने समस्त कर्मों को परमेश्वर के अर्पण करके उनके फल की इच्छा का भी त्याग कर देना (क्रियायोगः) योग-साधक का नित्य का योग व्यवहार है। अथवा तपस्या करना, स्वाध्याय करना और ईश्वरप्रणिधान करना, इन तीनों क्रियाओं से व्युत्थित= अस्थिर चित्त वाले का भी योग सिद्ध हो जाता है अर्थात् योगाभ्यास करने का अधिकारी बन जाता है।

भावार्थ—इस योग-शास्त्र के प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप, समाधि के भेद, समाधि के लिये अत्यावश्यक अन्तरंग साधन—अभ्यास, वैराग्य व ईश्वरप्रणिधान, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर की उपासना का फल, चित्त की विभिन्न वृत्तियाँ, चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्नों का स्वरूप, विघ्नों से पृथक् रहने के उपाय, चित्त को स्थिर करने के विभिन्न उपाय, और प्राणायाम का स्वरूप आदि का कथन किया गया है। योग के इन साधनों को सभी नहीं अपना सकते। जिनका चित्त विरक्त व शुद्ध है, वे ही इन साधनों को करने में समर्थ होते हैं। परन्तु जो विक्षिप्तवृत्ति वाले मनुष्य हैं, और जिनका चित्त मलीन है उनके लिये योग-मार्ग में प्रवेश के लिये शास्त्रकार ने इस द्वितीय-पाद में बहिरंग-साधनों का वर्णन किया है। इन साधनों में—

(१) **तपः**—इस साधन से जन्म-जन्मान्तरों से संचित अविद्यादि क्लेशों और वासनाओं से पूर्ण चित्त की शुद्धि होती है। तप के द्वारा क्लेश व वासनाओं का चित्तस्थ मल क्षीण हो जाता है और चित्त निर्मल हो जाता है। 'तप' किसे कहते हैं? इसका समाधान नियमों के अन्तर्गत (यो० २। ३२ के) व्यास-भाष्य में यह दिया है—"तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वाश्च जिघित्सा पिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायण-सान्तपनादीनि॥"

अर्थात् भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, स्थान-आसन और काष्ठमौन-आकार-मौनादि द्वन्द्वों को सहना और कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों का शक्ति के अनुसार अनुष्ठान करना 'तप' कहलाता है। परन्तु व्यासमुनि ने इन तपों के विषय में सावधान भी किया है कि इन का अनुष्ठान अपनी शक्ति के अनुसार ही करना चाहिये। अन्यथा शक्ति का अतिक्रमण करने से धातुओं में वैषम्य हो जाता है और अनेक रोगों से शरीर दूषित हो जाता है।

(२) **स्वाध्याय**—इस साधन के अन्तर्गत व्यासमुनि ने जप और ज्ञान को माना है। जप का अभिप्राय है—परमात्मा के 'ओम् नाम को सार्थक जपना और उसके अर्थ का चिन्तन करना और आदि शब्द से गायत्री आदि मन्त्रों का जप भी कर्त्तव्य है। और अविद्या सब क्लेशों का मूलकारण है, उससे छूटने के लिये ज्ञान की प्राप्ति अपरिहार्य है। अतः मोक्ष का उपदेश करने वाले वेदादि सत्य-शास्त्रों के अध्ययन से अविद्या को दूर करना चाहिये। विना ज्ञान के परमेश्वर की उपासना तथा मोक्ष-साधना असम्भव है।

(३) **ईश्वर-प्रणिधान**—योग-मार्ग में सर्वाधिक बाधक हैं—आसक्ति और लोभवृत्ति। जब तक ये प्रबल शत्रु चित्त में विद्यमान हैं, तब तक योग की पहली सीढ़ी भी पार नहीं की जा सकती। और इनके वशीभूत होकर साधक का मन सदा विक्षिप्त ही रहता है। अतः मुमुक्षु के लिये यह परमावश्यक है कि वह अपनी समस्त क्रियाओं को ईश्वरार्पण करके उसके फल की इच्छा का परित्याग कर देवे। व्यासभाष्य में 'वा' पद समुच्चयार्थक है वैकल्पिक नहीं। इस ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा साधक मान-अपमान राग-द्वेष, लाभ-हानि आदि दोषों से मुक्त हो जाता है। ईश्वरार्पण करने वाले की लोभवृत्ति तो समूल नष्ट हो जाती है और भौतिक सुखों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। और इन समस्त क्लेशों से रक्षा के लिये व्यासमुनि ने साधक के लिये परोक्ष रूप से यह भी संकेत किया है कि वह अन्तर्यामी परमात्मा को प्रथम परमगुरु स्वीकार करे। अन्यथा साधक की रक्षा क्लेशों से कदापि नहीं हो सकती।

सूत्रकार ने उपर्युक्त तीनों साधनों को क्रियायोग कहा है। जिससे स्पष्ट है कि यह क्रियायोग मन, वचन व कर्म से नियमितरूप से आचरण करने का नाम है। सूत्रकार ने योगाङ्गों में नियमों की व्याख्यों में भी (२।३२) इन तीनों का परिगणन किया है। योगाङ्गों के अनुष्ठान करने का फल (२।२८) में अशुद्धि का क्षय और ज्ञानदीप्ति बताया है और (२।२ में) यहाँ भी क्लेशों का नाश करना क्रियायोग का फल बताया है। जैसे—किसान खेत को जोतकर प्रथम घासादि कूड़े को दूर करता है, वैसे ही साधक को प्रथम

क्रियायोग के द्वारा क्लेशादि मलों को दूर करके अशुद्धि का नाश करना चाहिये ॥ १ ॥

अव०—स हि क्रियायोगः ।

(अर्थ)—उस क्रियायोग का फल है—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

व्यासभाष्यम्

स ह्यासेव्यमानः[1] समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनू करोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति। तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद—उस पूर्वसूत्रोक्त क्रियायोग का निरन्तर बार-बार सम्यक् अनुष्ठान करने वाला साधक समाधि को सिद्ध करता है और अविद्यादि क्लेशों को बहुत सूक्ष्म कर देता है (बिल्कुल कार्य के लिये असमर्थ अथवा वन्ध्य नहीं करता।) क्रियायोग से सूक्ष्म किये क्लेशों को प्रसंख्याग्निना=विवेक-ख्यातिरूपी अग्नि से अप्रसवधर्मिणः=अंकुरोत्पत्ति में असमर्थ दग्ध=जले हुए बीजों के समान (कार्योन्मुख करने में असमर्थ) कर देगा। और क्लेशों के सूक्ष्म करने से ही क्लेशों के सम्पर्क से रहित सत्त्वपुरुषान्यता[2]मात्रख्यातिः=विवेक-ख्यातिरूपी प्रज्ञा=समाधिप्रज्ञा, जो सूक्ष्मा=सूक्ष्मविषय का साक्षात्कार कराने वाली है, और समाप्ताधिकारा='समाप्तश्चित्तस्याधिकारो यया' जिससे चित्त के कार्य समाप्त हो जाते हैं, ऐसी सूक्ष्मप्रज्ञा प्रतिप्रसवाय[3]=चित्त को स्वकारण में विलीन करने में समर्थ कर देती है।

सूत्रार्थ—पूर्वसूत्रोक्त क्रियायोग है, उसका सम्यक् अनुष्ठान (समाधिभावनार्थः) समाधि की सिद्धि कराने के लिये और (क्लेशतनूकरणार्थः) अविद्यादि

---

१. आसेव्यमानः=आङ् पूर्वक सेव् धातु का प्रयोग क्रिया के निरन्तर बार-बार करने अर्थ में प्रयोग होता है।

२. चित्तसत्त्व और चेतनात्मा की भिन्नता का ज्ञान कराने वाली विवेकख्याति।

३. 'प्रतिप्रसव' शब्द में प्रति उपसर्ग 'प्रसव=उत्पन्न होना' विपरीत अर्थ को बता रहा है।

पञ्च क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिये तथा विवेकख्याति से सूक्ष्मक्लेशों को दग्धबीज की भांति=कार्य करने में असमर्थ करने के लिये है।

भावार्थ—जो विक्षिप्तवृत्ति साधक होते हैं, उनके निरन्तर किये गये क्रियायोग (तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं—(१) समाधि-भावना=चित्तवृत्ति का विक्षिप्त भाव दूर होकर एकाग्र होना और उससे योग के प्रति दृढ़ भावना बनना। क्योंकि चित्त के विक्षिप्त होने का कारण जन्म-जन्मान्तरों से अर्जित अविद्यादि क्लेश और विषय-वासनायें हैं। इस अशुद्धि का नाश तप से होने से मन एकाग्र होने लगता है।

(२) और दूसरा प्रयोजन क्लेशों का तनूकरण=सूक्ष्म करना है। जैसे—बढ़ई लकड़ी को छील छीलकर सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही स्वाध्याय, तप तथा ईश्वरप्रणिधान के बल से अनादि काल से चित्त में स्थित क्लेश क्रमशः क्षीण होने लगते हैं। और ईश्वरार्पण करने से लोभादि वृत्तियाँ भी शान्त हो जाती हैं। और जब विवेकख्याति हो जाती है, तब ये सूक्ष्म क्लेश भी दग्ध-बीज की भांति फलोन्मुख होने में असमर्थ हो जाते हैं॥ २॥

अव०—अथ के ते क्लेशाः ? कियन्तो वेति ?

(अर्थ) —अब वे क्लेश कौन से और कितने हैं, यह बताते हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥ ३॥

व्यासभाष्यम्

[क्लेशाः] **क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति॥ ३॥**

भाष्यानुवाद—[क्लेशाः] 'क्लेश' शब्द का अर्थ है—विपर्यय=मिथ्याज्ञान और वह पाञ्च प्रकार का होता है। वे क्लेश स्यन्दमानाः=लब्धवृत्ति होकर वर्त्तमान हुए सत्त्वादि गुणों के कार्यों को (सुख-दुःखादि भोगों को) दृढ़ करते हैं अर्थात् त्रिगुणात्मक चित्त को भोगापवर्गरूप कार्य में दृढ़ता से लगाते हैं, परिणामम्=गुणों के परिणाम=प्रकृति के कार्यों को स्थिर करते हैं, कार्य-कारण स्रोतः=कारणरूप अव्यक्त प्रकृति के कार्य महत्तत्त्व, अहंकारादि की परम्परा को बढ़ाते हैं और समस्त क्लेश परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय=परस्पर

एक दूसरे के कार्य में सहायक होकर कर्मविपाकम्=प्राणियों के जन्म, आयु और भोग रूप कर्मफल को अभिनिर्हरन्ति=सिद्ध करते हैं।

सूत्रार्थ—"चित्त की पाञ्च वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पाञ्च क्लेश नष्ट हो जाते हैं, वे क्लेश ये हैं—(अविद्या) एक अविद्या, दूसरा (अस्मिता) तीसरा (राग) चौथा (द्वेष) और पांचवाँ (अभिनिवेश)॥" (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

"इनमें अविद्या का स्वरूप[1] कह आये। पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख में प्रीति राग, दुःख में अप्रीति द्वेष, और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूं, मरूँ नहीं, मृत्यु दुःख से त्रास अभिनिवेश कहाता है। इन पाञ्च क्लेशों को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ाके ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये"॥ (स० प्र० नवम समु०)

भावार्थ—(क) इस सूत्र में क्लेशों का परिगणन किया गया है। उनका स्वरूप क्रम से आगे कहा जायेगा। ये अविद्यादि प्राणियों के दुःखों के अथवा बन्धन के कारण होने से क्लेश कहलाते हैं। 'क्लेश' शब्द की व्याख्या व्यास-भाष्य में 'विपर्यय' शब्द से की है। जिससे स्पष्ट है कि यहाँ क्लेश का अभिप्राय विपरीत ज्ञान (मिथ्याज्ञान) से है। इसे अयथार्थज्ञान भी कह सकते हैं। यद्यपि अविद्या सब क्लेशों का मूल कारण है, अतः अविद्या के कथन से ही सब क्लेशों का ग्रहण हो जाता है, पुनरपि अस्मितादि शब्दों से अविद्या के ही कार्यों को दिखाया गया है। सूत्रकार ने भी (२।४ में) अविद्या को सब क्लेशों का क्षेत्र=उत्पत्तिस्थान=(मूलकारण) कहा है।

(ख) और जब इन क्लेशों का प्रवाह चालू रहता है अर्थात् प्राणी इन से पीडित रहते हैं, तब इनके कार्य क्या-क्या होते हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए व्यासमुनि लिखते हैं—ये क्लेश सत्त्वादि गुणों के सहयोग से चित्त को भोगोन्मुख करते हैं। परिणाम=प्रकृति के विकार महत्तत्त्व, अहंकारादि को स्थिर=निरन्तर चालू रखते हैं। और प्रकृतिजन्य कार्य-कारण के स्रोत=प्रवाह को उन्नत करते हैं, बढ़ाते हैं। और ये क्लेश ही एक दूसरे के सहायक होकर प्राणियों के कर्म-विपाक=कर्मफलों अर्थात् जन्म, आयु और भोगों को सिद्ध करते हैं॥ ३॥

---

१. यो० २।५ सूत्र की व्याख्या में अविद्या का स्वरूप द्रष्टव्य है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

व्यासभाष्यम्

अत्राविद्या [क्षेत्रम्] क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। [प्रसुप्त] तत्र का प्रसुप्तिः। चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति। दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च।

[तनु] तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। [विच्छिन्न] तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथं, रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किं तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

[उदार] विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति। उच्यते सत्यमेवैतत्, किंतु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्, सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनुक्षीयन्त इति ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद—इन अविद्यादि क्लेशों में अविद्या[1] उत्तरेषाम्=अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, इन चार प्रकार के भेदों वाले और प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार, इन चार अवस्थाओं वाले क्लेशों को क्षेत्र=प्रसवभूमि=उत्पत्ति का स्थान है। अर्थात् अस्मितादि चारों क्लेश अविद्या की सत्ता से रहते हैं और न रहने से नहीं रहते। क्लेशों की उन प्रसुप्ति आदि चार अवस्थाओं में प्रसुप्ति किसे कहते हैं? चित्त में केवल शक्तिरूप में स्थित क्लेशों का बीज-

१. अग्रिमसूत्रे (योग० २।५) वक्ष्यमाणा।

भाव को प्राप्त करना अथवा बीजभाव से उपस्थित रहना ही प्रसुप्ति दशा है। और उन क्लेशों का आलम्बन उपस्थित होने पर सम्मुखीभावः=प्रकट होना ही प्रबोधः=जागरण है। जो उपासकयोगी प्रसंख्यानवतः=विवेकख्याति को प्राप्त हो चुका है और दग्धक्लेशबीजस्य=जिसके क्लेशों के बीज=कारण दग्ध=जल गये हैं, उस योगी के दग्धक्लेश का यह प्रबोध=जागरण आलम्बन=क्लेश के मूल कारण के (इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने वाले विषयों के) उपस्थित होने पर भी नहीं होता। क्योंकि जले बीज का प्ररोहः=अंकुरित होना कैसे सम्भव है? अतः क्षीण क्लेशों वाला योगी कुशल और चरमदेह=(मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी होने से) अन्तिम देह वाला कहा जाता है। दग्धबीजरूपता वाली क्लेशों की वह पांचवी अवस्था वहीं=विवेकख्याति को प्राप्त करने वाले योगी में ही होती है, और कहीं नहीं। क्लेशों को सत्ता होते हुए भी उस समय=विवेक-ख्याति प्राप्त कर लेने पर क्लेशों को बीजरूप शक्ति के जल जाने पर, विषय के उपस्थित होने पर भी क्लेशों का जागरण नहीं हो पाता। इस प्रकार दग्धबीजों की भांति क्षीण क्लेशों का फिर से अप्ररोहः=अंकुरित न होना (कार्योन्मुख न होना) क्लेशों की प्रसुप्ति दशा कही गई है।

[तनु] अब तनुत्व (दशा) को बताया जाता है। क्लेशों से प्रतिपक्ष भावनोपहताः=विरोधी भावना=क्रियायोग के अनुष्ठान से उपहत=उपमर्दित अविद्यादि क्लेश तनवः=सूक्ष्म हो जाते हैं।

[विच्छिन्न] और वैसे ही बीच-बीच में रुक रुककर अथवा टूट टूटकर पुनः उस-उस रूप से प्रकट होना, यह क्लेशों की विच्छिन्न दशा है। कैसे? (उत्तर देते हैं) राग नामक क्लेश के समय क्रोध नामक क्लेश का अभाव होता है। क्योंकि राग के समय क्रोध प्रकट नहीं होता। (यह कालिक विच्छिन्न दशा है।)

और राग भी किसी (स्त्री आदि) आलम्बन के प्रति दिखाई देता हुआ अन्यत्र दूसरे आलम्बन के प्रति बिल्कुल न हो, ऐसी भी बात नहीं (जैसे) चैत्र नामक पुरुष किसी स्त्री के प्रति रागयुक्त है, इसलिए दूसरी स्त्रियों के प्रति बिल्कुल विरक्त हो, ऐसा भी नहीं होता। किन्तु वहाँ राग लब्धवृत्तिः=वर्त्तमान प्रवृत्ति वाला है, अन्यत्र तो भविष्यद्वृत्ति=भविष्य में होने वाली प्रवृत्ति वाला है। वह राग उस समय (दूसरी स्त्रियों के प्रति) प्रसुप्त या तनु या विच्छि-न्न रूप से होता है। (यह दैशिक विच्छिन्नता है।)

[उदारः] जो क्लेश विषये=आलम्बन में लब्धवृत्तिः='लब्धा वृत्तिर्येन'

अपनी वृत्ति=स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, वह उदार अवस्था वाला है। और इन सभी अवस्थाओं वाले ये क्लेश क्लेशविषयत्वं=क्लेश पद वाच्य अर्थ को नहीं छोड़ते (अतः क्लेश ही कहलाते हैं)।

[प्रश्न] जब ये प्रत्येक दशा में क्लेश ही हैं, तो विच्छिन्न, प्रसुप्ति, तनु और उदार ये चार नाम रखने का क्या प्रयोजन है? [उत्तर] इसका उत्तर बताया जाता है। यह तो सत्य है कि इन सभी अवस्थाओं[1] में क्लेशरूपत्व रहता है, किन्तु विशेष अवस्था में स्थित होना ही इन क्लेशों के विच्छिन्नादि नाम होने का कारण है। जिस प्रकार ये क्लेश प्रतिपक्ष भावनातः=क्रियायोग के करने से विरोधी भावना के कारण निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही अपने प्रकाशक कारण को पाकर प्रकट हो जाते हैं। ये सभी क्लेश अविद्या के भेद हैं। क्योंकि सभी क्लेशों में अविद्या ही अभिप्लवते=व्याप्त है=आधाररूप से स्थित है। जो वस्तु अविद्या से आकार्यते=प्रस्तुत की जाती है, अस्मितादि क्लेश उसी वस्तु का अनुशेरते=अनुगमन करके स्थित हो जाते हैं। क्योंकि विपर्यासप्रत्ययकाले= मिथ्याज्ञान के काल में ही ये सब क्लेश उपलब्ध होते हैं और अविद्या के क्षीण होने के साथ ही क्षीण हो जाते हैं।

सूत्रार्थ—"(अविद्या क्षेत्र०) उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अंधकार में फंसाके जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों को सत्यविद्या से (अविद्या) विच्छिन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं"॥ (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—इस सूत्र में अविद्या को सब क्लेशों का मूलकारण बताया है और इन क्लेशों की चार अवस्थायें बतायी गई हैं। उनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(१) **प्रसुप्तदशा**—जब ये क्लेश अपना कार्य नहीं करते, केवल चित्त में संस्कार रूप में सोये पड़े रहते हैं, तब इनकी प्रसुप्त-दशा कहलाती है। जैसे बीज में अंकुरित होने की शक्ति होती है, परन्तु उचित स्थान या कारण न होने से बीज अंकुरित नहीं होता। वैसे ही जब क्लेश सहायक कारण अथवा आलम्बन के अभाव में शक्तिरूप में ही स्थित रहते हैं, अपना कार्य नहीं कर पाते, तब यह इनकी प्रसुप्तिदशा[2] कहलाती है। और सहयोगी आलम्बन को

---

१. क्लेशों की इन चार दशाओं का विवरण २। ११ के भावार्थ में भी द्रष्टव्य है।

२. जैसे बाल्यकाल में राग (कामवासना) प्रसुप्त होती है और यौवन में उदार (जागृत) हो जाती है।

पाकर ये जाग जाते हैं=कार्यरत हो जाते हैं। तब इनकी प्रसुप्तिदशा न होकर उदारदशा होती है। और जैसे जला हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, क्योंकि उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, वैसे ही जो योगी विवेकख्याति को पाकर क्लेशों को दग्धबीज की भांति कर देता है, उसके क्लेश आलम्बन=सहायक कारण होते हुए भी कार्यरत नहीं होते। ऐसा क्षीणक्लेश पुरुष मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। उसका भविष्य में जन्म-मरण प्रवाह विच्छिन्न होने से अन्तिम शरीर ही होता है।

(२) **तनु-दशा**—जैसे बढ़ई (तक्षक) लकड़ी को छील छीलकर सूक्ष्म या निर्बल कर देता है, वैसे ही जब साधक क्लेशों को क्रियायोगादि के द्वारा इतना दुर्बल बना देता है कि वे सहायक कारण के उपस्थित होने पर भी कार्यरत नहीं हो पाते, यह क्लेशों की तनु-दशा है। परन्तु तनुदशा में भी ये क्लेश किसी प्रबल आलम्बन के होने पर जागृत हो सकते हैं, अतः साधक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये। अपरिपक्व साधक को तो ये क्लेश अपने जाल में फंसा ही लेते हैं, और सताते रहते हैं।

(३) **विच्छिन्नदशा**—जब सजातीय अथवा विजातीय संस्कारों से क्लेश अभिभूत=दबे हुए रहते हैं, तब क्लेशों की विच्छिन्नदशा होती है। जैसे जब राग-क्लेश उभरता है, तो क्रोध (द्वेष) दब जाता है। अथवा क्रोध उभरता है तो राग दब जाता है। जो क्लेश उभरता है, वह उदारदशा में होता है और जो दबता है, वह विच्छिन्नदशा में होता है। यह विजातीय संस्कार का उदाहरण है। सजातीय का उदाहरण यह है—जैसे चैत्र किसी स्त्री में अनुरक्त है, उस समय वह दूसरी स्त्रियों में विरक्त नहीं होता, किन्तु उसका अन्य स्त्रियों के प्रति राग दबा हुआ होता है।

(४) **उदार-दशा**—जब कोई क्लेश भोग-दशा में वर्त्तमान रहता है, वह अपने पूरे वेग से कार्यरत होता है, वह क्लेश की उदारदशा है। इसका उदाहरण विच्छिन्नदशा में देखा जा सकता है। क्योंकि इन दोनों दशाओं में एक क्लेश दबता है, तो दूसरा कार्यरत रहता है। राग कार्यरत रहता है तो द्वेष दब जाता है और द्वेष कार्यरत होता है तो राग दब जाता है।

और ये सभी क्लेश अपनी सभी दशाओं में क्लेशभाव का परित्याग नहीं करते हैं ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिये कि ये क्लेश उदारदशा=कार्यरत-दशा में ही दुःख देते हैं, अन्यदशाओं में नहीं। क्योंकि अन्यदशाओं में (प्रसुप्ति आदि में) भी क्लेश दुःख के कारण बने ही रहते हैं। क्योंकि इनमें क्लेश करने की शक्ति दूसरी दशाओं में भी विद्यमान रहती है। और इन सभी क्लेशों में

अविद्या मूलकारण है। अविद्या के होने से वे क्लेश होते हैं और अविद्या के नाश से इनका नाश हो जाता है, अतः ये सभी क्लेश अविद्या के ही भेद कहलाते हैं ॥ ४ ॥

अव०—तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते।

(अर्थ)—उन क्लेशों में प्रथम अविद्या का स्वरूप कहा जाता है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्याति-रविद्या ॥ ५ ॥

व्यासभाष्यम्

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा—ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः। अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

इति अशुचौ शरीरे शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्राय-ताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभि-संबन्धः। भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्यय-स्तथैवानर्थे चार्थ प्रत्ययो व्याख्यातः।

तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (यो० सू० २। १५) इति। तत्र सुखख्याति-रविद्या। तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम्—"व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनुनन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः" इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति।

तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रभावं किं तु तद्विरुद्धः सपत्नः। यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्प-

दमात्रं किंतु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद—अनित्य कार्य में नित्य बुद्धि करना अविद्या है। जैसे ध्रुवा पृथिवी=पृथिवी नित्य है, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः=चन्द्र तारा सहित द्युलोक नित्य है, अमृता दिवौकसः=देव नित्य हैं। वैसे ही अशुचि=अपवित्र परम-बीभत्स=अत्यन्तघृणित शरीर में—

जिस शरीर को विद्वान् लोग इसलिये अपवित्र कहते हैं, क्योंकि यह शरीर स्थान=मूत्रादि लिप्त योनि एवं गर्भाशय से उत्पन्न होता है, बीज=माता-पिता के रजोवीर्य से पैदा होता है, उपष्टम्भ=शरीर का आधार रक्त मांसादि का पिण्ड है, निःस्यन्द=शरीरस्थ नेत्र, नासिका आदि छिद्रों से मल-स्राव होता है, निधन=मरने पर शरीर शव=मुरदा होता है। अतः आधेय शौचत्वात्=स्नानादि शुद्धि की सदैव अपेक्षा होने से शरीर अपवित्र है।

इस प्रकार अपवित्र (देहादि) में पवित्रबुद्धि दिखाई देती है। (जैसे स्त्री-शरीर के विषय में लोग इस प्रकार कल्पना करते हैं) यह कमनीय=मनोहर कन्या चन्द्रमा की नवीन कला के समान है, मधुर अमृत के अंशों से मानो बनी हुई है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह चन्द्रमा=चन्द्रबिम्ब को फोड़कर निकली है। नीलकमल के पत्र के समान विशाल नेत्रों वाली यह कन्या शृङ्गार के हावभावों से पूर्ण नेत्रों से प्राणि-जगत् को आश्वासन देती (मोहित करती) हुई वर्त्तमान है। इसका किस (भाग्यशाली) पुरुष के साथ किन (शुभ) कर्मों के कारण सम्बन्ध होगा? इस प्रकार अपवित्र देह में पवित्र बुद्धि करना मिथ्या ज्ञान है। इस अविद्या के (द्वितीय लक्षण से) अपुण्य=पाप में पुण्य की प्रतीति तथा अनर्थकारी पदार्थ में अर्थप्रत्ययः=सार्थकता की प्रतीति भी अविद्या ही जाननी चाहिये।

वैसे ही दुःख में सुखबुद्धि के विषय में सूत्रकार कहेंगे—परिणामताप-संस्कारदुःखैर् गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'। (यो० २। १५) इस आगामी सूत्र के द्वारा सूचित दुःख में सुखबुद्धि करना अविद्या है।

वैसे ही अनात्मनि[1]=आत्मा से भिन्न पदार्थों में आत्मा की प्रतीति करना चौथे प्रकार की अविद्या है। जैसे चेतन=स्त्री, पुत्र, गायादि में और अचेतन (जड़) पदार्थों में अथवा भोगाधिष्ठान=भोग के आश्रयभूत शरीर में, अथवा पुरुष=जीवात्मा के साधन अनात्मा=आत्मा से भिन्न मन=अन्तःकरण में

१. जातावेकवचनम्।

आत्मख्यातिः=आत्म=अपनापन मानना अथवा चेतनबुद्धि करना अविद्या है।

वैसे ही इस विषय में (प्राचीन आचार्य ने) कहा है—व्यक्त=चेतन पदार्थ (पुत्र, स्त्री, पशु आदि) को और अव्यक्तम्=अचेतन पदार्थ (गृह, भोजन, वस्त्र, शरीर, मनादि) को आत्मत्वेन=आत्मीय रूप से अथवा आत्मरूप (चेतन) समझकर उन चेतनाचेतन पदार्थों की सम्पदम्=समृद्धि को अपनी समृद्धि मानते हुए प्रसन्न होता है और उन अनात्मभूत पदार्थों की विपत्ति या अवनति को अपनी विपत्ति या अवनति समझता हुआ शोकग्रस्त हो जाता है। ऐसे सभी प्राणी अप्रतिबुद्ध=नासमझ=अविद्याग्रस्त हैं। यह अविद्या नामक क्लेश चतुष्पदा='चत्वारि पदानि=स्थानानि=प्रकारा वा यस्याः सा' चार पैरों वाली=चार प्रकार की है। और यह इन समस्त क्लेशों का और जाति, आयु, भोग रूप विविध कर्मफलों वाले समस्त कर्माशय का मूलकारण है। 'इति' पद अविद्या की व्याख्या की समाप्ति का सूचक है।

[अविद्या की भावात्मक सत्ता)

और उस अविद्या[1] का वस्तु स्वरूप (भावात्मक सत्ता) 'अमित्र' और 'अगोष्पद' शब्दों की तरह जानना चाहिये। जैसे 'अमित्रः' शब्द से न तो मित्र का अभाव और नहीं मित्र ही (जाना जाता है) किन्तु उस मित्र का विरोधी शत्रु (भावात्मक) जाना जाता है। अथवा जैसे—'अगोष्पद'[2] शब्द से न तो गोष्पद का अभाव और नहीं गोष्पद (जाना जाता है) प्रत्युत उन दोनों अर्थों से भिन्न वस्त्वन्तर=भिन्न वस्तु देश=स्थान है, जहाँ गाय का पैर भी न रक्खा गया हो। इसी प्रकार 'अविद्या' नामक क्लेश न तो प्रमाण (विद्या) है

---

१. 'अविद्या' शब्द में नञ्-तत्पुरुष समास है। इस समास के दो भेद हैं—एक प्रसज्य=जिसमें नञ्=निषेध की प्रधानता होती है। उसका यहाँ ग्रहण नहीं है। दूसरा-पर्युदास=जिसमें प्रतिषेध की प्रधानता नहीं होती, प्रत्युत तद्भिन्न तत्सदृश वस्तु का बोध कराता है। जैसे—महाभाष्य में कहा है—'अब्राह्मणमानय' इत्युक्ते न लोष्ठमानीय कृती भवति' अर्थात् 'अब्राह्मण को बुलाओ' कहने से मिट्टी का लोष्ठ=ढेला लाने वाला मूर्ख ही कहाता है। क्योंकि उसे ब्राह्मण से भिन्न किन्तु ब्राह्मण के सदृश पुरुष को ही लाने को कहा गया है। ऐसे ही 'अविद्या' शब्द से भी समझना चाहिये।

२. 'अगोष्पद' शब्द की सिद्धि में आचार्य पाणिनिमुनि ने 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु (अ० ६।१।१४५) सूत्र से असेवितं अर्थ में निपातन से सुडागम किया है। वहाँ 'असेवित' अर्थ का प्रयोजन यही है कि जहाँ गायों का जाना सम्भव भी नहीं हो ऐसे 'अगोष्पदान्यरण्यानि' प्रयोग में सुडागम के लिये 'असेवित' शब्द का पाठ सार्थक है।

और नहीं प्रमाण=विद्या का अभाव है, किन्तु विद्या से अन्य ज्ञान ही अविद्या है।

सूत्रार्थ—"जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषयसेवनरूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है।

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् 'वेत्ति यथावत् तत्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति, भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या' जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे, वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है" ॥ (स० प्र० नवम समु०)

"अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्या) अनित्य अर्थात् कार्य (जो शरीरादि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर) में नित्यबुद्धि तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया, क्रियावान्, गुण, गुणी, और धर्म धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर संबन्ध है, इन में अनित्य बुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा (अशुचि) मलमूत्रादि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना तथा तालाब, बावरी, कुण्ड, कूंआ, और नदी में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श-इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब में प्रेम-भाव से वर्त्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा दुःख में सुख-बुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना; जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता, आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःख-बुद्धि करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतन भाव और चेतन में जड़ भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख

और आत्मबुद्धि करना, यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूटके जीव मुक्ति को प्राप्त होता है''।

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—इस सूत्र में अविद्या का स्वरूप बताया गया है। क्योंकि अविद्या सब क्लेशों का मूलकारण होने से योग में प्रबल बाधक है, अतः योगी को अविद्या का स्वरूप अच्छी प्रकार समझना चाहिये। इस सूत्र में अविद्या के चार प्रकार बताये हैं। यद्यपि अविद्या का क्षेत्र बहुत विस्तृत तथा महान् है, पुनरपि इन चारों के अन्तर्गत ही समस्त अविद्या का समावेश हो जाता है। सूत्र में अनित्य पदार्थों में नित्यबुद्धि करना, अपवित्रपदार्थों में पवित्रभावना करना, दुःख में सुख मानना और अनात्मा=अचेतनों में आत्मबुद्धि करना, यह चार प्रकार की अविद्या मानी है। परन्तु इससे विद्या का स्वरूप भी समझा जा सकता है अर्थात् नित्य में नित्य, अनित्य में अनित्य, अशुचि में अशुचि, दुःख में दुःख, सुख में सुख, आत्मा में आत्मा तथा अनात्मा में अनात्म-बुद्धि करना विद्या का स्वरूप है। महर्षि-दयानन्द ने इस सूत्र की इसी प्रकार व्याख्या की है। जैसे—अर्थापत्ति प्रमाण से 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' देवदत्त मोटा है, दिन में नहीं खाता है, इस उदाहरण से यह समझ में आ जाता है कि मोटा होना बिना भोजन के सम्भव नहीं है, अतः देवदत्त दिन में नहीं खाता, तो रात्रि में अवश्य खाता है। यह रात्रि में खाना अर्थ भी उसी वाक्य से समझ में आ जाता है, उसी प्रकार अविद्या के स्वरूप से विद्या का स्वरूप भी सूत्र से ही समझना चाहिये। अविद्या के स्वरूप को व्यास-भाष्य और महर्षि-दयानन्द की व्याख्या में भलीभांति समझा जा सकता है॥ ५॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

व्यासभाष्यम्

[दृक्दर्शनशक्त्योः] पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तसंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्—'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेन' इति॥ ६॥

भाष्यानुवाद—[दृक्दर्शनशक्त्योः] दृक्शक्तिः[1]=देखने वाली शक्ति

१. पश्यतीति दृक्=द्रष्टा आत्मा।

पुरुष=ज्ञाता जीवात्मा है, दर्शनशक्तिः[1]=और ज्ञान कराने की साधनभूत दर्शन-शक्ति बुद्धि है। इन दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता होने पर भी एकरूपता जैसी प्रतीति 'अस्मिता' क्लेश कहाता है। अत्यन्त-असंकीर्णयोः=बिल्कुल पृथक्-पृथक् रूप से स्थित भोक्तृभोग्यशक्त्योः=जीवात्मा नामक भोक्तृशक्ति=भोगने वाला पुरुष और भोग्यशक्ति=भोक्ता जीवात्मा के आधीन बुद्धि शक्ति की अविभाग प्राप्ति=मिले हुए से प्रतीति=अभिन्न (एकाकार) से हो जाने पर भोगः=सुखदुःखादि साक्षात्कार रूप भोग बन पाता है। इन दोनों के स्वरूप बोध होने पर तो (विवेकख्याति हो जाने पर) दोनों का मोक्ष=पृथक्भाव हो जाता है। अतः उस दशा में भोग कैसे सम्भव है? वैसा (प्राचीन किसी आचार्य ने) कहा भी है—

'बुद्धि से सूक्ष्म, आकार=शुद्ध अविकारी स्वरूपवाला शील=अमरणधर्मा, विद्या=ज्ञानादि गुणों के कारण बुद्धि से सर्वथा भिन्न, पुरुष=चेतन जीवात्मा को पृथक् न जानने वाला सामान्य पुरुष अचेतन बुद्धि को आत्मा=चेतनशक्ति मोह=अविद्यावश समझता है'।

सूत्रार्थ—"(अस्मिता०) दूसरा क्लेश 'अस्मिता' कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है"॥

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—(क) इस सूत्र में अस्मिता-क्लेश का स्वरूप बताया गया है। दृक्शक्ति पुरुष=चेतनात्मतत्त्व है और दर्शनशक्ति=देखने या जानने का साधन बुद्धितत्त्व आत्मा से भिन्न प्रकृति का कार्य है। पुरुष सुख-दुःख का भोक्ता है, बुद्धि नहीं। ये दोनों अत्यन्त भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। जिनकी भिन्नता का प्रतिपादन व्यासभाष्य में किसी प्राचीन आचार्य के वाक्य से भी स्पष्ट किया है अर्थात् पुरुष बुद्धि का भेद स्वरूप, शील, विद्यादि के कारण है। अर्थात् पुरुष का स्वरूप शुद्ध अविकारी है, बुद्धि प्रकृति का विकार है। पुरुष अमरणशील होने से अविनश्वर है, बुद्धि अपने कारण में लीन होने वाली है। पुरुष चेतन है और बुद्धि अचेतन है।

(ख) परन्तु पुरुष को भोग बुद्धि के विना नहीं होता। जब इन दोनों की अविभाग-प्राप्तिरिव=एकाकारप्रतीति होती है तब पुरुष को भोग होता है। इस एकाकारप्रतीति में बुद्धि को पुरुष से भिन्न न समझना ही 'अस्मिता' क्लेश

१. दृश्यतेऽनयेति दर्शनं बुद्धिः।

है। परन्तु इन में एक दूसरे के स्वरूप में लेशमात्र भी संकीर्णता=मिलावट नहीं होती। और यह प्रतीति अविद्या=मिथ्याज्ञान के कारण होती है। मिथ्या-ज्ञान की निवृत्ति होने पर अस्मिता क्लेश की भी निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि विद्या से अपने-अपने स्वरूप का ज्ञान होने से भोगों की निवृत्ति हो जाती है; पुरुष कैवल्यभाव को प्राप्त कर लेता है।

(ग) यद्यपि बुद्धि अनात्मतत्त्व है, उसमें आत्मबुद्धि करना अविद्या ही है। पुनः 'अस्मिता' क्लेश की पृथक् सत्ता क्यों कही ? इसका उत्तर यह है कि अविद्या सब क्लेशों का मूलकारण तो है ही, परन्तु अस्मिता क्लेश में बुद्धि के धर्मों को आत्मा में आरोपित करने के कारण—मैं मूढ हूँ, मैं घोर हूँ अथवा मैं शान्त हूँ, इस प्रकार बुद्धिधर्मों को पुरुष के धर्म मानने लगता है। और अविद्या इस क्लेश में कारण होती है, और अस्मिता उसका कार्य। यही इनमें परस्पर भेद है ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

व्यासभाष्यम्

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद—जिसने संसार में प्रथम जिन सुखों का अनुभव कर लिया है, ऐसे पुरुष की उस सुख अथवा सुखों के साधनों में सुख के अनुरूप स्मृतिपूर्वक जो गर्धः=लालसा, तृष्णा=इच्छा, और लोभ=लालच पैदा होता है, वह राग नामक क्लेश है।

सूत्रार्थ—"तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभ सागर में बहना है, इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है"।

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—पुरुष संसार में जिन भोगों को भोगता है, उनमें इन्द्रियों के अनुकूल सुखात्मक भोगों को भोगने के बाद उनके संस्कारों की स्मृति बार-बार होती रहती है। और ऐसी इच्छा बनी रहती है कि मैं उन भोगों को फिर से

भोगूँ। इस प्रकार लौकिक सुखात्मक वस्तु को देखकर अथवा सुनकर उसके प्रति जो तृष्णा=उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है, वह ही राग नामक क्लेश होता है ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

व्यासभाष्यम्

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघोमन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद—दुःख का अनुभव करने वाले मनुष्य का दुःखके अनुरूप स्मृतिपूर्वक दुःख या दुःख के साधनों में जो प्रतिघः=प्रतिकार करने के भाव से पूर्व मन्युः[1]=विरोध करने या प्रतिहिंसा करने का प्रबल-आवेश, जिघांसा=मारने की इच्छा, और क्रोध=बाह्यगुस्सा पैदा होता है, वह 'द्वेष' है।

सूत्रार्थ—"(दुःखानु०) चौथा द्वेष कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है"। (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—पुरुष को लोक में जिन वस्तुओं के भोगने से प्रतिकूलता होने से दुःखात्मक अनुभूति होती है, उसके संस्कारों की स्मृति भी बार-बार बनी रहती है। और ऐसी इच्छा बनी रहती है कि मैं उन दुःखात्मक भोगों से सदा पृथक् रहूँ। परन्तु जब ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि उन प्रतिकूल वस्तुओं को भोगना पड़े अथवा उनके लिये ही कोई दबाव देवे अथवा सुखात्मक भोगों में कोई बाधक बन रहा हो, तब उनके प्रति एक विरोधी भावना उत्पन्न होती है कि मैं उन प्रतिकूल वस्तुओं अथवा बाधाओं से बच सकूँ। ऐसी प्रतिकूलात्मक भावना ही द्वेष नामक क्लेश कहलाता है। यह क्लेश राग से विपरीतभाव को बताता है। इससे चित्त अध्यधिक व्यथित हो जाता है, जिससे पुरुष ऐसे अनिष्ट कार्य करने को विवश हो जाता है, जिनका बाद में पश्चात्ताप ही

---

१. यहाँ व्यासमुनि ने मन्यु तथा क्रोध दोनों का पाठ किया है। इन दोनों शब्दों में अन्तर यह है—'मन्यु' शब्द निरुक्त १०। २९ के अनुसार दीप्त्यर्थ अथवा वधार्थक धातु से बना है। अतः आन्तरिक क्रोध अथवा प्रबल तेज रूप इसका अर्थ है। और गुस्से की दशा में जो बाह्य आकृति या चेष्टा देखने में आती है, उनको 'क्रोध' शब्द से कहा है।

करना पड़ता है। अतः योगी को इस क्लेश से बचने का सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

व्यासभाष्यम्

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्टयात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति।

यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात्। समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद—सभी प्राणधारियों की यह आत्माशीः=अपनी इच्छा नित्या=सदा होती है कि (द्वौ नञौ प्रकृतार्थं ब्रूत इति न्यायेन) ऐसा न हों, हम न होवें, बल्कि यही इच्छा रहती है कि (भूयासम्) सदा बने रहें। और जिसने (पूर्वजन्म में) मरण-धर्म=मरण क्रिया का अनुभव न किया हो, उसकी यह आत्मविषयक इच्छा नहीं हो सकती। इसी इच्छा से पूर्वजन्म के मरणदुःख का अनुभव स्पष्ट प्रतीत होता है। और वही यह अपने संस्कारों के रूप में विद्यमान अभिनिवेश=मरणभय रूप क्लेश उत्पन्नमात्र कृमि=क्षुद्रजन्तुओं को भी जिसका इस जन्म में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाण से ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा उच्छेददृष्टयात्मक=विनाशरूप मरणत्रास=मृत्यु का भय पूर्वजन्मों में अनुभव किये मरण-दुःख का अनुमान कराता है। और यह क्लेश जैसे अत्यन्तमूढ़=मन्दमति अनपढ़ों में दिखाई देता है, वैसे विद्वान् को भी, जिसने जीव की पूर्ववर्त्ती सांसारिक दशा और अन्तिम दशा (मोक्ष) को शास्त्रों से जान लिया है, उसको भी रूढ[1]=प्राप्त है। क्योंकि पूर्वजन्म में दुःखानुभव करने से कुशल=विद्वान् और अकुशल=मन्दमति दोनों में यह वासना (संस्कार) समानरूप से है।

---

१. यहाँ 'रुह् क्रिया' गत्यर्थक है।

सूत्रार्थ—"(स्वरसवा०[1]) पांचवां 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे-छोटे कृमि चींटी आदि को भी मरण का भय बराबर बना रहता है, इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं, जो कि विद्वान्, मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है" ॥

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

"तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्राणि०) हर एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूँ नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊँ, ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव में कभी नहीं हो सकती, यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है, जो कि कृमि पर्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है, यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है" ॥ (ऋ० भू० पुनर्जन्मविषयः)

भावार्थ—इस सूत्र में अभिनिवेश नामक क्लेश का स्वरूप बताया गया है। संसार में जितने भी प्राणी हैं, विद्वान् हों या मूर्ख, क्षुद्रजन्तु हों या बड़े, सभी की यह भावना बनी रहती है कि मैं कभी मरूँ नहीं।

यह मरण-त्रास की भावना मृत्युभय को प्रकट करती है। इसीलिये प्रत्येक प्राणी प्राण-संकट आने पर बचने का भरसक प्रयास करता है। और यह मृत्यु का भय इस जन्म में तो अनुभव किया नहीं और विना अनुभव के यह भय क्यों होता है, इसका कारण पूर्वजन्मों में मृत्यु के दुःख को अवश्य अनुभव किया है। जिससे उसके संस्कार इस जन्म में भी दुःख दे रहे हैं।

यह पूर्वजन्मानुभूत मृत्यु का भय ही अभिनिवेश नामक क्लेश है। इस क्लेश की निवृत्ति केवल गुरु-उपदेश अथवा विद्या से भी नहीं होती। यथार्थज्ञान और परमेश्वरोपासना से ही इस क्लेश की निवृत्ति हो सकती है। अतः इस क्लेश से योगी साधक ही त्राण=रक्षा कर पाता है, अन्य नहीं ॥ ९ ॥

---

१. स्वरसवाही=स्वस्य रसः (स्वभावः) स्वरसः, तं वोढुं शीलमस्येति स्वरसवाही अथवा स्वरसेन संस्कारमात्रेण वहतीति। अर्थात् पूर्वजन्मानुभूत मरणत्रास आदि संस्कार से वर्त्तमान रहने वाला अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

व्यासभाष्यम्

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद—वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पाञ्च क्लेश योगी के जब दग्धबीजकल्प=जले हुए बीज के समान (स्वकार्य करने में असमर्थ) हो जाते हैं, तब योगी के चित्त के, जिसने भोगादि कार्य को समाप्त कर लिया है, अपने कारण में लय होने पर, उसी चित्त के साथ (क्लेश भी) विलीन हो जाते हैं।

सूत्रार्थ—(ते) वे अविद्यादि क्लेश जब (सूक्ष्माः) क्रियायोग के द्वारा सूक्ष्म हो जाते हैं, तब (प्रतिप्रसवहेयाः) (कारण से कार्य का प्रादुर्भाव होना 'प्रसव' कहलाता है। उस कार्य का फिर अपने कारण में लय होना 'प्रतिप्रसव' कहलाता है।) अपने आधार भूत चित्त के लय के साथ हेय=समाप्त करने योग्य हैं।

भावार्थ—इस सूत्र में 'ते' सर्वनामपद से पूर्वोक्त अविद्यादि पाञ्च क्लेशों का ग्रहण होता है। और २।४ सूत्र में इन क्लेशों की चार अवस्थायें बताई हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। इन चार अवस्थाओं को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—स्थूल तथा सूक्ष्म। उदार दशा इनमें स्थूल होती है, शेष सूक्ष्म। इस सूत्र में सूक्ष्म दशाओं में विद्यमान क्लेशों की निवृत्ति का उपाय बताया गया है। स्थूल दशा के क्लेशों को सूक्ष्म करने का उपाय २।२ सूत्र में कह चुके हैं। अर्थात् तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान से क्लेश सूक्ष्म[1] हो जाते हैं। और सूक्ष्म क्लेशों की निवृत्ति का उपाय विवेकख्याति है। विवेकख्याति होने से ये सूक्ष्म क्लेश दग्धबीज की भांति फलोन्मुख होने में असमर्थ हो जाते हैं और चित्त के अपने कारण=प्रकृति में लय होने के साथ लीन हो जाते हैं। योगी को इस दशा के प्राप्त करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

---

१. यही बात २।११ सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि ने कही है—"क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्याः" ॥

अव०—स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम् ।

(**अर्थ**)—बीजभाव को प्राप्त होकर वर्त्तमान क्लेशों की—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

व्यासभाष्यम्

[तद्वृत्तयः] क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः [ध्यानहेयाः] प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति । यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन वाऽपनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद—अविद्यादि पाञ्च क्लेशों की जो स्थूल प्रवृत्तियाँ हैं, वे क्रियायोग[1] (तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) से सूक्ष्म होती हुई प्रसंख्यान=विवेकख्याति=ध्यान से समाप्त करने योग्य हैं। (इन क्लेशों की वृत्तियों के नाश का क्या स्वरूप है ?) जब ये क्लेश-वृत्तियाँ सूक्ष्म हो जाती हैं, और दग्धबीज की भांति कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं, तब ये समाप्त हो जाती हैं। जैसे वस्त्रों का स्थूलमल पहले दूर किया जाता है, बाद में सूक्ष्म-मल यत्न से और (साबुन लगाने आदि) विशेष उपाय से दूर किया जाता है, उसी प्रकार क्लेशों की स्थूलवृत्तियाँ (दशायें) स्वल्प प्रतिपक्षाः=कम प्रतिपक्षः=विरोधी उपाय[2] से दूर की जा सकती हैं, किन्तु क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियाँ महाप्रतिपक्षाः=महान्[3] विरोधी उपाय से समाप्त की जाती हैं।

सूत्रार्थ—(तद् वृत्तयः) उन बीजभाव=सूक्ष्मभाव को प्राप्त क्लेशों की वृत्तियाँ=प्रवृत्तियाँ (ध्यानहेयाः) विवेकख्याति से समाप्त करने योग्य हैं।

भावार्थ—क्लेशों की स्थूल तथा सूक्ष्म वृत्तियों का अभिप्राय यह है कि—अस्मितादि क्लेशों की (यो० २।४) सूत्र में प्रसुप्तादि चार दशायें बताई हैं। जब ये क्लेश अपना कार्य न करते हुए संस्काररूप में पड़े रहते हैं। और अपने सहयोगी अथवा उद्बोधक कारण के अभाव में कार्यरत नहीं होते, तो प्रसुप्त-

---

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ (यो० २।१) स हि क्रियायोगः—समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ (यो० २।२)

२. क्रियायोग के द्वारा।

३. विवेकख्याति और असम्प्रज्ञातसमाधि से।

दशा में होते हैं। और जब वे तपादि क्रियायोग से शिथिल या मन्द (दुर्बल) कर दिये जाते हैं कि वे कार्यरत होने का साहस ही नहीं कर पाते, तब उनकी तनुदशा होती है। और जब ये क्लेश सजातीय अथवा विजातीय संस्कारों से दबे रहते हैं, तो विच्छिन्न दशा होती है। जैसे जब राग क्लेश उभरता है, तो क्रोध दब जाता है। और क्लेशों की चतुर्थ उदार-दशा वह होती है, जब उनके भोग का वर्त्तमान रहता है, अपने पूरे वेग से उभरकर कार्यरत रहते हैं। जैसे—जब राग क्लेश उभरा रहता है तो क्रोध दबा रहता है। इनमें राग उदार दशा में है और क्रोध विच्छिन्न दशा में। क्लेशों की इन चतुर्विध अवस्थाओं में जो 'उदार' दशा है यह स्थूल है, क्योंकि इस दशा में ये प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। शेष तीनों अवस्थायें सूक्ष्म हैं। इन दशाओं में स्थित क्लेश फिर से न उभरने लगें अर्थात् उदार दशा को न प्राप्त हो जायें, एतदर्थ योगी को सतत जागरूक रहना चाहिये और क्लेशों की प्रवृत्तियों को समाधिजनित विवेक-ख्याति से दग्धबीज की भांति फलोन्मुख होने में असमर्थ कर देना चाहिये।

सूत्र में 'ध्यान' शब्द का अर्थ व्यासभाष्य में प्रसंख्यान=विवेकख्याति किया है। 'ध्यान' का अर्थ 'ध्यै चिन्तायाम्' धात्वर्थ के अनुसार चिन्तन करना है। जब योगी प्रकृतिजन्य वस्तुओं के भोग से होने वाले सुख-दुःखों का चिन्तन करता है और परिणाम में उन्हें दुःखद समझ लेता है, तो योगी का चित्त पूर्ण विरक्त हो जाता है और उत्तरोत्तर क्रमशः वैराग्य की उत्कृष्ट दशा तक पहुंचने से सूक्ष्म क्लेशों की स्थिति प्रथम सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम हो जाती है और अन्त में वे दग्धबीज की भांति अंकुरित होने में असमर्थ हो जाते हैं। यह ही ध्यान से क्लेश-वृत्तियों का दूरीकरण करना कहलाता है।

व्यास-भाष्य में क्लेशवृत्तियों की दूरीकरण प्रक्रिया को वस्त्र के दृष्टान्त से समझाया है। जैसे वस्त्र का प्रथम स्थूलमल दूर किया जाता है और वह अल्प प्रयत्न से ही दूर हो जाता है। परन्तु उसका जो सूक्ष्ममल होता है, उसको दूर करने में महान् प्रयत्न करना पड़ता है। साबुनादि लगाकर अथवा गर्म पानी में उबालकर, दण्डादि से कूटकर सूक्ष्ममल दूर किया जाता है। वैसे ही क्लेशों की स्थूलवृत्तियों की अपेक्षा सूक्ष्मवृत्तियों के दग्ध करने में अतिशय प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार सूक्ष्मक्लेशों की भी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्नादि दशायें होती हैं। जैसे-जैसे योगी की विवेकख्याति समृद्ध एवं दृढ़ होगी, वैसे-वैसे ही इन सूक्ष्मवृत्तियों को दग्ध किया जा सकता है। किन्तु यह कार्य सरल नहीं है, यह योग की सर्वोच्च दशा है। इसलिये व्यासभाष्य में 'सूक्ष्मास्तु' महा-प्रतिपक्षाः=सूक्ष्मवृत्तियाँ प्रबल प्रतिपक्ष रखने वाली होती हैं, यह कहकर योगी

पुरुष को सचेत किया गया है। जो योगी क्रियायोग को करके ही अपने को कृतकृत्य समझ बैठते हैं, वे लक्ष्यभ्रष्ट होकर ही रह जाते हैं। क्योंकि क्रियायोग बाह्य दिखावे के लिये भी किया जा सकता है। इसीलिये मनु जी ने लिखा है—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ (मनु० ४।२०४)

अर्थात् यमों के विना केवल नियमों का सेवन न करे, किन्तु दोनों का सेवन करना चाहिये। अन्यथा पतन सम्भव है। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान को क्रियायोग कहा है और ये तीनों ही नियमों के अन्तर्गत माने गये हैं॥ ११॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥ १२॥

व्यासभाष्यम्

[कर्माशयः] तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः [क्लेशमूलः] कामलोभमोहक्रोध-प्रभवः स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिर्निर्वर्तितः ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति॥ १२॥

भाष्यानुवाद—कर्माशयः=समस्त कर्मसमूह दो प्रकार का है—पुण्य-कर्माशय और अपुण्यकर्माशय। और यह कर्माशय क्लेशमूल=काम, लोभ, मोह और क्रोध-रूप क्लेशों से उत्पन्न होता है। अर्थात् समस्त पुण्यापुण्यकर्म काम-भावना, लोभभावना, मोह और क्रोध भावना से किया जाता है। वह दोनों प्रकार का कर्मसमूह दृष्टजन्म=वर्त्तमान जन्म में फल देने वाला और अदृष्ट-जन्म=भावी जन्म में फल देने वाला होता है।

इनमें से तीव्रसंवेग[1]=तीव्रता से किये अभ्यास और वैराग्य से अथवा मन्त्र,[2]

१. 'तीव्रसंवेगानामासन्नः' यो० १।२१ सूत्र में 'तीव्रसंवेग' का अर्थ द्रष्टव्य है।

२. मन्त्र, तप तथा समाधिसिद्धि की व्याख्या यो० ४।१ सूत्र में द्रष्टव्य है।

तपस्या और समाधि से सिद्ध किया गया, अथवा ईश्वर, देवता=विद्वान् महर्षि महानुभावों की आराधना=भक्ति या सेवा से निष्पन्न हुआ पुण्यकर्माशय शीघ्र परिपाक को प्राप्त करता है अर्थात् दृष्टजन्म में शीघ्र फल देने लगता है। उसी प्रकार तीव्रक्लेश=अत्यधिक उदारदशा[1] में वर्त्तमान अस्मितादि क्लेश से अथवा घोर अविद्या आदि क्लेशों में ग्रस्त होकर डरे हुए, रुग्ण तथा कृपण=दयनीय जीवों के प्रति अथवा विश्वस्त जीवों के प्रति अथवा महानुभाव तेजस्वी तपस्वियों के प्रति बार-बार किया गया अपकार=अपुण्य=पापकर्म और उस अपकार-जन्य पापकर्माशय भी सद्यः=शीघ्र फल देनेवाला होता है। अर्थात् दृष्टजन्म=वर्त्तमानजन्म में ही फल देनेवाला बन जाता है।

जैसे नन्दीश्वरकुमार मनुष्य-परिणाम=पितृयानमार्ग को छोड़कर देवत्व=देवयान रूप में (अपने पुण्यकर्माशय के कारण) परिणत=बदल गया। और उसी प्रकार देवों का इन्द्र=राजा नहुष अपने परिणाम=देवोचित कर्म-फल को छोड़कर तिर्यक्त्वेन=कुटिलकर्म[2] करने वालों के कर्म को प्राप्त हुआ।

[अब अदृष्टजन्म में फल मिलने का उदाहरण देते हैं]

उन (दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों) में नारक=अत्यन्त नीच गति को देने वाले दुष्ट कर्मों को करने वालों का कर्माशय दृष्टजन्म=वर्त्तमान जन्म में फल देने वाला नहीं होता। (क्योंकि उनका फल तो अत्यन्त अन्धकारमयी स्थावरादि नारक योनियों में ही मिल सकता है।) और क्षीण-क्लेशानाम्=विवेकख्याति से दग्धबीजवत् क्लेशों वाले जीवन्मुक्त जीवों का भी अदृष्ट=भावी जन्म में फल देने वाला कर्माशय नहीं होता। (क्योंकि वे पुनर्जन्म में जाने योग्य नहीं रहे, शरीर-त्याग के पश्चात् ही मोक्ष को प्राप्त हो जायेंगे।)

सूत्रार्थ—(क्लेशमूलः) अविद्यादि पाञ्च क्लेश जिनके (काम, क्रोधादि के) मूलकारण हैं, ऐसे काम, लोभ, मोह तथा क्रोध से उत्पन्न (कर्माशयः) पुण्या-

---

१. 'उदारदशा' का वर्णन यो० २।४ में द्रष्टव्य है।

२. यहाँ पर प्रायः भाष्यकारों ने व्यासमुनि के आशय के विरुद्ध व्याख्या की है। जैसे—नन्दीश्वरकुमार मनुष्य शरीर को छोड़कर देव शरीर को और देवों का राजा नहुष देवशरीर को छोड़कर सर्पादि के शरीर को प्राप्त हुए। यथार्थ में व्यासमुनि उदाहरण इस बात का दे रहे हैं सद्यः परिपच्यते=दृष्टजन्म में ही फल मिल जाता है। यदि योनि-परिवर्त्तन करने के बाद फल मिलता है, तो वह दृष्टजन्म नहीं हो सकता है। अतः वर्त्तमान जन्मपरक ही व्याख्या प्रसंग के अनुकूल है। यो० २।१३ सूत्र के भाष्य 'द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात्०' से इसी बात की पुष्टि हो रही है।

पुण्यरूप कर्मों का समूह (दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) दृष्ट=वर्त्तमान जन्म में फल देने वाला और अदृष्ट=भावी जन्म में फल देने वाला होता है।

भावार्थ—जीवात्मा जन्म-जन्मान्तरों में जो भी कर्म करता है, वह सञ्चित सब पुण्य-अपुण्यरूप कर्म कर्माशय कहलाता है। और उस कर्माशय का मूल अविद्यादि क्लेश होते हैं। इन क्लेशों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको व्यासभाष्य में काम, लोभ, मोह और क्रोध, इन चार भागों में विभक्त किया है। ये क्लेश काम-लोभादि की भावना को उत्पन्न करके मनुष्य को पुण्य-अपुण्य कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं। जैसे—कामना से प्रेरित मनुष्य यज्ञादि पुण्यकार्यों में और कामवश ही परदाराभिगमनादि पाप-कर्मों में प्रवृत्त होता है। हितप्रेरित गुरुजनों तथा शत्रुओं के प्रति योद्धाओं का क्रोध पुण्यप्रद और क्रोध-वश हिंसा करना किसी से वैरभावना अथवा असूयावृत्ति करनादि अपुण्यजनक कर्मों में प्रवृत्त करता है। लोभवृत्ति तो सब पापों का मूल है। लोभवश पुण्य-कर्म की आशा तो बहुत कम होती है, परन्तु चोरी करना, दूसरे के धन को छल, कपटादि से अपहरण करनादि पापकर्मों में प्रवृत्ति लोभवश ही होती है। और इसी प्रकार मोहवश व्यक्ति श्रेष्ठ कर्मों को छोड़कर पापकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। जैसे—अर्जुन मोहवश ही कर्त्तव्य से विमुख हो गया था। और मनुष्य अपनी सन्तान को मोहवश ही कुमार्ग का पथिक बना देता है, इत्यादि।

और यह सञ्चित पुण्यापुण्यकर्मों का समूह दृष्टजन्म=वर्त्तमानजन्म में भी फल देता है और अदृष्टजन्म=अगले जन्मों में भी। चालू जीवन में कौन से और कितने कर्मों का फल मिलता है तथा अगले जन्म में किन कर्मों का फल मिलता है? इसका नियन्ता परमात्मा है, अतः जीव उसे समझने में असमर्थ ही रहते हैं। परन्तु व्यासमुनि ने कुछ कर्मों के फल का संकेत अवश्य किया है। तीव्रसंवेग=दृढ़ वैराग्य तथा अभ्यास वालों को तथा तीव्रक्लेश वालों को वर्त्त-मान जन्म में फल मिल जाता है और अत्यन्त निकृष्ट पाप करने वालों को अगले जन्मों में फल मिलता है। जैसे—जो योगाभ्यासी तीव्रसंवेग=तीव्रवैराग्य तथा सतत अभ्यास से, मन्त्रजप तथा कठोर तपस्या से, और ईश्वरभक्ति तथा विद्वान्, महर्षि, योगी आदि के संपर्क से समाधि सिद्ध कर चुके हैं, उन्हें दृष्ट-जन्म में ही शीघ्र फल प्राप्त हो जाता है। जैसे—नन्दीश्वरकुमार ने दृष्टजन्म में ही योगसाधना से मनुष्यता से ऊपर उठकर देवत्वपद को प्राप्त किया। और जो तीव्रक्लेश=घोर अविद्यादि के कारण भयभीत, रोगी, दयनीय जीवों की अथवा तेजस्वी विश्वस्त तपस्वियों की बार-बार हानि करने में लगे रहते हैं,

उन्हें भी दुष्कर्मों का फल तुरन्त मिलता है। जैसे—देवों का राजा नहुष कुटिल कर्मों के कारण देवत्वपद से पृथक् होकर दुष्कर्म करने वाला होकर दुःखों को प्राप्त हुग्रा।

परन्तु जो नारकीय जीव हैं ग्रर्थात् ग्रत्यन्त घृणित जघन्य पापों को करते हैं, उनका फल ग्रगले जन्मों में=नारकीय योनियों में ही मिलता है। दृष्टजन्म=वर्त्तमान जन्म में नहीं। ग्रौर जिन योगाभ्यासियों के विवेकख्याति से ग्रविद्यादि क्लेश सर्वथा क्षीण हो जाते हैं, उनका कर्माशय दग्धबीज की भांति ग्रंकुरित होने में ग्रसमर्थ हो जाता है, ग्रतः उनका ग्रदृष्ट भावी जन्म नहीं होता। ग्रौर वे मोक्ष के ग्रधिकारी हो जाते हैं॥ १२॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

व्यासभाष्यम्

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला ग्रदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीत-क्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायु-र्भोग इति।

तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, ग्रथैकं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति ? द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्मनिर्वर्त्तयति ग्रथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्त्तयतीति ? न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम् ? कस्मात् ग्रनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः साम्प्रतिकस्य च कालक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः। स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मा-नेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात् ? अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानिकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात् ? तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेणैव वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः।

तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोप-सर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एक पघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्छितः एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्ना-युषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्

त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभाविक कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्त्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्। यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्याविपक्वस्य विनाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति।

तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम्—"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते" प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तं—"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्, कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। कथमिति, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद—उन अविद्यादि पाञ्च क्लेशों के रहने पर कर्माशय=कर्मसमूह विपाक=फल का लाने वाला=प्राप्त कराने वाला होता है। क्लेशरूप[1]

---

१. यहाँ क्लेशों की सत्ता कर्माशय के फल देने में कारण बताई है। कर्माशय के विपाक=फल प्रारम्भ करने में यह नियम अपरिहार्य है। किन्तु जिन कर्मों का फल प्रारम्भ हो गया है, उनके विपाककाल पूर्ण होने तक क्लेशों की सत्ता अनिवार्य नहीं है। जैसे—विवेकख्याति से जिसके क्लेश नष्ट हो गये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त योगी को यद्यपि क्लेश की सत्ता नहीं है, पुनरपि प्रारब्ध कर्माशय का फल विवेकख्याति के बाद भी मिलता रहता है। और उस फल के पूर्ण होने पर योगी मुक्त होता है।।

मूल के उच्छिन्न हो जाने पर कर्माशय फल देना प्रारम्भ नहीं करते। जैसे—तुष=भूसी से ढके हुए हैं, और जो जले हुए नहीं हैं, वे चावल उगने=अंकुरित होने में समर्थ होते हैं। किन्तु जो तुष=भूसी से रहित और जले हुए चावल के बीज हैं, वे उगने में समर्थ नहीं होते। उसी प्रकार अविद्यादि क्लेशों से ढका हुआ कर्माशय कर्मफल को अंकुरित (प्राप्त) कराने वाला होता है, क्लेशों से रहित हुआ अथवा विवेकख्याति से दग्धबीज हुआ नहीं। और वह विपाक=कर्मफल तीन प्रकार का है—जाति=जन्म, आयु और भोग।

इस (कर्म-फल) विषय में विचार किया जाता है—क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है अथवा एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है। अर्थात् अनेक जन्मों में फल देने में कारण है।

दूसरा विचारणीय विकल्प यह है—क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को सिद्ध करते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म क सिद्ध करते हैं?

[उत्तर] एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं है। क्योंकि अनादिकाल से सञ्चित=इकट्ठे हुए अगणित अवशिष्ट[1] कर्मों का और वर्त्तमान में किये कर्मों के फलक्रम का नियम न रहने से (उन कर्मों का फल न मिलने से) मनुष्यों को अनाश्वासः=असन्तोष प्राप्त होगा (अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है, इस सिद्धान्त में विश्वास न रहेगा) और यह असन्तोष (सत्कर्मों में प्रवृत्ति का विरोधी होने से) अनिष्टकारक है।

और एक कर्म अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि अनेक कर्मों में एक एक कर्म अनेक जन्म का कारण है तो शेषकर्मों के विपाक-काल=फलप्रदान के काल का अभाव हो जायेगा। वह भी अनिष्टकारक पूर्व-वत् ही होगा।

और अनेककर्म भी अनेक जन्म का कारण नहीं हो सकते, क्योंकि (अनेक कर्मों से उत्पन्न होने वाले) अनेक जन्म एकसाथ प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिये क्रम से ही कहना चाहिये अर्थात् एक कर्म से एक जन्म, दूसरे से दूसरा और तीसरे से तीसरा इत्यादि। इसमें भी पूर्ववत् दोष प्राप्त होता है अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों के असंख्य अवशिष्ट कर्मों के फल-प्राप्त करने का नियम न रहेगा और असन्तोष पैदा होगा।

इसलिये [सिद्धान्त-पक्ष यह है कि] जन्म और प्रायण=मृत्यु के बीच में जो पुण्य=धर्म और अपुण्य=अधर्म रूपी विचित्र कर्माशय संग्रह किया जाता है,

१. अभुक्तकर्म।

वह सब प्रधान=मुख्यरूप में अथवा उपसर्जन=गौणभाव से स्थित होता है और कौन कर्म प्रधान=फलोन्मुख होने में मुख्य हैं और कौन गौण=प्रबल न होने से दबे हुए से हैं ? इसकी प्रायणाभिव्यक्त:=अभिव्यक्ति मृत्यु से=मृत्यु के प्रकार से होती है। और वह समस्त प्रधान-गौणभाव से स्थित कर्माशय एकप्रघट्टकेन=एक गट्ठर के रूप में मिलकर फलोन्मुख होने के लिये जीव को मृत्यु के पश्चात् संमूर्छित:[1] =क्रियाशील होकर एक ही जन्म को प्रदान करता है, अनेक नहीं। और वह जन्म[2] उसी कर्म से लब्धायुष्कम्* प्राप्त आयुवाला=प्राप्त जीवन वाला होता है। और उस जन्म के जीवनकाल में उसी कर्म से=जन्म देने वाले कर्म से भोग:=सुखदु:खादि का भोग सम्पन्न=सिद्ध होता है। वह कर्माशय=कर्मसमूह जन्म, आयु तथा भोग का हेतु=कारण होने से त्रिविपाक= तीन प्रकार के फलोंवाला कहलाता है। इसलिये कर्माशय एकभविक:=एकश्चासौ भव: (जन्म) एकभव:, सोऽस्य (कर्माशयस्य) विपाकरूपेणास्तीति= एकभविक:[3] ।) एक जन्म वाला कहलाता है।

* विमर्श—यहाँ लब्धायुष्कं तथा 'भोग: सम्पद्यते' आदि पदों का अर्थ प्रकरणानुसार न समझने से प्राय: यह भ्रान्ति रहती है कि मनुष्य की आयु पूर्वकर्मों से निर्धारित होती है। और वर्त्तमान जन्म में जो भी फल मिलता है, वह पूर्वकर्मों का ही फल है, इस जन्म के कर्मों का नहीं। यह मान्यता जहाँ प्रकरण के विरुद्ध है, वहाँ प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है। इस जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में भी होता है, यह सर्वजनविदित है। और प्रसंग जन्म= शरीरेन्द्रिय बुद्धियों के समूह के प्रादुर्भाव का है। इसकी प्राप्ति, चाहे मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीटादि किसी का हो, पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही होती है, उस जन्म को कोई भी जीव स्वेच्छा से बदल नहीं सकता। प्रत्येक योनि में भोग की व्यवस्था भिन्न-भिन्न है। जैसे—सिंह मांसाहारी है, गाय घासादि खाने वाली है, यह व्यवस्था तो जन्म के साथ ही निश्चित होती है। किन्तु आयु=उम्र का निर्धारण पूर्वकर्मों से सम्भव नहीं है। अन्यथा 'आचाराल्लभते ह्यायु:' (मनु०) इत्यादि ऋषिमुनियों के प्रमाण तथा वैदिक प्रार्थनायें मिथ्या ही हो जायेंगी। और व्यास-भाष्य 'दृष्टजन्मवेदनीयस्तु०' की अग्रिम पंक्तियों से विरुद्ध है।

---

१. 'संमूर्छित:' पद में 'मूर्छा मोहसमुच्छ्राययो:=अज्ञान और बढ़ना' इस धात्वर्थ के अनुसार यहाँ 'बढ़ना=क्रियाशील' अर्थ ही संगत है।

२. 'जन्म' का अर्थ वात्स्यायनमुनि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'जन्म पुन: शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्ट: प्रादुर्भाव:'। (न्याय० १।१।२ भा०)

३. समानाधिकरणसमासान् मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्यय:।

(दृष्टजन्मवेदनीयस्त्व०) और वर्त्तमान जन्म में किया कर्माशय एकविपाकारम्भी=केवल एक विपाक=फल (भोग) को देने वाला है, भोग का हेतु होने से अथवा द्विविपाकारम्भी=दो विपाकों=फलों (आयु और भोग) को देने वाला होता है। भोग और आयु का हेतु होने से। इसमें उदाहरण देते हैं—नन्दीश्वरवद् नहुषवद्वा=नन्दीश्वर और नहुष की तरह। अर्थात् नन्दीश्वर ने वर्त्तमान जन्म के पुण्यापुण्य कर्मों से द्विविपाकारम्भी[1]=आयु और भोग की प्राप्ति अथवा उनमें वृद्धि की और नहुष ने एकविपाकारम्भी=दृष्टजन्म=वर्त्तमान जन्म के कर्मों से भोग नामक फल को प्राप्त किया।

[वासना संस्कारों और कर्माशयसंस्कारों का अन्तर]

(क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिः) अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभकर्म, और उनके फलों के अनुभव के कारण से उत्पन्न वासनाओं द्वारा अनादिकाल से संमूर्छित=क्रियाशील यह चित्त सर्वथा ऐसे चित्रीकृत=विविधवर्णान्वित=रङ्ग-विरङ्गा-सा बना रहता है, जैसे—मछली पकड़ने का जाल ग्रन्थिबन्धनों से व्याप्त होता है। ये वासनायें (चित्त को चित्रीकृत करने वाली) अनेकभवपूर्विकाः=अनेक जन्मों में संचित होने वाली होती हैं।

किन्तु वह जो कर्माशय है, वह एकभविकः=एक जन्म देने वाला कहा गया है। और जो संस्कार स्मृति के हेतु=उत्पादक हैं, वे वासनायें अनादिकालीन हैं।

जो यह एकभविक=एक जन्म देने वाला कर्माशय है वह दो प्रकार का है। एक वह नियतविपाकः=निश्चित है फल जिसका और दूसरा अनियतविपाकः[2]=अनिश्चित है फल जिसका। उन दोनों कर्माशयों में से (अयं नियमः) यह (एकभविक) नियम नियतविपाक वाले दृष्टजन्म=वर्त्तमान जन्म में फल देने वाले कर्माशय का है, अनियत विपाकवाले अदृष्टजन्म=भावी जन्म में फल देने वाले कर्माशय का नहीं। क्योंकि जो अनियतविपाकवाला=अदृष्टजन्म में फल देने वाला कर्माशय है, उसकी तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं—(१) किये गये और अविपक्व=बिना फल दिये कर्माशय का नाश हो जाना। (यह सामान्य

१. निश्चित आयु मानने वालों को व्यासमुनि के इन शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इन द्विविपाकादि शब्दों से तथा नन्दीश्वर और नहुष के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि वर्त्तमान जन्म के कर्मों का फल (आयु और भोग) इस जन्म में भी मिलता है। 'त्र्यायुषं जमदग्ने॰' इत्यादि वैदिक प्रार्थनाओं में त्रिगुण आयु का विधान भी तभी सम्भव है कि जब आयु भोग की वृद्धि या ह्रास वर्त्तमान-जन्म के कर्मों से भी सम्भव हो।

२. नियतविपाक और अनियतविपाक का क्रम ईश्वरीयज्ञान में ही होता है।

नियम न होकर मोक्ष के अधिकारी के लिये है। जिसके कर्म दग्धबीजवत् होकर फलोन्मुख नहीं होते।) (२) किसी प्रधानकर्म=मुख्य कर्म के विपाक=फल में ही बीजभाव को प्राप्त होना अर्थात् फलोन्मुख मुख्यकर्म के साथ-साथ बीज-भाव से अंकुरित होना=मुख्यकर्म के फल से ही फल प्राप्त हो जाना। (३) अथवा नियतविपाक वाले प्रधानकर्म=फलोन्मुख से दबे हुए कर्माशय का चिरकाल तक (बहुत जन्मों तक) स्थित रहना=बिना फल दिये शान्त होकर पड़े रहना।

(१) उन तीनों प्रकार के (एकभविक नियमरहित) कर्माशयों में से जो (प्रथम) कर्माशय है अर्थात् किये गये और बिना फल दिये कर्माशय का नाश होना है, उसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे शुक्लकर्मोदय=पुण्य या धर्म के कर्माशय के उदय=बढ़ने से कृष्ण=अपुण्य=अधर्म के कर्माशय का इसी जन्म में नाश हो जाना अर्थात् फलदान करने में समर्थ न रहना। जिस विषय में कहा भी है—

(द्वे द्वे ह वै कर्मणी०) दो दो प्रकार के कर्माशय जानने चाहियें। एक शुक्लरूप पुण्यकर्म, दूसरा कृष्णरूप पापकर्म। इनमें जो पापरूप कर्मों का समूह है, उसको पुण्य करने वाले जीव का पुण्य कर्माशय नष्ट कर देता है। इस-लिये हे जीवो ! सुकृत=पुण्यकर्मों को करने की ही इच्छा करो। कवयः= क्रान्तदर्शी ऋषिमुनि और विद्वान् लोग ते=तुम्हारे लिये वेदयन्ते पुण्यकर्मों को जानते हैं।

(२) और जो कर्माशय की दूसरी गति बताई है—प्रधानकर्म में गौण कर्म का अंकुरित होना, उसके विषय में कहा है—(स्यात् स्वल्पः संकरः०) पुण्य-कर्मों में पापकर्मों का संकरः=मिलावट कम होती है, और उसका दुःखरूप फल कुशल=पुण्य करने वाले विद्वान् पुरुष को प्रत्यवमर्शः=सहन करने योग्य होता है अर्थात् उसके पुण्य-फल से दबा हुआ सा होने से कम प्रतीत होता है और वह दबाहुआ पापकर्म पुण्य करने वाले विद्वान् को पुण्य से पृथक् करने में समर्थ नहीं होता। अथवा पुण्यकर्म फल की हानि करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि पुण्य करने वाला यह सोचता है कि मेरे पुण्यरूपी दूसरे कर्म बहुत हैं, जिनमें आवापभाव=अंकुरित होताहुआ=फलोन्मुख होने वाला न्यून पापकर्म स्वर्गेऽपि=सुखरूप पुण्यकर्म फल में न्यूनता (कमी) अल्प=बहुत थोड़ी मात्रा में ही करेगा॥

(३) और जो कर्माशय की तीसरी गति बताई है—नियतविपाक वाले (अदृष्टजन्मवेदनीय) प्रधान कर्म से अभिभूत=दबे हुए गौण कर्माशय का चिर-

कालपर्यन्त स्थित रहना कैसे होता है। (उत्तर) नियतविपाकवाले, अदृष्टजन्म-वेदनीय कर्माशय का ही समानम्=एकसाथ अथवा तुरन्त मृत्यु उसकी अभि-व्यक्ति का कारण कही गई है, अनियतविपाकवाले, अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है, अभिव्यक्ति मरण से नहीं होती। जो अनियत विपाकवाला अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है, या तो वह नष्ट[1] हो जाये या आवापगमन=अंकुरितभाव को प्राप्त हो जाये अथवा बीजरूप में चिरकाल तक तब तक पड़ा रहे, जब तक तत्काल प्रभाववाला अथवा अविरुद्ध कर्म अभिव्यञ्जक=प्रकट करने वाले=प्रकाशक निमित्त को फलोन्मुख नहीं करता है।

(तद्विपाकस्यैव०) उस कर्माशय के फल के देश, काल और निमित्त के अनिश्चय से यह कर्मगति=कर्मफल की पद्धति विचित्र=आश्चर्योत्पादक, और दुर्विज्ञाना=बहुत कठिनाई से समझने योग्य है। और अपवाद होने से उत्सर्ग=सामान्यनियम की निवृत्ति नहीं होती। अतः एकभविकः=एक जन्म देनेवाला ही कर्माशय होता है, यह सामान्य नियम ही माना गया है।

सूत्रार्थ—(सति मूले) अविद्यादि क्लेश रूप मूल रहने पर (तद्विपाकः) कर्माशय का विपाक=फल (जात्यायुर्भोगाः) जाति=जन्म, आयु और भोग होता है। और अविद्यादि क्लेशों की विवेकख्याति से निवृत्ति होने पर कर्माशय अपने विपाक=फल देने में असमर्थ होता है।

भावार्थ—यो० २।१२ सूत्र में कर्माशय को क्लेशमूलक माना है। अब यह सन्देह होता है कि जब योगी के अविद्यादि क्लेशों का नाश विवेक-ख्याति की चरम-अवस्था में हो जाता है, तब यह तो माना जा सकता है कि आगे कर्माशय का सञ्चय न हो। परन्तु अनादिकाल से सञ्चित कर्माशय की सत्ता तो रहती ही है। क्या उसका फल=जन्म-मरण रूप (संसार में गमनागमन), फल योगी को नहीं मिलेगा? इस भ्रान्ति का निराकरण इस सूत्र में तथा व्यासभाष्य में किया है। अर्थात् सञ्चित कर्माशय अविद्यादि क्लेशों की सत्ता

---

१. यहाँ 'नश्यति' क्रिया को देखकर यह सन्देह होता है कि क्या कर्म ऐसे भी हैं, जो फल बिना भोगे ही नष्ट हो जाते हैं? यथार्थ में 'णश अदर्शने' इस पाणिनीय धात्वर्थ के अनुसार कर्मों का अदर्शन ही नाश है, यथार्थ में नहीं। जो योगी मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं, उनके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं, और 'क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः' (यो० भा० ३।५५) इस प्रमाण से क्लेश न रहने से कर्मों का फल नहीं मिलना ही 'नश्यति' क्रिया का अर्थ अभिप्रेत है। किन्तु मोक्ष की अवधि समाप्त होने पर उन अभुक्त कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा संसार में जन्म लेता है। महर्षि दयानन्द ने भी वेद-भाष्य में ऐसा माना है।

होने पर ही जन्म, आयु और भोगरूप फलों को देता है अन्यथा नहीं। व्यासमुनि ने इस बात को बहुत ही दृढ़ता से एवं स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकरम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः" ॥

अर्थात् नष्ट क्लेशों वाला कर्माशय फल देने में समर्थ नहीं होता। व्यास-भाष्य में इस बात को उदाहरण देकर और अधिक स्पष्ट कर दिया है। जैसे धान का बीज तभी तक अंकुरित हो सकता है, जब तक उसका छिलका पृथक् न किया गया हो अथवा दग्ध=जलाया न गया हो। परन्तु छिलका पृथक् होने पर और दग्ध=जल जाने पर धान का बीज विद्यमान रहते हुए भी अंकुरित नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार जिस योगी ने योगसाधना के बल से कर्माशय के मूल अविद्यादि क्लेशों को नष्ट कर दिया है अथवा योग की उच्चतम दशा को प्राप्त करके सञ्चित कर्माशय को ज्ञानाग्नि से दग्धबीजवत् कर दिया है उसका कर्माशय विपाक=फल देने में समर्थ नहीं होता अर्थात् उन कर्मों का फल नहीं मिलता। और अविद्यामूलक कर्माशय जाति=जन्म, आयु तथा भोग त्रिविध फलों को देने वाला होता है। और ये फल अविद्यादि क्लेशों के नाश होने पर नहीं होते।

जन्म-रूप फल का कारण एक-कर्म है या अनेक? इस विषय में यहाँ व्यासभाष्य में चार विकल्प दिखाये हैं—(१) क्या एक-कर्म एक जन्म का कारण होता है? (२) क्या एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है। (३) क्या अनेक कर्म मिलकर अनेक जन्मों के कारण हैं? (४) अथवा अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं? इनमें प्रथम तीन विकल्पों में दोष दिखाकर अन्तिम पक्ष को सिद्धान्त माना है। प्रथम तीन पक्षों में निम्न प्रकार से दोष दिखाये हैं—

(१) **एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं है**—क्योंकि इस पक्ष में अनादि काल से संचित शेष असंख्य कर्मों तथा इस जन्म के कर्मों के फलों में कोई क्रम न हो सकेगा और उनके फल का कब अवसर आयेगा? इसमें सन्देह होने से कर्मफल के विषय में लोक में असन्तोष व्याप्त हो जायेगा। जिससे शुभ-कर्मों के प्रति अरुचि होने से अनिष्ट हो जायेगा।

(२) **एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं है**—यह पक्ष भी पूर्वपक्ष की भांति अयुक्त है। क्योंकि जब एक कर्म ही अनेक कर्मों का कारण है, तो अनादि काल से सञ्चित अभुक्त कर्मों के तथा इस जन्म के कर्मों के फल मिलने में क्रम न होने से प्रथम पक्ष से भी अधिक असन्तोष उत्पन्न होगा और यह अनिष्टकारक है।

(३) अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण नहीं हैं—क्योंकि अनेक जन्म एकसाथ तो सम्भव नहीं हैं, वे क्रम से हो सकते हैं। और अनेक जन्म क्रम से होने पर पूर्ववत् ही दोष आयेगा। अर्थात् यदि सौ कर्म मिलकर सौ जन्मों को देते हैं तो एक कर्म ही एक जन्म का कारण होगा और प्रथम विकल्प की भांति दोष आयेगा। और यदि कर्मों की संख्या से कम अथवा अधिक जन्म होंगे तो भी असंख्य अयुक्त कर्मों तथा चालू जन्म के कर्मों के फल मिलने में असन्तोष ही होगा। और यदि कहा जाये कि अनेक कर्म मिलकर एक जन्म को देते हैं, तदनन्तर दूसरे अनेक कार्य मिलकर दूसरे जन्म को देते हैं, इस प्रकार अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हैं, तब तो चतुर्थ विकल्प से कोई भेद नहीं रहता। अतः चतुर्थ विकल्प अर्थात् अनेक कर्मों का फल एक जन्म होता है, यह निर्दोष पक्ष है। और इस पक्ष में भी कर्मों की गणना ईश्वरीय व्यवस्था के आधीन होने से परिगणित नहीं की जा सकती कि कितने कर्मों का फल एक जन्म होता है।

इस चतुर्थ-विकल्प में भी व्यासभाष्य में यह निर्णय किया है कि चालू जीवन के शुभाशुभ कर्म पूर्वसञ्चित अभुक्त कर्मों से मिलकर और प्रधान गौण रूप में स्थित हो जाते हैं। इन कर्मों में अप्रधान कर्म=गौणकर्म दबे हुए से रहने से फलोन्मुख नहीं होते और प्रधानकर्म मरने के बाद प्रबल होने से दूसरे जन्म के कारण बनते हैं।

कोई भी दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय त्रिविपाक नहीं होता—

गत सूत्र में क्लेशमूलक कर्माशय का फल दो प्रकार का बताया है—(१) दृष्टजन्मवेदनीय और (२) अदृष्टजन्मवेदनीय। यद्यपि यह व्यवस्था भी ईश्वराधीन है कि कौनसा कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय होता है और कौनसा अदृष्टजन्मवेदनीय। पुनरपि जो अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है वह ही त्रिविपाक=जन्म, आयु तथा भोग देने वाला होता है। और जो दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है वह चालूजीवन में अपना फल देता है। और यह कर्माशय एकविपाकारम्भी=एक भोगरूप फल को देनेवाला होता है अथवा द्विविपाकारम्भी=भोग और आयु को देने वाला होता है। परन्तु त्रिविपाकारम्भी कभी नहीं होता। क्योंकि दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जाति=जन्म का हेतु नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि व्यासभाष्य में नन्दीश्वर और नहुष के जो उदाहरण दिये वे जन्मान्तर प्राप्ति के नहीं, प्रत्युत चालू जीवन में ही उत्कृष्ट व निकृष्ट दशा को पुण्य-अपुण्य कर्मों के कारण प्राप्त करने के ही हैं।

शंका-समाधन—व्यास-भाष्य में यहाँ एक शंका होती है कि भाष्य में जो

यह लिखा है—**"तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यते"**।

अर्थात् जिन कर्मों के कारण अगला जन्म मिलता है, उन्हीं से उस जीवन में आयु और भोग मिलता है। इससे यह भ्रान्ति पैदा होती है कि जीवन में पूर्व कर्मों से ही आयु का निर्धारण हो जाता है और भोग भी उन्हीं कर्मों का फल होता है।

परन्तु यह मान्यता व्यास-भाष्य के आशय से सर्वथा विरुद्ध है। यह तो सत्य है कि जन्म (मनुष्यादियोनियों में) पूर्वकर्मों के कारण मिलता है। और उस उस योनि में आयु=जीवन तथा भोग भी योनि के अनुसार ही मिलता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि चालूजीवन के कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता। यदि ऐसा होता तो व्यास कर्माशय के दृष्टजन्म-वेदनीय फल (एकविपाक या द्विविपाक) का कदापि उल्लेख नहीं करते। क्योंकि फिर तो सभी कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय ही होते। अतः पूर्वजन्म के कर्मों के साथ साथ इस जन्म के कर्मों का भी फल अवश्य मिलता है। जिसके कारण आयु व भोग को न्यूनाधिक भी किया जा सकता है। इसलिए सदाचारादि से आयुवृद्धि की वैदिक प्रार्थनाएँ सार्थक हैं, अन्यथा नहीं।

दृष्ट-जन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का भेद—

और जो कर्माशय एकभविक=एक जन्म में फल देने वाला है, जिसे दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं, वह नियतविपाक और अनियतविपाक के भेद से दो प्रकार का है। जिन कर्मों का फल वर्त्तमान जीवन में ही मिल जाता है, वे नियतविपाक कहलाते हैं। और जिन कर्मों का फल चालू जीवन में नहीं मिलता वे अनियतविपाक वाले कहलाते हैं। और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जो अनियतविपाक वाला भी है। उसमें अनादि काल से सञ्चित अभुक्त कर्मों के साथ चालू जीवन के कुछ कर्म भी मिल जाते हैं और इन कर्मों की तीन प्रकार की गति होती है।

(१) जो योगाभ्यासी विवेकख्याति प्राप्त करके कर्माशय को क्लेशों से हीन तथा योगाग्नि से दग्धबीजवत् कर देता है तो उसका कर्माशय दग्ध होने से फल देने में असमर्थ हो जाता है।

(२) अथवा फलोन्मुख मुख्य कर्माशय के साथ-साथ गौण-कर्म भी सहयोगी होकर फल देते रहते हैं। इसीलिये दुःखप्रधान कर्मफल के साथ सुख का और सुखप्रधान कर्मफल के साथ दुःख का लोक में मिश्रण देखा जाता है।

(३) अथवा नियतविपाक वाले फलोन्मुख मुख्य कर्मों से अभिभूत=दबे हुए पड़े रहते हैं। और ये अभिभूत कर्म तब तक फलोन्मुख नहीं होते, जब तक तत्काल प्रभाव करने वाला अभिव्यञ्जक निमित्त इन कर्मों को फलोन्मुख न करे। अतः प्रबल अभिव्यञ्जक कारण का पाकर दबे हुए कर्म भी फलोन्मुख हो जाते हैं और उस समय वे प्रधान कर्म कहलाते हैं।

कर्म-फल मीमांसा अति गहन विषय है—महर्षि-व्यास ने कर्मफल का उपर्युक्त विवरण देकर भी स्पष्ट लिखा है—'कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति।' अर्थात् कर्मों की गति अत्यन्त विचित्र और दुर्बोध्य है। क्योंकि कर्म-फल के देश (स्थान) काल (समय) और निमित्त का निर्धारण नहीं किया जा सकता। पुनरपि जन्म देने का कारण पूर्वजन्मार्जित कर्माशय ही है, इस सामान्य कर्म-फल की व्यवस्था का निर्धारण अवश्य किया जा सकता है। चाहे हम यह न जान सकें कि किस कर्म का फल कब, कहाँ और किस निमित्त के होने पर मिलेगा? क्योंकि अपवाद नियम से सामान्य नियम की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कर्म-फल में भी विशेष-ज्ञान ईश्वराधीन होने से अज्ञात है, परन्तु सामान्य-नियम अर्थात् जन्मादि का कारण कर्माशय है, यह तो अवश्य ही जाना जा सकता है॥ १३॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४॥

व्यासभाष्यम्

[ते] **ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रति-कूलात्मकं योगिनः॥ १४॥**

भाष्यानुवाद—वे जन्म, आयु और भोगरूप कर्मविपाक पुण्यहेतुकाः= पुण्यकर्मजन्य होने से सुखरूप फल वाले हैं और अपुण्य=पाप कर्मजन्य होने से दुःखरूप फलवाले होते हैं। और जैसे यह (हिंसादि) दुःखप्रतिकूलात्मक=अरुचि-कर=अप्रिय होता है, इसी प्रकार योगी पुरुष को विषयों के सुख-परिणाम में दुःखमय होने से अथवा विषयों के सुख दुःखमिश्रित होने से प्रतिकूलात्मक= अप्रिय होने से दुःखरूप ही प्रतीत होते हैं।

सूत्रार्थ—(ते) वे जाति=जन्म आयु और भोग (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) शुभ-अशुभ अथवा पुण्य-पाप कर्मों से उत्पन्न होने के कारण (ह्लादपरितापफलाः) आनन्द (सुख) और दुःखरूप फल वाले हैं।

भावार्थ—जैसे हिंसादि पापाचरण से उत्पन्न दुःख प्रतिकूल होने से अप्रिय होते हैं, वैसे ही पुण्याचरण से उत्पन्न लौकिक सुख परिणाम में दुःखात्मक होने से योगी को अप्रिय होते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने न्यायाचरण से धन कमाया, और उस धनादि से उसको लौकिक सुख मिलता है। परन्तु यह लौकिक सुख परिणाम-तापादि दुःखों से मिश्रित होता है, अतः योगीपुरुष को यह सुख भी दुःखमिश्रित होने से दुःख ही प्रतीत होता है। और यह लौकिक सुख योगी के योगमार्ग में बाधक होने से प्रतिकूल ही रहता है। क्योंकि ये विषयों के सुख बन्धन के ही कारण हैं। इन सुखों के परिणामादि दुःखों की व्याख्या अगले सूत्र में द्रष्टव्य है ॥ १४ ॥

अव०—कथं तदुपपाद्यते ?

(अर्थ)—योगी को विषय-सुख कैसे दुःख प्रतीत होता है ? उसका औचित्य स्पष्ट करते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

व्यासभाष्यम्

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टी दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्—"नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः" इति। विषयसुखं च विद्येत्युक्तम्।

[परिणामदुःख] या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्, यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाऽऽशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति।

[ताप-दुःख] अथ का तापदुःखता सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्याम् धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा

तापदुःखतोच्यते। [संस्कारदुःख] का पुनःसंस्कारदुःखता, सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति। एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति।

एवमिदमनादिदुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति। कस्मात्, अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्। इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रतया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते। तदेवमनादिना दुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति।

[गुणवृत्तिविरोधाच्च] गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवाऽऽरभन्ते चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्माद्दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः ससारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः उपादाने च हेतुवादः। उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्॥ १५॥

भाष्यानुवाद—सभी प्राणियों को चेतन=पुत्र, भृत्य, बन्धु, स्त्री आदि तथा अचेतन=जड़ भोग्य भोजन, वस्त्र, गृहादि साधनों से प्राप्त होने वाला यह लौकिक जितना भी सुखानुभव=सुखों की अनुभूति हो रही है, वह सब ही राग से युक्त है, क्योंकि इस सुखानुभूति में रागजः=राग से उत्पन्न कर्माशय बनता है। और उसी प्रकार प्राणी दुःखसाधनानि=सुख के विरोधी साधनों के प्रति द्वेष=अप्रीति करता है और मोह=अविद्यावश संसार में ममत्व जोड़ता है।

इस प्रकार द्वेष और मोह से किया हुआ (उत्पन्न) कर्माशय भी बनता है। और वैसे कहा भी है—"(नानुपहत्य भूता०) प्राणियों को बिना पीड़ा दिये सुख का उपभोग सम्भव नहीं है, इसलिये (लौकिक) सुखभोग में हिंसाकृतः=प्राणियों की पीड़ा से उत्पन्न होने वाला शारीरः=शरीर कर्मजन्य भी कर्माशय बनता है और विषयों के सुखों को अविद्या कहा है"।

[परिणाम-दुःख] (या भोगेष्विन्द्रियाणा०) जो भोगों=लौकिक सभी सुखानुभूतियों में इन्द्रियों[1]=जीवात्मा के भोग के साधनों=नेत्रादि बाह्येन्द्रियों और अन्तःकरण की तृप्ति की उपशान्ति=बुझ जाना है, वह सुख है। और जो लौल्यात्=इन्द्रियों की चञ्चलता से अनुपशान्ति=तृप्ति न होना है, वह दुःख है। और इन्द्रियों को भोगाभ्यास=भोगों के निरन्तर बार-बार भोगते रहने से वैतृष्ण्य=तृष्णा-रहित (विषयों के प्रति रुचिराहित्य) नहीं किया जा सकता। क्योंकि भोगाभ्यास के पश्चात् रागाः=भोगों के प्रति अनुराग और इन्द्रियों का (विषयग्रहण के प्रति) कौशल=कुशलता बढ़ती ही रहती है। इसलिये भोगाभ्यास=विषयसुखों का बार-बार भोग करना सुख प्राप्ति का उपाय नहीं है। जो सुखार्थी=सुखों को चाहने वाला (और दुःखों से घबराया हुआ) होकर विषयों को प्राप्त करने की वासना से युक्त होकर महान् दुःखरूपी कीचड़ में डूब जाता है=विषयसुख को ही सुखमान बैठता है, वह निश्चय से वैसे ही दुःखी रहता है, जैसे कोई वृश्चिक विषभीतः=बिच्छू के विष से भयभीत होकर बचना चाहता हो, किन्तु—उसे आशीविष=सर्प ने डस लिया हो। (बिच्छू के विष से सर्प का विष अधिक दुःखद है।) यहाँ 'खलु' पद उत्प्रेक्षालंकार को बता रहा है। यह परिणामदुःखता=प्रथम सुखरूप प्रतीत होने वाली किन्तु परिणाम में दुःखरूपता सुखावस्था में भी प्रतिकूल=दुःखरूप होने से योगी=विवेकशील पुरुष को क्लेश देती है=दुःखी करती है। (सामान्य मनुष्य इस परिणाम-दुःखता का अनुभव नहीं कर पाते।)

[ताप-दुःख] अब ताप-दुःखता क्या है? (इसका उत्तर देते हैं) सब प्राणियों को चेतनाचेतनसाधनाधीनः=सजीव पुत्र, भृत्यादि और निर्जीव भोजन, वस्त्रादि साधनों से प्राप्त होने वाला जो तापानुभवः=दुःख का अनुभव है वह द्वेष नामक क्लेश से बिंधा हुआ रहता है। इसलिये उसमें द्वेषजः=द्वेष से उत्पन्न कर्माशय बनता है। और सुख के साधनों को चाहता हुआ शरीर, वाणी और मन से चारों तरफ चेष्टा=भाग दौड़ करता है। ततः=उस चेष्टा के फल-

---

१. 'भोगसाधनानि इन्द्रियाणि'। (न्याय० १।१।९ भा०)

स्वरूप किसी को अनुगृह्णाति=अनुगृहीत करता है=अपनाता है, परम्=दूसरे को पीड़ा देता है=नष्ट करता है। इस प्रकार एक का अनुग्रह करने और दूसरे को पीड़ा देने रूप चेष्टाओं से मनुष्य धर्म और अधर्म का=पुण्यापुण्य कर्मों का संग्रह करता है। वह कर्माशय लोभ और मोह के कारण बनता है। इस प्रकार यह ताप-दुःखता=सन्तापजन्य दुःखरूपता है।

[संस्कारदुःख] (का पुनः संस्कारदुःखता०) संस्कारदुःखता क्या है? (उसका उत्तर देते हैं) सुखों की अनुभूति से सुख संस्कारों का समूह और दुःखों की अनुभूति से दुःखसंस्कारों का समूह उत्पन्न होता है। इस प्रकार कर्मभ्यः=कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त विपाके=जन्म, आयु तथा भोगरूप फलों के अनुभव किये जाने पर सुख अथवा दुःख में फिर कर्माशय-संस्कारों का समूह[1] बनता है। इस प्रकार यह अनादि=प्रवाह से अनादि समय से विप्रसृतम्=बहता हुआ दुःखों का प्रवाह योगी को ही प्रतिकूलात्मकत्वात्=अनुकूल न होने से=दुःखमय होने से उद्विग्न करता है=बेचैन करता है।

यह अनादि दुःखप्रवाह योगी को ही क्यों उद्विग्न करता है? क्योंकि विद्वान्=विवेकी पुरुष अक्षिपात्रकल्पः=नेत्रगोलक की भांति होता है। जैसे—ऊर्णातन्तुः=ऊन का तागा या मकड़ी का जाला अक्षिपात्रे=आँख रूपी पात्र में गिरा हुआ स्पर्शमात्र से ही दुःख देता है, दूसरे गात्रावयवेषु=शरीर के अवयवों को छूने से दुःख नहीं देता। इस प्रकार ये दुःख अक्षिपात्र के समान योगी को ही क्लेश देते हैं, दूसरे सामान्य सुखानुभव करने वालों को नहीं। (इतरजन=दूसरे सामान्य मनुष्य कैसे होते हैं? इसका उत्तर देते है।)

(इतरं तु स्वकर्मोपहृतं) दूसरे मनुष्य को तो बार-बार प्राप्त होने वाले अपने कर्मों के फलस्वरूप दुःख को छोड़ते-छोड़ते हुए, बार-बार त्यागे हुए उन्हीं दुःखों को फिर ग्रहण करते हुए, अनादिकाल से इकट्ठी हुई वासना-संस्कारों से विचित्र चित्तवृत्ति से सब ओर से मानो बिंधे हूए, त्याग करने योग्य पदार्थों में ही अविद्या के कारण अहंकार और ममता में (मैं और मेरा की कीचड़ में) ग्रस्त हुए, और जातं जातम्=बार-बार जन्म लेने वाले जीव को बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार के कारणों से उत्पन्न त्रिपर्वाण=तीन प्रकार के

---

१. इसका क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—सुख अथवा दुःख के अनुभव से तज्जातीय वासना संस्कार बनते हैं, उनसे आगे सुखादि की स्मृति होती है, उस स्मृति से राग या द्वेष उत्पन्न होता है; राग-द्वेष से त्रिविध चेष्टा होती है, इन चेष्टाओं से कर्माशय संस्कार बनते हैं, इनसे फिर विपाक=जन्म, आयु, भोग की प्राप्ति और उससे फिर वासना-संस्कार बनते हैं।

अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद वाले तापाः=सन्ताप देने वाले दुःख अनुप्लवन्ते=कर्मानुसार प्राप्त होते रहते हैं।

इस प्रकार प्रवाह से अनादि दुःख प्रवाह से व्युह्यमानं घिरे हुए आत्मानम्=अपने आपको भूतग्रामञ्च=और समस्त प्राणियों को योगी देखकर सब दुःखों के नाश के कारण सम्यग्दर्शनम्=तत्त्वज्ञान की शरण=आश्रय को प्राप्त होता है।

[गुणवृत्तिविरोधाच्च] और सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण की वृत्तियों=स्वभावों के परस्पर-विरोधी होने के कारण विवेकी पुरुष के लिये सब जगत् ही दुःखमय है। (भाष्यकार इसी बात को और स्पष्ट करते हैं) बुद्धिगुणाः=चित्त अवयवभूत तीनों (सत्त्व, रजस् तमस्) गुण क्रमशः प्रख्यारूप=प्रकाशशील, प्रवृत्तिरूप=क्रियाशील, स्थितिरूप=स्थितिशील हैं, और ये परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा=परस्पर सहायक होकर त्रिगुणात्मक—शान्त=सुखमय, घोर=दुःखमय, मूढ=मोहात्मक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। (और यह प्रत्यय=ज्ञान स्थिर भी नहीं रहता, क्योंकि) गुणों का वृत्त=कार्य चञ्चल=अस्थिर और क्षिप्रपरिणामि=शीघ्र ही परिवर्त्तित होने वाला कहा गया है।

(चित्त-विषयक इस मान्यता से सभी प्रत्यय=अनुभव त्रिगुणात्मक ही होने चाहियें और शान्त, घोर व मूढ दशा का पृथक्-पृथक् स्वरूप का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है—)

(रूपातिशया वृत्त्यति०) चित्त के ये गुण रूपातिशयाः=धर्म-अधर्म, ज्ञान-वैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, अज्ञान, अवैराग्यादि में अतिशय उत्कर्ष वाले और वृत्त्यतिशयाः=शान्त, घोर, मूढ रूप अतिशय स्वभाव वाले परस्पर विरुद्ध हैं। अतः इन गुणों की अतिशयता (आधिक्य) एकसाथ नहीं हो सकती इन गुणों की प्रवृत्ति का प्रकार यह है कि सामान्यानि=इन की सामान्य दशायें एक दूसरे की अतिशयैः=उत्कृष्ट दशा के साथ प्रवृत्त होती हैं। अर्थात् जब धर्म की प्रधानता है, तो अधर्म सामान्य होगा, वैराग्य की प्रधानता में अवैराग्य सामान्य होगा। इस प्रकार ये सत्त्वादिगुण एक दूसरे के आश्रय से (गौण-प्रधान रूप में स्थित होकर) सुख, दुःख तथा मोहरूप प्रतीति वाले होते हैं। इसलिये सभी पदार्थ सर्वरूपाः=सुख, दुःख, मोह तीनों रूपों वाले होते हैं। फिर यह पदार्थ सुखात्मक है या दुःखात्मक या मोहात्मक, इसका बोध कैसे होता है ? इसका उत्तर यह है कि इन गुणों की विशेष=भेदरूप प्रतीति गुणों के गौणभाव तथा प्रधानभाव के कारण होती है। अर्थात् जिस पदार्थ को हम सुखमय कहते

हैं, उसमें सुख की प्रधानता है, दुःख तथा मोह गौण हैं। इसी प्रकार दूसरे गुणों में भी जानना चाहिये। इसलिये विवेकी पुरुष के लिये सभी पदार्थ दुःखमय ही हैं। (क्योंकि उनमें दुःख कभी प्रधानरूप में है, और कभी गौण रूप में होता ही है।)

तो इस महान् दुःखसमूह का प्रभवबीजम्=उत्पत्ति कारण अविद्या है। और सम्यग्दर्शनम्=यथार्थ बोध इस अविद्या को दूर करने का हेतु है। जैसे—चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्=चार अङ्गों वाला होता है—(१) रोग (२) रोग का कारण (३) आरोग्य लाभ (४) भैषज्य=औषध। इसी प्रकार यह योग-शास्त्र भी चार अङ्गों=विभागों वाला ही है, जैसे—(१) संसार (रोगस्थानीय) (२) संसार का हेतु (अविवेक अथवा अविद्या) (३) मोक्ष (प्रकृति-पुरुष के संयोग का अभाव) (४) मोक्ष का उपाय (विवेकख्याति)। इन्हीं को क्रमशः हेय, हेयहेतु, हान और हान का उपाय भी कहते हैं। इन चारों में दुःखबहुल संसार हेय=त्याज्य है, प्रधान-प्रकृति और पुरुष का संयोग हेयहेतुः=संसार का कारण है, प्रकृति-पुरुष के संयोग की अत्यन्तनिवृत्ति हान=मोक्ष प्राप्ति है और सम्यग्दर्शन=यथार्थज्ञान (विवेकख्याति) हान का उपाय है।

(इस उपर्युक्त चतुर्व्यूह हानादि के विषय में यह अवश्य समझना चाहिये कि यह हान पुरुष के विषय में नहीं है, प्रधान=प्रकृति या प्रकृतिजन्य देहादि में ही सीमित है।) (तत्र हातुः स्वरूपम्०) उनमें हान करने वाले पुरुष=जीवात्मा का स्वरूप न तो उपादेय=ग्राह्य है और नहीं हेय=त्याज्य हो सकता है। क्योंकि पुरुष के स्वरूप का हान=त्याग मानने पर उसके उच्छेद=नाश का प्रसङ्ग आता है और इसकी प्राप्ति में=प्राप्य मानने में (अर्थात् पुरुष के स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है) कारणवाद का प्रसंग होगा अर्थात् पुरुष के स्वरूप को प्राप्य मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि वह किसी कारण से प्राप्त हुआ। और जिस कारण से जाना या प्राप्त हुआ है, वह कार्य होने से प्रकृतिजन्य कार्यों की भांति कृत्रिम=बनावटी होगा। पुरुष को कार्य मानने पर विनाशशील मानना पड़ेगा। और उभय प्रत्याख्याने=हान और उपादान दोनों पक्षों को न मानने पर शाश्वतवादः=पुरुष का नित्यत्व सिद्ध होता है। इस पुरुष के शाश्वतवाद को समझना ही सम्यग्दर्शनम्=यथार्थज्ञान है।

सूत्रार्थ—(परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः) **परिणामदुःख**=संसार के भोगों से जो सुख-प्रतीति होती है, वह परिणाम में दुःखमय ही होती है, **तापदुःख**=जो निर्जीव भोजनादि से और सजीव=स्त्री, पुत्रादि से लोक में सुख मिलता है, उनको प्राप्त करने, सुरक्षित रखने और भोग करने में लोभमूलक, मोहमूलक

तथा द्वेषमूलक सन्ताप बना ही रहता है। सुख के साधनों को प्राप्त करते हुए प्रतिकूल साधनों के प्रति द्वेषवश संघर्ष करना पड़ता है। **संस्कारदुःख**=सुखों के अनुभव से सुख-संस्कार और दुःखों के अनुभव से दुःख=संस्कार उत्पन्न होते हैं। वे संस्कार उपयुक्त उद्‌बोधक निमित्त को पाकर स्मृति को पैदा करते हैं। और सुख-दुःख की स्मृति से अनुकूल पदार्थ के प्रति रोग और प्रतिकूल के प्रति द्वेषभावना जागृत होती है। उन राग-द्वेष से प्रेरित पुरुष सुखात्मक-कर्म या दुःखात्मककर्म करता है। इन तीन प्रकार के दुःखों से और (गुणवृत्ति-विरोधात्) सत्त्वादिगुणों की वृत्ति=स्वभावों के (शान्त, घोर, मूढ होने से) परस्पर विरुद्ध होने से (इन गुणों के जो कार्य-पदार्थ हैं, उनमें कोई भी इन गुणों से रहित नहीं है) अतः (विवेकिनः) विवेकी योगी पुरुष को (सर्वम् एव दुःखम्) लोक के समस्त पदार्थ ही दुःखमय हैं।

भावार्थ—कर्माशय का विपाक जन्म, आयु तथा भोग होता है और यह पुण्यकर्मों के कारण सुखमय तथा अपुण्यकर्मों के कारण दुःखमय होता है। परन्तु योगी के लिये लौकिक सुखमय विषयों का सुख भी दुःखमय ही होता है। इसका कारण यह है कि यह विषय-सुख अविद्यावश ही प्रतीत होता है। जब इन सुखों के परिणामादि पर विचार किया जाये तो निश्चित रूप से ये सुख दुःखमय ही होते हैं। और ये सुख प्राणियों को विना पीड़ा दिये नहीं भोगे जा सकते हैं। इन सुखों में जो दुःख मिश्रित है, उसे सामान्यजन अनुभव नहीं कर सकते हैं।

लौकिक भोगासक्त होना सुख का कारण नहीं है—

प्रत्येक प्राणी सुखों की खोज में भागा फिरता है, परन्तु वह वास्तविक सुख को प्राप्त न करके विषय-सुखों में सुख अनुभव करने लगता है। परन्तु विषय-सुखों में आसक्त होना वैसे ही अतिशय दुःखों से घिर जाना है, जैसे कोई व्यक्ति बिच्छू के काटने के डर से भागकर दूसरी तरफ भागने लगा, किन्तु वहाँ साँप ने काट लिया। यद्यपि दोनों का काटना दुःखद है, परन्तु बिच्छू का काटना कुछ देर तक दुःख देता है और साँप का काटना तो उससे अधिक भयंकर और जीवन को भी समाप्त कर देता है। इसी प्रकार दुःखों से संतप्त व्यक्ति का सुख की इच्छा से विषयों में फंसना जीवन को ही नष्ट कर देना है और महादुःखसागर में डूब जाना है।

विषय-सुख योगी को हो क्यों दुःखी करते हैं—

सामान्यजन और योगी पुरुष में महान् अन्तर होता है। व्यासभाष्य में

योगी को 'अक्षिपात्रकल्प' कहकर इस रहस्य को स्पष्ट किया है। जैसे—मकड़ी के जाले का सूत्र (तार) शरीर के अन्य भागों पर लग जाने पर दुःखद प्रतीत नहीं होता। परन्तु वही सूत्र यदि आँख में गिर जाये तो स्पर्शमात्र से ही महान् दुःख देता है। इसी प्रकार सांसारिक विषय-सुख सामान्यजनों को दुःखद प्रतीत नहीं होते, परन्तु अक्षि-पात्र के तुल्य निर्मलचित्त वाले (अविद्यादि क्लेशों से रहित) योगी को अवश्य दुःख देते हैं। सामान्य पुरुष तो प्रथम सुखमय प्रतीत होने वाले विषय-सुखों को भोगता-भोगता भोग के साधनों के संग्रह में ही लगा रहता है और अविद्यामूलक वासनाओं के कारण विषय-सुख में ही मोह-ममता के कारण वैसे ही सुख अनुभव करता है, जैसे--कुत्ता हड्डी को चाबता हुआ अपने खून को ही चाटता हुआ हड्डी से मिलने वाला स्वाद समझ बैठता है। और जन्म-जन्मान्तरों तक विषयों की धधकती अग्नि में ही जलता रहता है। परन्तु योगी इन विषय-सुखों की निम्नलिखितकारणों से दुःखानुभूति करता है—

(१) **परिणाम-दुःख**—समस्त लौकिकसुखों का परिणाम दुःख ही निकलता है। संस्कृत भाषा में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि—'फलानुमेयाः प्रारम्भाः'। अर्थात् प्रत्येक कार्य के फल को देखकर उसके सुखमय अथवा दुःखमय स्वरूप को समझना चाहिये। और अन्यत्र भी कहा है—

(क) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ (मनु०)

(ख) भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः॥ (भर्तृहरि०)

(ग) यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्॥ (गीता)

अर्थात् विषयसुखों के भोग करने से कभी भी इच्छा की तृप्ति नहीं होती। प्रत्युत इनसे इच्छायें वैसे ही बढ़ जाती हैं, जैसे घृतादि की आहुति से अग्नि और अधिक बढ़ जाती है। और भोगों को भोगते हुए हम ही समाप्त हो जाते हैं, परन्तु भोग समाप्त नहीं हो सकते। और जो परिणाम में अमृत के तुल्य कार्य होते हैं वे प्रथम विषतुल्य दुःखद प्रतीत होते हैं। अतः भोगों में आसक्त करके इन्द्रियों को कदापि तृप्त नहीं किया जा सकता। प्रत्युत भोगों के प्रति राग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। चाहे मनुष्य बूढ़ा हो जाये, पुनरपि भोगों को भोगने से तृष्णा शान्त नहीं होती और इन्द्रियों का कौशल (भोग-भोगने की दक्षता) बढ़ जाती है। इसलिये विषयसुख न मिलने पर यह दक्षता मनुष्य को अतिशयरूप से तड़फाती रहती है। परन्तु योगी (विवेकी धीर) पुरुष को यह परिणाम-दुःखता सदा सचेत करती रहती है। और वह सदा जागरूक

होकर विषयों के परिणाम को देखकर दुःखों से पृथक्=सुरक्षित रहकर अध्यात्ममार्ग में ही लगा रहता है।

(२) **ताप-दुःख**—प्रत्येक मनुष्य जिन लौकिक वस्तुओं में सुख का अनुभव करता है, वह उनके संचय करने में सतत लगा रहता है। उन सुखद साधनों में चेतन=स्त्री, पुत्रादि और अचेतन=मकान, धन, भूमि, उन्नत-पदादि आते हैं। इन साधनों की इच्छा करता हुआ मन, वचन, कर्म से संलग्न रहता है। इन साधनों की प्राप्ति में जो सहायक होते हैं, उन पर अनुग्रह करता है और जो बाधक बन जाते हैं, उन्हें दूर करने के लिये द्वेष, हिंसादि उपायों को भी अपनाने से नहीं घबराता। यह लोभ तथा मोह से उत्पन्न कर्माशय द्वेषादि से पूर्ण होता है। जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति धर्म व अधर्म दोनों का संग्रह करता है। और द्वेषमूलक अग्नि व्यक्ति को विषय-सुख के भोगों में भी सन्तप्त करती रहती है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति यह भी चाहता है कि यह विषय-भोग का क्रम कभी समाप्त न हो, सदा ही बना रहे। यह द्वेषाग्नि तथा भोग-लालसा उसे सदा सताती रहती है। यह ही ताप-दुःखता है। इसके विषय में ही किसी कवि ने बहुत सुन्दर कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

अर्थात् विषय-सुख के प्रमुख साधन धन के कमाने में, कमाकर उस की रक्षा करने में (कहीं चोर डाकू चुरा न ले जायें, राजा अधिक कर न लगा दे और भाई आदि पारिवारिक-जन बाँट न लेवें) आय=उस सम्पत्ति को दूसरे उपायों से बढ़ाने में और व्यय=खर्च करने में भी अनेकविध दुःख आते हैं। अतः कष्टों के आश्रयभूत धनादि को धिक्कार है।

(३) **संस्कार-दुःख**—चित्त में सुखों के भोग से सुखों के संस्कार तथा दुःखों के भोग से दुःखों के संस्कार उत्पन्न होते हैं। और ये संस्कार ही स्मृति के कारण होते हैं। कालान्तर में उपयुक्त वस्तु को देखकर ये संस्कार अनुकूल (सुखद) वस्तु के प्रति राग को और प्रतिकूल (दुःखद) वस्तु के प्रति द्वेष को पैदा करते हैं। और व्यक्ति संस्कारवश ही फिर उन्हीं कर्मों के अनुष्ठान में लग जाता है। इस प्रकार यह अनादिकाल से प्रवाहित होने वाला सुख-दुःख का क्रम योगी पुरुष को प्रतिकूल होने से दुःख देता है, सामान्य पुरुषों को नहीं। सामान्य पुरुष तो अपने कर्मों से प्राप्त दुःखों को प्राप्त करते हैं। प्राप्त दुःखों को छोड़ने की इच्छा भी करते हैं। परन्तु छोड़े हुए दुःखों के कारणों को फिर

ग्रहण करते हुए, अनादिकाल से सञ्चित-वासनाओं से विचित्र चित्तवृत्ति होने से अविद्या में ग्रस्त रहते हैं और यथार्थ बोध से बहुत दूर ही रहने से अहंकार व ममता के वशीभूत होकर त्रिविधताप=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों से ग्रस्त रहते हैं। परन्तु योगी पुरुष इन दुःखों से अपने को और दूसरे प्राणियों को दुःखी देखकर दुःखों से छुड़ाने वाले सम्यग्दर्शन=विवेकख्याति को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करता है।

(४) **गुणवृत्ति-विरोध**—चित्त प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक है। और इन तीनों गुणों की वृत्ति=व्यापार परस्पर विरोधी हैं। अर्थात् सत्त्वगुण से सुख (शान्त गुण) रजोगुण से चञ्चलता और तमोगुण से मोहादि उत्पन्न होते हैं। परस्पर विरोधी होकर भी ये सत्त्वादिगुण प्रधान-गौणभाव से कार्य करते हैं। जिस गुण की जिस समय प्रधानता होती है, उस समय उसकी वृत्ति कार्य करती है और दूसरे गुण अभिभूत=दबे हुए अथवा अव्यक्तरूप में रहते हैं। इस प्रकार इन गुणों के कारण सुखानुभव-काल में दुःख भी अवश्य विद्यमान रहता है। क्योंकि सुखों के पीछे दुःख तथा विषाद सदा छिपे रहते हैं। इसीलिये व्यासभाष्य में 'चलं हि गुणवृत्तम्' गुणों का व्यापार चञ्चल बताया है। योगीपुरुष लोक के सुखों में परिणाम दुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा गुणवृत्ति विरोध के कारण दुःखानुभूति ही करते हैं और उनसे सदा पृथक् ही रहते हैं।

इन समस्त दुःखों का मूल अविद्या है, जिसके कारण ये दुःख उत्पन्न होते हैं। और दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन=विवेकख्याति को प्राप्त करना है। और जैसे वैद्यकशास्त्र में चिकित्सा के चार प्रधान अंग होते हैं, अर्थात् रोग, रोग का कारण, आरोग्य तथा भैषज्य=रोग को दूर करने की दवा। वैसे ही इस शास्त्र के भी चार भाग हैं—(१) दुःखबहुल संसार=जन्ममरण की प्राप्ति ही रोग है, जो कि त्याज्य है। (२) संसारहेतु=इस जन्ममरणरूप रोग का कारण अविवेक है। जिसके कारण जीवात्मा संसार में फंस जाता है। (३) मोक्ष=अविवेकपूर्ण प्रकृति-पुरुष के संयोग का नाश ही मोक्ष है, इसी को 'हान' भी कहते हैं। (४) मोक्षोपाय=सम्यग्दर्शन है। इसी का दूसरा नाम विवेकख्याति है। यह संसाररूपी रोग का समूल नाश करने की परमौषधि है।

परन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि ये उपर्युक्त चारों मुख्य अंग जीवात्मा में नहीं लगते। क्योंकि यह जीवात्मा न तो हेय=त्याज्य है और नहीं यह उपादेय=ग्राह्य है। हेय पक्ष में जीवात्मा का नाश प्राप्त हो जायेगा।

ग्रौर ग्राह्य पक्ष में उसका कारण बताना पड़ेगा कि कौन किसे प्राप्त करने की इच्छा कर रहा है। ग्रतः जीवात्मा उत्पत्ति ग्रौर नाश से रहित ग्रपरिणामी तत्त्व है ॥ १५ ॥

अव०—तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते।

(अर्थ)—वह यह योगशास्त्र चार विभागों वाला कहा जाता है। ग्रर्थात् हेय, हेयहेतु, हान ग्रौर हानोपाय। उनमें प्रथम का स्वरूप यह है—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

व्यासभाष्यम्

[ग्रनागतम्] दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते। वर्त्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारम्। तदेवहेयतामापद्यते ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद—जो दुःख उपभोग=भोग करने से ग्रतिक्रान्त हो चुका ग्रतः ग्रतीत=भोगा जा चुका=दुःख भोग करने से समाप्त हो गया है, वह हेय=त्याज्यता की कोटि में नहीं ग्राता। ग्रौर जो वर्त्तमान में दुःख भोगा जा रहा है, वह ग्रपने समय में भोग की प्रक्रिया में चालू है, ग्रतः वह दुःख कालान्तर में हेय-पक्ष में नहीं हो सकता। (क्योंकि कालान्तर में उसकी सत्ता ही नहीं है। ग्रौर जो भोगा जा रहा है, उसे मध्य में छोड़ा नहीं जा सकता।) इसलिये जो ग्रनागतदुःख है, ग्रभी तक ग्राया नहीं है, भविष्य में होने वाला है, वही ग्रक्षि-पात्रकल्पम्=जैसे मकड़ी के जाले का तन्तु नेत्र में गिर जाने पर महान् कष्ट देता है, ग्रन्य शरीर के ग्रंगों पर नहीं, वैसे निर्मल नेत्र-गोलक के तुल्य जो ग्रविद्यादि क्लेशों से रहित योगी पुरुष है, उसको क्लेश=पीड़ा देता है=बेचैन करता है, दूसरे साधारण (ग्रविवेकी), प्रतिपत्ता=ग्रनुभव करने वाले मनुष्यों को नहीं। वही ग्रनागतदुःख हेयता=त्याज्यता को प्राप्त होता है ग्रर्थात् उसके छोड़ने=दूर करने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

सूत्रार्थ—(ग्रनागतम्) जो दुःख ग्रभी ग्राया नहीं है=ग्रागे ग्राने वाला है=भावी दुःख है (दुःखं, हेयम्) उस दुःख को हेय=दूर करना चाहिये।

भावार्थ—इस सूत्र में ग्रनागत=भविष्य में होने वाले दुःख को हेय=

छोड़ने योग्य बताया है। उसका कारण स्पष्ट है कि जिस दुःख का भोग-काल समाप्त हो गया अर्थात् जो दुःख भोगा जा चुका और जिस दुःख को वर्त्तमान काल में भोगा जा रहा है, उसे त्याज्य कहना निरर्थक ही है। अतः सूत्रकार ने भावी-दुःख को छोड़ने का उपदेश किया है। योगी पुरुष उसी दुःख से छूटने का प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु सामान्य मनुष्य विवेक के विना इस दूर-दर्शिता तक नहीं पहुँच पाते हैं ॥ १६ ॥

अव०—तस्माद् यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रति निर्दिश्यते—

(अर्थ)—इस कारण से जिस अनागतदुःख को हेय=त्याज्य कहा गया है, उसी के कारण का निर्देश किया जाता है—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

व्यासभाष्यम्

[द्रष्टृ] द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। [दृश्य] दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढा सर्वे धर्माः। तदेतद्दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारिदृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः, अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः। अन्य-स्वरूपेण प्रतिपन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम्। तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः।

"तथा चोक्तम्—तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्, दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादाऽनधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम्, एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाऽऽप्नोति। कस्मात्, त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्, तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्, सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे, दर्शितविषयत्वात्। सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारा-नुरोधी पुरुषेऽप्यनुतप्यत इति" ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद—द्रष्टा=चेतन आत्मा को कहते हैं, क्योंकि वह ही शरीरस्थ सब सुखदुःखादि का द्रष्टा=ज्ञाता भोक्ता है। उसी को 'पुरुष' शब्द से भी कहा जाता है। यह पुरुष बुद्धि[१]=समस्त प्रकृतिजन्य भोग्य पदार्थों का प्रति-संवेदी=अनुभव करने वाला=भोग करने वाला है। दृश्य=समस्त प्रकृतिजन्य

---

१. भोगो बुद्धिरिति न्यायदर्शनस्य वात्स्यायनभाष्ये।

भोग्य पदार्थ हैं (इनमें रूप, रस, गन्धादि बाह्य इन्द्रिय और मनादि आन्तरिक हैं।) सभी रूप, रस, गन्धादि प्रकृति के धर्म बुद्धिसत्त्व=(पदार्थों के आकार की तरह आकार वाली होने से) चित्त-वृत्ति पर आरूढ=प्राप्त होकर ही दृश्य=देखने योग्य=जानने योग्य अथवा भोग्य होते हैं। यह बुद्धि-सत्त्व= चित्तवृत्ति अयस्कान्तमणि=चुम्बक के समान निकट होने से (संयोग होने से) 'भोग का विषय बनना' रूप उपकार करती है। दृशिरूप=द्रष्टा अथवा भोक्ता स्वामी रूप पुरुष का दृश्य=भोग्य होने से प्रकृति स्वं भवति=आत्मीय हो जाती है। क्योंकि यह दृश्य-प्रकृति अनुभवकर्मविषयतामापन्नम्=पुरुष के भोगरूपी कर्मविषयता को प्राप्त हो जाती है। और अपने से भिन्न पुरुष= आत्मा के चेतनवद् रूप को (प्रतिबिम्ब के कारण) प्राप्त होकर स्वतन्त्रमपि= जगत् की उपादानतारूप में अन्य किसी की सहायता न लेने वाली स्वतन्त्र प्रकृति भी परार्थ=पुरुष के भोग-अपवर्ग को सिद्ध करने से परतन्त्र=पुरुष के आधीन है। उन दोनों द्रष्टा=पुरुष और दृश्य=प्रकृति का पुरुषार्थ के लिये अनादि (प्रवाह से) संयोग हेय-हेतुः=त्याज्य=दुःख का कारण है।

वैसा कहा[1] भी है—(तत्संयोगहेतुविवर्जनात्०) उस दृश्य प्रकृति के संयोग के कारण (अविवेक) को छोड़ देने से यह दुःखप्रतीकारः=दुःख का नाश आत्यन्तिक हो जाता है। क्योंकि दूर करने योग्य दुःख के कारण को दूर कर देने से दुःख का नाश देखा जाता है। जैसे—'पादतल=पैर के तलुए का बिंधजाना' यह दुःख है। 'कण्टक=कांटे का पैर को बींधना' यह दुःख का कारण है। परिहार=इस दुःख को दूर करने का उपाय है—कण्टक पर पैर न रखना अथवा पादत्राण=जूते से पैर को ढककर कांटे पर पैर रखना। इन तीनों बातों को=दुःख, दुःख का कारण और दुःख से छूटने का उपाय, जो विवेकी पुरुष जान लेता है, वह संसार में दुःख के प्रतीकार को करता हुआ भेदज कांटे से चुभने वाले दुःख को प्राप्त नहीं करता। क्योंकि तीनों बातों की ठीक-ठीक जानकारी की क्षमता के कारण दुःख का प्रतीकार हो जाता है।

वैसे ही यहाँ भी दुःख से मुक्ति चाहने वाले को तापक=दुःखदेने वाले रजोगुण का सत्त्वमेव=चित्तवृत्तिस्थ सतोगुण ही तप्य=तपाने योग्य है। क्योंकि 'तपिक्रिया' के कर्मस्थ=कर्म में स्थित होने से सत्त्व गुणरूप कर्म में होती है, अपरिणामिनि=परिणामशून्य=गुणपरिणाम से रहित अविकारी और निष्क्रिय[2]=क्रियाहीन क्षेत्रज्ञ=पुरुष में नहीं। पुरुष को दुःख क्यों होता

---

१. पञ्चशिखाचार्य ने कहा है।

२. 'निष्क्रिय' शब्द की व्याख्या यो० १। ६ सूत्र की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

है ? इसका उत्तर यह है—दर्शितविषयत्वात्=बुद्धि=चित्तवृत्ति द्वारा पुरुष को भोग का विषय दिखाने के कारण सतोगुण के (रजोगुण के कारण) सन्तप्त होने पर तदाकारानुरोधी=उसके आकार को आत्मसात् करने वाला या उसका प्रतिसंवेदी=अनुभव करने वाला पुरुष=आत्मा भी अनुतप्यते=चित्तवृत्ति के पश्चात् दुःखी होता है।

सूत्रार्थ—(द्रष्टृ-दृश्ययोः) बुद्धि=चित्तवृत्ति का अनुभव करने वाला (ज्ञाता अथवा भोक्ता) पुरुष द्रष्टा है, और दृश्या=पुरुष के द्वारा अनुभव=भोगने योग्य प्रकृति है, इन दोनों का (संयोगः) सांनिध्य होना (हेयहेतुः) त्यागने योग्य दुःख का कारण है।

भावार्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही दुःख का कारण है, उसी को यहाँ त्याज्य कहा है। द्रष्टा का लक्षण यह है कि जो बुद्धि=समस्त प्रकृतिजन्य भोग्यपदार्थों का भोग करने का कारण अनुभव करने वाला है। क्योंकि प्रकृति अथवा प्रकृतिजन्यपदार्थ जड़ होने से अनुभव नहीं कर सकते। और दृश्या का स्वरूप (यो० २। १८ में) स्पष्ट किया है अर्थात् यह त्रिगुणात्मक प्रकृति पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिये है। 'दृश्य' शब्द से समस्त प्रकृतिजन्य पदार्थों का ग्रहण हो जाता है, जिसके अन्तर्गत ही रूप, रस, गन्धादि गुण वाले बाह्य पदार्थों तथा भोग ग्रहण कराने वाली इन्द्रियों का भी ग्रहण है। पुरुष इस दृश्या=प्रकृति के पदार्थों से संयोग के कारण ही दुःखादि के बन्धनों में फंसता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रकृति-संयोग को छोड़ना ही उत्तम उपाय है। अतः मोक्षार्थी को तीन बातों का जानना अत्यावश्यक है—दुःख क्या है, दुःख का कारण क्या है, और दुःख से छूटने का उपाय क्या है? व्यास-भाष्य में इस बात को एक दृष्टान्त देकर समझाया है। जैसे—पैर में कांटा चुभने से दुःख होता है। इसमें पैर का छिदना दुःख है, दुःख का कारण कांटा है, और कांटे से बचकर रहना अथवा जूतादि पहनना उस दुःख का प्रतीकार है। इसी प्रकार पुरुष भी तभी दुःखों से बच सकता है कि जब वह दुःख, दुःख के कारण और उससे छूटने के उपाय को जानता हो। अतः प्रकृति-संयोग से बचने के लिये शास्त्रीय उपदेशों का पालन करना चाहिये।

प्रकृति-पुरुष का स्वरूप—इस सूत्र के भाष्य में प्रकृति तथा पुरुष के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रकृति को (क) अयस्कान्तमणिः=चुम्बक के समान बताया है। जैसे—चुम्बक समीपस्थ लोहे को आकृष्ट कर लेती है, वैसे ही यह प्रकृति अपने सामीप्य से पुरुष का भोग व अपवर्ग सिद्ध करती है। और पुरुष को अपने मोहात्मक-स्वरूप से मुग्ध करके अपने भोगों में [फं]साती है।

(ख) और प्रकृति को यहाँ स्वतन्त्र कहा है। यद्यपि प्रकृति अचेतन होने के कारण स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती, पुनरपि यहाँ स्वतन्त्र कहने का भाव यह है कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, वह इस कारण में अन्य किसी के अंश की अपेक्षा नहीं रखती। प्रकृति की प्रवृत्ति के लिये चेतन की अपेक्षा रहती ही है। (ग) और प्रकृति परार्थ है, स्वार्थ नहीं। क्योंकि प्रकृति स्वयं अपना भोग नहीं कर सकती। वह तो पुरुष का भोग व अपवर्ग सम्पादन करती है। पुरुष (जीवात्मा) इस प्रकृति का भोक्ता है।

और जीवात्मा द्रष्टा=ज्ञानगुणवाला चेतन है। वह ही प्रकृतिजन्यभोगों को भोगता है। इस जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ=शारीरिक क्रियाओं का ज्ञाता कहा है। शरीर में होने वाली प्रत्येक क्रिया को जीवात्मा जानता है। और जीवात्मा अपरिणामी=अविकारी=प्रकृतिजन्य विकारों की भांति विकारोंवाला नहीं है। और यह निष्क्रिय=इन्द्रियादि की भांति क्रियावान् नहीं है। क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा ही सर्वविध चेष्टाओं को करता है। जीवात्मा का प्रकृति के साथ संयोग अनादि काल से चला आता है और मोक्ष होने तक चलता रहता है। मोक्ष-प्राप्ति के उपाय विवेकख्याति से अविद्यादि क्लेशों के नष्ट होने पर पुरुष का प्रकृति-संयोग समाप्त हो जाता है। प्रकृति का न तो बन्धन होता है और न मोक्ष। बन्धन-मोक्ष जीवात्मा के होते हैं। प्रकृति के साथ भोगासक्त होना पुरुष का बन्धन है और प्रकृति के संयोग को छोड़ना ही पुरुष का मोक्ष है॥ १७॥

अव०—दृश्यस्वरूपमुच्यते।

(**अर्थ**)—अब दृश्य=प्रकृति का स्वरूप बताते हैं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

व्यासभाष्यम्

[दृश्यम्] प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्य-जातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसंनिधाना गुणत्वे

ऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः संनिधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्त्तमाना प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद्दृश्यमित्युच्यते ।

तदेतद्भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते । तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति । [भोग] तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः [अपवर्गः] भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति । द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति । यथा चोक्तम्—अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननपश्यन्नदर्शनमन्यच्छङ्कत इति ।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृता बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्त्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावा । स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—सतोगुण प्रकाशात्मक है । रजोगुण क्रियाशील है । और तमोगुण प्रकाश तथा क्रिया को स्थिर करने वाला है । ये तीनों गुण परस्पर उपरक्त=मिले हुए अविभागाः=पृथक्-पृथक् अंशों वाले, परिणामी=विकारयुक्त, संयोग-विभाग धर्मवाले, एक दूसरे के सहयोग से अपने मूर्त्ति=शरीर अथवा स्वरूप को धारण करने वाले, परस्पर अङ्ग-अङ्गीभाव=गौण-मुख्य भाव से इकट्ठे रहते हुए भी अपनी-अपनी शक्ति=सामर्थ्य को पृथक्-पृथक् बनाये हुए, तुल्यजातीय=समानजातीय और विजातीय=विरुद्धजातीय पदार्थों में शक्तिभेद=पृथक्-पृथक् सहकारीरूप शक्ति को प्राप्त, प्रधानवेला=अपनी-अपनी प्रधानता में (दूसरे गुणों के गौण होने पर) अपने स्वरूप को प्रकट करने वाले, इन गुणों के गौणरूप में रहने पर भी सहकारी कारण के कार्यभूत व्यापार मात्र से मुख्यगुण के अन्तर्निहित होकर भी अपने अस्तित्व को बताने वाले, पुरुष=जीवात्मा के भोगापवर्गरूप प्रयोजन के लिये अपने सामर्थ्य का प्रयोग करने वाले, अयस्कान्तमणि=चुम्बक के समान सन्निधिमात्र=संयोगमात्र से पुरुष का उपकार करने वाले, पदार्थों में गौण-दशा में अपनी प्रत्यय=प्रतीति के विना किसी एक गुण (प्रधानरूप में वर्त्तमानगुण) के अनुकूल

वृत्ति=व्यापार वाले हैं। और ये तीनों गुण 'प्रधान' के नाम से कहे जाते हैं। यह गुणत्रय ही 'दृश्य' कहा जाता है।

वह यह 'दृश्य' अथवा 'प्रधान' शब्द से कहा जाने वाला गुणत्रय भूतों=पृथिव्यादिकों और इन्द्रियों=श्रोत्रादि के रूप में परिणत=परिवर्त्तित हो जाता है। यहाँ 'भूत' शब्द से सूक्ष्मभूत तथा स्थूलभूत दोनों का ग्रहण है। और 'इन्द्रिय' शब्द से भी सूक्ष्म व स्थूल का अर्थात् प्रकृति के प्रथम विकार महत्तत्त्व से लेकर एकादश इन्द्रिय (पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवां मन) तक का ग्रहण है। वह गुणत्रय का भूत व इन्द्रिय रूप परिणत होना निष्प्रयोजन नहीं है। किन्तु पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन को स्वीकार करके इनकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये पुरुष के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के लिये वे गुण 'दृश्य' नाम से कहे जाते हैं।

भोग और अपवर्ग का क्या स्वरूप है? इसका उत्तर देते हैं—(इष्टानिष्ट०) इष्ट और अनिष्ट गुणों के स्वरूप का अवधारण=जो अनुभव अविभागापन्न=पुरुष के साथ बिना विभाग के=अस्मिता के द्वारा आत्मसात् होने से होता है, उसे 'भोग' कहते हैं। और भोक्ता पुरुष के अपने स्वरूप का अवधारण=अनुभव होना 'अपवर्ग' कहलाता है। इन दोनों=भोग और अपवर्ग से भिन्न कोई प्रतीति नहीं है।

वैसा दूसरे आचार्यों ने भी कहा है—(अयं तु खलु०) यह अविवेकी जीव तो निश्चय से क्रियावान् तीनों सत्त्वादि गुणों में और चौथे अकर्त्ता=क्रियाहीन पुरुष में, जो गुणों से तुल्यजातीय=सत्तावान्, सूक्ष्मतादि के कारण और अतुल्यजातीय=चेतनता, अपरिणामी आदि के कारण विजातीय है, और गुणों की क्रियाओं का साक्षी है, उस पुरुष में उपनीयमान=तत्तदाकार रूप से प्रतिभासित सर्वभावान्=सब शब्द, रूपादि विषयों को उपपन्नान्=यथार्थ में उपस्थित समझता हुआ चित्तवृत्ति द्वारा प्रत्यर्पित भोग से भिन्न दर्शन=तत्त्वज्ञान की शंका=कल्पना भी नहीं कर पाता है।

(तावेतौ भोगापवर्गौ०) वे ये दोनों भोग और अपवर्ग बुद्धिकृतौ=चित्तवृत्ति की क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं और चित्तवृत्ति में ही वर्त्तमान रहते हैं। इनका पुरुष=जीवात्मा में व्यवहार क्यों होता है? इसका उत्तर यह है—जैसे युद्ध में लड़ने वाले योद्धाओं में जयः=जीत अथवा पराजयः=हार होता है, किन्तु उसका व्यवहार उनके स्वामी राजा में होता है, क्योंकि वह राजा ही उस विजय अथवा हार के फलों का भोक्ता होता है। इसी प्रकार बन्धन और

मोक्ष का बुद्धौ=चित्तवृत्ति में रहते हुए ही पुरुष=जीवात्मा में व्यवदेश=व्यवहार होता है, क्योंकि वह पुरुष ही उनके फलों का भोक्ता है।

बन्ध और मोक्ष का क्या स्वरूप है? इसका उत्तर यह है—(बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिः०) चित्तवृत्ति का पुरुषार्थ=पुरुष के भोग या अपवर्ग रूप प्रयोजन का पूरा न होना बन्ध है और पुरुष के पुरुषार्थ की समाप्ति हो जाना ही मोक्ष है।

इससे स्पष्ट होता है कि ग्रहण=पदार्थों का ज्ञान, धारण=पदार्थों की स्मृति, ऊहा=पदार्थों के विशेषधर्म की ऊहा करना, अपोहः=ज्ञान से अज्ञान का निराकरण करना, तत्त्वज्ञान=विवेकख्याति, अभिनिवेश=मृत्यु आदि का भय और सदा जीवित रहने की इच्छादि चित्तवृत्ति में रहते हुए पुरुष=जीवात्मा में अध्यारोपित=अथवा=व्यवहृत होते हैं। क्योंकि वह पुरुष ही उनके फलों का भोक्ता है।

सूत्रार्थ—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) 'शील' पद का सम्बन्ध प्रत्येक शब्द के साथ है और 'शील' का अर्थ है—स्वभाव। सतोगुण प्रकाशशील है, रजोगुण क्रियाशील है और तमोगुण स्थितिशील है। समस्त दृश्य सत्त्वादि गुणों का परिणाम है, अतः प्रत्येक दृश्य पदार्थ सतोगुण के कारण प्रकाशित हो रहा है, रजोगुण के कारण क्रियाशील है, और तमोगुण के कारण एक सीमितकाल तक स्थिर-शील है। अतः समस्त दृश्य त्रिगुणात्मक है। (भूतेन्द्रियात्मकम्) और यह दृश्य भूतात्मक=भूतस्वरूप तथा इन्द्रियात्मक=इन्द्रिय-स्वरूप है। 'भूत' शब्द से सूक्ष्म तथा स्थूल प्रकृति के कार्यों का ग्रहण है, और इन्द्रिय शब्द से ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, तथा मन, बुद्धि, अहंकार का ग्रहण है। इस प्रकार से प्रकृति के सूक्ष्म से लेकर स्थूल पर्यन्त सभी विकारों का समावेश 'भूतेन्द्रिय' में हो जाता है। (भोगापवर्गार्थं) और यह समस्त दृश्य पुरुष के भोग तथा अपवर्ग=मोक्ष के लिये ही प्रवृत्त होता है। अतः समस्त त्रिगुणात्मक जगत् दृश्य है।

भावार्थ—२।१७ सूत्र में द्रष्टा और दृश्य का प्रसंग आया है। अब इनके स्वरूप का कथन किया जाता है। द्रष्टा का स्वरूप २।२० सूत्र में बताया जायेगा और दृश्य का स्वरूप इस सूत्र में बताया है। समस्त प्राकृतिक जगत् त्रिगुणात्मक है। अतः दृश्या=मूल प्रकृति भी तीन गुणों वाली है। क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। सत्त्वगुण प्रकाशात्मक होता है, रजोगुण क्रियाशील प्रवृत्ति कराने वाला होता है, और तमोगुण स्थिति शील=प्रकाश व क्रिया को स्थिर करने वाला होता है। अतः समस्त संसार में

प्रकाशात्मक सतोगुण के, क्रियात्मक रजोगुण के और स्थितिरूप तमोगुण के कारण है।

यह दृश्य का स्वभाव बताकर उसका स्वरूप बताया गया है—भूतेन्द्रियात्मकम्। यहाँ भूत शब्द से सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के भूतों का ग्रहण किया गया है। और भूत शब्द से सूक्ष्म से बाह्येन्द्रिय तथा अन्तःकरण दोनों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार प्रकृति के प्रथम विकार महत्तत्त्व से लेकर अहंकार, सूक्ष्मभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ और पृथिव्यादि स्थूलभूत तक सभी प्रकृति-विकृतियों का ग्रहण किया गया है। अतः प्रकृति का समस्त कार्यभूत जगत् दृश्य कहलाता है।

और इस दृश्य का प्रयोजन है पुरुष को भोग तथा अपवर्ग कराना। यद्यपि भोग और अपवर्ग जीवात्मा बुद्धि के सहाय से ही प्राप्त करता है, अतः बुद्धिकृत ही कहलाते हैं। परन्तु बुद्धि अचेतन होने से स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती। अतः पुरुष की प्रेरणा से ही बुद्धि का समस्त व्यापार होने से बुद्धिकृत भोग व अपवर्ग पुरुष ही भोगता है। व्यासभाष्य में इस का स्पष्टीकरण एक दृष्टान्त देकर किया है। जैसे—राजा के आदेश से योद्धा लोग शत्रु से लड़ते हैं, और युद्ध का परिणाम है—विजय या पराजय। वह भी योद्धाओं का ही होता है। परन्तु यह हार व जीत उनके स्वामी राजा की ही कहलाती है। क्योंकि वह ही समस्त युद्ध का सञ्चालक या प्रेरणास्रोत है। इसी प्रकार इस शरीर के जो भी बाह्य या आन्तरिक साधन हैं, उनका सञ्चालन पुरुष की प्रेरणा से होता है, अतः पुरुष ही इन साधनों से होने वाले सुख व दुःख का भोक्ता है। जब पुरुष बाह्य-विषयों से सम्पर्क करने की इच्छा करता है तो बुद्धि से निश्चय करके मन को प्रेरित करता है और मन बाह्येन्द्रियों को प्रेरित करता है। इसी प्रकार इन्द्रियों से जो भी ज्ञान होता है, वह मन के द्वारा बुद्धि को और बुद्धि के द्वारा पुरुष को मिलता है। अतः इस पुरुष के अतिशय निकट रहने वाली बुद्धि प्रधानमन्त्री के भांति होती है। अतः कुछ लोग बुद्धि को ही भोक्ता मानने लगते हैं। किन्तु यह उनकी महाभ्रान्ति है। व्यासभाष्य में इसका स्पष्टरूप से खण्डन किया है।

सत्त्वादि गुणों का स्वरूप—यहाँ व्यासभाष्य में सत्त्वादि गुणों का प्रकाशादि स्वभाव बताने के साथ इन गुणों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। यद्यपि ये तीनों गुण संयोग-वियोग करने से परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं, पुनरपि परस्पर मिलकर और गौण-मुख्य भाव से रहकर प्रकृति के कार्यों का सम्पादन करते हैं। एक समय में एक ही गुण प्रधानभाव से रहता है, और

दूसरे गुण गौणभाव से रहते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी गुण के प्रधान होने पर दूसरे गुणों का अभाव ही हो जाता है। ये सभी गुण पृथक्-पृथक् अंशों वाले, अपनी-अपनी शक्ति पृथक्-पृथक् बनाये हुए और प्रधानगुण के साथ सहकारीभाव से कार्य करते हैं। जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी का कार्य प्रकटरूप में दिखाई देता है, और गौणरूप से रहने वाले गुण भी उचित अवसर तथा उपयुक्त निमित्त को पाकर अपने-अपने कार्यों को प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं। अतः शान्त, घोर और मूढ परिणामों का क्रम न्यूनाधिक रूप में चलता ही रहता है।

पुरुष के बन्धन व मोक्ष का स्वरूप—प्रसंगानुसार व्यासभाष्य में पुरुष के बन्धन और मोक्ष के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। 'बुद्धेरेव पुरुषार्थऽपरिसमाप्तिर्बन्धः' अर्थात् बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीर के घटक हैं और ये जन्म-जन्मान्तर में भी पुरुष के साथ रहते हैं। पुरुष इनके सहाय से ही सुख-दुःख का भोग करता है। अतः मोक्ष होने तक बुद्धि आदि पुरुष के लिये कार्य करते रहते हैं। और इनके कार्य की समाप्ति न होना ही पुरुष का बन्धन है। और 'तदर्थावसायो मोक्षः' अर्थात् उस बुद्धि का कार्य जब विवेकख्याति होने पर समाप्त हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप को समझ लेता है, यही प्रकृति के सम्पर्क से पृथक् होना पुरुष का मोक्ष कहलाता है॥ १८॥

अव०—दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते।

अर्थ— दृश्य सत्त्वादिगुणों के स्वरूपभेद का निश्चय करने के लिए यह सूत्र आरम्भ किया जाता है।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

व्यासभाष्यम्

तत्राऽऽकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः।

षडविशेषाः। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेति एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चा-

विशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्याऽऽत्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति।

प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति।

अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति। न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति। नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स चार्थे हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याऽऽख्यायते। गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति।

कस्मात्! यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति, गवामेव मरणात्तस्य दरिद्रता न स्वरूपहानादिति समः समाधिः।

लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं, तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्तात्। न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते॥ १९॥

भाष्यानुवाद—तत्र सत्त्वादि गुणों[1] के भागों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि ये पञ्चमहाभूत शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र, इन पाँच अविशेषों[2] के विशेष परिणाम हैं। और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका ये पाञ्चों ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी, हाथ,

---

१. सत्त्वादिगुण सूक्ष्म से लेकर स्थूल पर्यन्त चार भागों में विभक्त हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग। यहाँ सूत्रकार ने समझाने में सरलता के लिये स्थूल विकारों से प्रारम्भ करके सूक्ष्म विकारों तथा मूल प्रकृति की सूक्ष्मता को बताया है।

२. 'अविशेष' का अभिप्राय है कि जब सत्त्वादि गुणों के शान्त, घोर और मूढ रूप अभिव्यक्त नहीं रहते। और 'विशेष' का अभिप्राय है कि जब शब्दादि रूप सत्त्वादि गुण अभिव्यक्त रहते हैं।

पैर, गुदा और जननेन्द्रिय, ये पाञ्चों कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन (अन्तः-करण) जो सर्वार्थ=जो ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय सबसे सम्पर्क रखता है, ये ग्यारह अस्मिता लक्षण वाले अहंकार अविशेष (सामान्य) के विशेष परिणाम हैं। सत्त्वादि गुणों का यह षोडशकः=ग्यारह इन्द्रियाँ और पाञ्चभूत विशेष परिणाम हैं। और ये छः अविशेष=सामान्य हैं, जैसे शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र रसतन्मात्र, और गन्धतन्मात्र, ये क्रमशः एक[1] दो, तीन, चार और पाँच लक्षणों वाले पाञ्च अविशेष हैं और छठा अविशेष है अस्मितामात्र (अभिमानवृत्ति वाला अहंकार)। ये छः आत्मनः[2]=सब कार्यों में व्यापक सत्तामात्रस्य=प्रकृति के प्रथम विकार रूप में अभिव्यक्त महत्तत्त्व के अविशेष परिणाम हैं। जो इन छः अविशेषों से परम्=सूक्ष्मतत्त्व है, उस व्यापक सत्ता-मात्र वाले महत्तत्त्व में ये छः अविशेष परिणाम स्थिर होकर विवृद्धिकाष्ठाम्= परिणाम को प्राप्त होते हैं अथवा अपने विकास की अन्तिम सीमा को प्राप्त करते हैं। और प्रतिसंसृज्यमानाः=प्रलयकाल में अपने कारण में विलीन होते हुए ये छः अविशेष उसी व्यापक सत्तामात्र वाले महत्तत्त्व में अनुगत होकर फिर जो निःसत्ता❀ सत्तम्=सत्ता और असत्ता दोनों से रहित है अर्थात् अभि-व्यक्त न होने से सत्ता वाला नहीं किन्तु सर्वथा सत्ताहीन भी नहीं है, क्योंकि अनुमान से उसकी सिद्धि होती है। और जो निःसदसत्[3] अर्थात् किसी का कार्य न होने से 'निःसद् है और अत्यन्त सूक्ष्म अतीन्द्रिय है, निरसत्=आभावा-त्मकता से रहित भावात्मक है, अव्यक्त=जो व्यक्त नहीं है, अलिङ्गम्= लिङ्गता लक्षण वाले महत्तत्त्व से भिन्न है अर्थात् महत्तत्त्व से भी सूक्ष्मकारण है, उस प्रधान=मूल प्रकृति में लीन हो जाते हैं। यह महत्तत्त्व उन गुणों का लिङ्गमात्र परिणाम है और निःसत्तासत्तम्=अभिव्यक्ति और अभाव से

❀ 'निःसत्तासत्तम्' पद का विग्रह इस प्रकार होगा—निर्गते सत्तासत्ते यस्मात् तत् निःसत्तासत्तम्। (बहुव्रीहि समासः) निःसदसत्' पद का विग्रह=निष्क्रान्तं सतः असतं-श्च यत्। 'निरसत्' पद का विग्रह=निष्क्रान्तम् असतः अभावाद् यत्। (प्रादिसमासः)

---

१. शब्दतन्मात्र केवल शब्द लक्षण वाली होने से एक लक्षण वाली है। स्पर्श-तन्मात्र शब्द और स्पर्श इन दो लक्षणों वाली होने से द्विलक्षण वाली है। रूपतन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, इन तीन लक्षण वाली होने से त्रिलक्षण वाली है। रसतन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस, इन चार लक्षणों वाली होने से चतुर्लक्षणवाली है। गन्धतन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांच लक्षणों वाली होने से पञ्चलक्षण वाली है।

२. 'जो जिससे सूक्ष्म है, वही उसका आत्मा होता है'। (ऋ० भू० वेदनित्यत्वविचार)

३. यथार्थ में 'निःसदसत्' से भाष्यकारने 'निसत्तासत्तम्' पद की ही व्याख्या की है।

रहित प्रकृतितत्त्व गुणों का अलिङ्गपरिणाम[1] है। इसलिये अलिङ्ग दशा में भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ कारण नहीं होता है। अर्थात् (भाष्यकार ही पुनः स्पष्ट करते हैं) अलिङ्गावस्था के प्रारम्भ में पुरुषार्थता कारण नहीं होता है, इसलिये पुरुषार्थता इस अव्यक्तावस्था का कारण नहीं है। क्योंकि यह अव्यक्त प्रकृति पुरुषार्थ-साधन के लिए नहीं बनी, अतः अकृत्रिम=कारण-रहित होने से नित्य कही जाती है। शेष तीनों विशेष अवस्थाओं (लिङ्ग, अविशेष और विशेष) के प्रारम्भ में पुरुषार्थता=पुरुष के भोग-अपवर्ग सिद्ध करना कारण है। अर्थात् परुषार्थता तीन दशाओं का निमित्त कारण बनती है, अतः वे कारणजन्य होने से अनित्य कही जाती हैं। सत्त्वादि तीनों गुण तो इन सभी प्रकृति के कार्य की दशाओं में अनुगत=अनुस्यूत=संलग्न रहते हैं, वे न तो नष्ट होते हैं, और नहीं उत्पन्न होते हैं। किन्तु भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानकालिक, गुणों से अन्वित=युक्त तथा व्ययागमवतीभिः=ह्लास और वृद्धिवाली व्यक्तियों=वस्तुविशेषों से ये सत्त्वादिगुण उपजन=उत्पत्ति तथा अपाय=विनाश धर्म वाले जैसे प्रत्यवभासन्ते=प्रतीत होते हैं। देवदत्तो दरिद्राति=देवदत्त दरिद्र हो रहा है। क्योंकि उसकी गायें मर रही हैं। यहां गायों के मरने से ही उस देवदत्त की दरिद्रता है, न कि देवदत्त के किसी स्वरूप की हीनता से। यहाँ समाधिः=समाधान (उत्तर) समान है अर्थात् गुणों की उत्पत्ति या विनाश के प्रसंग में भी ऐसे ही समझना चाहिये। गुणों की स्वरूप से न उत्पत्ति है और नहीं विनाश होता है।

(अब अलिङ्गावस्थावाली प्रकृति से होने वाली लिङ्गादि अवस्थाओं का क्रम बताते हैं—)

(लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं०) लिङ्गमात्र=महत्तत्त्व अलिङ्गमात्र=प्रकृति का निकटतम कार्य है। तत्र=उस अलिङ्ग में वह लिङ्ग=महत्तत्त्व संसृष्ट=मिला हुआ है, वह विविच्यते=लिङ्गरूप से पृथक् है, प्रकृति के विकार क्रम का अतिक्रमण न करने से। तथा उसी=प्रकार छः अविशेष=(शब्दतन्मात्रादि) लिङ्गमात्र=महत्तत्त्व से संसृष्ट=अविभक्त रहते हुए उनका पृथक् विभाग परिणामपरम्परा के नियम से होता है। उसी प्रकार उन छः अविशेषों में (शब्दतन्मात्रादि में) विशेष पञ्च पृथिव्यादि भूत और एकादश

१. लिङ्ग तथा अलिङ्ग शब्दों का अभिप्राय यह है कि लिङ्ग=किसी प्रकार के चिह्न सत्त्वादि गुणों की विषमता से होते हैं। और मूलकारण प्रकृति गुणों की साम्यावस्था का नाम है, अतः उस दशा में किसी प्रकार के लिङ्ग=चिन्ह प्रकट न होने से उसे अलिङ्ग कहते हैं।

इन्द्रियाँ संसृष्ट=अविभक्त हैं, उनका विभाग पूर्वोक्त परिणाम परम्परा के नियम से होता है। इन भूत-इन्द्रियों (विशेषों) से परम्=बाद कोई अन्य तत्त्व नहीं है, अतः विशेषों का कोई तत्त्व, परिणाम नहीं है। उन विशेषों (भूत-इन्द्रियों) के तो धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम ही होते हैं, उनकी व्याख्या[1] यो० ३। १३ में की जायेगी।

सूत्रार्थ—(गुण-पर्वाणि) सत्त्वादि गुणों के विभाग अथवा अवस्था (विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि) चार हैं—(१) विशेष (२) अविशेष (३) लिङ्गमात्र (४) अलिङ्ग।

विशेष—यह गुणों की अन्तिम अवस्था है। इसमें गुण परिवर्त्तित होते होते ऐसी दशा को प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें गुणों के विशेष धर्मों (शान्त, घोर, मूढ) की विशेषरूप से अभिव्यक्ति होने लगती है। इन विशेषों में भूत=सूक्ष्म तथा स्थूलभूत तथा ११ इन्द्रियों का ग्रहण होता है।

अविशेष—पूर्वोक्त विशेषों के उपादान कारण अविशेष हैं। ये छः हैं—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, और गन्धतन्मात्र एवं अस्मितामात्र=अहंकार। इनमें गुणों के विशेष धर्मों गन्धादि की अभिव्यक्ति नहीं होने से ये अविशेष कहाते हैं।

लिङ्ग—यह अविशेषों का उपादान कारण महत्तत्त्व है और यह प्रकृति का आद्य=प्रथम विकार भी है।

अलिङ्ग—यह लिङ्ग=महत्तत्त्व का उपादान कारण और प्रकृति की मूलावस्था है। इसमें सत्त्वादि गुण समावस्था में रहते हैं, अतः गुणों का कोई लिङ्ग=चिह्न अभिव्यक्त न होने से इसको अलिङ्ग कहते हैं। इसके प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति आदि नाम भी हैं। इसका उपादानकारण कोई नहीं होता अतः कार्यरूप न होने से यह नित्य है।

भावार्थ—इस सूत्र में त्रिगुणात्मक प्रकृति के विभिन्न कार्यों को दिखाया गया है। इस समस्त जगत् का मूल उपदानकारण प्रकृति है, प्रकृति किसी का कार्य नहीं है। अतः वह नित्य है। प्रलय के पश्चात् सृष्टि-समय प्रारम्भ होने पर जब मूल प्रकृति में विषमता होकर प्रथम कार्य उत्पन्न होता है, उसे 'महत्तत्त्व' कहते हैं। यह अलिङ्ग प्रकृति का लिङ्ग=प्रथम व्यक्तावस्था है। इसके पश्चात् महत्तत्त्व से जो अहंकार, पञ्चतन्मात्रादि कार्य उत्पन्न होते

---

१. ऐतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः ॥ (यो० ३।१३)

हैं, उन्हें यहां 'अविशेष' कहा है, क्योंकि इनमें गुणों का शान्त, घोर व मूढ रूप प्रकट नहीं होता है। तदनन्तर विशेष-स्तर के तत्त्व आकाशादि स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। यहाँ व्यास-भाष्य में सूत्रकार की शैली से ही व्याख्या की है। अर्थात् विशेष की प्रथम व्याख्या करके क्रमशः अलिङ्ग तक व्याख्या की गई है। यद्यपि रचना की दृष्टि से सूक्ष्म से स्थूल बनने का क्रम ही दिखाना संगत होना चाहिए, पुनरपि क्रम विपर्यय करके सूत्र में प्रथम स्थूल तत्त्व के रखने का विशेष प्रयोजन है। सामान्य मनुष्य प्रथम स्थूल को ही समझ सकते हैं, उसके बाद क्रम से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्त्वों को समझा जा सकता है।

व्यास-भाष्य में इन गुणों के पर्व=विभागों का स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है। अर्थात् अलिङ्गप्रकृति एक तथा नित्य है। लिङ्ग=महत्तत्त्व प्रकृति का प्रथम व्यापक विकार और अपने से उत्पन्न होने वाले कार्यों का कारण भी है। इस महत्तत्त्व के शब्दतन्मात्रादि पाञ्च और अहंकार छः विकार हैं और ये भी उत्पन्न होने से कार्य हैं तथा ये अगले स्थूल तत्त्वों के कारण भी हैं। और इन अविशेषों के सोलह कार्य हैं, जिन्हें विशेष कहते हैं। अर्थात् ५ आकाशादि महाभूत, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियां, तथा १ मन। और सर्गकाल में जिस प्रकार से रचना का क्रम सूक्ष्म से स्थूल होने का होता है, प्रलय में उससे विपरीत क्रम (स्थूल से सूक्ष्म होने का) रहता है। और अपने-अपने कारण में लय होते हुए अन्त में मूल प्रकृति में सबका लय हो जाता है। इस मूल प्रकृति को अव्यक्त, अलिङ्ग तथा प्रधान शब्दों से भी कहा गया है। व्यास-भाष्य में इस प्रकृति के लिये एक अन्य शब्द 'निःसत्तासत्तम्' से भी व्यवहार किया गया है। जिसका आशय यही है कि यह प्रकृति व्यक्त न होने से 'निःसत्ता है और सत्ताहीन भी नहीं है। क्योंकि इस अत्यन्त सूक्ष्म, अतीन्द्रिय तत्त्व को उसके कार्यतत्त्वों से जाना जाता है। इसलिए वह असत्त=सत्ताविहीन नहीं है। अथवा इस शब्द को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—'निःसत्त=निश्चयेन सत्=कारणं जगतः' जो जगत् का निश्चित रूप से कारण है। और असत्त=न विद्यते सत्=कारण यस्य' अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं है, वह स्वयं जगत् का कारण है। इससे प्रकृति के स्वरूप तथा मूल कारणत्व को स्पष्ट किया गया है। इसलिए यह प्रकृति कृत्रिम न होने से तथा गुणों की साम्य दशा होने से पुरुष के भोग-अपवर्ग का कारण नहीं बनती। किन्तु इसके स्थूल कार्य ही पुरुष के अर्थ को सिद्ध करते हैं।

और व्यास-भाष्य में गुणों के पर्व=विभागों का भी प्रसंगानुकूल वर्णन

किया है। ये सत्त्वादिगुण मूलप्रकृति में साम्यावस्था में रहते हैं और सर्गकाल में इन गुणों की विषमता होने से गौण-मुख्य भाव से स्थिति होकर सभी प्रकृति के कार्यों में अनुगत रहते हैं। उत्पन्न, विनाश तथा विकसित होने वाले पदार्थों से सत्त्वादि गुण उत्पत्ति-विनाश एवं विकसित होने से अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु ये उत्पन्न व नष्ट नहीं होते। इस रहस्य को व्यासभाष्य में एक उदाहरण देकर समझाया है। जैसे—देवदत्तो दरिद्राति=देवदत्त की गायादि के नष्ट होने पर दरिद्र अथवा गायादि की समृद्धि होने पर को सम्पन्न कहने लगते हैं। यथार्थ में देवदत्त के अपने स्वरूप का ह्रास या विकास दरिद्रादि के कहने में कारण नहीं होता। इसी प्रकार गुणों का विकासादि भी पदार्थों के विकासादि के कारण कहा जाता है। वास्तविक नहीं।

और विशेष-कार्यों को १६ विभागों में विभक्त किया है। और यह निर्णय भी दिया है कि इन विशेष कार्यों का अन्य कोई कार्यान्तर तत्त्व नहीं होता। यह प्रकृति का अन्तिम कार्य होता है। और जो लोक में स्थूलभूतों के कार्य उपलब्ध होते हैं, वे तत्त्वान्तर न होकर धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम ही होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण (यो० ३।१३ में) किया जायेगा। और इन १६ विशेष कार्यों के छः अविशेष कारण हैं। अर्थात् तन्मात्राओं से स्थूलभूतों की उत्पत्ति और अस्मिता=अहंकार से ११ इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार २। १८—१९ दोनों सूत्रों में दृश्य का वर्णन किया गया है ॥ १९ ॥

अव०—व्याख्यातं दृश्यमथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते।

(अर्थ)—'दृश्य' की व्याख्या गत सूत्रों में की गई, अब द्रष्टा के स्वरूप का निश्चय करने के लिये इस सूत्र का प्रारम्भ किया जाता है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

व्यासभाष्यम्

[दृशिमात्रः] दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात्। ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनि हि बुद्धिः। तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति।

सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात् । नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किं च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति । तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इत्यतो न सरूपः ।

अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः । कस्मात्, शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः । प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथा चोक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते । ॥ २० ॥

भाष्यानुवाद—'दृशिमात्रः[१] =दृक्शक्ति (पश्यतीति दृक्) ही विशेषणों से अपरामृष्ट=असंबद्ध है। अर्थात् देखने वाली ज्ञानशक्ति से सम्पन्न चेतनात्मा को चेतन बताने के लिये अन्य किसी विशेषण की अपेक्षा नहीं है। (स पुरुषः०) वह चेतनात्मा बुद्धेः=चित्तवृत्ति का [२] प्रतिसंवेदी=अनुभव करने वाला है।

[बुद्धि=चित्तवृत्ति और पुरुष=चेतनात्मा में अन्तर]

(१) वह पुरुष न तो बुद्धि (चित्तवृत्ति) के सरूपः=समानरूप है और नहीं अत्यन्त भिन्नरूप वाला। पुरुष बुद्धि के सरूप तो इसलिये नहीं है कि बुद्धि ज्ञात-अज्ञात विषय वाली होने से परिणाम वाली है। उस बुद्धि के विषय गौ आदि अथवा घटादि कभी ज्ञात होते हैं, कभी अज्ञात अर्थात् जब घट को जानती है तो गौ को नहीं, गौ को जानती है, तो घट को नहीं। इस प्रकार बुद्धि की परिणाम-शीलता का बोध होता है। परन्तु पुरुष को तो विषय का सदा ज्ञात रहना पुरुष की अपरिणामिता को सिद्ध करता है। क्यों? इसलिये कि पुरुष के ज्ञानविषयभूताबुद्धि पुरुष को कभी ज्ञात हो और कभी ज्ञात न हो, ऐसी बात सम्भव नहीं है। इससे सिद्ध है कि पुरुष की विषयभूता बुद्धि पुरुष को सदा ज्ञात रहती है। अतः इस बात से पुरुष की अपरिणामिता सिद्ध होती है।

(२) (किञ्च परार्था बुद्धिः०) पुरुष और बुद्धि में दूसरा भेद यह है

---

१. दृशिरेव दृशिमात्रः (नित्यसमासः)।

२. शुद्ध स्फटिक में जयाकुसुम प्रतिबिम्ब के समान चित्तवृत्ति के ज्ञान के प्रतिबिम्ब को पुरुष अपना समझकर अनुभव करता है।

कि बुद्धि नामक तत्त्व परार्था=अपने से भिन्न पुरुष के प्रयोजन=भोग अप-वर्ग को सिद्ध करती है। क्योंकि बुद्धि संहत्यकारित्वात्=त्रिगुणात्मक होने से पुरुषार्थ सम्पादन करती है। जबकि पुरुष (स्वार्थः पुरुषः) अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये है, अपने से भिन्न जड़-पदार्थ के लिये नहीं है।

(३) (तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणाबुद्धिः०) और बुद्धिपुरुष में तीसरा भेद यह है कि बुद्धि सभी सत्त्वादि गुणों के शान्त, घोर तथा मूढ अर्थों का अध्यवसाय=निश्चय कराने वाली है, अतः त्रिगुणा=सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों वाली है और त्रिगुणात्मिका होने से कारण बुद्धि अचेतना= जड़ है। किन्तु (गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुषः०) पुरुष सत्त्वादि गुणों का केवल उपद्रष्टा=साक्षात्कार करने वाला है। अतः पुरुष बुद्धि के सरूप नहीं है। (क्योंकि पुरुष न तो त्रिगुणात्मक है और नहीं जड़ है।)

(अस्तु तर्हि विरूपः) अच्छा तो जब पुरुष बुद्धि के सरूप नहीं है तो विरूप=विपरीत या भिन्नरूप वाला होगा? नहीं, पुरुष सर्वथा बुद्धि से भिन्नरूप वाला भी नहीं है। क्यों? जिससे यह पुरुष शुद्धः=निर्विकार, निर्लेप होता हुआ भी प्रत्ययानुपश्यः[1]=बुद्धिकृत ज्ञानों का अनुद्रष्टा=साक्षा-त्कार करने वाला उपद्रष्टा है। क्योंकि पुरुष बौद्धम्=बुद्धि द्वारा गृहीत ज्ञान को ग्रहण करता है अथवा अनुभव करता है। बुद्धिगत-ज्ञान का अनुभव करता हुआ पुरुष अतदात्मा=बुद्धि जैसा न होता हुआ भी तदात्मा इव= बुद्धि जैसा प्रतीत होता है। और वैसा कहा भी है—(अपरिणामिनी भोक्तृ-शक्तिः०) भोक्तृशक्ति=चेतन (पुरुष) शक्ति परिणाम-रहित और अप्रति-संक्रमा[2]=निर्लेप है। परिणामशील बुद्धि में परिणाम वाली की भांति चलाय-मान सी प्रतिबिम्बित होकर उस बुद्धि की वृत्ति का अनुपतन=अनुगमन करती हुई बुद्धिगत ज्ञान को ग्रहण करती है। और प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपायाः= चेतनपुरुष के प्रतिबिम्ब से, जिसने चेतनवत् रूप प्राप्त कर लिया है, उस बुद्धि-वृत्ति के अनुकारमात्रतया=अनुकरणमात्र से बुद्धि की वृत्ति से अविशिष्ट= समान ही पुरुष की ज्ञानवृत्ति हो जाती है, ऐसा कहा जाता है।

---

१. अनुपश्यः=अनु पश्चात् पश्यतीति। अत्र अनुपूर्वकदृश्धातोः कर्तरि खश् प्रत्ययः। शितिप्रत्यये धातोः पश्यादेशः।

२. प्रायः टीकाकार 'अप्रतिसंक्रमा' का अर्थ निष्क्रिय करते हैं। यह शास्त्रों से विरुद्ध है। आत्मा द्रव्य है, और द्रव्य को क्रियागुण वाला' माना है। अतः यहाँ 'नास्ति प्रतिसंक्रमः=संगो विषयेषु यस्याः' इसके अनुसार 'निर्लेप' अर्थ की ही संगति उचित है।।

सूत्रार्थ—(द्रष्टा) देखने वाला=ज्ञाता चेतनपुरुष (दृशिमात्रः) केवल देखने की (अनुभवात्मक प्रतीति में) शक्तिरूप है। वह (शुद्धोऽपि) निर्विकार, तथा सत्त्वादि प्रकृति के गुणों से रहित होकर भी (प्रत्ययानुपश्यः) त्रिगुणा बुद्धिवृत्ति द्वारा जाने गये विषयों को अथवा प्रस्तुत विषयों को बुद्धि के सान्निध्य से जानता है।

भावार्थ—चिकित्सा शास्त्र के रोगादि चार विभागों की भांति योग के हेय=दुःखादि चार विभागों में से (२।१७ में) हेयहेतु के वर्णन में द्रष्टा और दृश्य का कथन किया गया है। दृश्य का तदनन्तर वर्णन करके इस सूत्र में द्रष्टा के स्वरूप का कथन किया गया है। द्रष्टा पुरुष शुद्ध चेतनतत्त्व है। क्योंकि चेतनतत्त्व ही द्रष्टा=देखने वाला हो सकता है। चेतन-तत्त्व को सिद्ध करने के लिये अन्य किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। और उसे बाह्य वस्तुओं का ज्ञान उसके अतिशय निकट रहने वाली बुद्धि के द्वारा होता है और बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान करती है। इन्द्रियाँ बाह्यविषय से सम्बद्ध ज्ञान मन को, मन बुद्धि को और बुद्धि पुरुष को पहुँचाती है। इन्द्रिय, मन व बुद्धि ये समस्त अचेतन होने से द्रष्टा=ज्ञाता नहीं हैं।

पुरुष में विकार की सम्भावना करके कुछ व्याख्याकार सुख व दुःख की अनुभूति बुद्धि में मानते हैं। किन्तु यह मान्यता शास्त्रीय-विरोध के कारण मिथ्या है। इस शास्त्र में प्रकृति को परार्थ=पुरुष के प्रयोजन के लिये माना है। यदि चेतन के सान्निध्य से बुद्धि में अनुभूति मानी जाये, तो यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रकृति परार्थ नहीं, प्रत्युत पुरुष परार्थ होगा। क्योंकि पुरुष बुद्धि का प्रयोजन सिद्ध कर रहा है। और बुद्धि को इस शास्त्र में प्रकृति का विकार माना है, वह अचेतन होने से ज्ञान की अनुभूति नहीं कर सकती। और इस सूत्र में भी द्रष्टा=पुरुष को प्रत्ययानुपश्यः=बुद्धिवृत्ति के द्वारा ज्ञानानुभूति करने वाला माना है। अतः बुद्धि में ज्ञानानुभूति मानना शास्त्र-विरुद्ध होने से मिथ्या है।

और चेतनपुरुष तथा बुद्धि में स्पष्ट-भेद प्रकट करते हुए व्यास-भाष्य में निम्न बातों पर प्रकाश डाला है—(१) पुरुष बुद्धिवृत्ति से होने वाले ज्ञान की अनुभूति करता है, बुद्धि नहीं। (२) पुरुष बुद्धि के समानरूप वाला नहीं है। क्योंकि बुद्धि परिणामवाली=विकारधर्मवाली है, तो पुरुष अपरिणामी है, बुद्धि अचेतन है तो पुरुष चेतन है। बुद्धि प्रकृति का विकार होने से कारण वाली है अतः अनित्य है, किन्तु पुरुष नित्य सत्ता है। बुद्धि आदि पुरुष के

भोगने के साधन हैं तो पुरुष भोक्ता है। (३) यद्यपि इन दोनों में उपर्युक्त अन्तर होते हुए स्पष्ट रूप से विरूपता है, पुनरपि व्यासभाष्य में विरूपता इसलिये नहीं मानी है कि इनका अतिशय सान्निध्य है। बुद्धिवृत्ति से होने वाले ज्ञानों का द्रष्टा पुरुष है अतः बुद्धि के आकारवाला प्रतीत होता है। (४) बुद्धि परार्थ=पुरुष के लिये है, पुरुष बुद्धि के लिये नहीं है। (५) बुद्धि त्रिगुणा है और निश्चयात्मकवृत्ति है, परन्तु पुरुष गुणों का साक्षात्कार करने वाला और त्रिगुणात्मक न होने से चेतनधर्मा है ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

व्यासभाष्यम्

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मविषयतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा भवति। स्वरूपं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद—यह दृश्य=त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्यरूप जगत् दृशि-रूप=द्रष्टा चेतनात्मा की कर्मरूपता को प्राप्त है अर्थात् चेतनात्मा भोक्ता है और दृश्य उसके भोग का आधार है। और तदर्थ=द्रष्टा पुरुष के लिये ही दृश्य=त्रिगुणा प्रकृति का स्वरूप कार्यरूप में प्रकट होता है।

सूत्रार्थ—(दृश्यस्यात्मा) यो० २।१८ तथा २।१९ सूत्रों में व्याख्यात दृश्या=प्रधान शब्दवाच्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का आत्मा=स्वरूप (तदर्थ एव) द्रष्टा पुरुष के प्रयोजन=भोग-अपवर्ग के लिये ही है।

भावार्थ—इस सूत्र में 'एव' शब्द अवधारण अर्थ का बोध करा रहा है। जिससे स्पष्ट है कि दृश्या=प्रकृति द्रष्टा पुरुष के प्रयोजन (भोग-अपवर्गरूप) के लिये है, उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। इससे उन लोगों की मिथ्या-मान्यता का खण्डन हो जाता है कि जो बुद्धि को ही सुख और दुःख का भोक्ता मानते हैं। क्योंकि यदि भोग करने वाली बुद्धि है, तो इस सूत्र का प्रयोजन निरर्थक हो जाता है और बुद्धि भी प्रकृति-जन्य होने से दृश्य का प्रयोजन दृश्य के लिये हो जाता है।

और इस सूत्र में 'तत्' सर्वनाम पूर्वसूत्रोक्त द्रष्टा पुरुष का ही परामर्शक है, दृश्य का नहीं। और (२।१८ में) 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' कहकर पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिये ही दृश्य का प्रयोजन बताया है। और बुद्धि को पूर्वसूत्र के भाष्य में 'परार्था' कहने का भाव भी यही है कि बुद्धि पुरुष का प्रयोजन

सिद्ध करती है, पुरुष बुद्धि का नहीं। अतः सुख-दुःखरूप समस्त भोगों का भोक्ता चेतनधर्मा पुरुष है, बुद्धि नहीं॥ २१॥

अव०— तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यते इति स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः। न तु विनश्यति। कस्मात्?

(अर्थ)—उस दृश्य प्रकृति का स्वरूप द्रष्टा पुरुष के द्वारा परिज्ञात होने पर और भोग अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के पूरा होने पर वह दृश्य पुरुष के द्वारा नहीं देखा जाता है। इसलिये इस दृश्य के स्वरूप का नाश का प्रसंग प्राप्त होता है, किन्तु दृश्य नष्ट नहीं होता, क्योंकि—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥ २२॥

व्यासभाष्यम्

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान्पुरुषान्प्रति कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेणाऽऽत्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथा चोक्तम्—धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति॥ २२॥

भाष्यानुवाद—एक पुरुष के प्रति कृतार्थ=सम्प्राप्त प्रयोजन वाले दृश्य के नाश का प्रसङ्ग प्राप्त होने पर भी नष्ट नहीं होता। क्योंकि अन्यपुरुष साधारणत्वात्=वह दृश्य मुक्त पुरुष से भिन्न अमुक्त पुरुषों के प्रति साधारण=समान रूप से बने रहने के कारण नष्ट नहीं होता। (इसी बात को और स्पष्ट करते हैं) कुशल=विवेकख्याति को प्राप्त पुरुष के प्रति दृश्य का नाश प्रसंग प्राप्त होने पर भी अकुशल=अविवेकी=बद्ध पुरुषों के प्रति न कृतार्थम्=प्रयोजन समाप्त नहीं हुआ है, इसलिये उन बद्धपुरुषों की दृशेः=दर्शन क्रिया का दृश्य कर्म विषमता को प्राप्त होता है। अतः दूसरे बद्धपुरुषों से (अवशिष्ट कार्य रहने से) दृश्य आत्मरूप अपने स्वरूप को बनाए ही रखता है। और इसलिए दृक्दर्शनशक्त्योः=पुरुष और बुद्धि शक्तियों के नित्य होने से दोनों का संयोग प्रवाह से अनादि कहा गया है। और वैसा कहा भी है—

(धर्मिणामनादि०) धर्मियों=प्रकृति तथा पुरुष का अनादि संयोग

होने के कारण धर्मों=प्रकृति के कार्य बुद्धि इत्यादि का पुरुष के साथ संयोग प्रवाह से अनादि है।

सूत्रार्थ—दृश्य=प्रकृति के कार्यभूत बुद्धि आदि का (कृतार्थम्) मुक्तपुरुष के लिये प्रयोजन समाप्त हुआ भी उस पुरुष के प्रति (नष्टमपि) नाश का प्रसङ्ग प्राप्त होने पर भी (अनष्टम्) दृश्य नष्ट नहीं होता। (तदन्यसाधारणत्वात्) क्योंकि उसका प्रयोजन मुक्तपुरुष से भिन्न=अमुक्त (बद्ध) पुरुषों के प्रति साधारण स्थिति बनी रहती है।

भावार्थ—गत सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि यह दृश्य समस्त जगत् पुरुष के भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिये है और जब किसी पुरुष का भोग अपवर्ग सिद्ध हो जाता है अर्थात् वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो क्या दृश्य निष्प्रयोजन होने से नष्ट हो जाता है? इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि पुरुष=चेतन जीवात्मा अनन्त हैं, उनकी मुक्ति एक साथ कदापि नहीं हो सकती। किसी एक या अनेक पुरुषों का योगाभ्यासादि करने से विवेकख्याति से मोक्ष होने पर भी दृश्य का प्रयोजन पूरा कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि यह दृश्य जगत् समस्त आत्माओं के लिये है, किन्हीं विशेषों के लिए नहीं। जो अकुशलपुरुष मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, उनके लिये दृश्य का प्रयोजन बना ही रहता है।

और जैसे सृष्टि-प्रलय का क्रम रात-दिन की तरह प्रवाह से अनादि चलता रहता है, वैसे ही जीवों के जन्म-मरण का क्रम चलता रहता है। यह दृश्यजगत् प्रलय में अपने कारण में लीन होकर स्थिर रहता है। और सर्ग-काल में फिर व्यक्तावस्था में आ जाता है। अतः यह दृश्य और पुरुष=चेतनात्मा का संयोग नित्य होने से अनादि है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि कब से इनका संयोग प्रारम्भ हुआ है। संयोग शब्द से भी यह बात स्पष्ट है कि दृश्य और द्रष्टा पुरुष दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। इनका किसी निमित्त से संयोग होता है और विवेकख्याति होने तक यह क्रम चलता रहता है। और प्रलयकाल और मोक्ष में इनका संयोग नहीं रहता ॥ २२ ॥

अव०—संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

(अर्थ)—संयोग का स्वरूप कहने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

व्यासभाष्यम्

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात्संयोगाद्दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः। या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्। दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वंद्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्। नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति। दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम्।

किंचेदमदर्शनं नाम, किं गुणानामधिकार आहोस्विद्दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः ? स्वस्मिन्दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः।

किमर्थवत्तागुणानाम् ? अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः। यत्रेदमुक्तं प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्।

तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्। उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा। करणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः। दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके, प्रधानस्याऽऽत्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः" इति श्रुतेः।

सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति सर्वकार्यकारणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति। उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके।

तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति। तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनैवादर्शनमवभासते। दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति। इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः। तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद—पुरुष को ही यहाँ 'स्वामी' शब्द से कहा गया है और 'स्व' शब्द से दृश्य=प्रकृतिजन्य बुद्धि आदि को। पुरुष स्व=दृश्य के साथ दर्शन के लिये संयुक्त होता है। उस संयोग से जो दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि होती है, वह भोग है और जो द्रष्टा=स्वामी पुरुष आत्मा अथवा परमात्मा के स्वरूप का बोध होना है, वह अपवर्ग=मोक्ष है। और पुरुष तथा दृश्य का संयोग दर्शन=यथार्थज्ञान रूप कार्य के समाप्त होने तक ही रहता है, इसलिए दर्शन पुरुष और बुद्धि आदि दृश्य के वियोग का कारण कहा गया

है। यह दर्शन भी अदर्शन=अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी=विरोधी है, इसलिए अदर्शन (अविद्या) पुरुष और दृश्य के संयोग का कारण कहा गया है। यहां दर्शन=विद्या मोक्ष का कारण नहीं है, प्रत्युत अदर्शन=अविद्या के अभाव हो जाने से ही जो बन्धन का अभाव हो जाता है, वही मोक्ष[१] है। दर्शन=यथार्थ ज्ञान हो जाने पर बन्धन के कारण (प्रकृति पुरुष के संयोग के कारण) अदर्शन=अविद्या का नाश हो जाता है इसलिये दर्शन=ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है।

[अदर्शन=अविद्या का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आठ विकल्प]

(१) यह अदर्शन क्या है? (किं गुणानामधिकार०) क्या जो सत्त्व, रजस्, और तमस् गुणों का अधिकार=प्रवृत्ति=प्रकृति विकारों को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य है, क्या यह अदर्शन है?

(२) आहोस्विद् दृशिरूपस्य०) अथवा द्रष्टा जो स्वामी पुरुष है, उसको शब्दादि विषयों को दिखाने वाले प्रधानचित्त=विवेकख्याति रूप चित्तवृत्ति का प्रकट न होना, अर्थात् (स्वस्मिन् दृश्ये०) स्वरूप दृश्य के विद्यमान रहने पर भी दर्शन=दोनों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होना है, वह अदर्शन है।

(३) (किमर्थवत्ता गुणानाम्०) क्या सत्त्वादि गुणों की अर्थवत्ता=(अर्थः=पुरुषस्यार्थः, तद्युक्ताः अर्थवन्तः, तेषां भावः) पुरुष के अर्थ=भोग-अपवर्ग के सम्पादन में प्रवृत्त रहना अर्थात् जब तक गुणों का पुरुषार्थ कार्य पूरा नहीं होता, तब तक गुणों में पुरुषार्थवत्ता बनी रहती है। क्या यह अदर्शन है?

(४) (अथाविद्या स्वचित्तेन सह०) अथवा (प्रलयकाल में) प्रत्येक जीव के अपने चित्त के साथ निरुद्धा=अपने कारण में लीन होने वाली और (सर्ग के प्रारम्भ में) अपने चित्त के उत्पत्ति के बीज=कारण में रहने वाली अविद्या अदर्शन है।

(५) (किं स्थितिसंस्कारक्षये०) अथवा क्या स्थिति संस्कारक्षय=मूल प्रकृति में साम्यावस्था के संस्कारों के क्षीण हो जाने पर गति संस्काराभिव्यक्तिः=सत्त्वादि गुणों की विषमता से महत्तत्त्वादि विकारों को प्रारम्भ करने वाले संस्कारों की अभिव्यक्ति=कार्योन्मुख करना ही अदर्शन है?

---

१. इस प्रसंग से पौराणिक (मोक्ष को नित्य मानने वाले) यह आशय निकालते हैं कि यहाँ मोक्ष को कारणजन्य नहीं माना, अतः वह नित्य है। किन्तु उनकी यह भ्रान्ति है। (क्योंकि व्यासभाष्य की अग्रिम पंक्तियों में मोक्ष को सकारण मानते हुए दर्शन=विद्या को मोक्ष का कारण माना है।

जिसके विषय में कहा है कि यदि प्रधान=प्रकृति स्थिति दशा में साम्यावस्था में ही रहे तो विकारों का प्रारम्भ न होने से प्रकृति प्रधान[1] नहीं कहला सकती। और इसी प्रकार (गत्यैव वर्त्तमानम्) साम्यावस्था के न रहने से विषमावस्थावश निरन्तर गति रूप में ही वर्त्तमान रहने से विकारों के नित्य होने से विकारों की तुलना में प्रकृति प्रधान नहीं रहेगी। और स्थिति=साम्यावस्था तथा गति=विषमावस्था दोनों ही प्रकारों से प्रकृति का वृत्ति=प्रधान पद से व्यवहार होता है, अन्यथा नहीं। और यदि प्रधान के स्थान पर जगत् के दूसरे कारणों (परमाणु आदि की) कल्पना की जाये, तो प्रधान के समान ही प्रसंग रहेगा अर्थात् यदि वे स्थिति=साम्यावस्था में ही रहते हैं तो वे कारण नहीं बन सकेंगे और यदि सदा गति=विषमावस्था में रहते हैं, तो भी कारण न कहला सकेंगे।

(दर्शनाशक्तिरेवादर्शनमित्येके०) ऐसा कुछ लोग मानते हैं कि दर्शनशक्ति ही अदर्शन है। (क्योंकि वह प्रथम अनुचित का दर्शन=ज्ञान भोग रूप से कराती है, तत्पश्चात् उचित का दर्शन=ज्ञान करायेगी।) ऐसी श्रुति भी है—प्रधान=मूल प्रकृति की प्रवृत्ति अपने को दिखलाने के लिये होती है, अतः प्रकृति का दर्शन ही अदर्शन है।

(७) (सर्वबोध्यबोधसमर्थः०) अथवा कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि सब बोध्य=ज्ञेयों को जानने में समर्थ पुरुष प्रधान की प्रवृत्ति से पहले कुछ भी नहीं जानता है। और सर्वकार्यकरणसमर्थम्=सब कार्यों को करने में समर्थ दृश्य=कार्यजगत् भी तदा=प्रधान की प्रवृत्ति से पहले नहीं दिखाई देता। इस प्रकार पुरुष और दृश्य दोनों का अदर्शनरूप धर्म ही अदर्शन है। उन दोनों में से (तत्रेदं दृश्यस्य०) दृश्य का दर्शन होना निजी रूप होने पर भी पुरुष ज्ञान की अपेक्षा से (पुरुष के आधीन होने के कारण) दृश्य धर्म के रूप से होता है। और वैसे पुरुष का अदर्शन=अविद्या निजधर्म नहीं है तो भी दृश्य प्रत्ययापेक्षम्=बुद्धिवृत्ति के ज्ञान की अपेक्षा से पुरुष के धर्म के रूप में प्रतीत होता है।

(८) दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिद्०) कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं—जो रागादि का ज्ञान है, वह अदर्शन है अर्थात् विवेकख्याति से भिन्न जो

१. 'प्रधान' शब्द के अर्थ से भी यही स्पष्ट होता है—'प्रकर्षेण धीयते विकारजातं येन तत् प्रधानम्।' अर्थात् विकारों को प्रकृष्टतया धारण करने वाला तत्त्व 'प्रधान' कहलाता है।

दर्शन=ज्ञान है, वह सब अदर्शन=अविद्या ही है। ये आठ विकल्प अदर्शन के विषय में शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। उन अनेक विकल्पों में सब पुरुषों=विद्वानों की साधारणविषय=सामान्य मान्यता है कि सत्त्वादि गुणों का संयोग होना ही अदर्शन (अविद्या) है और इनका वियोग=पृथक् होना ही दर्शन=विवेक-ख्यातिरूपविद्या है।

सूत्रार्थ—(स्व-स्वामिशक्त्योः) 'स्व' पद से यहाँ दृश्य का तथा 'स्वामी' पद से पुरुष=चेतनात्मा का ग्रहण है। अतः दृश्य=प्रकृति और स्वामी पुरुष, इन दोनों के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः) स्वरूपों को जानने का जो हेतु है, वह संयोग है।

भावार्थ—२। १७ सूत्र में द्रष्टा और दृश्य के संयोग को हेय=दुःख का कारण बताया है। द्रष्टा तथा दृश्य का स्वरूप गत सूत्रों में कहा गया है। परन्तु इनके संयोग होने का क्या कारण है? अथवा इनके संयोग का स्वरूप क्या है, यह इस सूत्र में बताया गया है। सूत्र में 'स्व' शब्द से दृश्य=प्रकृतिजन्य बुद्धि आदि का ग्रहण है और स्वामी शब्द से पुरुष=चेतनात्मा का ग्रहण है। और इन दोनों के स्वरूपों की उपलब्धि का हेतु इनका संयोग होता है। अर्थात् 'स्व' शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि भोग है और स्वामि-शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि ही अपवर्ग है। स्वामि-शक्ति=आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् यह संयोग समाप्त हो जाता है।

मोक्ष सकारण है अथवा अकारण? यहाँ व्यास-भाष्य में अदर्शन=अविद्यादि के अभाव से बन्धन के अभाव को मोक्ष कहा है और साथ ही यह भी कहा है कि यह अदर्शन का अभाव दर्शन=यथार्थ ज्ञान के होने पर होता है, इस लिए मोक्ष का कारण दर्शन=ज्ञान है। यहाँ कुछ व्याख्याकारों का ऐसा मत है कि दर्शन से मोक्षप्राप्ति मानी जायेगी तो वह सकारण होने से अनित्य हो जायेगी। क्योंकि जो-जो कारण से कार्य उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है। इसलिये अदर्शन के अभाव को ही मोक्ष मानना उचित है जिससे अनित्यता का दोष न आये।

परन्तु यह उन आचार्यों की भ्रान्तिमात्र ही है। क्योंकि वे अदर्शन के अभाव को मोक्ष मानकर मोक्ष के कारण 'दर्शन' को छोड़ नहीं सकते। दर्शन के विना अदर्शन का अभाव कदापि नहीं हो सकता। और अनित्यता के दोष से उनका क्या आशय है? क्या वे मोक्ष होने पर उन आत्माओं की मोक्ष से आवृत्ति नहीं मानते? अथवा परमेश्वर का जो आनन्दस्वरूप है उसमें किसी

प्रकार की कमी हो जायेगी ? उनकी ये दोनों आशंकायें ही निराधार हैं। क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति भी सावधिक[1] होने से सदा नहीं रहती। इसका कारण स्पष्ट है कि मोक्ष जीवात्मा के कर्मों का फल है और उसके सान्तकर्मों का अनन्त फल मानना न्याय-विरुद्ध है। न्यायकारी परमेश्वर ऐसा अन्याय कदापि नहीं कर सकता। और अल्प सामर्थ्य वाला जीवात्मा भी अपने सीमित कर्मों का फल असीमित कैसे भोग सकेगा ? और परमेश्वर के आनन्दस्वरूप मोक्ष में कमी मानना तो उपहास्यास्पद ही कहा जायेगा परमेश्वर का आनन्द-स्वरूप अक्षुण्ण और असीमित होने से उसमें किसी प्रकार की कमी कदापि सम्भव नहीं है। अतः मोक्ष को सकारण मानने में कोई दोष नहीं आता।

अदर्शन का स्वरूप—योगदर्शन के (२।२४) सूत्र में प्रकृति-पुरुष के संयोग का हेतु अविद्या=(अदर्शन) को माना है। और इस अदर्शन का क्या स्वरूप है इस विषय में व्यास-भाष्य में निम्नलिखित विकल्प दिखाए हैं—

(१) सत्त्व, रजस् और तमस् इन प्रकृति के गुणों का कार्यरत रहना, इन गुणों का आत्मा के साथ संयोग बना रहना ही अदर्शन है।

(२) द्रष्टा=पुरुष की चित्तवृत्ति का प्रकृति-पुरुष के स्वरूप के साक्षात्कार करने और विवेकख्याति के रूप में परिणत न होना ही अदर्शन है।

(३) पुरुष के अर्थ=भोग-अपवर्ग के सम्पादन में सत्त्वादि गुणों का प्रवृत्त रहना अर्थात् पुरुष का प्रयोजन पूर्ण होने तक गुणों का कार्य रहना अदर्शन है।

(४) प्रलय के पश्चात् गुणों की विषम-दशा सत्त्वादि में गुणों का कार्यरत होना अदर्शन है।

(५) चित्त में स्थित अविवेक-पूर्ण-वासनाओं का उचित अवसर पाकर प्रकट होना अदर्शन है।

(६) कुछ आचार्य दर्शनशक्ति को ही अदर्शन मानते हैं। क्योंकि यह ही प्रथम भोग कराकर भोगों से निवृत्ति कराती है।

(७) पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को न जानना ही अदर्शन है।

(८) और कुछ आचार्यों का मत है कि विवेकख्याति से भिन्न जो रागादि

---

१. मोक्ष की अवधि 'परान्तकाल' मुण्डकोपनिषद् में माना है। वह कितने काल तक रहता है, इसका निर्णय महर्षि-दयानन्द के अमरग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के मोक्ष-प्रकरण में पढ़िये।

का ज्ञान है, वह अदर्शन है। क्योंकि रागादि का ज्ञान ही विवेकख्याति में बाधक है।

उपर्युक्त समस्त विकल्पों का एकमात्र सार यह है कि अविद्या के कारण प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है, जो दुःख का कारण है। अतः विवेकख्याति का अभाव ही अदर्शन है ॥ २३ ॥

अव०—यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

(अर्थ)—और जो जीवात्मा का अपनी बुद्धि के साथ संयोग होता है—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

व्यासभाष्यम्

[अविद्या] विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति साधिकारा पुनरावर्तते। सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते।

अत्र कश्चित्षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति—मुग्धया भार्ययाऽभिधीयते—षण्डकाऽऽर्यपुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति, स तामाह—मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति। तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति, विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा। तत्राऽऽचार्यदेशीयो वक्ति—ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोऽदर्शनकारणाभावाद्बुद्धिनिवृत्तिः। तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते। तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः, किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः। ॥ २४ ॥

भाष्यानुवाद—विपर्यय=मिथ्याज्ञान की वासना अविद्या है। इस मिथ्याज्ञान की वासना (संस्कार) से आवासिता=आच्छादित=घिरी हुई बुद्धिवृत्ति अपने कार्य की निष्ठा=समाप्ति=पूर्णता जिसे विवेकख्याति कहते हैं, उसको प्राप्त नहीं होती है। अतः साधिकारा=मिथ्याज्ञान के संस्कारों के कारण गुणों की प्रवृत्तिपूर्वक बुद्धिवृत्ति बार-बार संसार में आती रहती है। और जब वह बुद्धि=चित्तवृत्ति पुरुषख्यातिपर्यवसाना=विवेकख्याति तक अपने कार्य को पूर्ण कर लेती है, तब चरिताधिकारा=अपने कार्य के समाप्त होने से कृतकृत्य हो जाती है और जिसका अदर्शन=मिथ्याज्ञान दूर हो गया है,

अतः बन्धन के कारण मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने से फिर संसार में वापिस नहीं आती अर्थात् उस पुरुष का संयोग प्राप्त नहीं करती।

इस विषय में कोई (पूर्वपक्षी या नास्तिक) षण्डक=नपुंसक व्यक्ति के उपाख्यान=कथानक के द्वारा उद्घाटयति=विषय को स्पष्ट करने के लिये शंका करता है—मोहित अथवा नासमझ स्त्री किसी नपुंसकपुरुष से कहती है—हे षण्डक (नपुंसक) आर्यपुत्र=स्वामिन्! मेरी भगिनी=बहन सन्तान वाली हो गई है, मैं क्यों नहीं? वह नपुंसक उस स्त्री से कहता है—कि मैं मरकर तेरे से सन्तान उत्पन्न करूँगा। उस नपुंसक पुरुष की तरह अर्थात् जैसे—विद्यमान नपुंसक सन्तान-प्राप्ति नहीं करा सकता, मरने के बाद उससे क्या आशा की जा सकती है, वैसे ही विद्यमान ज्ञान चित्तवृत्ति को निवृत्त नहीं करता है, तो विनष्ट अर्थात् निवृत्त होकर करेगा, इस प्रकार की क्या प्रत्याशा=विश्वास किया जा सकता है?

इस पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य पद को प्राप्त उत्तर-पक्षी कहते हैं—अरे भद्रपुरुष! बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है। अदर्शन=बन्धन के कारण-भूत अविद्या के निवृत्त होने से ही बुद्धिनिवृत्ति होती है और वह अदर्शन=मिथ्याज्ञान बन्धन का कारण है, उसकी निवृत्ति दर्शन=विवेकख्याति से हो जाती है। इस विषय में चित्तवृत्ति की निवृत्ति होना ही मोक्ष है, यह इस पूर्व-पक्षी को जो मतिभ्रमः=भ्रान्ति हो रही है, वह अस्थान में अर्थात् प्रसंग के विरुद्ध ही है। क्योंकि यहाँ भ्रम का कोई अवसर ही नहीं है।

सूत्रार्थ—(तस्य) स्व=दृश्य बुद्धि और स्वामी=जीवात्मा के संयोग का (हेतुः) कारण (अविद्या) मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञान के संस्कार हैं।

महर्षि दयानन्द ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम अभिमान यह है। बड़े-बड़े पाठान्तर करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती। पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा। यथार्थ दर्शन ही विद्या है। यथाविहित ज्ञान विद्या है। प्रमा के विरुद्ध भ्रम है। विद्या में भ्रम नहीं होता। 'अनात्मनि आत्मबुद्धिः' 'अशुचि पदार्थे शुचि-बुद्धिः' यह भ्रम है। यही अविद्या का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण हैं, वे विद्या के हैं।

जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूँ वा मैं बड़ा राजा हूँ, उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय में प्रयत्न करते रहना चाहिये। हमारे देश में छोटी अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या-सम्पादन करने में अड़चन होती हैं। अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण

विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास (न्यूनता) होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।" (उपदेशमञ्जरी तृतीय उप०)

भावार्थ—पूर्व सूत्र में 'संयोग' का स्वरूप तथा प्रयोजन भी स्पष्ट किया है। और पुरुष और दृश्य का कारण इस सूत्र में कहा है। यह अविद्या क्या है? इसकी व्याख्या २।५ सूत्र पर द्रष्टव्य है। अर्थात् अनित्य में नित्यज्ञान, नित्य में अनित्यज्ञान, शुचि (पवित्र) में अशुचिज्ञान, अशुचि में शुचि का ज्ञान, अनात्मा में आत्मज्ञान, आत्मा में अनात्मज्ञान, दुःख में सुखज्ञान और सुख में दुःखज्ञान करना अविद्या है। अर्थात् अविद्या शब्द विषयज्ञान तथा मिथ्याज्ञान का पर्यायवाची है।

और यहाँ अविद्या को पुरुष-दृश्य के संयोग का कारण माना है और अविद्या की उत्पत्ति पुरुष-दृश्य के संयोग होने पर होती है। यह अन्योन्याश्रय दोष है, ऐसी आशंका होती है। और 'इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते' (महाभाष्ये) इतरेतराश्रय कार्य सिद्ध नहीं होते। इसका समाधान यह है कि क्योंकि अविद्या के संस्कार अनादिकाल से चलते रहते हैं। वे उचित अवसर, स्थान तथा कारण को पाकर उद्बुद्ध हो जाते हैं। और पुरुष भोगासक्त हो जाता है। परन्तु जो योगी प्रणवोपासना योगाङ्गों का अनुष्ठान और उत्कृष्ट वैराग्य से इन वासनाओं को दग्धबीजवत् कर देता है, वह भोगासक्त न होकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। इसीलिये उसको मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व समय में भी दृश्या=चित्तवृत्ति का संयोग होता हुआ भी अविद्याग्रस्त नहीं कर सकती। और जहाँ प्रकृति का प्रयोजन भोग कराना है, वहाँ अपवर्ग=मोक्ष प्राप्त कराना भी है। अतः प्रकृति का संयोग अविद्या का ही कारण नहीं है, प्रत्युत विद्या का कारण होने से मोक्ष का भी कारण है। यह तो पुरुष की परीक्षा है कि वह किसका चयन करता है। और इनके संयोग से इनके स्वरूपों का भेदज्ञान होने पर कैवल्य भी प्राप्त किया जाता है। अविद्या के संस्कारों के कारण संयोग होने पर पुरुष भोगासक्त हो जाता है और विद्या=यथार्थज्ञान के द्वारा संस्कारों को फलोन्मुख करने में असमर्थ करके अपवर्ग का अधिकारी बन जाता है। अतः भोगासक्त होने में प्रकृति-पुरुष का संयोग ही कारण नहीं है अविद्या व अविद्या के संस्कार भी कारण हैं और मोक्ष-प्राप्ति में विवेकख्याति की उत्कृष्ट-दशा प्राप्ति के लिये प्रणवजप, यम-नियमादि का पालन, वैराग्य और विद्या कारण है। क्योंकि अविद्या सब क्लेशों का मूल है और विद्या बन्धन-मुक्ति के सर्वोपायों की जननी है। इसलिये शास्त्रकार अविद्या को बन्धन का कारण और विद्या को मोक्ष का कारण मानते हैं॥ २४॥

अव०—हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्।

(अर्थ)—अनागत दुःख हेय=त्याज्य है और हेय का कारण प्रकृति और जीव का संयोग कारणसहित कहा गया। इसके बाद 'हान' कहते हैं—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

व्यासभाष्यम्

तस्यादर्शनस्याभावादबुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद्धानम्। तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम्। तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद—[तदभावात्] उस अदर्शन=मिथ्याज्ञान की वासना के निवृत्त होने से [संयोगाभावः] बुद्धि=चित्तवृत्ति और पुरुष के संयोग का अभाव हो जाता है। अर्थात् पुरुष के बन्धन की सर्वथा[1] निवृत्ति हो जाती है। यही हान=दुःख का नाश है। [तद् दृशेः कैवलयम्] और वह द्रष्टा पुरुष का सत्त्वादि गुणों से पृथक् रहना और फिर संयोग न होना 'कैवलय' है। दुःख के कारण (मिथ्याज्ञान और संयोग) की निवृत्ति होने पर दुःख का उपरमः=नष्ट होना हानम्=मोक्ष है। उस समय पुरुष केवल स्वरूप में प्रतिष्ठावाला होता है, ऐसा कहा गया है।

सूत्रार्थ—(तदभावात्) उस अविद्या=मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने से (संयोगाऽभावः) चित्तवृत्ति और पुरुष के संयोग की निवृत्ति होती है (हानम्) यही हान=दुःख से छूटना है। (तद् दृशेः कैवलयम्) और द्रष्टा पुरुष का सत्त्वादि गुणों से पृथक् होना कैवल्य=मोक्ष है।

भावार्थ—इस शास्त्र के चतुर्व्यूह=हेयादि चार अंगों में से हेय और हेय-हेतु का कथन किया जा चुका है। इस सूत्र में 'हान' का स्वरूप बताया गया

---

१. यहाँ व्यासभाष्य में 'आत्यन्तिक, शब्द का टीकाकार 'शाश्वतिक निवृत्ति' अर्थ करके मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं मानते। किन्तु यह अर्थ प्रमाण व युक्ति से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। मोक्ष की भी परान्तकाल एक अवधि है। जैसे—कोई कहे—'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते' इस प्राणी को बहुत दुःख अथवा बहुत सुख है। इसी प्रकार यहाँ भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये।

है। इस सूत्र में 'तत्' शब्द से (पूर्व सूत्रोक्त) 'अविद्या' का परामर्श है। ओंकारोपासना, वैराग्य, ज्ञानादि से जब अविद्या का सर्वथा अभाव हो जाता है और सूक्ष्मक्लेशों की वासनाओं को भी दग्ध कर दिया जाता है, तब दृश्य व पुरुष के स्वरूप-भेद का ज्ञान होने से पुरुष की प्रकृति के साथ संयोग समाप्त हो जाता है, यही प्रकृति के बन्धन से छूटना 'हान' कहलाता है और यही पुरुष का कैवल्य-मोक्ष है। इसी बात को व्यासभाष्य में बहुत ही स्पष्ट किया है कि पुरुष का प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से पृथक् होना और फिर संयोग=जन्म-मरणरूप संसार में न आना ही मोक्ष है। दुःख का कारण प्रकृति-संयोग है, उसका छूटना ही हान=मोक्ष है।

यहाँ व्यासभाष्य में 'आत्यन्तिक[1] बन्धनोपरम' लिखा है जिसका यथार्थरूप न समझने से यह मिथ्याभ्रान्ति होती है कि क्या पुरुष मोक्षप्राप्त करने के बाद संसार में कभी नहीं आता? क्या पुरुष की मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती? परन्तु प्रसंग पर सम्यक् विचार करने से इस भ्रान्ति की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है। जन्म-जन्मान्तरों से प्रकृति-बन्धन के कारण जिस दुःख-परम्परा से पुरुष ग्रस्त होता है, वह बहुत ही जटिल होने से दुर्भेद्य होती है। उससे सन्तप्त पुरुष जब निरन्तर पुरुषार्थ व साधना करता है, तब वह दुःखों के जाल से मुक्त होकर यह अनुभूति करता है कि मेरे दुःखों का अत्यन्त अभाव हो गया है। इस विषय में महर्षि दयानन्द की व्याख्या देखिये—

"यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताऽभाव ही का नाम होवे। "जैसे अत्यन्तं[2] दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते' बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दुःख है। इसी प्रकार यहाँ भी 'अत्यन्त' शब्द का अर्थ जानना चाहिये"॥ (स० प्र० नवमसमु०)॥ २५॥

अव०—अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः।

(अर्थ)—अब हान की प्राप्ति का उपाय क्या है? यह बताते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

व्यासभाष्यम्

[विवेकख्यातिः] सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। सा त्वनिवृत्त-

१. न्यायदर्शन में भी 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' सूत्र में 'अत्यन्त' शब्द का प्रयोग किया है।

२. यहाँ 'अत्यन्त' शब्द अतिशय अर्थ का ही बोधक है।

मिथ्याज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं संपद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः । ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद—सत्त्व[1]=बुद्धि (चित्तवृत्ति) और पुरुष की भिन्नता का बोध ही विवेकख्याति[2] है । किन्तु वह विवेकख्याति मिथ्याज्ञान की निवृत्ति न होने तक प्लवते=भ्रष्ट=स्खलित=अस्थिर रहती है । जब मिथ्याज्ञान जले हुए बीजों की भाँति वन्ध्यप्रसव=पुनरुद्भवसामर्थ्यहीन हो जाता है, तब अविद्यादि क्लेशों और रजोगुण के प्रभाव से रहित सत्त्व=बुद्धि की उत्कृष्ट निर्मलता होने पर, उत्कृष्ट वशीकारसंज्ञा[3] स्वात्मवशीकार अनुभूति की अवस्था में वर्त्तमान पुरुष की विवेकख्याति का प्रवाह निर्मल=निर्दोष हो जाता है और वह निर्दोष विवेकख्याति हान का उपाय है । उस विवेकख्याति से मिथ्याज्ञान का जले हुए बीजों की भांति हो जाना और फिर अप्रसव= कार्योत्पत्ति में समर्थ न रहना, यह मोक्ष का मार्ग है । इसे ही हान का उपाय कहते हैं ।

सूत्रार्थ—(अविप्लवा) बाधारहित अर्थात् मिथ्याज्ञान के दग्धबीजवत् होने और वशीकार नामक वैराग्य से पवित्र होने से निर्दोष (विवेकख्यातिः) सत्त्व=चित्तवृत्ति और पुरुष की भिन्नता का बोध (हानोपायः) हान=दुःख के नाश का उपाय है ।

भावार्थ—इस सूत्र में योग के हेयादि चार अंगों में से चौथे अंग हानोपाय का वर्णन किया है । हानोपाय को मोक्षोपाय भी कहा जाता है । प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण अविद्या है । और इस संयोग का अभाव ही हान=मोक्ष है । और इस संयोग की निवृत्ति होती है विवेकख्याति से । जब

---

१. सत्त्व=सतोगुणप्रधान चित्तवृत्ति को कहते हैं । यद्यपि चित्तवृत्ति त्रिगुणा है । पुनरपि सतोगुणप्रधान को सत्त्व=बुद्धि नाम से इस शास्त्र में बार बार प्रयोग हुआ है ।

२. विवेकः=सत्त्व पुरुष का विविक्तरूप=भिन्नता, तस्य ख्यातिः=बोधः । अर्थात् सत्त्वपुरुष की भिन्नता को विवेक कहते हैं और उसका बोध होना विवेकख्याति है ।

३. 'वशीकार' की व्याख्या यो० १ । १५ सूत्र के व्यासभाष्य में द्रष्टव्य है । और यो० ३ । ४९ सूत्र के व्यासभाष्य में ('निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य') इत्यादि भी द्रष्टव्य है ।

योगी को जड़-चेतन के स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है अर्थात् प्राकृतिक समस्त पदार्थ जड़ और परिणामी हैं। इसलिये अपना शरीर, पत्नी, पुत्र, धनादि की ममता के पाश से विरक्त हो जाता है और आत्मत्व के अपरिणामी व चेतनस्वरूप को समझ लेता है तो उसे यथार्थ बोध होने से अविद्या से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु यह मुक्ति केवल पुस्तकीय शाब्दिक ज्ञान से प्राप्त नहीं होती जब तक योगी को यथार्थ बोध कराने वाली ऋतम्भरा-प्रज्ञा की प्राप्ति नहीं होती, तब तक शाब्दिक ज्ञान वाली विवेकख्याति अविप्लवा= विघ्नों से रहित नहीं हो पाती। क्योंकि मिथ्याज्ञान के कारण अविद्यादि क्लेश तथा रजोगुण का प्रभाव बना रहता है। इसलिये योगाङ्गों के अनुष्ठान से परम वैराग्य को प्राप्त करके जब योगी का तमोगुण व रजोगुण के प्रभाव से रहित सत्त्वगुण के निर्मलस्वरूप की मुख्यता होने पर विवेकज्ञान निर्मल हो जाता है, तब विवेकख्याति अविप्लवा=विघ्नरहित होती है और वही मोक्ष-प्राप्ति का उपाय है, अन्य नहीं। और यह अवस्था असम्प्रज्ञात-दशा में प्राप्त होती है। क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में तो चित्तवृत्तियाँ विषयासक्त हो सकती हैं। असम्प्रज्ञातयोग में तो चित्तवृत्ति निरोध होने तथा मिथ्याज्ञान के, दग्ध होने से ये चित्तवृत्तियाँ वन्ध्य-प्रसव=फलोन्मुख होने में सर्वथा असमर्थ हो जाती हैं ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

व्यासभाष्यम्

तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेति अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति।

तद्यथा—१–परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। २–क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। ३–साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्। ४–भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति। एषा चतुष्टयी कार्याविमुक्तिः प्रज्ञायाः। चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी। ५– चरिताधिकारा बुद्धिः। ६–गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति। ७–एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

भाष्यानुवाद—सूत्र में 'तस्य' पद उस योगी के लिये प्रयुक्त है जिसको विवेकख्याति प्रकट हो गई है। उस विवेकी योगी की प्रज्ञा अविद्यारूपिणी अशुद्धि, जो चित्तवृत्ति को घेरे रहती है, उसके दूर होने से और चित्त में अन्य किसी प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव होने पर सात प्रकार की ही बुद्धि हो जाती है। जैसे—

(१) (परिज्ञातं हेयं०) हेय=त्याज्य दुःख अथवा दुःखमयसंसार जान लिया है। इस विवेकी पुरुष को अब ज्ञेय=जानने योग्य शेष कुछ भी नहीं रहा है।

(२) (क्षीणाहेय-हेतवः) दुःख के कारण अविद्यादि क्लेश क्षीणाः=विवेकख्याति से दग्धबीजवत् होने से नष्ट हो गये। अब इनमें (अविद्यादि हेतुओं में) कोई क्षीण करने योग्य शेष नहीं है।

(३) (साक्षात्कृतं निरोध०) निरोधसमाधि=असंप्रज्ञात समाधि से हान=मोक्ष का साक्षात्कार कर लिया है अथवा अनुभव कर लिया है।

(४) (भावितोविवेकख्याति०) विवेकख्याति रूप हानोपायः=मोक्ष का उपाय सिद्ध करलिया है। यह विवेकी योगी की प्रज्ञा की चार प्रकार की कार्याविमुक्ति[1] है। और चित्त विमुक्तियाँ तो तीन प्रकार की हैं अर्थात् इनमें चित्त की कार्यों से विमुक्ति को अभिव्यक्ति न होकर चित्त की स्वरूपतः विमुक्ति को प्रकट किया गया है। (इनको मिलाकर प्रज्ञा के सात प्रकार होते हैं।)

(५) (चरिताधिकारा बुद्धिः) बुद्धि अपने कार्य को पूर्ण कर चुकी है। अतः सत्त्वादि गुणों के व्यापारों से निवृत्त बुद्धि को चरिताधिकारा कहते हैं।

(६) गुणाः गिरिशिखरतटच्युता०) जैसे पर्वतों के शिखर के तट से फिसले पत्थर के खण्ड बीच में निराधार होकर लड़खड़ाते हुए अपने मूलकारण में विलीन होने के लिये अग्रसर होते हैं, वैसे ही सत्त्वादि तीनों गुण चित्त के साथ अव्यक्त तत्त्व में विलीन होने के लिये अग्रसर होते हैं। और उस योगी पुरुष का प्रयोजन न रहने से विलीन हुए इन सत्त्वादि गुणों की फिर अभिव्यक्ति नहीं होती।

(७) इस दशा में पुरुष गुणों के संबन्ध से पृथक् होकर स्वरूपमात्र-

---

१. कार्याविमुक्ति से अभिप्राय है—कार्य=क्रिया=व्यापार से छुटकारा। प्रज्ञा=बुद्धि का करणीय कार्य पूरा होने से कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।

ज्योतिः=आत्मस्वरूप से प्रकाशित, अमलः=निर्मल और केवली=गुण सम्बन्ध से रहित होने से चित्तवृत्ति की प्रतीति से सर्वथा रहित हो जाता है ।

इन सातों प्रकार की प्रान्त भूमि[1] प्रज्ञाम्=उत्कृष्ट भूमि=दशा वाली प्रज्ञाओं को अनुभव करता हुआ पुरुष 'कुशल' नाम से कहा जाता है। और चित्त के प्रतिप्रसवे=अपने कारण में विलीन होने पर भी गुणातीतत्वात्=गुणों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होने से पुरुष 'मुक्त' और 'कुशल' ही कहा जाता है ।

सूत्रार्थ—(तस्य) जिस योगी ने विवेकख्याति कर ली है, उसकी (प्रज्ञा) बुद्धि (सप्तधा प्रान्तभूमिः) अविद्यादि क्लेशों से निवृत्त होने से निर्मल हुई सात उत्कृष्टतम दशाओं वाली हो जाती है ।

भावार्थ—इस सूत्र में विवेकख्याति को प्राप्त करने वाले योगी की प्रज्ञा का वर्णन किया गया है। उस उत्कृष्टतम-प्रज्ञा के सात प्रकार बताये हैं। व्यास-भाष्य में इन प्रज्ञा के सात प्रकारों के दो विभाग किये हैं—(१) चार प्रकार की प्रज्ञाविमुक्ति और (२) तीन प्रकार की चित्तविमुक्ति। इन व्यास जी के शब्दों से स्पष्ट है कि प्रज्ञा के सात प्रकारों का भाव सात प्रकार की बुद्धि नहीं, प्रत्युत बुद्धिगत भावों की दशाओं का वर्णन किया गया है और यही बात सूत्रकार ने 'भूमि=अवस्था' शब्द से प्रकट की है। 'चित्त' का अभिप्राय अन्तःकरण (मन) से है, उसी की एक निश्चयात्मकवृत्ति प्रज्ञा कहलाती है। इसीलिये व्यासमुनि ने प्रज्ञा की अवस्थाओं में चित्त की अवस्था का भी कथन किया है। प्रज्ञा का कार्य निश्चय करना है, परन्तु विवेकख्याति होने से प्रज्ञा के कार्य=व्यापार की समाप्ति हो जाती है। जैसे—(१) बुद्धि का कार्य ज्ञानोपलब्धि है, परन्तु इस दशा में ज्ञेय=जानने योग्य कुछ भी नहीं रहता। प्रकृति-जन्य यह दृश्यजगत् परिणाम, ताप और संस्कारजनित दुःखों के कारण दुःखमय है, अतः हेय=त्याज्य है, यह ज्ञान होने से अन्य कुछ भी ज्ञेय नहीं रहता। (२) और जो दुःख के कारण हैं—द्रष्टा-दृश्य के संयोग के कारण अविद्यादि क्लेश, वे भी क्षीण=दग्धबीजवत् होने से दूर कर दिये हैं, अब अन्य कुछ भी दूर करने योग्य नहीं रहा। (३) और द्रष्टा-दृश्य के संयोग से पुरुष का जो बन्धन=जन्ममरणरूप संसार है, उसका भी त्याग होने से निरोध समाधि के द्वारा मोक्ष का साक्षात्कार कर लिया है। अब इससे भिन्न किसी

---

१. 'प्रान्तभूमि' शब्द प्रज्ञा का विशेषण है। इसका अर्थ है—प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनां सा प्रान्ताः। प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्याः सा प्रान्तभूमिः (प्रज्ञा) अर्थात् उत्कृष्टतम स्तरवाली प्रज्ञा।

का साक्षात्कार करना शेष नहीं है। (४) और अन्तिम लक्ष्य था मोक्ष का उपाय प्राप्त करना, वह भी अविप्लव विवेकख्याति प्राप्त करने से प्राप्त कर लिया है। अतः अब बुद्धि का समस्तकार्य पूरा होने से प्रज्ञा कार्य-विमुक्त हो जाती है।

और तदनन्तर चित्त का कार्य भी समाप्त होने से तीन प्रकार की चित्त-विमुक्ति कहलाती है। जैसे—(१) चित्त की निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि का भोग-अपवर्गरूप कार्य पूरा होने से उसका कोई कार्य शेष नहीं रहता। (२) चित्त प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक है। और ये गुण ही चित्त की प्रवृत्ति के कारण होते हैं। परन्तु विवेकख्याति प्राप्ति होने पर प्रयोजन न होने से ये सत्त्वादि गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। जैसे पर्वतशिखर से गिरे पत्थर के खण्ड निराधार होने से चूर-चूर होकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। (३) और गुणों के विलीन होने पर त्रिगुणातीत पुरुष स्वरूपमात्र ज्योति, निर्मल और केवली हो जाता है। केवल अपने स्वरूप में स्थित होने से पुरुष कुशल अथवा मुक्त कहलाता है। इस अवस्था में चित्त की पुनरुक्ति उस कुशल (मुक्त) पुरुष के प्रति नहीं होती। ये चार प्रज्ञा-विमुक्तियाँ तथा तीन चित्त-विमुक्तियाँ ही सात प्रकार की प्रज्ञायें कहलाती हैं। इन्हें सात प्रकार की प्रज्ञा क्यों कहा गया है? इसका कारण यह है कि पुरुष का बुद्धि के साथ अतिशय सान्निध्य रहता है और पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति कराने में यह चित्त-वृत्ति (बुद्धि) अन्त तक अतिशय सहायक होती है। भोग-अपवर्ग की प्राप्ति कराना दृश्य का प्रयोजन माना है और दृश्य के अन्तर्गत चित्तवृत्ति में भी बुद्धि का कार्य दृश्य का मुक्त-पुरुष के प्रति अन्तिम कार्य होता है। अतः मुक्त-पुरुष की अन्तिम दशाओं को ही यहाँ 'सप्तधा प्रज्ञा कहा है ।। २७ ।।

अव०—सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति। न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते—

(अर्थ)—विवेकख्याति रूपी हान का उपाय सिद्ध किया जाता है और बिना साधन के सिद्धि नहीं होती। अतः साधनों को बताने के लिये इस सूत्र का प्रारम्भ किया गया है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।२८।।

व्यासभाष्यम्

योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्य-

यस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते अशुद्धिः तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः, आ गुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः।

योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम्। यथा परशुश्छेद्यस्य। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य नान्यथा कारणम्। कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति। नवैवेत्याह। तद्यथा—

"उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्"॥ इति॥

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य। स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाऽऽहार इति। अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्याऽऽलोकस्तथा रूपज्ञानम्। विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्। यथाऽग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणं धूपज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं तथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे द्वेषो दुःखत्वे रागः सुखत्वे तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्। तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणां, तानि च परस्परं सर्वेषां तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादित्येवं नव कारणानि। तानि च यथासंभवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति॥ २८॥

भाष्यानुवाद—योग के आठ अङ्ग यमनियमादि (यो० २। २९) आगे सूत्र में कहे जाने वाले हैं। उन योगाङ्गों के अनुष्ठान=सेवन करने=अभ्यास करने से अशुद्धिरूप पाञ्च भागों वाले (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) विपर्यय=मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है। और उस मिथ्याज्ञानरूपी अशुद्धि के क्षीण हो जाने पर सम्यग् ज्ञान=तत्त्वज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। और जैसे-जैसे अशुद्धि का नाश होता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धिक्षय के क्रम का अनुसरण करने वाली ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है। और वह यह ज्ञान की वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त उन्नत ही होती रहती है। विवेकख्याति का अभिप्राय है कि आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानात्=सत्त्वादि गुणों तथा पुरुष के भिन्न-भिन्न स्वरूप ज्ञान होने तक ज्ञान की वृद्धि होती रहती है।

योग के यमनियमादि अङ्गों का अनुष्ठान करना अशुद्धि का वियोग=दूर करने का कारण है। जैसे—परशु=कुल्हाड़ा से काटी गई लकड़ी आदि के पृथक् करने का कारण होता है, और यह योगाङ्गानुष्ठान करना विवेक-

ख्याति को प्राप्त करने का वैसा ही कारण है जैसे—सुख-प्राप्ति का धर्म कारण है। विवेकख्याति प्राप्ति का योगाङ्गों से अन्य कोई कारण नहीं है। (अथवा 'नान्यथा कारणम्' से भाष्यकार का यह विशेष आशय है कि जैसे—घटादि के बनाने में कुम्भकार निमित्त, मिट्टी उपादान तथा चक्रादि साधारण कारण हैं, किन्तु रासभ=गधा, जिससे मिट्टी लाई गई है, वह अन्यथा सिद्ध होता है अर्थात् मिट्टी लाने की गाड़ी आदि और भी उपाय हो सकता है। इसी प्रकार विवेकख्याति की प्राप्ति में योगाङ्गानुष्ठान अन्यथा कारण नहीं है, प्रत्युत अपरिहार्य कारण है।

[कारण कितने होते हैं ?]

और शास्त्र में ये कितने कारण होते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—नवैव=नौ ही कारण होते हैं। जैसे—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥ इति॥

अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, ज्ञान, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व, और धृति, ये नौ प्रकार के कारण कहे गये हैं। (उनकी क्रमशः व्याख्या इस प्रकार है—)

१. (तत्रोत्पत्तिकारणं मनो०) विज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन है।

२. (स्थितिकारणं मनसः०) मन की स्थिति (स्थिरता) का कारण पुरुषार्थता=भोग-अपवर्ग रूप पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करना है। जैसे—शरीर की स्थिति का कारण भोजन है।

३. (अभिव्यक्तिकारणं यथा०) जैसे—रूप की अभिव्यक्ति का कारण आलोक=प्रकाश है, वैसे रूप का ज्ञान भी कारण है।

४. (विकारकारणं मनसो०) मन के विकार का कारण है—विषयान्तर=विभिन्न विषयों का सम्मुख होना। जैसे—पकाने योग्य वस्तु के विकार का कारण अग्नि है।

५. (प्रत्ययकारणं०) धूम का ज्ञान अग्नि-ज्ञान के यथार्थ बोध का कारण है।

६. (प्राप्तिकारणं०) प्राप्त कराने वाला कारण प्राप्ति-कारण है। जैसे—विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण योगाङ्गों का अनुष्ठान करना है।

७. (वियोगकारणं०) वही योगाङ्गों का अनुष्ठान करना अशुद्धि=मिथ्याज्ञान के दूर करने का कारण है।

८. (अन्यत्वकारणं०) भिन्नरूप देने वाला कारण। जैसे– सुवर्णकार= सुनार सोने का (आभूषणादि बनाकर) अन्यरूप बनाने वाला है। (अन्यत्व-कारण का दूसरा दृष्टान्त देते हैं।) इसी प्रकार एक स्त्रीविषयक विभिन्न ज्ञानों में विभिन्न कारण हैं। स्त्री के मोहमय ज्ञान में अविद्या कारण है, स्त्रीज्ञान के दुःखात्मक होने में द्वेष कारण है, स्त्री ज्ञान के सुखात्मकरूप में राग कारण है और स्त्री ज्ञान के माध्यस्थ्ये=औदासीन्यरूप ज्ञान में तत्त्वज्ञान कारण है।

९. (धृतिकारणं शरीरम्०) इन्द्रियों को धारण करने वाला कारण शरीर है। और वे इन्द्रियाँ शरीर के धारण करने में कारण हैं। (इसी का दूसरा दृष्टान्त देते हैं) पृथिवी आदि महाभूत शरीरों के धृतिकारण हैं और तिर्यग्योनि वाले पशु-पक्षी इत्यादि, मनुष्य और देवता एक दूसरे के आश्रित होकर एक दूसरे को धारण करने के कारण हैं।

इस प्रकार से ये नौ कारण होते हैं। और वे नौ कारण यथासम्भव दूसरे पदार्थों में भी घटित करने चाहियें।

किन्तु योग के अङ्गों का अनुष्ठान करना तो दो प्रकार के ही कारणत्व को प्राप्त करता है अर्थात् विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण और अविद्यारूप अशुद्धि के वियोग का कारण योगाङ्गानुष्ठान है।

सूत्रार्थ—"(योगाङ्गानुष्ठाना०[1]) **आगे जो उपासना योग के आठ अंग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से (अशुद्धिक्षये) अविद्यादि दोषों का क्षय और (ज्ञानदीप्तिः) ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है"।**

(ऋ० भू० उपासना०)

"(आविवेकख्यातेः) **जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है"**॥ (स० प्र० तृतीय०)

भावार्थ—यो० २।२६ सूत्र में योगशास्त्र के चतुर्व्यूह (हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय) के चौथे व्यूह में विवेकख्याति को हानोपाय बताया गया है। अब इस सूत्र में विवेकख्याति तक पहुँचने के साधन और उनका फल-कथन किया गया है। योग के आठ अङ्ग (यम-नियमादि) होते हैं, जो आगे कहे जायेंगे, उनके अनुष्ठान करने से चित्त के दोष क्षीण होने लगते हैं, और

---

१. इस सूत्र की महर्षि-दयानन्दकृत संस्कृत व्याख्या इस प्रकार है—

"एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानादाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति"॥ (ऋ० भू० उपासना०)

उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होने लगती है। और यह ज्ञान-वृद्धि विवेकख्याति तक होती रहती है। जैसे—परशु के द्वारा काष्ठादि का छेदन निश्चितरूप से हो जाता है, वैसे ही चित्तस्थ मलों अथवा मिथ्याज्ञान के दूर करने में योगांग परम साधन हैं। यद्यपि कारण नौ प्रकार के व्यास-भाष्य में परिगणित किये हैं, परन्तु योगाङ्गों का अनुष्ठान दो प्रकार से ही कारण बनता है—(१) प्राप्ति=विवेकख्याति प्राप्त करने में और (२) वियोग=अविद्या (मिथ्याज्ञान) रूप अशुद्धि के नाश करने में।

कारण नौ होते हैं—व्यास-भाष्य में प्रसंगानुसार नौ प्रकार के कारणों का उल्लेख यह श्लोक देकर किया है—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥

संक्षेप में उन कारणों की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिये—

१. **उत्पत्ति-कारण**—मन=अन्तःकरण ज्ञानोत्पत्ति में वैसे ही कारण है, जैसे—वृक्षोत्पत्ति में बीज कारण होता है।

२. **स्थिति-कारण**—मन (अन्तःकरण) की स्थिति का कारण पुरुष का अर्थ=भोग-अपवर्ग सिद्ध करना वैसे ही है जैसे—शरीर की स्थिरता का कारण भोजन होता है। भोजन के विना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है। वैसे ही पुरुष के प्रयोजन सिद्ध करने के लिये मन की स्थिति होती है। पुरुषार्थ-सिद्धि के पश्चात् मन अपने कारण में विलीन हो जाता है।

३. **अभिव्यक्ति-कारण**—कमरे के अन्दर घटादि पदार्थ रक्खें हैं, परन्तु अन्धकार के कारण दिखाई नहीं देते। दीपकादि के प्रकाश से उन पदार्थों की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः रूप की अभिव्यक्ति का कारण प्रकाश और रूप का ज्ञान है।

४. **विकार-कारण**—जैसे अग्नि से पककर दाल-शाकादि गलने से विकार वाले हो जाते हैं अथवा दही या खटाई के योग से दूध विकार वाला हो जाता है। इसमें अग्नि, खटाई आदि विकार के कारण हैं। वैसे ही मन में—पहले भोगी हुई वस्तु को देखकर विकार पैदा हो जाता है।

५. **प्रत्यय-कारण**—रसोई आदि में धूम-अग्नि के व्याप्ति-सम्बन्ध को जानने वाला व्यक्ति जब दूर से पर्वतादि पर धूम को देखता है, तो वह धूम से अग्नि का ज्ञान कर लेता है। यहाँ अग्नि-ज्ञान का कारण धूम होता है।

६. **प्राप्ति-कारण**—योगाङ्गों का अनुष्ठान करना विवेकख्याति की प्राप्ति

में वैसे ही कारण है, जसे—धर्माचरण सुख-प्राप्ति में तथा गुरु-मुख से पढ़ना विद्याप्राप्ति में कारण होता है।

७. **वियोग-कारण**—योगाङ्गों का अनुष्ठान करना अशुद्धि अथवा अविद्या के वियोग करने में वैसे ही कारण है, जैसे—परशु लकड़ी के पृथक्-पृथक् खण्ड करने में कारण है।

८. **अन्यत्व-कारण**—एक वस्तु के विभिन्नरूप करना अन्यत्व कारण कहलाता है। जैसे—सुनार सोने से विभिन्न प्रकार के आभूषण बना देता है। अथवा कुम्भकार (कुम्हार) मिट्टी से विभिन्न घटादि की रचना कर देता है। इसमें सुनार तथा कुम्हार अन्यत्व कारण हैं। यहाँ व्यास-भाष्य में स्त्री का भी उदाहरण दिया है। एक रूपवती युवती को देखनारूप समान होने पर भी पति के लिये सुख का, सपत्नी के लिये दुःख का, पर-पुरुष के लिये राग=मोह का और तत्त्वज्ञानी के लिये सुख, दुःख, रागादि से रहित उदासीनता का कारण है।

(६) **धृति-कारण**—शरीर इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ शरीर के धारण करने में कारण हैं। इसी प्रकार आकाशादि महाभूत शरीरों के धारण करने में कारण हैं और इसी प्रकार पशु-पक्षी, मनुष्य, देवादि के शरीर परस्पर धारण करने में कारण हैं। क्योंकि उनके धारण करने में एक दूसरे की अपेक्षा होती है॥ २८॥

अव०—तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते।

(**अर्थ**)—अब योग के अङ्गों की संख्या तथा स्वरूप का निश्चय किया जाता है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि॥ २९॥

व्यासभाष्यम्

यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं वक्ष्यामः॥ २९॥

भाष्यानुवाद—इन यम-नियमादि योगाङ्गों का क्रम से अनुष्ठान और स्वरूप को आगे कहेंगे।

सूत्रार्थ—"(यमनियमा०) अर्थात् एक (यम) दूसरा (नियम) तीसरा (आसन) चौथा (प्राणायाम) पांचवाँ (प्रत्याहार) छठी (धारणा) सातवां (ध्यान) और आठवीं (समाधि) ये सब उपासना योग के अंग कहाते हैं। और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है॥" (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—यद्यपि इस शास्त्र के प्रथम-पाद में चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए एकतत्त्वाभ्यास, वैराग्य, अभ्यास, प्रणवजप, प्राणायामादि का कथन किया गया है, पुनरपि यहां योगाङ्गों का विधान किया है। इन अंगों में प्राणायाम, प्रणवजप, ईश्वरप्रणिधान, वैराग्यादि का प्रथम कथन करने पर भी पुनः प्राणायाम, ईश्वरप्राणिधान, स्वाध्याय=प्रणवजपादि का कथन पुनरुक्त प्रतीत होता है। परन्तु इस पुनरुक्त-दोष का पूर्वापर पर विचार करने पर परिहार हो जाता है। स्वयं व्यासमुनि ने प्रथमपाद में समाहित चित्त वाले के लिये योग कहा है और द्वितीय पाद में व्युत्थित=अस्थिर चित्त वाले के लिये योग कहा है। अतः अस्थिर चित्त वालों के योग के लिये पूर्वोक्त साधनों तथा उनसे भिन्न साधनों का भी कथन करना आवश्यक समझकर यहाँ वर्णन किया है। और अस्थिरचित्त वालों के स्थूल व सूक्ष्म क्लेशों को क्षीण करने के लिये और ज्ञान की वृद्धि के लिये इन योगांगों का क्रमशः निर्देश करना भी आवश्यक समझकर कथन किया गया है।

और इन योग के आठ अङ्गों में प्रथम पाँच बहिरंग साधन हैं और तीन अन्तरंग साधन हैं। योगाभ्यासी पुरुष बहिरंग साधनों की सिद्धि के विना अन्तरंग-साधनों में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। यम और नियमों का जो विधिवत् पालन करता है, वह आसन-सिद्धि और आसन-सिद्धि से प्राणायाम की सिद्धि कर सकता है। योग का अभ्यास करने वाला पुरुष प्रथम यमनियम के पालन से वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक बाह्य व्यवहारों को परिष्कृत करके आसन व प्राणायाम करने का अधिकारी बनता है। और प्राणायाम की सिद्धि से मन की वृत्तियों का संयम होता है और तत्पश्चात् योगी प्रत्याहार=इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से निरोध करके धारणा=एक स्थान पर स्थिर कर सकता है और धारणा के अभ्यास से ध्यान=ईश्वर-चिन्तन करके समाधि-दशा को क्रमशः प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार योगाङ्गों में योग-मार्ग पर आगे बढ़ने का उत्तरोत्तर एक विशेष क्रम रक्खा गया है। और इस क्रम से स्पष्ट है कि योग का **चरमलक्ष्य समाधि** है। इस क्रम को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने अंगी समाधि को भी अंगों में ही परिगणित कर दिया है। अन्यथा समाधि-सिद्धि के लिये ही यमादि अंगों की आवश्यकता होती है,

फिर समाधि को अगों में नहीं रखते। अतः योगाभ्यासी को यम-नियमादि योगाङ्गों की सोपान-परम्परा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥ २९ ॥

अव०—तत्र—

(अर्थ)—उन आठ योगाङ्गों में से यम ये हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

व्यासभाष्यम्

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

भाष्यानुवाद—[अहिंसा] उन पाँच यमों में अहिंसा का लक्षण यह है—सर्वथा सब प्रकार से अर्थात् वाणी और मन से सर्वदा=सब कालों में सब प्राणियों में अनभिद्रोहः—पीड़ा देने की भावना का परित्याग करना अथवा वैर भावना न रखना अहिंसा है। सूत्र में अहिंसा से अगले सत्यादि चार यम और नियमादि अहिंसामूलक अर्थात् अहिंसा पर ही आश्रित हैं। अहिंसा की सिद्धि करना ही उनका पर=मुख्य उद्देश्य है, अतः अहिंसा की सिद्धि के लिये दूसरे अहिंसा के यम व नियमादि का प्रतिपादन किया जा रहा है। अहिंसा के अवदात=निर्दोष स्वरूप बताने के लिये ही उन यम-नियमादि का ग्रहण किया गया है। वैसा और कहा भी है—

"वह यह योग-साधक ब्राह्मण जैसे-जैसे बहुत से यमादि व्रतों का अनुष्ठान करना चाहता है वैसे वैसे प्रमाद=आलस्य अथवा असावधानी के कारण किये गये हिंसा के कारणों से निवर्त्तमान=पराङ्मुख होता हुआ अहिंसा को ही निर्दोष रूप में अथवा अत्यन्त शुद्ध रूप में अपनाता है।"

[सत्य] यथार्थे=जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसा ही वाणी और वैसा ही मन[1] का होना सत्य कहाता है। इसी सत्य की परिभाषा को और स्पष्ट करते हैं—यथादृष्ट=इन्द्रियों से जैसा प्रत्यक्ष किया है यथानुभूति=अनुमान से जैसा जाना है, यथाश्रुत=और जैसा दूसरों से सुना है, ठीक वैसे ही वाणी और मन का होना सत्य है। और परत्र=दूसरे मनुष्यों में अपने ज्ञान को पहुंचाने के लिये जो वाणी बोली गई है, यदि वह वञ्चिता=ठगने वाली, भ्रान्ति पैदा करने वाली नहीं है और प्रतिपत्तिवन्ध्या=जिससे सही या गलत कुछ भी बोध न होता हो, ऐसी वाणी न हो, तो वह सत्य है। यह सत्य वाणी सभी प्राणियों के उपकार के लिये हो, प्राणियों को पीड़ा=दुःख देने के लिये प्रवृत्त न हो। और यदि इस प्रकार से अर्थात् वञ्चनारहित, भ्रान्ति रहित ज्ञानबोधकादि उपर्युक्त वाणी होती हुई भी उच्चरित होने पर प्राणियों को दुःख देने वाली ही होवे, वह सत्य नहीं है। पापरूप ही होगी। उस पुण्याभास=पुण्य की तरह प्रतीत होने वाले, पुण्य के जैसे अपुण्य से पाप का फल अतिशय दुःख ही प्राप्त होगा। इसलिए वाणी की परीक्षा करके (प्रथम सोच-समझकर) प्राणि-मात्र के लिए हितकर सत्यवचन बोलने चाहिये।

[अस्तेय] शास्त्रोक्त विधि से विरुद्ध दूसरों से द्रव्यों का ग्रहण करना 'स्तेय'=चोरी है, उसका प्रतिषेध=अभाव जो अस्पृहारूप दूसरे के द्रव्य के ग्रहण की इच्छा भी न करना है, वह 'अस्तेय' नामक यम है।

[ब्रह्मचर्य] गुप्त-इन्द्रिय (उपस्थ=जननेन्द्रिय) का संयम करना 'ब्रह्मचर्य' नामक यम है।

[अपरिग्रह] विषय=संसार के बन्धन के कारण धनादि भोग्यपदार्थों के अर्जन[2]=संग्रह करने में दोष, रक्षण=संग्रह किये हुओं की रक्षा करने में

---

१. भाष्य के वाङ्मनसे' पद में द्वन्द्वसमास है—वाक् च मनश्चेति यहां अाचतुर विचतुर० इत्यादि पाणिनीयसूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय हुआ है।

२. इस विषय को किसी कवि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

दोष, क्षय=उनके नाश होने में दोष, सङ्ग=उनमें आसक्त होने में दोष, और हिंसा=प्राणियों की हिंसा=पीड़ा में दोष दिखाई देने से इन भोग्य-पदार्थों को ग्रहण न करना ही 'अपरिग्रह' है। इस प्रकार ये पाञ्च यम कहाते हैं।

सूत्रार्थ—"(तत्राहिंसा) उन आठों में से पहिला यम है, सो पाञ्च प्रकार का है—एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़के प्रेम प्रीति से वर्त्तना। दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही सत्य बोले, करे, और माने। तीसरा (अस्तेय) अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरी त्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थ-इन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवां (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना। इन पांचों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है।

(ऋ० भू० उपासना०)

"अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग, (सत्य) सत्यमानना, सत्य बोलना, और सत्य ही करना (अस्तेय) अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी त्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता, स्वत्वाभिमानरहित होना, इन पाञ्च यमों का सेवन सदा करें॥" (स० प्र० तृतीय०)

"सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय करके परपदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये, न किसी को करने का उपदेश करे (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय अष्टविध[1] मैथुन का त्याग रखके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सबका उपकार करता रहे, (अपरिग्रहः) अभिमान आदि दोष-रहित किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फंसे। इन ५ पाञ्च यमों का सेवन सदा किया करे॥" (सं० वि० संन्यास०)

यमों की अपरिहार्यता—यम-नियमादि के पालन करने में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यमों के विना नियमों का पालन करना बाह्यप्रदर्शन होने से पतन का कारण भी हो सकता है। अतः यमों का पालन नित्य करना चाहिए। इस विषय में महर्षि मनु लिखते हैं—

१. अष्टविध-मैथुन निम्नलिखित हैं—

(१) दर्शन (२) स्पर्शन (३) एकान्तसेवन (४) भाषण (५) विषयकथा (६) परस्पर क्रीडा (७) विषय का ध्यान और (८) संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। (स० प्र० तृतीय०)

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ (मनु० ४।२०४)

"यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।।"

(स० प्र० तृतीय०)

भावार्थ—योगाङ्गों में प्रथम परिगणित 'यम' नामक योगांग का वर्णन इस सूत्र में किया है। योग-मार्ग के पथिक के लिए 'यम' प्रथम सोपान है। यद्यपि इन पाञ्चयमों का निर्देश सूत्रकार ने यहाँ योगाभ्यासी के लिये किया है। परन्तु अग्रिम सूत्र (२।३१) में इन यमों को महाव्रत कहा है, और ये यम जाति, देश, काल की सीमाओं से न बन्धने वाले सार्वभौमाः=पृथिवीस्थ समस्त मानवों की उन्नति के मूल व्रत हैं। जैसे नदी का प्रवाह दो तटों से संयत होकर मानवोपयोगी बनता है, और असंयत प्रवाह बाढ़ादि के रूप में प्रलयंकारी हो जाता है। उसी प्रकार मानवजीवन भी असंयत दशा में उच्छृंखल दानवीय भावनाओं का पुञ्ज बन जाता है।

और 'यम' शब्द यद्यपि शास्त्रीय पारिभाषिक है, पुनरपि अपने मूल धात्वर्थ को साथ लिये हुए है। व्याकरण के अनुसार 'यमु उपरमे' धातु से 'यम' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है कि अपनी चित्तवृत्तियों को बाह्यविषयों से रोककर नियन्त्रित करना और समाधि-सिद्धि के लिये अग्रसर होना। और इन यमों के मूल में अहिंसा वैसे ही सबका मूल है, जैसे अविद्या सब क्लेशों का मूल है। अहिंसा का प्रतिद्वन्द्वी शब्द हिंसा है। हिंसा में मनुष्य स्वार्थवश प्रवृत्त होता है उसकी पूर्त्ति के लिये मिथ्याभाषण, चोरी, परिग्रहादि कार्यों में प्रवृत्त होता है। हिंसा का कारण वैरभावना है, वह भी स्वार्थ-वश होती है। स्वार्थी व्यक्ति योगी नहीं बन सकता। अतः स्वार्थ का परित्याग करना योगी के लिये अत्यावश्यक है। अहिंसा-प्रधान यमों की पुष्टि के लिये व्यास-मुनि ने किसी प्राचीन आचार्य का वचन "स खल्वयं ब्राह्मणो०" भी उद्धृत किया है। इन पाञ्च यमों का संक्षिप्त-विवरण इस प्रकार है—

(१) **अहिंसा**—सब प्रकार से सब कालों में प्राणिमात्र को दुःख न देना अहिंसा है। किसी प्राणी के प्रति द्रोह करना, ईर्ष्या करना, क्रोध करनादि समस्त व्यवहार हिंसामूलक होता है। हिंसा-रत पुरुष को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जैसे कि महर्षि मनु ने कहा है—

नहि वैरेण वैराणि प्रशाम्यन्ति कदाचन ।

वैरभावना रखने से वैरभावना कभी शान्त नहीं हो सकती। और वैरभावना मानसिक अशान्ति का मूल है। इसलिये योगाभ्यासी के लिये हिंसा-वृत्ति का परित्याग करना परमावश्यक है। और एतदर्थ योगी पुरुष को यो० १।३३ सूत्र के अनुसार सुखो के प्रति मित्रता, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति प्रसन्नता और पापी के प्रति उपेक्षाभाव रखकर चित्त को निर्मल करने का उपदेश दिया गया है।

(२) **सत्य**—जैसा देखा, सुना तथा जाना हो, वैसा ही मन और वाणी का व्यवहार सत्य कहाता है। दूसरों के लिए ऐसी वाणी कभी नहीं बोलना, जिसमें छल-कपट हो, भ्रम पैदा होता हो अथवा जिसका कोई अभिप्राय न निकले। ऐसी वाणी कभी न बोलना, जिससे किसी प्राणी को दुःख पहुँचे। दूसरों की हानि करने वाली वाणी पापमय होने से दुःखजनक होती है अतः परीक्षा करके सब प्राणियों का हित करने वाली वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

(३) **अस्तेय**—चोरी न करना। दूसरे की वस्तु पर बिना पूछे अधिकार करना अथवा शास्त्रविरुद्ध ढंग से वस्तुओं का ग्रहण करना स्तेय=चोरी कहलाता है। दूसरे की वस्तु के ग्रहण करने की लालसा भी चोरी है। अतः योगी को इस दुष्प्रवृत्ति का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

(४) **ब्रह्मचर्य**—कामवासनाओं को उत्तेजित करने वाले खान-पान, दृश्य, शृङ्गारादि से सर्वथा बचते हुये वीर्य-रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। इस व्रत का पालन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्योंकि उपस्थेन्द्रिय का संयम करने में सर्वाधिक सावधानी और नियन्त्रण की आवश्यकता है।

(५) **अपरिग्रह**—इस पञ्चभौतिक शरीर के लिये यद्यपि भौतिक पदार्थों की परमावश्यकता होती है, परन्तु जब मनुष्य इन साधनों को ही साध्य बनाकर इनमें असक्त हो जाता है, तो लोभादि वृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं। जिनके वशीभूत होकर मनुष्य अनावश्यक पदार्थों के संग्रह में ही लग जाता है। और भोग्य-पदार्थों के सग्रह करने, उनकी रक्षा करने में आसक्त होने तथा उनकी प्राप्ति के लिए हिंसादि दोषों की प्रवृत्ति देखकर योगी वस्तु-संग्रह करना छोड़ देता है। इसी प्रकार शरीर की रक्षा के लिये वस्त्र की, सर्दी-गर्मी से बचाव के लिये मकान की भी आवश्यकता होती है। परन्तु सामान्य वस्त्रों को छोड़कर विशेष शृंगार के द्योतक वस्त्रों का धारण करना, और

आलीशान भवनों का निर्माण करना इत्यादि परिग्रह वृत्ति के ही परिचायक हैं। योगाभ्यासी पुरुष को परिग्रह वृत्ति का भी सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये ॥ ३० ॥

अव०—ते तु—

(अर्थ)—वे अहिंसादि पाञ्च यम तो—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

व्यासभाष्यम्

तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेश-कालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्व-विषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमामहाव्रतमित्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

भाष्यानुवाद—उन जाति आदि चार सीमाओं में बन्धे यमों में से जाति की सीमा से बन्धी अहिंसा यह है, जैसे—मछली पकड़ने वाले मछुए की मछ-लियों में ही हिंसा करूँगा, अन्य जीवों की नहीं। वह अहिंसा ही देश विशेष (स्थान विशेष) से बंधी हुई इस प्रकार है, जैसे—तीर्थ[1]=पवित्र यज्ञादि करने के स्थान पर अथवा जीवों को दुःखरूप अविद्या से छुड़ाकर विद्या-प्राप्त कराने वाले पवित्र गुरुकुलों में न मारूँगा। यह अहिंसा देश विशेष की सीमा से बन्धी है। वह ही अहिंसा कालविशेष की सीमा से बन्धी हुई होती है, जैसे—चतुर्दशी

---

१. यहाँ 'तीर्थ' शब्द से गंगादि नदियों का ग्रहण नहीं है। 'समानतीर्थे वासी' (अ० ४। ४। १०७) सूत्र के अनुसार विद्योपदेष्टा गुरुजन अथवा गुरुकुलादि अर्थ ही ठीक है। इसीलिये एक गुरु से पढ़ने वालों को 'सतीर्थ्यः' कहते हैं। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए (उणादि० २। ७) में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

'तरन्ति येन यत्र वा तत्तीर्थम्। गुरुर्यज्ञः पुरुषार्थो मन्त्री जलाशयो वा'।

"वेदादि शास्त्रों को पढ़ाने वाला जो आचार्य है—उसका, वेदादि शास्त्रों, तथा माता-पिता और अतिथि का भी नाम तीर्थ है"। (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्या०)

तिथि में अथवा किसी पवित्र दिन में नहीं करूँगा=जीवहत्या न करूँगा। इस संकल्प से प्रकटित अहिंसा कालविशेष से बंधी हुई है। और वह ही अहिंसा जात्यादि उपर्युक्त तीनों सीमाओं से उपरत=रहित भी होती है। वह समय[1]=शिष्ट-परम्परा अथवा कर्त्तव्य की सीमा से बन्धी होती है। जैसे—देव=आचार्य, माता, पितादि और ब्राह्मणः=ब्रह्म=वेद-विद्या के विद्वान् के लिये मारूँगा, अर्थात् देव-ब्राह्मण की रक्षार्थ प्राणियों की हत्या करूँगा, ... अन्य किसी प्रयोजन से जीवहत्या नहीं करूँगा। इस समयावच्छिन्ना अहिंसा का दूसरा दृष्टान्त देते हैं—जैसे—क्षत्रियों को युद्ध में ही हिंसा करनी चाहिये, युद्ध से अन्यत्र नहीं। यह अहिंसा समय=शिष्ट-परम्परा अथवा आचार-परम्परा से बन्धी हुई है।

इन जाति, देश, काल, समयों की (अनवच्छिन्नाः) सीमाओं से न बन्धे हुए[2] अहिंसादि पाञ्चों यमों का सर्वथा[3]=सब प्रकार से पालन करना चाहिये। सर्वभूमिषु=सभी अवस्थाओं और सर्वविषयेषु=सभी प्रकार के विषयों=यज्ञादि में सब प्रकार से ही, जिनका व्यभिचार=अनियमितता=स्खलन किसी भी विषय में नहीं देखा गया है, ऐसे सार्वभौम[4]=(सर्वभूमिषु-विदितः) सर्वत्र प्रसिद्ध अथवा (सर्वभूमेर्निमित्तम्) भूमि पर रहने वाले समस्त मनुष्यों के लिये हितकर महाव्रत=सब से बड़े कर्त्तव्यधर्म कहे जाते हैं।

सूत्रार्थ—वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये (जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः) जाति=पशु-पक्षी मनुष्यादि, देश=स्थानविशेष, काल=तिथि आदि और समय=शिष्ट-परम्परा अथवा कर्त्तव्य की सीमाओं से न बन्धे हुए अर्थात् सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा करने योग्य (सार्वभौमाः) सर्वत्र प्रसिद्ध अथवा भूमि पर रहने वाले सब मनुष्यों के लिये हितकर (महा-व्रतम्) महान्=श्रेष्ठतम व्रत=कर्त्तव्य हैं।

---

१. यहाँ 'समय शब्द' कालवाची नहीं है। क्योंकि समय व काल दोनों पर्यायवाची शब्दों के पढ़ने में पुनरुक्ति दोष आता है। अतः यहाँ इस शब्द का दूसरा अर्थ प्रतिज्ञा, नियमादि ही लेना योग्य है।

२. यद्यपि व्यासभाष्य में अहिंसा के ही जाति आदि सीमाओं से बन्धने के उदाहरण दिखाये हैं, किन्तु इसी प्रकार दूसरे यमों के भी उदाहरण समझने चाहियें।

३. इस व्यासभाष्य से इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'। हिंसा तो हिंसा ही है, चाहे वह किसी प्रकार की हो। साधक योगी को सब प्रकार की हिंसा से बचना चाहिये।

४. सार्वभौम शब्द में विदित और निमित्तादि अर्थों में अ० ५। १। ४१ तथा ४३ सूत्रों से अण् प्रत्यय होता है।

भावार्थ—इस सूत्र में अहिंसादि पाञ्चों यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा है। अतः योगाभ्यासी को इन यमों का पालन सर्वदा, सर्वथा और यावज्जीवन करना चाहिये। परन्तु इन व्रतों के पालन करने में अनेक बाधाओं का आना सम्भव है। क्या बाधाओं के आने पर इन महाव्रतों को छोड़ देना चाहिये? सूत्रकार ने इसमें बिल्कुल निश्चयात्मक निर्णय दिया है कि योगी के लिये इन व्रतों के पालन करने में किसी प्रकार की भी छूट नहीं दी जा सकती। इन व्रतों के पालन करने में कौन-कौन सी बाधायें आ सकती हैं, उनको जाति, देश, काल और समय=नियम के कारण चार भागों में विभक्त किया है। अहिंसा के पालन करने में जात्यादि के कारण क्या-क्या बाधायें आ सकती हैं? उनका निर्देश व्यास-भाष्य में सोदाहरण कर दिया है। इसी प्रकार सत्यादि के पालन में भी समझना चाहिये। जैसे—

सत्य में जाति का बन्धन—किसी मानव अथवा गायादि पशु की रक्षा यदि असत्य बोलने से होती है, तो असत्य बोलूँगा, इनसे अन्यत्र नहीं बोलूँगा। यहाँ सत्यभाषण में जाति का बन्धन बाधक है।

सत्य में देश का बन्धन—गुरुकुलादि तीर्थ स्थानों पर सत्य बोलूँगा, अन्यत्र ऐच्छिक है। न्यायालयादि राजकीय कार्यों में असत्य बोलने से यदि कार्य सिद्ध होता है, तो असत्य भी बोलूँगा। यह सत्य बोलने में देश का बन्धन है।

सत्य में काल का बन्धन—अमावस्यादि पर्वों के दिन सत्य ही बोलूँगा, अन्यत्र कामचार है। यह सत्यभाषण में काल का बन्धन है।

सत्य में समय का बन्धन—प्रतिज्ञा, शपथ अथवा व्रतादि के अनुष्ठान के समय यह प्रण लेता है कि मैं अमुक व्रतपालन करने तक असत्य नहीं बोलूँगा। अन्यत्र कामचार है। अथवा उपासनादि के समय तक सत्य ही बोलूँगा, इत्यादि नियम, प्रतिज्ञादि का सत्यभाषण में समयकृत बन्धन होता है।

अस्तेय में जाति-बन्धन—विद्वान् ब्राह्मण के घर चोरी नहीं करूँगा, अन्यत्र ऐच्छिक है। यह जातिकृत बन्धन है।

अस्तेय में देश-बन्धन—गुरुकुलादि तीर्थस्थानों पर चोरी नहीं करूँगा, अन्यत्र कामचार है। यह देशकृत बन्धन है।

अस्तेय में काल-बन्धन—अमावस्यादि पर्वों के दिन चोरी नहीं करूँगा। अथवा आपत्कालीन दशा को छोड़कर चोरी नहीं करूँगा। इत्यादि कालकृत बन्धन है।

अस्तेय में समय-बन्धन—यह भी सत्य व अहिंसा के समान समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्य में जाति आदि का बन्धन—जैसे—गुरुकुलादि में ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा, अन्यत्र कामचार है, यह देश कृत-बन्धन है। अमावस्यादि पर्वों पर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगा, अन्यत्र कामचार है, यह काल कृत-बन्धन है। गायादि पशुओं की हत्या बन्द होने तक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा, अन्यत्र कामचार है, यह जातिकृत बन्धन है। इसी प्रकार विद्या-समाप्ति तक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा, तदनन्तर कामचार है, यह समयकृत बन्धन है।

अपरिग्रह में जात्यादि के बन्धन—मैं ब्राह्मण के द्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा, अन्यत्र कामचार है, यह जातिकृत-बन्धन है। गुरुकुलादि तीर्थस्थानों पर परिग्रह-वृत्ति का परित्याग करूँगा, यह देशकृत-बन्धन है। अमावस्यादि पर्वों पर परिग्रह नहीं करूँगा। यह कालकृत बन्धन है। गृहस्थाश्रम को छोड़कर अन्य आश्रमों में परिग्रह नहीं करूँगा। इत्यादि जात्यादि की सीमाओं (बन्धनों) से यमों का सीमित करना इन व्रतों का भंग करना ही है। अतः इन समस्त सीमाओं से ऊपर उठकर योगी को अहिंसादि महाव्रतों का सर्वदा तथा सर्वथा पालन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

व्यासभाष्यम्

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वंद्वसहनम्। द्वंद्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसांतपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा,
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः,
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेति ॥ ३२ ॥

भाष्यानुवाद—[शौच] उन पाञ्च नियमों में शौच नियम यह है कि शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आभ्यन्तरिक। उनमें बाह्य शौच=

शुद्धि मिट्टी, जलादि के संयोग से होती है और मेध्य—पवित्र अभ्यवहरण=खाद्य पदार्थों के खाने और अमेध्य पदार्थों के परित्याग से होती है। और आभ्यन्तरिकशुद्धि=मानसिक शौच चित्तवृत्ति के अविद्या=मिथ्याज्ञानादि से उत्पन्न रागद्वेषादि मलों का आक्षालनम्=यथार्थज्ञान और क्रियायोग से धोने से होती है।

[सन्तोष] दूसरा नियम सन्तोष=लोभरहित वृत्ति है। जीवन-निर्वाह के सन्निहित=उपस्थित साधनों से अधिक साधनों के ग्रहण करने की इच्छा न करना 'सन्तोष' है।

[तपः] तीसरा नियम यह है कि द्वन्द्वों का सहन करना तप है। और जिघत्सा-पिपासे=भूख-प्यास, शीतोष्णो=सर्दी-गर्मी, स्थानासने=खड़े रहने-बैठने का अभ्यास और काष्ठमौन-आकारमौने=(इशारे से भी अपने भाव को न प्रकट करना काष्ठमौन, और वाणी से न बोलना, किन्तु इशारों से भाव को प्रकट करते रहना आकारमौन है) काष्ठमौन-आकारमौन ये द्वन्द्व हैं, इनका सहन करना तप है। इन द्वन्द्वों के अतिरिक्त व्रत भी तप के ही अन्तर्गत आते हैं। जैसे—कृच्छ्रव्रत, चान्द्रायण व्रत और सान्तपनादि। इन व्रतों का यथायोगम्=शरीर की अनुकूलता के अनुसार पालन करना चाहिये।

[स्वाध्याय] मोक्ष का उपदेश करने वाले योगदर्शनादि शास्त्रों का अध्ययन करना और प्रणवः='ओ३म्' का जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है।

[ईश्वर-प्रणिधान] उस परमगुरु, जिसका सूत्रकार ने (यो० १।२६)

---

१. मनुस्मृति में इन व्रतों की निम्न प्रकार से व्याख्या की है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एक रात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥ (मनु० ११।२१२)

अर्थात् गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशाओं का जल, इन सबको मिलाकर एक-एक दिन छोड़कर खावे तो वह 'सांतपन' कृच्छ्रव्रत होता है।

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशं स्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥ (मनु० ११।२१६)

अर्थात् दिन में (प्रातः, मध्याह्न व सायं) तीन बार स्नान करके कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास घटाता जाये और फिर शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास बढ़ाता जाये। इस प्रकार १५ दिन तक भोजन कम करते-करते फिर १५ दिन तक क्रमशः ग्रासों को बढ़ाने से चान्द्रायणव्रत कहलाता है।

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' कहकर किया है, उस परमेश्वर में सब कर्मों का अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान[1] कहलाता है।

(शय्यासनस्थोऽथ०) जीवन्मुक्त योगी पुरुष चाहे शय्या अथवा आसन पर स्थित हो, चाहे मार्ग में जा रहा हो, वह ईश्वरप्रणिधान के द्वारा स्वस्थः= स्वरूप में ही स्थित होता है, उसके समस्त वितर्कजाल[2]=संशय, अज्ञान हिंसा आदि नष्ट हो गये हैं और वह योगी संसार के बीज=अविद्यादि क्लेशों तथा अविद्याजन्य-संस्कारों का नाश करता हुआ नित्ययुक्तः=नित्य योगाभ्यास करता हुआ अमृतभोग-भागी=मोक्ष के आनन्द का अधिकारी बन जाता है। जिसके विषय में सूत्रकार ने भी कहा है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ (योग० १।२९)

अर्थात् उपासना से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार और विघ्नों का अभाव हो जाता है।

सूत्रार्थ—"पहिला (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी, सो भी दो प्रकार की है। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना, पीना आदि शुद्धि करने से होती है। दूसरा (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना। किन्तु आलस्य का काम सन्तोष नहीं है। तीसरा (तपः) जैसे—सोने को अग्नि में तपाके निर्मलकार देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ-गुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देना। चौथा (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्या-विधायक वेद शास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना, कराना और पांचवां (ईश्वर-प्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अंग है" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

"(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना (तप) अर्थात् कष्ट-सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय)

---

१. 'ईश्वरप्रणिधान' की व्याख्या व्यासमुनि ने २।१ सूत्र पर यह की है—'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा'। और यो० १।२३ सूत्र पर 'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषात्'।

२. वितर्काः=विपरीततर्काः, यमनियमादिभ्यो विरुद्धा हिंसादयः। 'हिंसादयो वितर्काः' इति व्यासभाष्यम् (यो० २।३३ भा०) (यो० २।३४ सूत्रे च सूत्रकारः)

पढ़ना-पढ़ाना (ईश्वर-प्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष में आत्मा को अर्पित रखना, ये पांच नियम कहाते हैं। यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है"। (स० प्र० तृतीय०)

"और इनके साथ ५ पाञ्च नियम अर्थात् (शौच) बाहर-भीतर से पवित्र रहना (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना (तपः) सदा पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म का सेवन, प्राणायामादि योगाभ्यास करना (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना (ईश्वर-प्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीते हुए भोगकर, शरीर छोड़के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं" ॥ (सं० वि० संन्यास०)

भावार्थ—योग के आठ अङ्गों में दूसरा अङ्ग नियम है। शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये पाञ्च नियम हैं। गत सूत्र में कथित यमों के अनुष्ठान के साथ-साथ नियमों का पालन करना भी अत्यावश्यक है। यद्यपि यमों के विना नियमों का पालन करना बाह्य दिखावा मात्र होने से पतन का कारण हो सकता है, परन्तु यमों के साथ नियमों का पालन योगी को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाता है। शौचादि नियमों का स्वरूप इस प्रकार व्यास-भाष्य में तथा अन्यत्र सूत्रकार ने भी कहा है—

(१) **शौच**—इस शब्द का अर्थ शुद्धि अथवा पवित्रता है। और यह शौच दो प्रकार का होता है—(क) बाह्य (ख) आभ्यन्तरिक। बाह्य-शुद्धि भी दो प्रकार से होती है—एक मिट्टी, जलादि के द्वारा शरीर, वस्त्र और निवास-स्थानादि को शुद्ध रखना तथा दूसरी शुद्धि पवित्र आहार करने से होती है। बुद्धिनाशक नशीले मद्य-मांसादि पदार्थों का त्याग, चोरी आदि से प्राप्त भक्ष्य पदार्थों का भी सेवन करना तथा तमोगुणी व रजोगुणी पदार्थों का आहार न करना इत्यादि बाह्य शुद्धि में आते हैं। और आभ्यन्तरिक शुद्धि है—चित्तस्थ मलों को दूर करना अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, रागादि मलों का, और इनके कारणों का परित्याग करने से दूर करना आभ्यन्तरिक शुद्धि होती है। शौच का फल क्या है? इसका कथन यो० २।४०–४१ सूत्रों में द्रष्टव्य है।

(२) **सन्तोष**—लौकिक-यात्रा के लिये अपने परिश्रम से प्राप्त होने वाले जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों से अधिक की इच्छा न करना। और जो

साधन प्राप्त हों, उन्हीं से जीवन-यापन करना 'सन्तोष' कहलाता है। सन्तोष नियम के अनुष्ठान से लोभादि की वृत्तियाँ दुःख नहीं देतीं। और सन्तोष के पालन से जो सुख प्राप्त होता है, वह सर्वाधिक श्रेष्ठ होता है। जिसका कथन २।४२ सूत्र में किया गया है। ❀

(३) **तप**—तप का अर्थ है—द्वन्द्वों का सहन करना। सर्दी-गर्मी सुख-दुःख भूख-प्यास, मान-अपमानादि द्वन्द्व कहलाते हैं, जो योग के पथिक को दुःखी कर सकते हैं। जिनसे घबराकर योगाभ्यासी योगभ्रष्ट हो जाता है। अतः शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के द्वन्द्वों को सहने का सामर्थ्य योगी को प्राप्त करना चाहिये। इस तप का महत्त्व बताते हुए व्यास-भाष्य (यो० २।१) में लिखा है—

"नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादि कर्म क्लेशवासनाश्चित्रा—
प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते"

अर्थात् जो तपस्वी नहीं है, उसका योग सिद्ध नहीं हो सकता। और तपस्या का दूसरा फल यह है कि अनादि काल से संचित जन्म-जन्मान्तरों की चित्तस्थ वासनाओं तथा क्लेशों से मुक्ति तप के बिना नहीं होती। और चित्त में हानि-लाभ, मान-अपमानादि के होने पर जो प्रबल उद्वेग उत्पन्न हो जाते हैं, उनको सहन करना अथवा उनसे दुःखी वा सुखी न होना तप कहलाता है। और तप का अभ्यास करने के लिये चान्द्रायणादि व्रतों का आवश्यकता के अनुसार सेवन करना चाहिये। यहाँ व्यासभाष्य में 'यथायोगम्' शब्द देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि तप के अनुष्ठान में शक्ति का अतिक्रमण कदापि नहीं करना चाहिये। अपने सामर्थ्यानुसार ही तप करना लाभप्रद है। इसी रहस्य को व्यास मुनि ने यो० २।१ सूत्रभाष्य में स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते।'

अर्थात् वह तप ऐसा होना चाहिये, जो शारीरिक रोगादि का कारण न बन सके। इससे हठयोगादि क्रियाओं का स्पष्ट निषेध हो जाता है। सूत्रकार ने २।४३ में भी तप का फल बताया है।

(४) **स्वाध्याय**—योगाभ्यास करने में सब से प्रबल बाधक अज्ञान होता है। यह अज्ञान ही समस्त क्लेशों का मूल है। और इसकी निवृत्ति ज्ञान से ही होती है। इसलिये ज्ञान-प्राप्ति के लिये 'स्वाध्याय' का विधान ऋषियों ने किया

❀ संन्तोष के विषय में मनु ने कहा है—
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ (मनु० ४।१२)

है। स्वाध्याय का अभिप्राय है कि मोक्षप्राप्ति का उपदेश करने वाले वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन करना और ओंङ्कारादि पवित्रताकारक मन्त्रों का जप करना है। इसलिये जो व्यक्ति विना ज्ञान के ही योगाभ्यास करने का यत्न करते हैं अथवा दम्भ करते हैं, वे कभी भी योग के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। स्वाध्याय का फल सूत्र कारने २। ४४ में भी बताया है।

(५) **ईश्वर-प्रणिधान**—इस शब्द का अभिप्राय यह है कि सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता सर्वज्ञानादि गुण वाले ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना, उसी को अपना परमगुरु हृदय से मानना और उसमें ही अपनी समस्त क्रियाओं को अर्पण करके क्रियाओं के फल का परित्याग करके निष्काम कर्म करना। इस ईश्वर-प्रणिधान करने से अभिमानादि दोषों की निवृत्ति तथा विनयादि सद्गुणों की वृद्धि होने से योग-मार्ग अतीव सुगम बन जाता है। और कर्म-फलों की इच्छा न करने से सुख-दुःख के जाल से बचा जा सकता है।

इस प्रकार योगी पुरुष सोते-जागते, चलते-फिरते उठते-बैठते, खाते-पीते आदि प्रत्येक क्रिया को करता हुआ भी यम-नियमों के पालन से स्वस्थ रहता है, हिंसादि दोषों से बचा रहता है और संसार जन्म-मरण के बीज=कारण कर्माशय को दग्धबीज की भांति फलोन्मुख करने में असमर्थ करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। ईश्वरप्रणिधान का फल सूत्रकार ने २। ४५ में समाधि की सिद्धि बताई है ॥ ३२ ॥

अव०—एतेषां यमनियमानाम्—

(अर्थ) इन यम-नियमों का योगाङ्गत्व सिद्ध करते हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

व्यासभाष्यम्

यदाऽस्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति। एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति। एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—जब इस ब्राह्मण=योगी के, जिसका वर्णन यो० २। ३२ के भाष्य में 'शय्यासनस्थो ऽथ:' श्लोक द्वारा किया गया है, हिंसादि (आदि शब्द से मिथ्याभाषणादि यमों से विरुद्ध) वितर्क=विरुद्ध वृत्तियाँ उत्पन्न होने लगें, जैसे भाष्य में उदाहरण दिये हैं अर्थात् मैं अपकारी=अहित करने वाले को मार दूँगा, इस अपकारी के विषय में झूठ भी बोलूँगा, इसका धन भी ले लूँगा, इसकी पत्नी में भी व्यभिचारी=दुराचार करने वाला बनूंगा, इसके सञ्चित धनों का स्वामी हो जाऊँगा, अपना अधिकार कर लूंगा। इस प्रकार विपरीत मार्ग की ओर ले जाने वाले अतीव प्रबल वितर्कज्वरेण=हिंसादि वृत्तियों के रोग से पीडित होता हुआ तत्प्रतिपक्षान्=उन वितर्कों के विरोधी भावों को प्रबुद्ध करे कि भयङ्कर संसार रूपी अंगारों में भूने जाते हुए मेरे द्वारा अर्थात् संसार के दुःखों से सन्तप्त होकर मैंने सब जीवों को अभयदान देने वाले की भावना से योगधर्म की शरण ली थी। और वही मैं अब योगधर्म को छोडकर फिर उन्हीं हिंसादि वितर्कों को (योग-विरोधी भावों को) ग्रहण करता हुआ श्ववृत्तेन तुल्य:=कुत्ते की वृत्ति के समान हो गया हूँ। जैसे कुत्ता अपने उगले हुए वमन को स्वयं फिर चाट लेता है, वैसे ही छोड़े हुए वितर्कादि को फिर ग्रहण करने वाला मैं हो गया हूँ। इस प्रकार वितर्कादि भावों को रोकने के लिये वितर्कविरोधी भावों को प्रबुद्ध करे। इसी प्रकार सूत्रान्तरों= यम नियम से भिन्न=आसनादि के प्रतिपादक सूत्रों में भी वितर्कविरोधी भावनाओं को करना चाहिये।

सूत्रार्थ—इन यम-नियमों के अनुष्ठान करने वाले योगी को जो (वितर्कबाधने) हिंसादि वितर्क=योगविरोधी भावनायें बाधक बनने लगें, उनको रोकने में (प्रतिपक्ष-भावनम्) वितर्कों के विरोधी विचारों का प्रबुद्ध करना चाहिये।

भावार्थ—योगाभ्यासी जब योग के यम-नियमादि अङ्गों का अनुष्ठान करने लगता है, तब वितर्कादि (हिंसादि) के भाव विघ्नरूप में उपस्थित होकर यम-नियमादि के पालन करने में बाधक बन जाते हैं। जैसे—यमों के विरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी, ब्रह्मचर्य का अभाव और परिग्रह वृत्ति तथा नियमों के विरुद्ध अपवित्रता, असन्तोष, असहनशीलता, स्वाध्याय का आलस्यादि के कारण न करना और ईश्वर से विमुख होनादि। जब कोई योगी की किसी प्रकार की हानि कर देता है, तब योगी के मन में ऐसे भाव पैदा होने का अवसर प्राप्त होता है कि मैं इस हानि करनेवाले पुरुष को मार डालूंगा, इससे बदला लेने के लिये झूठ भी बोल दूँगा, इस की सम्पत्ति की चोरी कर लूँगा, इसकी संपत्ति

पर अधिकार करके उसका स्वामी बन जाऊँगा और इस अपकारक को नीचा दिखाने के लिये इसकी पत्नी का भी धर्म भ्रष्ट करूँगा। और नियमों के अन्तर्गत शौच-सन्तोषादि भी सब दिखावे की बातें हैं, मैं अपकार करने वाले से बदला अवश्य लूँगा।

इस प्रकार के प्रबल हिंसादि के भाव योगाभ्यासी के समक्ष विकट स्थिति पैदा कर देते हैं। उस समय योगाभ्यासी क्या उपाय करे? एतदर्थ सूत्र में लिखा है कि प्रतिपक्ष=हिंसादि के विरोधी भावों का योगी चिन्तन करे कि मैं किन विघ्नों से घिर गया हूँ? जिन संसार के दुःखों से सन्तप्त होकर, अनन्य शरण होकर तथा प्राणियों को अभय प्रदान करके योगमार्ग को अपनाया था और योगाभ्यास करने का व्रत लिया था, क्या अब मुझे वह मार्ग छोड़ देना चाहिये? क्या मैं इससे कर्त्तव्यविमुख तथा प्रतिज्ञा-भंग करने वाला न हो जाऊँगा? क्या मेरी स्थिति उस कुत्ते के तुल्य नहीं हो गई, जो उल्टी करके (वमन करके) फिर उसे चाटने लगता है? धिक्कार है मुझे इस प्रकार विपरीत मार्ग अपनाने वाले को। जिस दुःख-जाल से छूटकर मैंने मोक्ष-मार्ग अपनाया था, क्या मैं फिर उसी दुःख-बहुल मार्ग को अपनाकर सुखी बन सकता हूँ? इस प्रकार प्रतिपक्ष-भावों का चिन्तन करके योगी हिंसादि विघ्नों से बच सकता है॥ ३३॥

वितर्का हिंसादयः, कृतकारितानुमोदिता लोभ-क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञाना-नन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ ३४॥

व्यासभाष्यम्

तत्र हिंसा तावत्—कृता कारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभ-क्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति एवमनृतादिष्वपि योज्यम्।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। दुःख-

मज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम् । तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति । ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति । ततो जीवितादपि मोचयति । ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति । दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति । जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथंचिदेवोच्छ्वसिति यदि च कथंचित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासंभवम् । एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत । ॥ ३४ ॥

भाष्यानुवाद—उन सब वितर्कों में हिंसा[1] के तीन भेद हैं—कृता-स्वयं की गई, कारिता=दूसरों के द्वारा करायी गई, और अनुमोदिता=हिंसा के कार्य का अनुमोदन की गई। इन तीनों प्रकार की हिंसाओं में से प्रत्येक हिंसा के लोभ, क्रोध और मोहपूर्वक होने से फिर तीन-तीन भेद हैं। लोभ के द्वारा कृत, कारित अथवा अनुमोदित हिंसा मांस, चमड़ा अथवा अन्य किसी वस्तु के लोभ की पूर्ति के लिए होती है। क्रोधजन्य हिंसाकृत, कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार की इसलिये की जाती है कि इस हिंसित होने वाले प्राणी ने मेरा कोई अनिष्ट किया है। मोह के द्वारा कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा इसलिये की जाती है कि इसके द्वारा मेरी स्त्री, पुत्र अथवा किसी अन्य प्रियजन का स्वार्थसिद्ध होने से मेरा धर्म=कर्त्तव्य पूरा होगा।

और ये लोभ, क्रोध और मोह भी तीन प्रकार के होते हैं–मृदु=हल्के, मध्य=मध्यस्तर के और अधिमात्र=अत्यन्त प्रबल। इस प्रकार हिंसा के २७ सत्ताईस भेद होते हैं। और ये मृदु-मध्य अधिमात्र भी तीन प्रकार के होते हैं। जैसे–मृदु-मृदु=कुछ हल्के, मध्यमृदु=मध्यस्तर के हल्के, तीव्रमृदु=अत्यन्त हल्के। वैसे ही-मृदुमध्य=कुछ मध्यमकोटि के, मध्यमध्य=उससे अधिक मध्यमकोटि के तीव्र-मध्य=अत्यन्त मध्यमकोटि के। वैसे ही—मृदुतीव्र=हल्के प्रबल, मध्यतीव्र=मध्यमस्तर के प्रबल, अधिमात्रतीव्र=अत्यन्त प्रबल। इस प्रकार हिंसा के (८१) इक्यासी भेद होते हैं। और यह ८१ भेदों वाली हिंसा फिर

---

१. यद्यपि योगांगों में विरुद्ध भावों को वितर्क कहा गया है। उनमें हिंसा, असत्य, स्तेय आदि अनेक योगविरोधी वितर्क हैं। परन्तु जैसे समस्त यमों का मूल अहिंसा है, इसी प्रकार समस्त वितर्कों का मूल हिंसा है। इसलिए भाष्यकार ने यहां हिंसा की विवेचना की है।

नियम[1], विकल्प, और समुच्चय भेद से असंख्य=गणना न करने योग्य भदों वाली हो जाती है, क्योंकि नियम, विकल्प, और समुच्चय भेदों के करने वाले प्राणियों के भेद असंख्य हैं। इसी प्रकार=हिंसा की भांति दूसरे अनृतादि वितर्कों में भी भेद समझने चाहिये।

और ये समस्त वितर्क निश्चय से दुःखरूप तथा अज्ञान रूप अनन्त[2] फलों को देने वाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्ष=वितर्क विरोधी भावना करनी चाहिए। भाष्यकार ने 'दुःखाज्ञानानन्तफलाः' समस्तपद का विग्रह—'दुःखम् अज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्' करके दुबारा स्पष्टीकरण किया है।

[हिंसादि वितर्कों की दुःखमूलकता का वर्णन—]

क्योंकि हिंसक सर्वप्रथम वध्य=जिसका वध करना है, उस प्राणी के वीर्यम्=सामर्थ्य को आक्षिपति=रोकता है अर्थात् टांगादि बाँधकर प्राणी के बल को समाप्त करता है। तत्पश्चात् शस्त्रादि से वध्य प्राणी के शरीर पर प्रहार करके दुःख देता है=अतिशय पीडा पहुंचाता है। तत्पश्चात् वध्य-प्राणी को जीवन से भी अलग कर देता है। तदनन्तर इस मृतक का बल क्षीण होने से इसके चेतन=पुत्र, पत्नी, मित्र, बन्धु आदि और अचेतन=धनादि शक्तियाँ, दोनों प्रकार के उपकरण=साधन=सहायक क्षीणवीर्यम्=(उसकी हिंसा के दोष से) क्षीणवीर्य निस्तेज=प्रभावहीन हो जाते हैं। और प्राणियों के वधादि के फलस्वरूप दुःख देने से हिंसकपुरुष नरक=अतिशय दुःख देनेवाली तिर्यक्=पशु, पक्षी, आदि और मनुष्यादि योनियों में दुःख भोगता है।

(जीवितव्यपरोपणात्०) वध्य-प्राणी के जीवन को नष्ट करने के फल-स्वरूप जीवितात्यये=जीवन-नाश=आत्महत्या के लिये प्रयत्न करता हुआ मरना चाहता हुआ भी दुःखरूप विपाक फल के नियत होने से किसी तरह से सांस मात्र लेकर जीवित रहता है। अर्थात् बहुत ही कष्ट से जीवन बिताता है।

---

१. 'नियम' से अभिप्राय है—जैसे कोई मछुआ यह कहे कि मैं मछली को ही मारूँगा, अन्य जीवों को नहीं। यह नियमित हिंसा हुई। 'विकल्प' का आशय है—जैसे कोई यह कहे कि मैं भेड़ या बकरी में से किसी एक की हिंसा करूँगा। यह वैकल्पिक हिंसा है। 'समुच्चय' का आशय यह है कि जैसे कोई कहे कि मैं तो किसी जीव को नहीं छोड़ूंगा, सभी का यथाशक्ति वध करूंगा। यह समुच्चय=समूहरूप हिंसा है।

२. योगमार्ग से भ्रष्ट पुरुष वितर्कादि के कारण जब फिर संसार में फंस जाता है, तो उसके दुःखों से छूटने की आशा नहीं रहती। अतः दुःख और अज्ञान का अन्त न दीखने से अनन्त फलवाला कहा है।

और यदि किसी प्रकार हिंसा किसी पुण्यकर्म के आवाप=बीज के अन्तर्गत हो जाय, तो पुण्यकर्म के कारण सुख प्राप्ति में भी अल्पायुः=आयु कम हो जाती है अर्थात् फिर भी हिंसा का फल अवश्य ही मिलता है। इसी प्रकार अनृत-भाषणादि वितर्कों में भी यथासम्भव दुःख व अज्ञान के अनन्तफलों का निरूपण करना चाहिये। इस प्रकार योग-साधक को हिंसादि वितर्कों के अनुगत=बाद में अवश्य मिलने वाले दुःखरूप इस अनिष्ट=अप्रिय विपाक=फल को विचारते हुए हिंसादि वितर्कों में मन नहीं लगाना चाहिए।

सूत्रार्थ—(वितर्का हिंसादयः) यम-नियमों के विरोधी वितक हिंसा, असत्य, चोरी आदि हैं। (कृता-कारितानुमोदिता) उन वितर्कों में हिंसा कृता= जो स्वयं की गई है, कारिता=जो दूसरों से करायी गई है, अनुमोदिता= जिस हिंसाकर्म में अनुमोदन किया है, इस प्रकार तीन प्रकार की है। (लोभ-कोधमोहपूर्वकाः) और फिर इस तीन प्रकार की हिंसा के प्रत्येक के लोभ, क्रोध और मोहपूर्वक होने से नौ भेद हो जाते हैं। (मृदु-मध्याधिमात्राः) और फिर नौ भेद वाली हिंसा के मृदु, मध्य, अधिमात्र भेद से सत्ताईस भेद होते हैं। (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) और ये हिंसादि वितर्क दुःख और अज्ञान रूपी अनन्त अत्यधिक फलों वाले होते हैं। इस प्रकार वितर्कों को दुःखद समझकर प्रति-पक्षभावनम्) विरोधी भावना योगी को करनी चाहिए।

भावार्थ—गत-सूत्र में (२।३३ में) योगी को हिंसादि वितर्कों के प्रति-पक्ष=विरोधी पक्ष का चिन्तन करके इनसे बचने का कथन किया है। इस सूत्र में उन वितर्कों का स्वरूप, उनके भेद, कारण और उनके फलों पर विचार किया गया है। अहिंसादि यम-नियमों के विरोधी हिंसादि को वितर्क के नाम से कहा गया है। कृत-कारित, अनुमोदितादि वितर्कों के भेद हैं। लोभ, क्रोध, मोह उनके कारण हैं। और असीमित अज्ञान व असीमित दुःख (मनुष्य की दृष्टि से असीमित कहा गया है, ईश्वर की दृष्टि से अनन्त नहीं होता।) मिलना वितर्कों का फल है। यथार्थ में वितर्कों का जाल इतना जटिल, गहन तथा दुर्भेद्य है, जिससे निकलना अत्यन्त कठिन है, असम्भव नहीं। अतः इनमें फंसा व्यक्ति दुःखों से अथवा अज्ञान से कब छूट सकेगा, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। अतः यहाँ उनको 'अनन्त-फला कहा गया है।

महर्षि-व्यास ने सभी वितर्कों के मूलभूत हिंसा के भेदों का वर्णन किया है। इसी प्रकार असत्यादि वितर्कों के भेद भी समझने चाहिये। और हिंसादि पापों के मूल कारण हैं। इनमें फंसा व्यक्ति पापी होता है, और उसे पापकर्मों का फल अवश्य मिलता है। व्यास-भाष्य में हिंसादि पापकर्मों के फल-भोग के

विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि इनका फल घोर दुःखमय योनियों में भोगना पड़ता है। और यदि किसी प्राणी के पुण्यविशेष के साथ गौण मुख्य-रूप से हिंसादि कर्म मिश्रित हो जाते हैं, पुनरपि दुःखरूप फल-भोग से हिंसा करने वाला बच नहीं सकता। पुण्यों के फलस्वरूप सुखों को भोगते हुए उस कृत-हिंसा के कारण उसकी आयु क्षीण हो जाती है, जिससे (दुःख के बदले में) सुख भोगने के समय में कटौती हो जाती है। अतः किसी भी प्रकार से हिंसादि के फलों से नहीं बचा जा सकता। कर्मफल की इस अटल तथा सुव्यवस्था को समझकर योगाभ्यासी को यम-नियमादि का पालन पूर्णतः करना चाहिये और वितर्क-जाल से सर्वदा व सर्वथा सावधान रहना चाहिए॥ ३४॥

अव०—प्रतिपक्ष-भावनाहेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति। तद्यथा—

(अर्थ)—जब इस योगी को प्रतिपक्ष=विरोधी भावना के कारण हिंसादि वितर्क छोड़ने योग्य हो जाते हैं और प्रसवधर्मरहित=फलोन्मुख होने में असमर्थ हो जायें, तब यमनियमादिजन्य ऐश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचक होता है। जैसे—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ ३५॥

व्यासभाष्यम्

सर्वप्राणिनां भवति॥ ३५॥

भाष्यानुवाद (योगी पुरुष में अहिंसा की प्रतिष्ठा=स्थिति होने पर) सब प्राणियों का वैरत्याग हो जाता है।

सूत्रार्थ—"(अहिंसा प्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैर-भाव छूट जाता है।" (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—यहाँ सब प्राणियों के वैर-त्याग का अभिप्राभ यह नहीं है कि सभी प्राणी परस्पर वैर करना छोड़ देते हैं। एतदर्थ सूत्र में पठित 'तत्सन्निधौ' पद पर ध्यान देना चाहिए। जिससे स्पष्ट है कि जो प्राणी अहिंसा के साधक योगी का सान्निध्य करते हैं अर्थात् उसके स्वभाव को जानकर उस पर विश्वास करते हैं, उन्हीं का वैरभाव छूटता है, सबका नहीं। यहाँ **'सर्व'** शब्द आधिक्य अर्थ का ही द्योतक है सम्पूर्णता का नहीं।

और जो योगी अहिंसा-व्रत में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो जाते हैं, मन, वचन, तथा कर्म से हिंसा का परित्याग कर देते हैं, उसके निकट आकर हिंसावृत्ति के प्राणी वैर-भावना का त्याग कर देते हैं। अर्थात् योगी के प्रभाव से उनका वैर-भाव समाप्त हो जाता है, न तो वे परस्पर ही वैर-भाव करते हैं और न उस योगी के साथ करते हैं। ऋषियों के आश्रमों में इस प्रकार के उदाहरण सुनने में भी आते हैं। इसी प्रकार छोटा अबोध बालक वैरभावादि से रहित होता है। उसके इस सौम्य स्वभाव से मनुष्य ही नहीं, हिंसक पशु भी प्रभावित होते देखे गये हैं। ऐसा ही एक उदाहरण महात्मा नारायण स्वामी जी ने लिखा है कि एक बच्चे को भेड़िया उठा ले गया, उसने उसे मारा नहीं, प्रत्युत उसका पालन किया। उस बच्चे को (१३-१४ वर्ष का होने पर) इटावा (उ० प्र०) के कलेक्टर द्वारा आर्यसमाज बरेली के अनाथालय में लाया गया था। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

व्यासभाष्यम्

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति। अमोघाऽस्य वाग्भवति ॥ ३६ ॥

भाष्यानुवाद—योगी में सत्य की प्रतिष्ठा=स्थिति होने पर क्रिया में फल का आश्रयरूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जिससे यदि योगी किसी अधर्मरत मनुष्य से यह कह देवे—तुम धर्माचरण करने वाले बनो, तो वह उसके तेज से प्रभावित होकर धार्मिक बन जाता है। इसी प्रकार यदि वह किसी प्राणी को आशीर्वाद में यह कहे कि—'तुम स्वर्ग=सुख विशेष को प्राप्त करो,' तो वह स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। इस योगी की वाणी इस सिद्धि से अमोघा=व्यर्थ न होने वाली हो जाती है।

सूत्रार्थ—"(सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता, और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं" ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—और जब योगी के मन, वचन तथा कर्म सत्य में स्थित हो जाते हैं, असत्य की भावना का सर्वथा परित्याग हो जाता है, तो उसकी सत्यालंकृत वाणी अमोघ=व्यर्थ न होने वाली हो जाती है। वह जो कुछ भी

कहता है, वह सफल होता है। उसका प्रत्येक वचन बोलनेरूप क्रिया के फल का ग्राश्रय बन जाता है। व्यास-भाष्य में यहाँ दो उदाहरण दिये हैं—(१) यदि वह किसी ग्रधार्मिक पुरुष से धार्मिक होने को कहता है, तो उसका ऐसा प्रभाव होता है कि वह दुराचरण-रत व्यक्ति धर्माचरण में लग जाता है। ऐसे इतिहास में उदाहरण भी मिलते हैं। महात्मा-बुद्ध के प्रभाव से ग्रंगुलिमाल नामक डाकू धार्मिक होगया था ग्रौर महर्षि-दयानन्द के प्रभाव से शराब ग्रादि में व्यस्त तहसीलदार ग्रमीचन्द सभी दुर्गुणों को छोड़कर धार्मिक बन गया था।

(२) दूसरा उदाहरण स्वर्ग-प्राप्ति का दिया है। यहाँ स्वर्ग का ग्रभिप्राय सुखविशेष से है, किसी स्थानविशेष से नहीं। क्योंकि स्वर्ग नामक कोई स्थान-विशेष, जहाँ प्राणियों के कर्मों का फल मिलता है, कहीं नहीं है। ग्रौर जिसकी वाणी सत्य होती है, उसके व्यवहार से कितना सुख मिलता है तथा जिसकी वाणी का विश्वास नहीं है, उसके व्यवहार से कितना दुःख मिलता है, यह लोकविदित ही है। सत्यवादी का सब मनुष्य विश्वास करते हैं, ग्रौर उसकी बात को मानते हैं ग्रौर पूरा भी करते हैं, परन्तु ग्रसत्यवादी का विश्वास कोई नहीं करता, न उसकी कोई बात मानता है, कार्य पूरा होने की बात तो बहुत दूर की बात है। जब लोक-व्यवहार में सत्य बोलने से सुख प्राप्त होता है, जो सर्वथा सत्यनिष्ठ नहीं होते, फिर सत्यनिष्ठ योगी की वाणी क्यों नहीं ग्रमोघ होगी? ग्रौर ऐसे सत्यवादी योगियों के ग्राशीर्वाद से जब मनुष्य ग्रथवा भक्त तदनुसार ग्राचरण करता है, तो सुखी ग्रवश्य होता है, यही यथार्थ में स्वर्ग की प्राप्ति है।

इस विषय में महर्षि-दयानन्द ने लिखा है—

"जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्यु-पर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं।...............इसलिये सदा सत्य-भाषण और सत्य प्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये" (स० प्र० द्वितीय०) ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

व्यासभाष्यम्

सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

भाष्यानुवाद—इस ग्रस्तेय में प्रतिष्ठित योगी के पास समस्त दिशाग्रों

में स्थित रत्न[1]=समस्त उत्तम पदार्थ उपस्थित हो जाते हैं ।। ३७ ।।

सूत्रार्थ—"(अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथा योग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना ।। (ऋ० भू० उपासना०)

'(अस्तेय) अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरीत्याग'। (सत्यार्थ० तृतीय समु०)

भावार्थ--जब योगी की अस्तेय में पूर्णरूप से प्रतिष्ठा=स्थिति हो जाती है अर्थात् मन, वचन तथा कर्म से सर्वथा चोरी का त्याग कर देता है, तब चोरी परित्याग की भावना के सर्वात्मना परिपक्व हो जाने से परिग्रह की प्रवृत्ति, लोभवश होने वाली पापमयी मानसिक भावना और लौकिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। और योगी का विश्वास तथा उसके प्रति श्रद्धा लोगों की बढ़ जाती है और वे स्वतः ही योगी के लिये सर्वोत्कृष्ट-वस्तुयें अर्पण करने लगते हैं। अथवा योगी को संकल्प-मात्र से ही समस्त उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ व्यासभाष्य में 'रत्न' शब्द का विशेषण 'सर्वदिक्स्थानि' दिया है। जिससे स्पष्ट है कि 'रत्न' शब्द हीरे, मणि आदि के लिये नहीं है। क्योंकि इनकी खानें सर्वत्र नहीं होतीं। और योगी के लिये ये मणि आदि अनावश्यक ही हैं। अतः 'रत्न' शब्द का अर्थ उत्तम-पदार्थ ही प्रसंगानुकूल ठीक है। और 'उपतिष्ठन्ते' क्रिया भी विशेष अर्थ का बोध करा रही है। उपपूर्वक 'स्था' धातु उपस्थित अर्थ से भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त होती है। 'उपाद्देवपूजा-संगतिकरण-मित्रकरण-पथिषु' तथा 'वा लिप्सायाम्' (महाभाष्य १।३।२५ वाँ सूत्र) इन दोनों व्याकरण के नियमों से उप+स्था धातु से देवपूजा, संगतिकरणादि अर्थों में आत्मनेपद होता है। जिसके अनुसार न केवल उत्तम-पदार्थों से योगी-देव का लोग सत्कार ही करते हैं, प्रत्युत उस विश्वसनीय, लोभादि से दूर होने से दिव्य-गुणयुक्त तथा सदुपदेष्टा योगी की संगति भी करते हैं। और 'रत्न' शब्द से यहाँ भौतिक पदार्थ ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यों में जो श्रेष्ठ पुरुष है, वे इस योगी के पास अध्यात्म-ज्ञान की लालसा से संगति करते हैं। सर्वदिक्स्थानि रत्नानि=जो योगी के चारों तरफ रहने वाले समीपस्थ व दूरस्थ पुरुषरत्न होते हैं, वे उस योगी के पास ज्ञानार्जन व सदुपदेश की लालसा से आते रहते हैं।

---

१. 'जातौ जातौ च यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते' प्रत्येक जाति के पदार्थों में जो श्रेष्ठवस्तुयें हैं, वे सब रत्न कहलाती हैं। यहाँ भी इसके अनुसार उत्तम पदार्थ ही अर्थ संगत होता है।

और अस्तेय=चोरी के परित्याग करने से योगी में दिव्यगुणों का आश्रय तो हो ही जाता है तथा संसार में सर्वोत्कृष्ट गुण परमात्मदेव के हैं, उनकी स्तुति, व मनन करने से योगी को चारों तरफ संसार में जो ईश्वरीय दिव्य-शक्तियाँ कार्य कर रही होती हैं, उनका दर्शन (ज्ञान) योगी पुरुष को विष्णोः कर्माणि पश्यत०' इस वेदमन्त्र के अनुसार हो जाता है। और वे दिव्यगुण (रत्न) योगी का आश्रय बन जाते हैं ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

व्यासभाष्यम्

यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति। सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

भाष्यानुवाद—ब्रह्मचर्य की स्थिति होने पर योगी को जिस सामर्थ्य की प्राप्ति होती है, वह अप्रतिघ=न दबने वाले अप्रतिहत=अपराजित गुणों को बढ़ाता है और वह ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा वाला सिद्ध योगी शिष्यों में ज्ञान-धारण कराने में समर्थ हो जाता है।

सूत्रार्थ—"(ब्रह्मचर्य०) **ब्रह्मचर्य-सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ-इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्री-गमन आदि व्यभिचार को मन, कर्म, वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥"**

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—'ब्रह्मचर्य' शब्द की व्याख्या में व्यासमुनि ने (२।३० भाष्य में) स्पष्ट कहा है—उपस्थेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य है। यद्यपि 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेद' भी है, परन्तु यहाँ सब गुणों का आश्रय होने से महान् 'वीर्य' है। 'वीर्य' इस शरीर का राजा होता है, अतः उसकी सुरक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। और उसका पतन अथवा असुरक्षा का कारण है—कामवासना का दमन न करना। अतः काम-वासना से बचकर वीर्यरक्षा करने के लिये अष्टविध मैथुनों से बचना, शुद्धाहार-विहार वाला होना, नियमित दिनचर्या, व्यायाम, प्राणायाम, प्रणवजपादि प्रतिदिन करने चाहिये। आजन्म-ब्रह्मचारी और महायोगी महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने से जो आनन्द मिलता है, उसे स्वानुभूत करके लिखा है—

(क) और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दु:ख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे—देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्रप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महाकुलक्षणी, और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य-बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।" (स० प्र० द्वितीय समु०)

(ख) "जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से सर्वविध उन्नति होती है। यही बात व्यासमुनि ने लिखी है कि ब्रह्मचर्य के पालन करने से अप्रतिघ= पराजित न होने वाले गुणों का विकास होता है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक तीनों प्रकार की उन्नति ब्रह्मचर्य के पालन से होती है। और जो योगाभ्यास करने में लगा है, उसके समक्ष भी विषयासक्ति का गम्भीर सागर प्रबल बाधक बनता है। और रूपादि विषयों में भी काम-वासना अत्यन्त उग्र भंवर के समान भयानक होने से दुस्तीर्ण होती है। इस विषय-जाल के अथाह सागर से पार करने के लिये ब्रह्मचर्य ही अपराजित व सुदृढ नौका है।

और ब्रह्मचर्य-पालन का एक अन्यतम लाभ बताते हुए व्यासमुनि लिखते हैं कि—ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाला ही आचार्य शिष्यों में ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित कर सकता है। विद्या पढ़ने व पढ़ाने वालों के लिये यहाँ एक अतीव उपयोगी व्यवस्था को समझाया गया है कि ब्रह्मचारी गुरु ही सच्चा अध्यापक होकर योग्य विद्वान् ब्रह्मचारी बना सकता है। इस विषय में वैदिक विधान भी यही है—

(क) आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ (अथर्व०)

अर्थात् वही विद्वान्-आचार्य ब्रह्मचारी की इच्छा करता है, जो स्वयं यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है।

(ख) ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधिविश्वे समेताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ (अथर्व०)

अर्थात् ब्रह्मचारी जब ब्रह्म=ज्ञान और वीर्यशक्ति से प्रकाशमान होता है

तब उसमें सम्पूण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं। वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःखक्लेशों का नाश, सम्पूर्णविद्याओं में व्यापकता, उत्तमवाणी, पवित्र-आत्मा, शुद्धहृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३९ ॥

व्यासभाष्यम्

[जन्मकथंतासंबोधः] अस्य भवति। कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथं स्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥ ३९ ॥

भाष्यानुवाद—व्यासभाष्य के 'अस्य भवति' इन पदों का सूत्रार्थ के साथ सम्बन्ध है। अपरिग्रह नामक यम की स्थिरता होने पर इस योगी को जन्मकथंतासंबोध[1]=जन्मों और जन्म के कारणों का बोध हो जाता है। मैं कौन था? मैं किस प्रकार से था? यह जन्म क्या है? इस जन्म का कारण क्या है अर्थात् यह जन्म किन कर्मों का फल है? हम जन्मान्तर में क्या हो जायेंगे? किस प्रकार के हो जायेंगे? इस प्रकार से इस योगी का पूर्वान्त=भूतकाल में, परान्त=भविष्यत्काल में और मध्य=वर्त्तमानकाल में आत्मस्वरूप को जानने की इच्छा स्वतः हो जाती है। ये पाञ्चों यमों की स्थिरता होने पर सिद्धियाँ होती हैं।

सूत्रार्थ—"(अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहाँ से आया हूं और मुझको क्या करना चाहिए अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा,' इत्यादि शुभगुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है।" (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—अपरिग्रह का अर्थ है—'विषयाणाम् अर्जन-रक्षण-क्षय-संग-हिंसादोषदर्शनाद् अस्वीकरणम्' (व्यासभाष्ये यो० २।३०) अर्थात् विषय=जो विशेषरूप से बन्धन के कारण हैं ऐसे धन, सम्पत्ति, भोगसामग्री तथा अन्य शृङ्गारपूर्ण वस्तुओं का शरीर-रक्षादि आवश्यकता से अधिक, केवल भोग करने के लिये संग्रह करना, रक्षा करना, उनमें आसक्त होना, उनकी प्राप्ति में प्राणियों की हिंसा करना इत्यादि परिग्रहवृत्ति कहलाती है। और इनके

---

१. जन्म च कथन्ता (जन्मनः कारणानि) च तयोः सम्बोधः=यथार्थबोध इत्यर्थः।

संग्रह, रक्षण, संग तथा प्राप्ति में हिंसादि दोषों को देखकर इनको स्वीकार न करना=ग्रासक्त होकर संग्रह न करना 'ग्रपरिग्रह' कहलाता है। योगाभ्यासी के मार्ग में परिग्रह-वृत्ति ग्रत्यन्त बाधक होती है। क्योंकि—

'भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्।'

'नानुपहत्य भूतानि उपभोगः सम्भवति॥'' (यो० २।१४ भाष्यम्)

ग्रर्थात् जैसे जैसे इन्द्रियों के विषयों का भोग किया जाता है, वैसे-वैसे उनके प्रति राग बढ़ता है ग्रौर इन्द्रियों की विषयग्रहण-वृत्ति बढ़ती रहती है, ग्रौर विषयों का भोग प्राणियों को दुःख दिये विना कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार योगी विषयों के परिणाम; ताप तथा संस्कारदुःखों को देखकर भोग्य-पदार्थों का परित्याग कर देता है। भोग्य पदार्थों के संग्रह के ग्रतिरिक्त शरीर का शृंगार करनादि भी परिणामादि दुःखजनक होने से परित्याज्य है।

इस प्रकार योगी ग्रपरिग्रह के पालन में जब स्थिर=पूर्णतः दृढ़ हो जाता है, उसका फल यह होता है कि वह जन्म के कारणों को जान लेता है। पूर्वजन्म में मैं क्या था, इस जन्म के क्या क्या कारण हैं ग्रौर भविष्य में जन्म कैसे होगा? यह जन्म-विषयक ज्ञान योगी को प्राप्त हो जाता है। परन्तु ग्रपरिग्रह का इस जन्म-बोध के साथ क्या सम्बन्ध है? ऐसी ग्राशंका ग्रवश्य उत्पन्न होती है। क्योंकि इनमें कोई कार्य-कारण-भाव स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा है। भोग्य-वस्तुग्रों का संग्रह न करने से जन्म के कारणों का बोध होना ग्रयुक्तियुक्त सा प्रतीत है। ग्रहिंसादि दूसरे यमों के फलों में ऐसी ग्रयुक्त बातें नहीं हैं। परन्तु ऋषियों की बात को ग्राशंका के कारण नहीं छोड़ा जा सकता। उस पर विचार करने से अवश्य उत्तर स्पष्ट हो जाता है। जैसे—सन्ध्या में ग्रघमर्षण मन्त्रों से पाप-भावना का परिहार सृष्टि के नियमों के चिन्तन से हो जाता है ग्रर्थात् यह सृष्टि परमात्मा की रचना है, वह इसका नियन्ता है, रात-दिन की भाँति सृष्टि-प्रलय का चक्र चलता रहता है। इस ईश्वरीय व्यवस्था पर विचार करने से उपासक सृष्टि के लुभावने पदार्थों के ग्राकर्षण से ग्रथवा लोभादि वृत्तियों से विमुख हो जाता है। क्योंकि वह विचार करता है कि इस सब संसार का नियन्ता ईश्वर है, मैं नहीं ग्रौर यह सब नश्वर=सदा रहनेवाला नहीं है ग्रौर नहीं इनमें से कोई वस्तु मैं ग्रपने साथ ले जा सकता हूँ। ठीक इसी प्रकार जब योगी भोग्य-पदार्थों के परिणामादि दुःखों तथा इनके विनश्वर स्वरूप का चिन्तन करता है ग्रौर यह भी विचारता है कि इन के संग्रह में दुःख ही है, सुख तो भूलभुलैया ही है ग्रौर कोई इनमें से वस्तु मेरे साथ नहीं जा सकती। यह भौतिक शरीर, जिसे मैं भोग्य-पदार्थों से पाल रहा हूँ ग्रथवा

इसका शृंगार कर रहा हूँ, यह भी विनश्वर होने से मेरे साथ नहीं रहेगा। मेरा जन्म इस शरीर के साथ संयोग का ही नाम है और इससे वियोग होना ही मृत्यु है। मैं तो अमरात्मा हूँ, कभी नष्ट नहीं होता। फिर मेरा इस विनश्वर शरीर के साथ संयोग (जन्म) क्यों हुआ है? क्या यह बिना निमित्त के ही मिल गया है? बिना निमित्त के शरीर मिले तो सबको एकसा मिलना चाहिए। कोई अन्धा है, दूसरा बहरा है, तीसरा गूंगा है अथवा मनुष्यों से भिन्न दूसरी योनियों का क्या कारण है? जिन में वह अपने दुःख-सुख को न कह सकता है और न कोई बौद्धिक कार्य ही कर सकता है। इस असमानता को देखकर वह अपने जन्म के कारणों का चिन्तन करता है और दोषपूर्ण परिग्रह-वृत्ति को छोड़ देता है। इस जन्म के कारण पूर्वजन्म[1] के कर्म हैं, मैं उन कर्मों का फल भोग रहा हूँ और भविष्य में भी नवीन जन्म मिलेगा, उसके कारण भी मेरे कर्म ही होंगे। इस कर्ममीमांसा का चिन्तन विभिन्न जन्मों के कारणों का ज्ञान कराता है। और प्रकृति से विमुख करके आत्म-स्वरूप के चिन्तन में प्रवृत्त कराता है॥ ३९॥

अव०—नियमेषु वक्ष्यामः—

(**अर्थ**)—अब नियमों की स्थिरता में सिद्धियाँ कहेंगे—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

व्यासभाष्यम्

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किं च परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्ज-लादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन्कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत। ॥ ४० ॥

भाष्यानुवाद—यतिः=योगसाधक स्वाङ्गे=अपने शरीर के अवयवों में मलीन होने से जुगुप्सा=ग्लानि होने पर शौच=बाह्य तथा आभ्यन्तरिक

१. इस विषय में यह जानना चाहिए कि जन्म-जन्मान्तरों में सूक्ष्मशरीर जीवात्मा के साथ जाता है। और समस्त कर्माशय और उनकी वासनायें सूक्ष्मशरीर के घटक मन में रहती हैं। योगी मनस्थित कर्माशय तथा संस्कार का ज्ञान करके पूर्वजन्म को जान लेता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'संस्कारसाक्षात्कारकरणात् पूर्वजातिज्ञानम्' (योग० ३।१८) अर्थात् संस्कारों का साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

शुद्धि करता हुआ काया=शरीर के अवद्य=निन्दनीय दोषों को देखने वाला, अतएव शरीर के प्रति आसक्ति न रखने वाला हो जाता है। और दूसरों के शरीरों से अशुद्धि के कारण संसर्ग नहीं रखता हुआ अपने शरीर के स्वभाव को देखने वाला योगी अपने शरीर को सदोष होने के कारण छोड़ने की इच्छा वाला होकर शरीर को मिट्टी व जलादि से भी धोता है पुनरपि शरीर-शुद्धि को न देखते हुए, जो शरीर शुद्धि में अत्यन्त प्रयत्नरहित हैं, ऐसे दूसरे मलीन शरीरों के साथ वह संसर्ग=मेल कैसे कर सकता है?

सूत्रार्थ—"परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है, सो भी पाञ्च प्रकार का है। उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

"(शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त[1] दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुये हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है ॥"

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—योगाभ्यासी पुरुष जैसे जैसे योगाङ्गों का अभ्यास करता जाता है, वैसे वैसे अज्ञान का नाश और ज्ञानवृद्धि होती जाती है। और अविद्या के लक्षण में (२।५) अशुचि में शुचि भावना भी अविद्या माना है। इसलिये जब योगी शौच में स्थिरता प्राप्त कर लेता है अर्थात् शुद्ध और अशुद्ध का विवेक कर लेता है, तब उसे अपने शरीर के अवयवों से भी घृणा होने लगती है। क्योंकि इस शरीर को स्नानादि तथा यौगिक क्रियाओं से कितना भी शुद्ध रक्खा जाये, पुनरपि इसकी सर्वथा शुद्धि नहीं हो सकती। और अपने शरीर से जब आसक्ति नहीं रहती, तो दूसरों के शरीरों में भी आसक्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि शरीर सबके एक समान हैं। और जो योगाभ्यास नहीं करते, उनके शरीर तो आसक्ति के योग्य कैसे हो सकते हैं? स्वयं व्यासमुनि ने (यो० २।५) सूत्र के भाष्य में भौतिक शरीर को अपवित्र कहते हुए कहा है—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निस्स्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिताह्यशुचिं विदुः ॥

अर्थात् यह भौतिक शरीर पवित्र नहीं है। क्योंकि यह शरीर मल-मूत्र-मय योनि से, रजवीर्य रूप बीज से, मलादि भण्डार होने से नेत्रादि अवयवों से

---

१. यो० २।३२ सूत्रार्थ में कही है।

तथा पसीने के रूप में मलस्राव होने से, मरणोत्तर शव=मुरदा होने से अप-वित्र ही है। और अपवित्र में पवित्र-भाव करना अविद्या है।

भगवान् मनु ने भी इस विषय में कहा है—

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतवासमिमं त्यजेत्॥ (मनु० ६।७६,७७)

अर्थात् इस शरीर में हड्डियों के खम्बे हैं, स्नायुरूप रस्सियों से शरीर बन्धा हुआ है, मांस और रक्त से लिपा हुआ है, चमड़े से ढका हुआ है, मल-मूत्र से भरा हुआ है, इसलिये दुर्गन्धयुक्त है। और बुढ़ापे व शोक से आक्रान्त है, विविध रोगों का घर है, नाना प्रकार के दुःखों से ग्रस्त है, रजोगुणयुक्त और अनित्य है। यह विचार कर विचारशील व्यक्ति इस पञ्चभौतिक शरीर में त्याग-भावना रक्खे अर्थात् इसे अपवित्र ही समझे॥ ४०॥

अव०—किञ्च—

(अर्थ)—और भी शौच का फल बताते हैं—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥

व्यासभाष्यम्

भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं ततः ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चाऽऽत्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति॥ ४१॥

भाष्यानुवाद—और शौच के 'सत्त्व-शुद्धि, सौमनस्य=प्रसन्नता, एका-ग्रता, इन्द्रियों का जय और आत्म-साक्षात्कार की योग्यता' ये फल होते हैं। **शुचेः**=शौच की दृढता से **सत्त्वशुद्धिः**=अन्तःकरण की शुद्धि होती है, उससे **सौमनस्यम्**=मनकी प्रसन्नता (स्वच्छता), मन की प्रसन्नता से मन की एका-ग्रता होती है, मन को एकाग्रता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होता है, इन्द्रिय-जय से आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार करने की योग्यता **बुद्धिसत्त्वस्य**=चित्त को प्राप्त होती है। ये उपर्युक्त दो सूत्रों में कहे गये फल (सिद्धियाँ) शौच की स्थिरता से प्राप्त होते हैं।

सूत्रार्थ---"और उसका फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है" ।। (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—शौच के अनुष्ठान से पूर्वसूत्र में बाह्य फल बताकर अब आन्तरिक फल बताया गया है। जैसे—२। ३२ सूत्र के भाष्य में शौच के बाह्य= मिट्टी, जल और शुद्धाहारादि से तथा आन्तरिक=चित्त के मलों का दूर करना, ये दो भेद बताये हैं, वैसे ही दो प्रकार के शौच के फल हैं। इसलिये आन्तरिक=चित्त मलों की शुद्धि से क्या लाभ होते हैं, वे इस सूत्र में परिगणित किये हैं। और इन फलों में भी एक क्रम है। बाह्य-शुद्धि होने से जब दूसरों के साथ संसर्ग नहीं रहता, तब राग, द्वेष, क्रोध, आदि चित्त-मलों को उभरने का अवसर नहीं मिल पाता।

अतः शौचानुष्ठान से सत्त्व=सतोगुणप्रधान चित्त (अन्तःकरण) की शुद्धि व निर्मलता प्रथम होती है, तत्पश्चात् चित्तवृत्ति की एकाग्रता[1]=(प्रणवादिजप करने में ध्यान का लगना), होती है। और इस एकाग्रता से नेत्रादि इन्द्रियाँ विषयों में विचरण न करने के कारण अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने से शिथिल होने से वश में हो जाती हैं। और इन्द्रियजय होने से जीवात्मा की स्वरूपस्थिति हो जाती है, अतः आत्म-तत्त्व को जानने में योगी समर्थ हो जाता है। जीवात्मा की शक्तियों को इन्द्रियाँ ही बाह्यमुख करके आत्मा से विमुख कर देतीं=आत्मदर्शन नहीं होने देतीं। इन्द्रियजय होने पर अन्तर्मुखी वृत्ति होने से सूक्ष्म आत्म-तत्त्व को जानने में अत्यन्त सुविधा होती है। इस प्रकार शौच का अनुष्ठान योगी के लिये परमावश्यक है।

इस विषय में उपनिषद् में कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ।। (कठो० वल्ली०४ मंत्र-१)

अर्थात् परमेश्वर ने नेत्रादि इन्द्रियों को बाह्यमुख बनाया है, इसलिये इन्द्रियाँ बाह्य-विषयों का ग्रहण करती हैं, आन्तरिक विषयों का नहीं। और जो धैर्यवान् योगी पुरुष इन्द्रियों पर संयम करके आत्म-तत्त्व को जान लेता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योंकि २। ४३ भाष्य के अनुसार इन्द्रिय-

---

१. इसीलिये सन्ध्योपासना से पूर्व शौच करना अत्यावश्यक है। और इस शौच में केवल बाह्यशौच=स्नानादि ही नहीं है, प्रत्युत चित्तमलों का दूर करना भी है। अन्यथा मन सन्ध्योपासना में नहीं लग सकता।

सिद्धि होने से सूक्ष्म-पदार्थों के देखने तथा सुनने आदि की शक्ति बढ़ जाती है ॥ ४१ ॥

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

व्यासभाष्यम्

तथा चोक्तम्—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति ॥ ४२ ॥

भाष्यानुवाद—'सन्तोष' नामक नियम की सिद्धि के विषय में और भी कहा है—संसार में जो भी कामसुखम्=कामना की पूर्ति का सुख है और जो भी दिव्य=स्वर्गीय महान् सुख है। ये दोनों सुख तृष्णा के नाश से प्राप्त होने वाले सुख की सोलहवीं कला (अंश) के भी समान नहीं हो सकते ।

सूत्रार्थ—"(सन्तोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त सन्तोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—सन्तोष की व्याख्या २ । २३ भाष्य में यह है कि परिश्रम से प्राप्त साधन से अधिक के ग्रहण करने की इच्छा न करना सन्तोष है। और सन्तोष से योगी की तृष्णा का नाश होता है, इसलिये तृष्णामूलक समस्त दुःखों के नाश होने से योगी परम-सुख को प्राप्त करता है। इस उत्तम-सुख के लिये सूत्र में 'अनुत्तम' शब्द आया है। जिसका आशय (बहुव्रीहि-समास मानकर 'न विद्यते उत्तमं सुखं यस्मात्=जिससे उत्तमसुख अन्य नहीं है) परमानन्द-अनुभूति से है। जिसको महर्षि-दयानन्द ने सूत्रार्थ में स्पष्ट रूप से मोक्षसुख ही कहा है। व्यास-भाष्य में श्लोक से भी यही स्पष्ट हो रहा है कि यह अनुत्तम-सुख लौकिक व पारलौकिक सुखों से उत्कृष्ट है।

और यो० १ । १२ सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि ने यह स्पष्ट किया है—यह चित्तरूपी नदी पाप और पुण्य दो मार्गों से बहती है। इस नदी का पाप-मार्ग पर बहने का मूलकारण तृष्णा है। और यह तृष्णा कभी पूर्ण नहीं होती। जैसे-जैसे मनुष्य तृष्णा की पूर्त्ति में व्यस्त रहता है, वैसे-वैसे ही यह अधिक बढ़ जाती है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' ॥

अर्थात् कामनाओं के भोग करने से कामना कभी शान्त नहीं होती। उत्त-

रोत्तर घी से अग्नि की भांति बढ़ती जाती है। नीतिकार भर्तृहरि ने ठीक ही लिखा है—

'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'॥

अर्थात् तृष्णा की पूर्त्ति करने वाले बूढ़े हो जाते हैं, परन्तु तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती। भक्त कवि कबीर का दोहा भी इस विषय में प्रसिद्ध है—'आशा तृष्णा न मिटे, कह गये भक्त कबीर' और जब योगी पाप-मार्ग से विपरीत पुण्य-मार्ग पर चलना प्रारम्भ करता है, तो तृष्णा उसे बहुत सताती है, पग-पग पर बाधक बनकर खड़ी हो जाती है। और इस को योगी जीत लेता है, तो उसे पूर्णतः सन्तोष होने से अनुत्तम-सुख की प्राप्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ४२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥

व्यासभाष्यम्

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति॥ ४३॥

भाष्यानुवाद—अनुष्ठान किया गया ही तप अशुद्धि रूपी चित्त के आवरण को नष्ट करता है, उस चित्तवृत्ति को आच्छादन करनेवाले मल के दूर होने से कायसिद्धि=शरीर की सिद्धियाँ अणिमादि प्राप्त हो जाती हैं। उसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धियाँ दूर से श्रवण=सुनना, दर्शन=देखना आदि प्राप्त हो जाती हैं॥

सूत्रार्थ—"(कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ होके सदा रोगरहित रहते हैं"॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—तप की व्याख्या २।३२ सूत्र में यह है कि सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों का सहन करना तप है। अथवा योगाभ्यास करने में जो भी बाधायें आती हैं, उनको सहन करना तप है। तप की व्याख्या अन्यत्र इस प्रकार की है—'ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः'॥ (तैत्तिरीय० आ० १०।८) इसकी व्याख्या महर्षि-दयानन्द ने इस प्रकार की है—

"(ऋतं तपः) यथार्थ शुद्धभाव, सत्यमानना, सत्यबोलना, सत्यकरना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरणों में जाने से रोकना अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, और मन से शुभकर्मों का आचरण करना, वेदादि सत्य विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना,

वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम 'तप' है। धातु को तपा के चमड़ी को जलाना 'तप' नहीं कहाता"। (स० प्र० एकादश०)

और योगदर्शनकार ने २।१ सूत्र में चञ्चलचित्त वाले के लिये तपश्चरण प्रथम क्रियायोग माना है। और व्यासभाष्य में 'नातपस्विनो योगः सिद्धयति' बिना तपश्चर्या के योग-सिद्धि नहीं होती, इससे तप के महत्त्व का कथन किया है। और इस तपादि क्रियायोग के यो० २।२ सूत्रकार ने दो फल बताये हैं—(१) क्लेशों का सूक्ष्म होना और (२) समाधि प्राप्त कराना। और इस सूत्र में भी तपश्चर्या का प्रथम फल अशुद्धि=चित्त के मलों को दूर करना कहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि तप के द्वारा योगी का शरीर और इन्द्रियाँ अनकूल होने से योगाभ्यास में सहायक बनते हैं और योगाभ्यास करने से प्रथम अविद्यादि क्लेशों का नाश होता है और क्लेश नाश से चित्त के रागादि दोषों की निवृत्ति होती है, यही अशुद्धि का क्षय कहलाता है।

इस प्रकार तप से चित्त की अशुद्धि का जब नाश हो जाता है, तो उससे कायसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि हो जाती है। यहाँ कायसिद्धि का अभिप्राय शरीर के रोगों से निवृत्ति कदापि नहीं है। क्योंकि शारीरिक रोगों की निवृत्ति तो चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार औषध-सेवन से ही हो सकती है। और नहीं इसका अभिप्राय बुढ़ापादि की निवृत्ति से ही है। जो मनुष्य वृद्धावस्था में जाकर योगाभ्यास की बात सोचते हैं, उनका प्रयास सिकता-कणों से तेल निकालने के समान निरर्थक है। अतः योगभ्यास स्वस्थ व निरोग मनुष्य ही कर सकता है। फिर तप से कायसिद्धि का अभिप्राय क्या है? इसका उत्तर व्यास-भाष्य में 'अणिमा, लघिमा, गरिमादि' सिद्धि कहकर दिया है। और ये सिद्धियाँ शारीरिक कदापि नहीं हैं। इस विषय में योगिराज महर्षि-दयानन्द की व्याख्या इस प्रकार है—

"अणिमा आदि विभूतियाँ हैं ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, यह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि (योगी का चित्त) छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है, इसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है"॥

(उपदेश-मञ्जरी, ११ वाँ उपदेश)

और इसी प्रकार कायसिद्धि की भांति इन्द्रियसिद्धि को भी समझना चाहिये। 'इन्द्रियसिद्धि' से अभिप्राय नेत्रहीनादि को नेत्र प्राप्ति आदि नहीं है। हमें शरीर में जो नेत्रादि गोलक दिखाई देते हैं, यथार्थ में ये इन्द्रिय-शक्ति

के वैसे ही प्रकाशक होते हैं, जैसे—बिजुली के बल्फ बिजुली के प्रकाशक होते हैं, यथार्थ में इन्द्रियाँ भी मन की भांति सूक्ष्म-शरीर के घटक ही हैं। जैसे—महर्षि-दयानन्द ने लिखा है—

"पाञ्च प्राण, पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पाञ्च सूक्ष्मभूत, और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्म-शरीर' कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है" ।। (स० प्र० नवम०)

अतः इन्द्रिय-सिद्धि से अभिप्राय इन्द्रिय-शक्ति के समृद्ध होने से दूर-श्रवण, दूरदर्शन आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। और ये सिद्धियाँ इन्द्रिय-शक्ति पर ही निर्भर हैं। जैसा-जैसा सामर्थ्य इनका बढ़ेगा, उतनी-उतनी ही सिद्धि प्राप्त होगी। सूत्रकार ने इन्द्रिय-सिद्धि के लिये श्रवणेन्द्रिय का उदाहरण (यो० ३। ४१ में) दिया है। अर्थात् श्रवणेन्द्रिय और आकाश के विशेष सम्बन्ध तथा संयम के कारण योगी को दिव्यश्रवण-शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिससे योगी आकाशस्थ दूरस्थ ध्वनियों को सुनने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार त्वक् का वायु से, चक्षु का तेज से, रसना का जल से, घ्राणेन्द्रिय का पृथिवी से विशेष-सम्बन्ध होने से दिव्यस्पर्श, दिव्यरूप, दिव्यरसन, तथा दिव्यघ्राण की शक्ति प्राप्त हो जाती है। और इन्द्रियसिद्धियों का निर्देश सूत्रकार ने निम्न सूत्र में भी किया है—

ततः प्रातिभ-श्रावण-वेदना ऽऽ दर्शा-स्वादवार्त्ता जायन्ते ।। (योग० ३।३६)

अर्थात् आत्म-संयम के द्वारा प्रातिभ=मानसिक शक्ति, जिससे दूरस्थ, सूक्ष्म और व्यवहित वस्तु को जान सकता है, श्रावण=श्रवणेन्द्रिय-शक्ति, जिससे दूरस्थ व सूक्ष्म ध्वनियों को सुन सकता है, वेदना=त्वगिन्द्रिय-शक्ति, जिससे सूक्ष्म दिव्यस्पर्श कर सकता है, आदर्श=नेत्रेन्द्रिय-शक्ति, जिससे सूक्ष्म, दूरस्थ तथा व्यवहित रूप को देख सकता है, आस्वाद=रसनेन्द्रिय-शक्ति, जिससे सूक्ष्म-रस का आस्वादन कर सकता है, और वार्त्ता=घ्राणेन्द्रिय-शक्ति, जिससे सूक्ष्म दिव्यगन्ध को योगी ग्रहण कर सकता है ।। ४३ ।।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ।। ४४ ।।

व्यासभाष्यम्

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति ।। ४४ ।।

भाष्यानुवाद—'स्वाध्याय' नामक नियम के अनुष्ठान करने वाले योगी को

देवा:[1]=विद्वान्, ऋषय:=मन्त्रार्थद्रष्टा और सिद्धा:=योग की सिद्धियाँ जिन्होंने प्राप्त की हैं वे दिखाई[2] दे जाते हैं और साधक के काम में सहायक हो जाते हैं ॥

सूत्रार्थ—"(स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥" (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—'स्वाध्याय' की व्याख्या यो० २।३२ सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि ने यह की है—'स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा ॥' अर्थात् मोक्ष का उपदेश करने वाले शास्त्रों का पढ़ना और ओंकार, और गायत्रादि पवित्र मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है। अब उस स्वाध्याय का फल इस सूत्र में बताया गया है—इष्टदेवता-सम्प्रयोग। और व्यास-भाष्य में उसकी व्याख्या यह की है कि स्वाध्याय करने से देवों, ऋषियों तथा सिद्धों के दर्शन स्वाध्यायशील योगी को होते हैं और वे उस योगी के कार्य में (सहायक) होते हैं। कुछ व्याख्याकार इसकी व्याख्या यह करते हैं कि वे शास्त्रों के निर्माता विद्वान् ऋषि व सिद्धपुरुष स्वाध्याय करने वाले को प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जैसे कोई योगदर्शन और उसके व्यासभाष्य का स्वाध्याय कर रहा है, तो उसको महर्षि पतञ्जलि तथा व्यासमुनि का प्रत्यक्ष हो जाता है। परन्तु यह बात सृष्टि के क्रम से विरुद्ध होने से सत्य नहीं है। क्योंकि मृत-आत्मा ईश्वर की व्यवस्था से विभिन्न योनियों में अथवा मोक्ष-सुख को कर्मानुसार प्राप्त कर लेती हैं, उनका वापिस आना कदापि सम्भव नहीं है। और

---

१. 'देवाः, ऋषयः, सिद्धाः' ये तीनों शब्द मनुष्यों के विभिन्न भेदों को ही बता रहे हैं। इन शब्दों की महर्षि-दयानन्द कृत व्याख्या पढ़िये—'देवा=विद्वांसः साध्याः=ज्ञानिनः, ऋषयः=मन्त्रार्थद्रष्टारः।' (ऋ० भू० सृष्टिविद्या यजु० ३१। ६ मन्त्रभाष्ये।) और यजु० ३१।१६ मन्त्र की व्याख्या में भी (साध्याः=साधनवन्तः कृतसाधनाश्च) साध्य शब्द को स्पष्ट किया है। यद्यपि यहां व्यासभाष्य में 'सिद्ध' शब्द है, परन्तु 'साध्याः वा सिद्धाः' दोनों शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है।

२. 'दर्शनं गच्छन्ति' का यह आशय नहीं है कि जो ऋषि, विद्वान् मर गये हैं, वे दिखाई दे जाते हैं, क्योंकि ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि उनके बनाये शास्त्रों व उपदेशों को पढ़ने से उनसे सम्प्रयोग=सम्बन्ध हो जाता है। अर्थात् उनके उपदिष्ट ज्ञान से युक्त होकर उनके अनुभवात्मक ज्ञान से लाभ प्राप्त करके इष्टदेव=परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

यह बात युक्तियुक्त भी नहीं है। क्योंकि इस समय जब अनेक व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्वाध्याय कर रहे होंगे, तो वे देव, ऋषि आदि एकसाथ कैसे आ सकेंगे ? और यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है। स्वाध्याय करने वाले किसी व्यक्ति को उनके दर्शन कदापि नहीं होते।

फिर 'इष्ट-देवता-सम्प्रयोग' का क्या अर्थ है ? एतदर्थ यह विचारणीय है कि स्वाध्याय योग का अङ्ग है, अतः योग का जो उद्देश्य है, वही स्वाध्याय का भी और स्वाध्याय का अर्थ मोक्षशास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणवजपादि है। अतः उसका फल भी इसके अनुरूप ही होना चाहिए। अतः इष्ट-देवता का अर्थ परमात्मा का सान्निध्य और उसके दिव्य गुणों से सम्बन्ध होना ही संगत होता है और यही अर्थ व्यास-भाष्य में भी स्पष्ट किया है।

स्वाध्याय-योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ (यो० १।२८ भाष्ये)

अर्थात् स्वाध्याय और योग की समृद्धि से परमात्मा का प्रकाश होता है। और यही अर्थ उचित भी है, क्योंकि स्वाध्याय से अज्ञान की निवृत्ति और योग से क्लेशों का क्षय व ज्ञानदीप्ति होने से परमात्मा के सान्निध्य से मोक्ष-सुख प्राप्त होता है। और दूसरा अर्थ यह भी संगत होता है, कि जिस विद्वान् व ऋषि के बनाये शास्त्र को योगी पढ़ता है, उसके विचारों से सान्निध्य होना ही उनका दर्शन होना है और उनके बताये अनुभव से लाभान्वित होना ही योग-कार्य में उनकी सहायता है। व्यास-भाष्य की भी इसी अर्थ के साथ संगति ठीक है। मृतक-आत्मा के दर्शन की बात सर्वथा मिथ्या है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणीधानात्[1] ॥ ४५ ॥

व्यासभाष्यम्

इश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यथा सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

भाष्यानुवाद—जिस उपासक ने अपने समस्त भावों=क्रियाओं को परमेश्वर के अर्पण कर दिया है, उसको समाधि की सिद्धि हो जाती है। जिस समाधि से योगी सब अभीष्ट पदार्थों को अवितथम्=यथार्थ रूप में जान लेता है, चाहे वे पदार्थ देशान्तर=अन्य स्थानों पर हों, अन्य शरीरों में हों अथवा भूत-

१. ईश्वर-प्रणिधान' शब्द की व्याख्या योगभाष्य १।२३ और १।२ के सूत्र-भाष्य में द्रष्टव्य है।

भविष्यत् आदि कालान्तर में हों। तत्पश्चात् उस दशा में इस योगी की प्रज्ञा= समाधिबुद्धि यथाभूत=यथार्थ रूप में ही पदार्थों को ठीक-ठीक जान लेती है।

सूत्रार्थ—"(समाधि०) पूर्वोक्तो प्रणिधान[1] से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है॥" (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—इस सूत्र में 'ईश्वर प्राणिधान' का फल समाधिसिद्धि बताया है, जिसके द्वारा देशान्तर, देहान्तर तथा कालान्तर के पदार्थों को योगी जान लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राय: ऐसा देखा जाता है कि एक वस्तु के जानने के बाद उसी प्रकार की (कुछ परिवर्तन के साथ) अन्य वस्तु को नहीं जाना जाता। इसलिये सामान्य मनुष्य एक प्रकृति के ही विभिन्न विकारों को देखकर मोहित अथवा आकृष्ट हो जाते हैं। एक स्त्री से विरक्त होकर भी अन्य स्त्री के प्रति आकृष्ट हो जाता है। परन्तु समाधि-सिद्धि को प्राप्त योगी पुरुष में ऐसा नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि संसार में तीन (ईश्वर, जीव व प्रकृति) पदार्थ ही नित्य हैं और वे चाहे किसी अन्य देश में हों, अन्य काल में हों अथवा अन्य शरीरों में हो, वह सब इन तीनों से भिन्न कुछ भी नहीं हैं। योगी पुरुष इन तीनों पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अर्थात् इनके गुण, कर्म और स्वभाव को जान लेता है और यह जानता है कि कौन वस्तु उपादेय है और कौन सी त्याज्य है? इसलिये वह प्रकृतिजन्य एक वस्तु को जानकर सबको जान लेता है, अत: अविद्यादि दोषों से ग्रस्त नहीं होता। और इससे भिन्न अर्थ की असम्भवादि दोष होने से यहाँ संगति नहीं लगती। अर्थात् योगी पुरुष सब देशों, सब कालों तथा सब शरीरों में होने वाली बातों को जान लेता है, यह कदापि सम्भव नहीं है। व्यास-भाष्य में भी यही स्पष्ट किया है कि योगी सब ईप्सित=प्राप्त करने योग्य पदार्थों का ज्ञान कर लेता है, चाहे वह किसी काल में हो, किसी शरीर में अथवा किसी देश में हो।

और ईश्वरप्रणिधान=समस्त क्रियाओं अथवा क्रियाओं के फल को ईश्वरार्पण करने से समाधिसिद्धि कैसे हो जाती है? और ईश्वरप्रणिधान से यदि समाधि हो जाती है, तो दूसरे योगाङ्गों के अनुष्ठान की क्या आवश्यकता है इसका समाधान यह है कि ईश्वरप्राणिधान करने वाले योगी के अभिमानादि दोषों का नाश हो जाता है। और सकाम कार्य की सफलता व

---

१. "(ईश्वरप्रणिधानम्) सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण आत्मा, और मन के प्रेम-भाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना।" (ऋ० भू० उपासना०)

असफलता से जो हर्ष-शोक होते हैं, योगी उससे बच जाता है। इससे चित्त-वृत्ति के निरोध में पर्याप्त सहायता मिलती है और चित्तवृत्ति का निरोध ही समाधि अथवा योग है। जब ईश्वरार्पण की भावना योगी की परिपक्व हो जाती है तो वह सब बाधाओं से रहित और निर्भय हो जाता है। ये बाधा-शून्यता व निर्भयता समाधि मार्ग को अतीव प्रशस्त कर देते हैं। योगी का चित्त पूर्णतः एकाग्र और प्रसाद गुणयुक्त हो जाता है। योगी की यह दशा समाधि की सिद्धि में अत्यन्त सहायक होती है।

और यद्यपि योग के सभी अङ्गों का लक्ष्य एक ही होता है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही योग के अंगों का क्रमशः कथन किया गया है। पुनरपि ईश्वर-प्राणिधान होने से योगी को समाधि शीघ्र प्राप्त होती है और इसके विना योग के दूसरे अङ्ग अपूर्ण रहते हैं। और यहाँ समस्त योगाङ्गों का सामान्य-फल एक होताहुआ भी जो पृथक्-पृथक् विशेष-फल कहे हैं, वे एक-दूसरे के फल-लाभ में सहायक हैं। और उन फलों में किसी असामान्य बात को ध्यान में रखकर ही फलकथन किया गया है। इसलिये किसी एक अंग से समाधि-सिद्धि कदापि नहीं हो सकती, उसके लिये सभी अंगों का होना अपरिहार्य है ॥ ४५ ॥

अव०—उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः। आसनादीनि वक्ष्यामः। तत्र—

(अर्थ)—सिद्धियों के सहित यम और नियम कह दिये गये। अब आसनादि योगाङ्गों को कहेंगे। उनमें—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

व्यासभाष्यम्

तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

भाष्यानुवाद—वे आसन ये हैं—जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय=सहारे के साथ आसन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्च निषदन=क्रौञ्चपक्षी की तरह बैठना, हस्तिनिषदन=हाथी की तरह बैठना, उष्ट्रनिषदन=ऊँट की तरह बैठना और समसंस्थान। ये सब आसन स्थिर तथा सुख देने वाले हैं। यथासुखम्=पद्मासनादि आसनों में से योगी को

उपासन में जैसे सुख मिले, वैसे करने चाहिये। अथवा इत्यादि आसन सुख-पूर्वक बैठने के प्रकार हैं। (यहाँ आदि शब्द से सिद्धासनादि का भी ग्रहण समझना चाहिये।)

सूत्रार्थ—"(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हों, उसको आसन कहते हैं, अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करें" ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—चित्तवृत्तियों को निरोधकर जप, उपासनादि करने के लिये शरीर का स्थिर रखना भी आवश्यक है। शरीर के स्थिरहुए बिना चित्त का स्थिर होना कठिन होता है। अतः जप, उपासना करने के लिये योगाभ्यासी को किसी ऐसे आसन का भी अभ्यास करना चाहिये, जिसमें कई घण्टों तक सुखपूर्वक बैठ सके। यद्यपि पद्मासनादि आसनों के अनेक भेद यहाँ कहे हैं, परन्तु अभ्यासी पुरुष को जो आसन अनुकूल हो, उसी का अभ्यास करना चाहिये।

और आसन के विषय में यहाँ सूत्रकार ने दो विशेष बातें कहीं हैं—स्थिरता और सुख। स्थिरता से अभिप्राय है—उपासना के समय शरीर के किसी अंग का भी चञ्चल न होना। मक्खी, मच्छरादि के बैठने से अथवा शारीरिक खाजादि से भी स्थिरता भंग नहीं होनी चाहिये। अन्यथा शरीर के चंचल होते ही चित्त चञ्चल हो जायेगा। और सुख से अभिप्राय है कि जिस आसन में अभ्यासी बैठा है, उसमें किसी प्रकार का कष्ट न होना। क्योंकि जिस आसन का पूर्णतः अभ्यास नहीं होता, उससे उसके घुटने आदि भागों में पीड़ा होने लगती है। नीचे से भूमि का भाग चुभने लगता है इत्यादि। अतः इसके लिये समभूमि का होना, नितम्बों के नीचे गद्दीदार आसन[1] बिछाना, एकान्त व पवित्र स्थान का होना, वायु का शुद्ध होना, मच्छरादि का न होना और शारीरिक खाजादि रोगों का न होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार युक्ता-हार-विहार, संयत-शुद्धाहार, युक्त सोना व जागना, युक्त शारीरिक व्याया-मादि श्रम करना, और हिंसा, राग, द्वेषादि दोषों का सर्वथा परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। इन उपायों के करने से तथा निरन्तर अभ्यास करने से आसन स्थिर और सुखद होता है ॥ ४६ ॥

---

१. इसके लिये योगाभ्यासी व्यक्ति चैलाजिनकुशोत्तरम्=प्रथम वस्त्र, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कुशासनादि का प्रयोग करते हैं।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

व्यासभाष्यम्

भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

भाष्यानुवाद—'भवति' क्रिया सूत्रार्थ वाक्य में जोड़नी चाहिये । प्रयत्नोपरमात् शारीरिक चेष्टाओं को तथा शरीर-धारक प्रयत्न विशेष को शिथिल=ढीला करने से आसन सिद्ध होता है और उससे अङ्गमेजयः=शरीर कम्पनादि भी नहीं होता है । (भाष्य में 'वा' शब्द विकल्पार्थक नहीं, प्रत्युत समुच्चयार्थक है ।) और अनन्त=अविनश्वर सर्वव्यापक परमेश्वर में मन की स्थिति करने से आसन सम्पन्न=सिद्ध होता है ।

सूत्रार्थ—समस्त पूर्वसूत्र की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है । प्रयत्नशैथिल्य=शारीरिक चेष्टाओं को शिथिल करने और अनन्त[1]=असीमित सर्वव्यापी परमात्मा में समापत्ति=तादात्म्य करने अथवा मन को अनन्त परमात्मा में स्थित करने से आसन स्थिर=निश्चल और सुखद होता है ।

---

१. इस सूत्र के 'अनन्त' पद का आशय न समझकर वाचस्पतिमिश्र तथा विज्ञानभिक्षु आदि पौराणिकमतावलम्बी बहुत ही अनर्थ करते हैं । वे इसका अर्थ-पृथिवी को धारण करने वाले अनन्त 'शेषनाग' करते हैं । जो अपने अनन्त फणों पर पृथिवी को धारण किये हुए है ।

यह उनकी शास्त्रविरुद्ध तथा योगविरुद्ध मिथ्या कल्पना ही है । जिस शास्त्र में योगसाधक के लिये लिखा है—'तज्जपः तदर्थभावना' अर्थात् ओम् का जप तथा उसके अर्थ की भावना ही योगी को करनी चाहिये । अथवा 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' ईश्वर की विशेष भक्ति तथा समस्त क्रियाओं के ईश्वरार्पण करने से समाधि-सिद्धि होती है । इसी प्रकार 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इत्यादि सूत्रों में एक परमेश्वर में ही ध्यान लगाने, उसी के स्वरूप में स्थिति होने को कहा है । क्या उसी शास्त्र में शेषनाग में मन लगाने की बात हो सकती है ? और उसका आसन से सम्बन्ध भी क्या है ?

और इतनी विशाल पृथिवी को शेषनाग धारण भी कैसे कर सकता है ? शेषनाग का आधार क्या है ? यथार्थ में यहाँ भ्रान्ति हुई है । 'शेष' परमात्मा का नाम है, क्योंकि महाप्रलय में भी वह शेष रहता है, और वही एक परमेश्वर समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण कर रहा है । 'स दाधार पृथिवीमुतद्याम्' (यजु०) यह वेद-मन्त्र भी इसकी पुष्टि करता है ।

भावार्थ—यहाँ आसनसिद्धि के उपाय बताते हुए सूत्रकार ने प्रयत्न-शैथिल्य तथा अनन्त समापत्ति दो भेद किये हैं—

यहाँ प्रयत्न-शैथिल्य से सूत्रकार का अभिप्राय केवल बाह्य-चेष्टाओं को ही रोकने से नहीं है, प्रत्युत शरीर को धारण करने वाले प्रयत्न विशेष में भी ढील देने से है। योगी जब किसी आसन में बैठता है, तो बहुत समय तक बैठने से शरीर में अकडाहट अथवा कम्पनादि होने लगते हैं, जिस से योग करने में बाधा पड़ती है। और 'अनन्त-समापत्ति'=सर्वव्यापक परमेश्वर में मन का लगाना भी आसनसिद्धि में अपरिहार्य है। यह मन शान्त एकदेशी वस्तु में कदापि स्थिर नहीं रह सकता। अनन्त के साथ तादात्म्य होने से ही आसनसिद्धि और देह में स्थिरता आ सकती है।

और इन प्रयत्न-शैथिल्य और अनन्त समापत्ति के बिना योगाभ्यासी को जप-उपासना में भी बाधायें आ जाती हैं। शारीरिक स्वाभाविक चेष्टाओं का नाम प्रयत्न है। उसमें शिथिलता न करने पर शरीर में खिंचाव बने रहने से अकडाहट अथवा कम्पनादि होने से योग-साधना में बाधा होती है और योगी बहुत देर तक अभ्यास करने में बैठ नहीं सकता। अतः शरीर में मृदुता रखने के लिये प्रयत्न-शैथिल्य करना आवश्यक है। और अनन्त-समापत्ति से अभिप्राय सर्वव्यापक परमेश्वर से तादात्म्य करना अर्थात् ईश्वरीय गुणों का चिन्तन, तदनुरूप भावना करने में मन को लगाना। अनन्त परमेश्वर के गुणों की सीमा न पाने से मन उसी में लगा रहता है। यदि ऐसा न किया जाये अथवा किसी सान्त पदार्थ का चिन्तन किया जाये, तो शान्त की सीमा पाने पर मन स्थिर न रह सकेगा। और मन के चञ्चल होने से अन्यमनस्कता आ जायेगी और योग सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि वह किसी पदार्थ में तभी तक लग पाता है, जब तक उसकी सीमा को न जान लेवे। और इन दोनों आसन-सिद्धि के मुख्य उपायों से भिन्न युक्ताहार-विहारादि भी, जो पूर्व सूत्र के भावार्थ में कहे हैं, सामान्य उपाय हैं। सूत्रकार ने योगाङ्गों के क्रम को ध्यान में रखकर उनका परिगणन यहाँ नहीं किया है। क्योंकि ये उपाय तो यम-नियमों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। और सूत्रकार ने यमनियमों के अनुष्ठान के पश्चात् ही 'आसन' का स्थान परिगणित किया है ॥ ४७ ॥

ततो द्वंद्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

व्यासभाष्यम्

शीतोष्णादिभिर्द्वंद्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

भाष्यानुवाद—योगसाधक आसन-जय=आसनसिद्धि के कारण शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी) [आदि शब्द से भूख-प्यासादि का ग्रहण होता है] आदि द्वन्द्वों से अभिभूत=पीडित नहीं होता है।

सूत्रार्थ—**"(ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी, गर्मी अधिक बाधा करती है"।**

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—इस सूत्र में आसन की सिद्धि का फल बताया गया है कि योगाभ्यासी पुरुष आसनसिद्धि होने पर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से दुःखी नहीं होता। यहाँ आसन-जय का अभिप्राय यह है कि आसन की स्थिरता होने पर योगी में इतनी सहनशीलता आ जाती है कि पर्याप्त सर्दी-गर्मी पड़ रही हो या भूख-प्यास लग रही हो, फिर भी योगी उनको सहन करने के कारण दुःखी नहीं होता ॥ ४८ ॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥

व्यासभाष्यम्

[तस्मिन्सति] सत्यासने [श्वासप्रश्वासयोः] बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कौष्ठचस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः [गतविच्छेदः] तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

भाष्यानुवाद—[तस्मिन्सति] उस उपर्युक्त आसनसिद्धि होने पर [श्वासप्रश्वासयोः] बाह्य-वायु का आचमन=नासिकापुटों से अन्दर लेना 'श्वास' है और कौष्ठच=अन्दर उदरस्थ वायु को नासिकापुटों से बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। [गतिविच्छेदः] उन दोनों (श्वास व प्रश्वास) की गति का विच्छेद=रोकना प्राणायाम कहलाता है।

सूत्रार्थ—**"(तस्मिन् सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने आने के**

विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को प्राणायाम कहते हैं।" (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—यहाँ योग के तीन अंगों का (यम, नियम और आसन का कथन करने के पश्चात् क्रम प्राप्त प्राणायाम का कथन किया गया है। प्राणायाम का अभ्यास करने के लिये यद्यपि इससे पूर्ववर्ती तीनों अङ्गों का अनुष्ठान करना परमावश्यक है, पुनरपि प्राणायाम के लिये आसनसिद्धि की बात विशेष प्रयोजन के लिये ब्राह्मण-वसिष्ठ[1] न्याय से कही है। आसनसिद्धि के बिना प्राणायाम का सुविधा पूर्वक करना असम्भव नहीं है। अथवा इस बात को इस प्रकार समझना चाहिए कि न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को कारण माना है। यद्यपि आत्मा व मन भी उसमें कारण होते हैं, पुनरपि उनका कथन न्यायदर्शन के सूत्र में नहीं किया। क्योंकि प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों में आत्मा व मन का सन्निकर्ष रहता है। किन्तु प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को विशिष्ट कारण मानकर ही निर्देश किया गया है। इसी प्रकार यम-नियमों का अनुष्ठान तो सभी योगाङ्गों में आवश्क है, परन्तु प्राणायाम करने में आसन की विशेष अपेक्षा होने से सूत्रकार ने 'तस्मिन्सति' कहकर आसन पर विशेष बल दिया है।

और इस सूत्र में प्राणायाम का सामान्य लक्षण किया गया है। इसके भेदों का कथन अगले दो सूत्रों (२।५०-५१) में किया गया है। आसन की सिद्धि होने पर श्वास (बाह्य वायु को नासिकापुटों से बाहर निकालने) की गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है। ये श्वास-प्रवास जीवन भर नियमितरूप से यद्यपि चलते रहते हैं, सोते समय भी इनका कार्य अवरुद्ध नहीं होता, परन्तु ऐसा प्राण का आना जाना प्राणायाम नहीं है। प्राणायाम तभी होता है, जब श्वास-प्रवास की स्वाभाविक गति को कुछ अवधि के लिये रोक दिया जाये। प्राण को अन्दर रोकना, बाहर रोकना, अथवा बीच में ही रोक देना इत्यादि समस्त प्राणों का आयाम=विस्तार होने से प्राणायाम कहलाता है॥ ४९॥

---

१. ब्राह्मण-वसिष्ठ न्याय का अभिप्राय यह है कि यज्ञादि के अवसर पर विद्वान् ब्राह्मणों के विषय में किसी ने यजमान से पूछा कि 'ब्राह्मण आयाता न वा' अर्थात् ब्राह्मण आये या नहीं? तत्पश्चात् दुबारा पूछता है कि 'वसिष्ठोऽप्यायातो न वा' वसिष्ठ भी आये हैं या नहीं। यहाँ यद्यपि वसिष्ठ भी ब्राह्मण ही हैं, पुनरपि ब्राह्मणों में विशिष्ट होने से दुबारा पूछा गया है।

अव०—स तु—

(अर्थ)—वह प्राणायाम तो—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

व्यासभाष्यम्

[बाह्य] यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। [आभ्यन्तरः] यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। [स्तम्भवृत्तिः] तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः। सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभावः। इति त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टा क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

भाष्यानुवाद—[बाह्य] जिस प्राणायाम में प्रश्वास-पूर्वक=कोष्ठचवायु को बाहर निकालकर गत्यभावः=गतिविच्छेद=गति को रोकना होता है, उसे 'बाह्य प्राणायाम' कहते हैं। [आभ्यन्तर] जिस प्राणायाम में श्वास-पूर्वक बाह्य वायु को भीतर लेकर गति का अभाव=रोकना होता है, वह 'आभ्यन्तर प्राणायाम' है। [स्तम्भवृत्तिः[1]] तीसरा प्राणायाम स्तम्भ-वृत्ति है, जिसमें उभयाभावः=श्वास और प्रश्वास दोनों गतियों को रोकना होता है। और यह 'गत्यभाव' एक ही साथ प्रयत्न से करना होता है। जैसे तप्त=तपे हुए पत्थर पर डाला गया जल सब ओर से संकुचित होता जाता है, वैसे ही स्तम्भवृत्ति प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास गतियों का एकसाथ अभाव हो जाता है।

(त्रयोऽप्येते०) ये तीनों ही प्राणायाम देश से परिदृष्ट=परीक्षित=अनुमित किये जाते हैं। (अर्थात् जैसे जैसे साधक का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे वह देखता भी है कि प्राणायाम में कितनी प्रगति हुई है। देशगत प्रगति से अभिप्राय है।) (इयानस्य विषयो देशः=) इस प्राण के आयाम=

---

१. इन तीनों प्राणायामों का क्रमशः रेचक, पूरक और कुम्भक नामों से भी व्यवहार होता है।

विस्तार का देश=स्थान इतना है। अर्थात् नासिका से बाहर और भीतर जो स्थान है, उसमें दो, चार, छः आठ अंगुल आदि दूर है।

और काल से परिदृष्ट=अनुमित प्राणायाम से अभिप्राय क्षणों की इयत्ता=परिणाम के अवधारण=सीमा निश्चय से है कि प्राणायाम इतने क्षणों तक किया अथवा पहले से अब अधिक क्षणों तक प्राण रोका गया है। और संख्याओं से परिदृष्ट=अनुमित प्राणायाम, इतने परिमाण वाले श्वास-प्रश्वासों से प्रथम उद्घात[1] उस निगृहीत किये हुए का इतने श्वास-प्रश्वासों से दूसरा उद्घात, इसी प्रकार इतने श्वास-प्रश्वासों से तीसरा उद्घात होता है। इसी प्रकार मृदु, इसी प्रकार मध्यम, और इसी प्रकार तीव्र, ये प्राणायाम के संख्या परिदृष्ट स्तर हो जाते हैं। अर्थात् प्राणायाम के प्रथमस्तर को मृदु, दूसरे स्तर को मध्य और तीसरे स्तर को तीव्र कहते हैं। इस प्रकार उस प्राणायाम का अभ्यास करते हुए साधक का प्राण दीर्घ=लम्बा और सूक्ष्म[2] हल्का हो जाता है।

सूत्रार्थ—और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है। (स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति।"

"वे चार प्राणायाम इस प्रकार से होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उसको बाहर ही रोक दे, इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके, उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाये किन्तु जितनी देर सुख से रोक सकें, उसको जहाँ का तहाँ ज्यों का त्यों एकदम रोकदे।" (ऋ० भू० उपासना०)

"एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना दूसरा 'आभ्यन्तर' अर्थात्

---

१. उद्घात' शब्द प्राणायाम विषय में परिभाषित है। स्वस्थ पुरुष के एक बार श्वास प्रश्वास लेने में जो समय लगता है, उसे 'मात्रा' कहते है। १२ मात्राओं का प्रथम उद्घात होता है। २४ मात्राओं का दूसरा उद्घात होता है। और ३६ मात्राओं का तीसरा उद्घात होता है। साधक इस प्रकार के प्राण के आयाम को बढ़ाता हुआ सामान्य १२ मात्राओं से प्रगति करके श्वास-प्रश्वास की गति २४ मात्रा कर लेता है, और फिर अभ्यास करते करते ३६ मात्रा के तीसरे स्तर पर पहुँच जाता है।

२. सूत्र के दीर्घसूक्ष्मः' पद में दीर्घश्च सूक्ष्मश्चेति दीर्घसूक्ष्मः द्वन्द्वसमास में एकवद्भाव हुआ है।

भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोके। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना।" (स० प्र० तृतीय०)

भावार्थ—पूर्व-सूत्र में प्राणायाम का स्वरूप बताकर इस सूत्र में प्राणायाम के भेदों का कथन किया गया है अर्थात् बाह्यवृत्ति, अभ्यन्तर वृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति, ये प्राणायाम के तीन भेद हैं। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस व्याकरण नियम से वृत्ति शब्द का प्रयोग तीनों प्राणायामों के साथ अभीष्ट है। इन्हीं बाह्यादि प्राणायाम के भेदों के क्रमशः रेचक, पूरक और कुम्भक नाम भी हैं। जैसे—जब भीतर से श्वास बाहर निकालकर रोका जाये, उसका नाम बाह्यवृत्ति है। इसी का 'रेचक' नाम इसलिये है कि इसमें प्राण का रेचन=शरीर से बाहर होने से पृथक् भाव होता है। दूसरा प्राणायाम आभ्यन्तरवृत्ति है अर्थात् बाहर से प्राणवायु को अन्दर भरना और वहीं यथाशक्ति रोकना। इसी का दूसरा नाम 'पूरक' है। तीसरा प्राणायाम स्तम्भवृत्ति है, इसमें प्राणवायु को बाहर भीतर न करके जहाँ का तहाँ रोकना होता है। इसी का दूसरा नाम 'कुम्भक' है। जैसे कुम्भ (घड़े) में भरा जल इधर-उधर नहीं जाता, एक स्थान पर निश्चल रहता है, वैसे ही इस प्राणायाम में प्राण की स्थिति होती है।

और प्राणायाम करने का साधक का जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है, वसे वैसे देश, काल, व संख्याओं से नापा गया दीर्घ=लम्बा और सूक्ष्म=हल्का हो जाता है। दीर्घ से अभिप्राय देश की दृष्टि से तथा काल की दृष्टि से भी है। काल की दृष्टि=लम्बे समय तक प्राण को रोकना है और देश की दृष्टि का आशय दूर देश तक जाने से है। इसकी परीक्षा इस प्रकार करना चाहिए। रूई या अन्य कोई हल्की वस्तु नासिका के सामने रखकर श्वास के स्पर्श से हिलने या इधर-उधर होने से दूर-समीप का बोध हो सकता है। दीर्घकालीन अभ्यास से दूरस्थ हल्की वस्तु से श्वास स्पर्श हो सकता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर वृत्ति के प्राणायाम में दीर्घत्व का बोध हो सकता है। अभ्यासी व्यक्ति अन्दर गये प्राण को नीचे पैरों तक तथा ऊपर मस्तिष्क तक पहुँचा सकता है। और सूक्ष्म से अभिप्राय हल्के से है। अभ्यासी व्यक्ति का श्वास ध्वनिहीन एवं चींटी जैसा स्पर्श वाला हो जाता है। और उसका आघात अन्दर सूक्ष्म-तन्तुओं में भी हानिकर नहीं हो सकता अन्यथा तीव्र प्राण के आघात से अनेक प्रकार के रोग सम्भव हैं अथवा सूक्ष्मतन्तु अपना कार्य करना छोड़ देते हैं, जिससे स्मृतिभ्रंशतादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

और प्राणायाम का प्रथमाभ्यास किस प्राणायाम से करना चाहिए ? इस

का निर्देश सूत्रकार ने प्रथम 'बाह्य' शब्द को पढ़कर किया है। योगाभ्यासी को प्रथम बाह्य (रेचक) प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् आभ्यन्तरादि प्राणायामों का अभ्यास कर्त्तव्य है। साधक को प्रथम तीव्रवमन (उल्टी) की भाँति प्राण-वायु को बाहर फैंक कर वहीं यथाशक्ति रोकने का अभ्यास करना चाहिए और प्राणनिरोध दशा में प्रणव अथवा 'ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः०,' इत्यादि प्राणायाम-मन्त्र का जप करते रहना चाहिए। बाह्य अभ्यास के पश्चात् दूसरे प्राणायाम का अभ्यास प्रथम न्यून मात्रा से प्रारम्भ करना चाहिये। फिर धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने सामान्य-साधक के लिए तीन प्राणायामों से प्रारम्भ करके इक्कीस प्राणायाम तक लिखे हैं। सूत्रकार ने भी देशदृष्ट, कालदृष्ट, तथा संख्यादृष्ट कहकर इसी तरफ संकेत किया कि साधक इनके द्वारा प्राण के विस्तार का धीरे-धीरे परीक्षण करता रहे। देश-दृष्ट का प्रथम निर्देश किया जा चुका है। हल्की रूई आदि से बाह्यदेश का तथा अभ्यन्तर-देश का पादतल से मस्तिष्क तक प्राणवायु के पहुंचने का अभ्यास किया जा सकता है। इस प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम में देशदृष्ट परीक्षण सम्भव है, कुम्भक में नहीं। क्योंकि कुम्भक में प्राणवायु को न तो भीतर खींचा जाता और नहीं बाहर फैंका जाता है। कालदृष्टपरीक्षण तीनों प्राणायामों से सम्भव है। प्रथम साधक यह ध्यान रक्खे कि कितने क्षणों तक प्राणवायु को रोका जा सकता है फिर धीरे धीरे क्षणों के परिमाण को सामर्थ्यानुसार बढ़ाता रहे। और संख्यादृष्ट-परीक्षण भी तीनों प्राणायामों में सम्भव है। जैसे ऊपर दिखाया गया है कि तीन प्राणा-यामों का प्रारम्भ कर इक्कीस तक प्राणायामों का अभ्यास करे। यह एक सामान्य नियम है, इसे अधिक भी बढ़ाया जा सकता है। व्यासभाष्य में इस प्रक्रिया को प्रथम उद्घात द्वितीय उद्घात तथा तृतीय उद्घात भेद से प्रकट की है। उद्घात का परिमाण प्रथम दिखाया जा चुका है। इसी प्राणायाम के प्रथम स्तर को मृदु, उन्नत होने पर मध्यस्तर और अतिशय उन्नत होने पर तीव्रस्तर कहा जाता है॥ ५०॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१॥

व्यासभाष्यम्

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरि-दृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभाव-

श्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

भाष्यानुवाद—देश, काल, संख्याओं से परिदृष्ट=परीक्षित 'बाह्यविषय' नामक प्राणायाम जब आक्षिप्त=अभ्यस्त होने से अतिक्रान्त हो जाता है। वैसे ही 'आभ्यन्तर विषय' नामक प्राणायाम देशादि से परिदृष्ट=परीक्षित होने पर जब आक्षिप्त=अभ्यस्त होने पर अतिक्रान्त हो जाता है। बाह्य व आभ्यन्तर दोनों प्रकार से आक्षिप्त=अतिक्रान्त प्राण जब दीर्घ व सूक्ष्म हो जाता है, (तत्पूर्वकः) बाह्य-आभ्यन्तर प्राणायाम पूर्वक अर्थात् इनका पूर्ण अभ्यास होने पर भूमिजयात्=प्राणायाम की अवस्थाविशेष पर विजय करने से क्रम से जब उभयोः=दोनों पूर्वोक्त प्राणायामों की गति का अभाव=निरोध हो जाता है, तब वह चतुर्थ प्राणायाम[1] होता है।

[तृतीय तथा चतुर्थ प्राणायामों में अन्तर]

(तृतीयस्तु विषयानालोचितो०) (यद्यपि तृतीय व चतुर्थ प्राणायाम दोनों में दोनों प्राणों की गतियों का अभाव होता है, परन्तु दोनों में भेद यह है) बाह्य-आभ्यन्तर प्राणायामों के विषय का ध्यान न रखते हुए जो गति का अभाव एकदम बिना किसी पूर्वाभ्यास के (सहसैव) किया जाता है, और देश, काल, संख्याओं से परिदृष्ट=परीक्षित होकर दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है, वह तो तृतीय=स्तम्भवृत्ति प्राणायाम होता है। इसके विपरीत श्वास-प्रश्वास के विषयावधारण=पहले ही देश, काल, संख्याओं से अवधारण=परीक्षण होने से क्रम से भूमिजय=अवस्था विशेषों को पार करके (उभयाक्षेपपूर्वकः) दोनों बाह्य व आभ्यन्तर प्राणायामों का अतिक्रमण पूर्वक जो श्वास-प्रश्वास की गति का अभाव होना है, वह चतुर्थ प्राणायाम है। यह तृतीय-प्राणायाम से इस चतुर्थ की विशेषता है।

सूत्रार्थ—"और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है। अर्थात् जो कि (बाह्याभ्य०) इस सूत्र का विषय"।

और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-

---

१. इस चतुर्थ प्राणायाम का सूत्रकार ने सार्थक 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' नामकरण किया है क्योंकि इसमें बाह्य-आभ्यन्तरविषय का पूर्णाभ्यास होने से अतिक्रमण या त्याग किया जाता है।

कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे। इसको "बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' कहते हैं" । (ऋ० भू० उपासना०)

"चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय" ।

(स० प्र० तृतीय०)

भावार्थ—महर्षि-दयानन्द ने तृतीय व चतुर्थ प्राणायामों में इस प्रकार भेद प्रकट किया है—

३. स्तम्भवृत्ति—"न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाये, किन्तु जितनी देर सुख से रोक सके, उसको जहां का तहाँ ज्यों का त्यों एकदम रोक दे" ॥

(ऋ० भू० उपासना०)

४. बाह्याभ्यन्तराक्षेपी—"जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाये" ॥ (स० प्र० तृतीय०)

उपर्युल्लिखित भेद महर्षि ने व्यास-भाष्य के आश्रय से ही लिखा है। क्योंकि व्यास-भाष्य में चतुर्थ-प्राणायाम को 'भूमिजय' कहकर उच्चस्तर का बताया है और आङ्-पूर्वक क्षिप् धातु का प्रयोग निवृत्ति अर्थ में होता है, परन्तु यहाँ व्यास-भाष्य का इसका अतिक्रान्त अर्थ अधिक संगत होता है, जिससे इस प्राणायाम के उच्चस्तर की ही पुष्टि होती है। और इन दोनों प्राणायामों में यह भेद व्यास-भाष्य में माना है कि स्तम्भवृत्ति में बाह्य व आभ्यन्तर-वृत्ति के प्राणायामों के व्यापार का ध्यान नहीं रखा जाता है। और चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य व आभ्यन्तर प्राणायामों का व्यापार पहले से ही निश्चित तथा परीक्षित होता है, और उच्चस्तर में पहुँचकर उभयाक्षेपपूर्वकः=दोनों प्राणायामों की निवृत्ति अथवा अतिक्रमण किया जाता है। अर्थात् भीतर प्राण रोक रक्खा हो और वह बाहर निकलना चाहता है उसके विपरीत बाहर से भीतर धक्का देना तथा बाहर निकलने न देना चतुर्थ प्राणायाम है। इसी प्रकार प्राण को बाहर रोक रक्खा है, भीतर जाना चाहता है, इसके विपरीत भीतर से बाहर धक्का देना तथा भीतर न जाने देना चतुर्थ प्राणायाम है। और इसी भेद को व्यास-भाष्य में 'सकृदारम्भः' कहकर भी स्पष्ट किया गया है। तृतीय प्राणायाम एकदम प्रारम्भ किया जाता है, परन्तु चतुर्थ एक दम नहीं। प्रथम बाह्य अथवा आभ्यन्तर प्राणायाम की प्रक्रिया चल रही हो, फिर उनका अतिक्रमण करके दोनों प्राणवायुओं को रोकना चतुर्थ प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

व्यासभाष्यम्

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म। यत्तदाचक्षते—महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद्-दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्—"तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य" इति ॥ ५२ ॥

भाष्यानुवाद—पूर्वसूत्रोक्त प्राणायामों का अभ्यास करते हुए इस योगाभ्यासी योगी के विवेकज्ञान को ढकने वाले[1] कर्मों के संस्कार तथा कर्माशय के कारण अविद्यादि क्लेश क्षीण हो जाते हैं। जिस कर्ममूलक क्लेश को दूसरे आचार्य ऐसा कहते हैं="वही कर्म (कर्ममूलकक्लेश) महामोहमय=रागादि से पूर्ण इन्द्रजाल=अपनी मायाजाल से सत्त्व=प्रकाशात्मक चित्तवृत्ति को ढककर अकार्य=अकर्त्तव्यों में लगाता है।" वही प्रकाश को ढकने वाला इस योगी का कर्ममूलक क्लेश संसार=आवागमन के चक्र में बान्धने वाला है, वह प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल=क्षीणप्राय हो जाता है, और उत्तरोत्तर प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। वैसा कहा भी है—"प्राणायाम से बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। प्राणायाम से चित्त के दोषों की निवृत्ति होती है और ज्ञान की दीप्ति होती है।"

सूत्रार्थ—"और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिस से चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे।'

"इस प्रकार प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढांकने वाला आवरण जो अज्ञान है वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है। और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।" (ऋ० भू० उपासना०)

"ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर, बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।।" (स० प्र० तृतीय०)

---

१. व्यासभाष्ये 'कर्म' पदे जातावेकवचनम्।

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है॥" (स० प्र० तृतीय०)

भावार्थ—इस सूत्र में प्राणायाम करने का फल-कथन किया गया है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास करने से विवेक-ज्ञान को ढकने वाला आवरण=चित्तस्थ अशुद्धिरूप परदा क्षीण हो जाता है। इसी अशुद्धि के कारण जीवात्मा सांसारिक बन्धनों में बन्धा रहता है और विवेक ज्ञान=(जड़-चेतन का भेद) नहीं होने देता। प्राणायाम से इस अशुद्धि का नाश कैसे होता है, इसका स्पष्टीकरण उदाहरण देकर मनुस्मृति में बताया है, जिससे प्राणायाम का फल बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। महर्षि मनु जी ने लिखा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ (मनु० ६।७१)

इसकी व्याख्या योगिराज महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है—

"जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होता है, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।"

(स० प्र० तृतीय०)

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ (मनु० ६।७०)

अर्थात् जो ब्राह्मण=वेदों का विद्वान् ब्रह्मज्ञान का इच्छुक है, उसके लिये यथाविधि ओंकारोपासना तथा महाव्याहृति के जप के साथ किये गये कम से कम तीन प्राणायाम भी परम-तप कहलाता है। इस प्रकार योगाभ्यासी के लिये प्राणायाम करने का विशेष महत्त्व है। क्योंकि इससे योग-मार्ग के चरमलक्ष्य=विवेकख्याति की प्राप्ति में अत्यधिक सहायता मिलती है॥ ५२॥

अव०—किञ्च।

(अर्थ)—और प्राणायाम से क्या लाभ होता है?

धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

व्यासभाष्यम्

प्राणायामाभ्यासादेव। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (१।३४) इति वचनात्॥ ५३॥

भाष्यानुवाद—प्राणायाम के अभ्यास करने से ही धारणा करने में अर्थात् परमेश्वर में मन और आत्मा की धारणा होने में मन की योग्यता होती है। इसमें 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो० १।३४) सूत्र से भी यह बात सिद्ध होती है।

सूत्रार्थ—"उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि (किंच धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासना योग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है, तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है" ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—प्राणायाम करने का पूर्वोक्त लाभ चित्तस्थ अशुद्धि का नाश तो होता ही है, और दूसरा लाभ यह है कि मन के एकाग्र करने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। धारणा का लक्षण यो० ३।१ सूत्र में यह किया है कि चित्त को शरीर में किसी स्थान में बान्ध देना=लगा देना ही धारणा है। और प्राणायाम करने से धारणा करने में मन की योग्यता=क्षमता हो जाती है। इसलिये योग के धारणादि अन्तरङ्ग अङ्गों के अनुष्ठान करने में प्राणायाम मुख्य आधार है ॥ ५३ ॥

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

व्यासभाष्यम्

स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येषु प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भाष्यानुवाद—(इन्द्रियों के) अपने-अपने विषयों (रूपरसादि) का संप्रयोग=सन्निकर्ष न होने पर मानो चित्तवृत्ति के अनुरूप ही इन्द्रियाँ हो जाती हैं, इसलिये चित्त के निरोध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। इतरेन्द्रियजयवत्=चित्तनिरोध से किसी एक इन्द्रिय के जय के समान (दूसरी इन्द्रियों को जीतने के लिये) अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं होती। जैसे—मधु=शहद का संग्रह करने वाली मक्खियाँ मधुकरराजम्=मधु बनाने वाले राजा के साथ उड़ते हुए उड़ जाती हैं और बैठते हुए उस राजा के साथ

बैठ जाती हैं। वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त के निरोध हो जाने पर (बाह्यविषयों से विमुख हो जाने पर) निरुद्ध हो जाती हैं। यह ही 'प्रत्याहार' नामक योग का अङ्ग है।

सूत्रार्थ—"(स्वविषया०) प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है" ॥ (ऋ० भू उपासना०)

भावार्थ—योगाङ्गों में प्राणायाम का कथन करके सूत्रकार ने क्रमप्राप्त प्रत्याहार का स्वरूप यहाँ बताया है। 'प्रत्याहार' शब्द का अर्थ है विषयों से विमुख होना=विषयों से पृथक् होना। इसमें इन्द्रियाँ बाह्यविषयों से विमुख होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। आङ्पूर्वक हृञ्धातु आहरण=आकृष्ट करने अर्थ में प्रयुक्त होती है। प्रति उपसर्ग ने उससे विपरीत अर्थ (विमुख-होना) को द्योतित किया है। और पूर्वसूत्र में प्राणायाम करने से मन की शुद्धि तथा एकाग्रता का कथन किया गया है। मन के एकाग्र होने से इन्द्रियाँ भी मन का अनुसरण करने से एकाग्र हो जाती हैं। इस विषय में प्रथम यह जानना अत्यावश्यक है कि बाह्य नेत्रादि इन्द्रियाँ मन के सम्पर्क के बिना विषयों का ग्रहण नहीं कर सकतीं। इसीलिये जब हमारा ध्यान अन्यत्र होता है तो हम देखते हुए भी नहीं देख पाते और सुनते हुए भी सुन नहीं सकते। जब मन शुद्ध और एकाग्र होकर आत्म-चिन्तन में लग जाता है तो ये दूसरी नेत्रादि इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध होकर भी उसका ज्ञान नहीं करा सकतीं। इसी बात को सूत्रकार ने कहा है कि (स्वविषया०) इन्द्रियाँ अपने विषयों से असम्बद्ध होकर चित्त का अनुसरण वैसे ही करने लगती हैं, जैसे—मधुमक्खियाँ अपनी मधुकर-रानी मक्खी का अनुसरण करती हैं। और राजा मन के निरोध होने से इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है। योग की इस स्थिति को ही 'प्रत्याहार' नाम से कहा गया है ॥ ५४ ॥

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

व्यासभाष्यम्

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये राग-द्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैका-ग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमात्वियं वश्यता यच्चित्त-

निरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

भाष्यानुवाद—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियों की शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध विषयों में अव्यसनम्=आसक्ति न होना=न फंसना ही इन्द्रियजय है। (व्यसन क्या है ? इसकी व्याख्या करते हैं—) सक्तिर्व्यसनम्=आसक्ति ही व्यसन है। क्योंकि—व्यस्यत्येनं श्रेयस इति=क्योंकि प्राणियों को यह व्यसन श्रेयस्=कल्याण के मार्ग से दूर कर देता है। और जो अविरुद्धा=शास्त्रों के अनुकूल प्रतिपत्तिः=विषयों का भोग करना है वह न्याय्या=उचित है।

दूसरे लोग ऐसा मानते हैं कि स्वेच्छा से (भोगों के वशीभूत होकर नहीं) इन्द्रियों का शब्दादि विषयों के साथ सम्प्रयोग=सम्पर्क करना इन्द्रिय-जय है=परमावश्यता है। और कुछ ऐसा मानते हैं—विषयों के प्रति राग और द्वेष से रहित होकर शब्दादि विषयों का सुख=हर्ष, दुःख=विषाद से पृथक् होकर अनुभव करना इन्द्रियजय है। और जैगीषव्य नामक मुनि का मत है—चित्त को एकाग्रता होने के कारण शब्दादि विषयों की अप्रति-पत्तिरेव=भोग न करना=परमावश्यता है। यह इन्द्रिय-वश्यता इस कारण से तो दूसरे ऊपर बताये प्रकारों से सबसे श्रेष्ठ है कि चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। योगी लोग दूसरी इन्द्रियों के जय के समान पृथक् से किये गये दूसरे उपायों की उपेक्षा=आवश्यकता अनुभव नहीं करते हैं। (यही प्रत्याहार कृत इन्द्रियजय के उपाय की विशिष्टता है।)

सूत्रार्थ—"ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासम्प्रयोगेऽर्थात् स्वस्वविषयनिवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमावश्यता यथावद् विजयो जायते स उपासको यदायदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणाञ्च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोति ॥"

"(ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है और फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में प्रीति हो जाती है और असत्य में कभी नहीं ॥" (ऋ० भू० उपासना०)

(ततः) प्रत्याहार की स्थिति के बाद (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का (परमा-वश्यता) सर्वोत्कृष्ट वशीकरण (जितेन्द्रियता) होता है।

भावार्थ—इस सूत्र में प्रत्याहार अङ्ग का फल बताया गया है। इस स्तर पर पहुंचकर इन्द्रियाँ पूर्णरूप से वश में हो जाती हैं। फिर किसी उपाय की इन्द्रियजय करने में आवश्यकता नहीं रहती। व्यास-भाष्य में विभिन्न आचार्यों की इन्द्रिय-जय की परिभाषायें दी गई हैं। जैसे उनके मत में (१) शाब्दादि

विषयों में न फंसना, (२) शास्त्रों के विधानानुसार शब्दादि विषयों का भोग करना, (२) स्वेच्छा से भोग भोगना, आसक्त होकर नहीं, (४) राग-द्वेष से रहित होकर सुख-दुःख की अनुभूति करते हुए विषयों का भोग करना, (५) चित्त की एकाग्रता होने पर शब्दादि विषयों का ज्ञान होना इन्द्रियजय है। इन सब में अन्तिम पक्ष ही सर्वोत्कृष्ट है। शेष अपूर्ण-इन्द्रियजय ही हैं, क्योंकि उनमें भोगों के प्रति लालसा बनी ही रहती है। अतः मन के निरोध से इन्द्रियों का निरोध होना ही परमावश्यता है ॥ ५५ ॥

इति पातञ्जलसूत्र-व्यासभाष्ययोर्भाषार्थप्रकाशिते महर्षि-दयानन्दव्याख्या-
विभूषिते पातञ्जलयोगशास्त्रे योग-साधनस्वरूपप्रतिपादको
द्वितीयः साधनपादः समाप्तिमगात् ॥

ओ३म्

अथ तृतीयो विभूतिपादः ॥

अव०—उक्तानि पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि धारणा वक्तव्या ॥

(**अर्थ**)—यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त योग के पाँच बहिरङ्ग साधन पिछले पाद में कहे गये। अब धारणा का स्वरूप कथनीय है ॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

व्यासभाष्यम्

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा। ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद—चित्त को नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र), नसिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में, इत्यादि शारीरिक प्रदेशों में अथवा बाह्यविषय में वृत्तिमात्र से बान्धना=लगाना 'धारणा' कहलाती है।

सूत्रार्थ—"(देशबन्ध०) जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पाञ्चों अंग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है (धारणा) उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकर का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना॥" (ऋ० भू० उपासना०)

"नाभि, हृदय, मूर्धाज्योति अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादिक देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे। तथा बाह्य विषय जैसा कि ओङ्कार वा गायत्री मन्त्र इनमें चित्त लगावे। क्योंकि 'तज्जपस्तदर्थभावना' (यो० १।२८) यह सूत्र है योग का। इसका योगी जप अर्थात् चित्त से पुनः पुनः आवृत्ति करे और इसका अर्थ जो ईश्वर

उसको हृदय में विचारे। 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० १।२७) ओंकार का वाच्य ईश्वर है। और उसका वाचक ओंकार है। बाह्य विषय से इनको ही लेना और कोई को नहीं। क्योंकि अन्य प्रमाण कहीं नहीं।" (दयानन्द-शास्त्रार्थसंग्रह)

भावार्थ—इससे पूर्व साधन-पाद में व्युत्थित-चित्त वालों के लिए योग के क्रियायोग, क्लेश, कर्मविपाकों का दुःखरूप कहना, हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय रूप योग के चतुर्व्यूह का कथन, दृश्य-द्रष्टा का स्वरूप, तथा कैवल्य का स्वरूप बताकर उसको प्राप्त करने के लिये योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, तथा प्रत्याहार इन पाञ्च बहिरङ्गों का स्वरूप एवं उनका फलकथन किया गया है। मुख्यरूप से योग के साधनों का कथन होने से उस पाद का नाम 'साधनपाद' रक्खा गया है। अब इस तृतीय पाद में योग के अवशिष्ट अन्तरङ्ग धारणादि साधनों का कथन करके योगी को योगांगों के अनुष्ठान से सिद्धि होने पर जो विशेष सिद्धि या ऐश्वर्य प्राप्त होता है, उसे ही यहाँ विभूति के नाम से कथन किया गया है, अतएव इस पाद का नाम 'विभूतिपाद' रखा गया है।

यद्यपि धारणादि भी योग के अङ्ग ही हैं, अतः समस्त योगांगों का एकत्र कथन करना ही उचित था पुनरपि इन तीनों को विभूतिपाद में क्यों रक्खा गया है, ऐसी आशंका का होना पाठकों के लिए स्वाभाविक है। इसका समाधान यो० ३।७ सूत्र तथा इसके भाष्य से प्राप्त होता है। यम-नियमादि साधनों की अपेक्षा योगसाधना में धारणादि तीनों साधन अन्तरङ्ग हैं। यम-नियमादि साधनों को बहिरङ्ग क्यों कहा गया है। क्योंकि ये अङ्ग चित्त को अविद्यादि क्लेशों की शुद्धि करने से योग के लिये उपयोगी बनाने वाले हैं, जिससे चित्त की वृत्ति एकाग्र होकर योग में लग सके। जैसे कृषक बीज बोने से पूर्व भूमि को जोतकर स्वच्छ और उपजाऊ बनाता है, वैसे ही बहिरंग साधनों से चित्त स्वच्छ तथा सूक्ष्म विषय को जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर पाता है। अतः धारणादि योग के साक्षात् साधन हैं। और योगाङ्गों में आठवां अङ्ग समाधि प्रथम अङ्गों का फल होने से विभूति है। और उस विभूति की प्राप्ति में धारणा ध्यान का साक्षात् सम्बन्ध है। अतः इन तीनों को विभूतिपाद में रक्खा गया है।

और चित्त को शरीर के किसी अङ्ग-विशेष में बाँध देने=रोकने का अभ्यास करना धारणा कहाती है। परन्तु यह देशबन्ध शरीर के अन्दर ही होना चाहिये, बाह्य किसी पदार्थ या स्थान में नहीं। इस सूत्र के व्यासभाष्य में 'बाह्ये वा विषये' लिखा है, जिसका अर्थ प्रायः व्याख्याकार शरीर से बाहर

किसी स्थान या पदार्थ में चित्त को रोकना अर्थ करते हैं, परन्तु यह अर्थ यहाँ संगत नहीं है। महर्षि दयानन्द ने बाह्य का अर्थ प्रणवजप और तदर्थ-भावना करना लिया है, जो प्रकरण से संगत है। योगशास्त्र में प्रणवजप का विधान किया है। और धारणा का सम्बन्ध ध्यान और समाधि से है और ये तीनों योगांग अन्तरंग हैं, यह (३।७ में) सूत्रकार ने स्वयं माना है। अन्तरंग शब्द इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कर रहा है कि धारणा भी अन्तरंग होने से शरीर के अन्दर ही करनी चाहिये, बाहर नहीं। और यह व्यावहारिक भी नहीं है। क्योंकि जब इन्द्रियाँ बाहर कार्य कर रही होंगी तो मन का सम्बन्ध भी वहीं होगा। और मन बाह्य सान्त पदार्थों में कभी बन्ध नहीं सकता। इसलिये अन्दर ही प्रणवोपासना के द्वारा इसे रोका जा सकता है। और जहाँ धारणा की जायेगी वहीं ध्यान लगाना पड़ेगा, यह बात सूत्रकार ने ३।२ सूत्र के 'तत्र' पद से स्पष्ट की है। धारणा बाहर होगी तो ध्यान भी बाहर होगा। किन्तु बाह्य ध्यान में प्रत्ययैकतानता=ज्ञानवृत्ति की एकाग्रता कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए धारणा शरीर से बाहर करना सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों के आशय से विरुद्ध होने से असंगत है॥ १॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ २॥

व्यासभाष्यम्

[तत्र] तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य [प्रत्ययैकतानता] प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्॥ २॥

भाष्यानुवाद—"उन देशों में अर्थात् नाभि आदिकों में ध्येय जो आत्मा उस आलम्बन की और चित्त की एकतानता अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से भिन्न न रहे तथा आत्मा चित्त से पृथक् न रहे, उसका नाम है—सदृश प्रवाह। जब चित्त चेतन से ही युक्त रहे, अन्य प्रत्यय=कोई पदार्थान्तर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ"॥ (द० शास्त्रार्थ०)

सूत्रार्थ—"(तत्र प्रत्ययै०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेमभक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे—समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात अङ्गों का फल समाधि है"॥ (ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—निराकार परमात्मा का ध्यान कैसे होता है ?

"प्रश्न—मूर्त्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे करते बनेगा ?

उत्तर—शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं ? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं ? जीव का आकार नहीं तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं ? ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है, यह किसान भी समझता है। ....साकार का ध्यान कैसे करोगे ? साकार के गुणों का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नहीं बनता अर्थात् सम्भव नहीं होता कि ज्ञान के पहले ध्यान हो जाय। देखो एक सूक्ष्म परमाणु के भी अधम, उत्तम और मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान-बल से कल्पना में आते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है ? तो विदित होने तक मुट्ठी की ओर देखने ही से केवल उस पदार्थ का ध्यान कैसे करें ? तो इससे मेरा यही कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिये और भी दृढतर सबल उपाय हैं" ॥

(उपदेश-मञ्जरी, चतुर्थ-उपदेश)

"प्रश्न—परमेश्वर निराकार है वह ध्यान में नहीं आ सकता, इसलिये अवश्य मूर्त्ति होनी चाहिये .... ।

उत्तर—जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है, तब उसकी मूर्त्ति ही नहीं बन सकती .... । जो तुम कहते हो कि मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है, यह तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है। और जब वह मूर्त्ति सामने न होगी तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मनुष्य एकान्त पाकर चोरी, जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है। क्योंकि वह जानता है कि इस समय यहाँ मुझे कोई नहीं देखता। इसलिये वह अनर्थ करे बिना नहीं चूकता .... । जो पाषाणादि मूर्त्तियों को न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है वह पुरुष............कुकर्म करना तो कहाँ रहा किन्तु मन में चेष्टा भी नहीं कर सकता" ॥ (स० प्र० एकादश०)

"उदयपुर के महाराणा ने स्वामी दयानन्द से प्रश्न किया कि—"जब किसी मूर्त्तिमान् वस्तु को चाहे वह कैसी ही हो, आप नहीं मानते तो ध्यान किसका करें ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि—कोई चीज मानकर ध्यान नहीं करना चाहिये। ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वसृष्टिकर्त्ता, सृष्टि को एक क्रम में चलाने वाला, नियन्ता, पालनकर्त्ता और ऐसे ही अनेक ब्रह्माण्डों का स्वामी और नियन्ता है, ऐसी-ऐसी उसकी महिमा का स्मरण करके अपने चित्त में उसकी महानता का ध्यान करना चाहिये। अर्थात् इसी प्रकार समस्त विशेषणों से युक्त परमेश्वर को स्मरण करके उसका ध्यान करना और उसकी अपार महिमा का वर्णन करना.............यह ध्यान है"।

(पृ० ५५६, लेखरामकृत जीवनी से) ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

व्यासभाष्यम्

[तदेव] ध्यानमेव [अर्थमात्रनिर्भासं] ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद—[तदेव] जब ध्यान ही [अर्थमात्रनिर्भासम्] 'अर्थ एव अर्थमात्रम्, तस्यैव निर्भासः यस्मिस्तत्' ध्येयाकार ही प्रतीत होता हुआ, ध्येय= परमेश्वर के स्वभाव=प्रकाशस्वरूप आनन्द तथा ज्ञान के आवेश=पूर्ण होने से अपने स्वरूप-प्रतीति से शून्य जैसा होता है अर्थात् परमेश्वर के आनन्द में मग्न होने से अपने शरीरादि को भी भूलेहुए के समान हो जाता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

सूत्रार्थ—"(तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान में परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।" (ऋ० भू० उपासना०)

ध्यान और समाधि में अन्तर—

"ध्यान और समाधि[1] में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करनेवाला जिस मन से जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहाँ तीनों का भेद-भाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है।"

(ऋ० भू० उपासना०)

"जब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का पृथक् भाव न रहे, तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गई" ॥ (दयानन्द शास्त्रार्थ सं०)

भावार्थ—इस सूत्र में समाधि का स्वरूप बताया जाता है। समाधि के स्वरूप को योगाभ्यासी तथा योगशास्त्र के अध्येता को अच्छी प्रकार से समझना अत्यावश्यक है। क्योंकि अगले सूत्र में संयम के स्वरूप में भी इसकी आवश्यकता है। और संयम के बिना समझे योग की सिद्धियाँ कैसे समझ में आ

---

१. संस्कृत में महर्षि दयानन्द का लेख इस प्रकार है—"ध्यानसमाध्योरयं भेदः ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति, समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवति ॥ (ऋ० भू० उपासना०)

सकेंगी ? व्यासमुनि ने सिद्धियों के सूत्रों में संयम पद की अनुवृत्ति की है और संयम में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों अपेक्षित हैं। यदि समाधि में केवल परमात्मा-तत्त्व ही ध्येय होता है और परमात्मा के आनन्द में योगी इतना मग्न हो जाता है कि अपने ध्याता के स्वरूप को भी भूल जाता है, तो योगसिद्धियों में बाह्य सूर्य, ध्रुव आदि भौतिक पदार्थों में संयम कैसे हो सकता है ? जो उन सिद्धिसूत्रों में सूर्यादि बाह्यपदार्थ मानते हैं, क्या वे समाधि और संयम के लक्षण को बिलकुल भुला देते हैं ? इसलिये सिद्धि-सम्बन्धी भ्रान्ति को दूर करने के लिये समाधि व संयम के स्वरूप को अवश्य समझना चाहिये। अन्यथा समाधि के स्वरूप में केवल आत्मतत्त्व में मग्नता मानकर फिर बाह्य सूर्यादि में संयम की सिद्धि कहना नितान्त परस्पर विरोधी होने से शास्त्रसम्मत नहीं हो सकता।

और ध्यान और समाधि में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर है। एक प्रकार से ध्यान की एक विशेष अवस्था ही समाधि है। समाधि के स्वरूप को समझने के लिये सूत्रकार के दो विशेषणों को समझना परमावश्यक है—(१) अर्थमात्र-निर्भासम् और (२) स्वरूपशून्यमिव। दोनों विशेषण समाधि को ध्यान से पृथक् कर रहे हैं। ध्यान में ध्याता, ध्येय तथा ध्यान तीनों की प्रतीति होती है, परन्तु समाधि में केवल ध्येय अर्थ ही रह जाता है, ध्याता अपने स्वरूप को भी समाधि में भूल जाता है। समाधि-दशा जल में डूबकी लगाने के समान अथवा अग्नि में पड़े लोहे के समान होती है। क्योंकि इस दशा में योगी परमेश्वरानन्द में मग्न और परमेश्वर के ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है। इसके साथ ही सूत्रकार तथा भाष्यकार ने इस भ्रान्ति का भी निराकरण कर दिया है कि समाधि में जीवात्मा का परमात्मा में लय हो जाता है और जीवात्मा ही परमात्मा होता है। अन्यथा सूत्रकार 'इव' पद न लगाकर 'स्वरूपशून्यम्' शब्द का ही सूत्र में पाठ करते। यह 'इव' शब्द कुछ सदृशता को बताकर दोनों की भिन्नता को स्पष्ट बता रहा है ॥ ३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

व्यासभाष्यम्

[त्रयम्] तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। [एकत्र] एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयमः इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद—[त्रयम्] जो यह धारणा, ध्यान और समाधि, तीनों का [एकत्र] एक ही काल में मेल होना है, वह संयम है। ये तीनों साधन एकविषयक होने पर संयम कहलाता है। वह संयम इन तीनों साधनों की एक शास्त्रीय परिभाषा है। अर्थात् योगशास्त्र में 'संयम' शब्द से धारणा, ध्यान और समाधि के सम्मिलितरूप का बोध होता है।

सूत्रार्थ—"(त्रयमेकत्र०) **जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं, जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है। उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है**"॥

(ऋ० भू० उपासना०)

भावार्थ—आगे योग की सिद्धियों में 'संयम' पद का बार-बार ग्रहण किया गया है। उन सूत्रों में बार-बार धारणा, ध्यान तथा समाधि का ग्रहण न करना पड़े, एतदर्थ सूत्रकार ने यहाँ संयम को तीनों धारणादि को बताने वाला शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द कहा है। और यह संयम शब्द ही योग की सिद्धियों के समझने में परम-सहायक है। सिद्धियों के यथार्थ स्वरूप को वही व्यक्ति समझ सकता है, जिसने इस संयम शब्द के पारिभाषिक स्वरूप को समझ लिया है॥ ४॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

व्यासभाष्यम्

[तज्जयात्] **तस्य संयमस्य जयात्** [प्रज्ञालोकः] **समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथेश्वरप्रसादात्समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥**

भाष्यानुवाद—[तज्जयात्] उस पूर्व-सूत्रोक्त संयम के जय=जीत लेने=अभ्यस्त होने से [प्रज्ञालोकः] समाधिप्रज्ञा=समाधिजन्यप्रज्ञा (बुद्धि) का आलोक=प्रकाश (दीप्ति) हो जाता है। और जैसे-जैसे संयम स्थिर पद=अच्छी प्रकार से अभ्यस्त हो जाता है, वैसे-वैसे ईश्वर के अनुग्रह से समाधि-जन्य प्रज्ञा विशारदी=अत्यन्त-निर्मल तथा सूक्ष्मविषय को शीघ्र ग्रहण करने वाली हो जाती है।

सूत्रार्थ—[तज्जयात्] उस पूर्वसूत्रोक्त संयम के जय=सम्यक् अभ्यस्त होने से [प्रज्ञालोकः] योगी की समाधिजन्यप्रज्ञा=बुद्धि का आलोक=प्रकाश प्रकट हो जाता है अर्थात् स्वच्छ एवं सूक्ष्म होने से प्रज्ञा विकसित हो जाती है।

भावार्थ—इस सूत्र में संयम के जय (पूर्ण अभ्यास) का फल बताया गया है। जैसे—अन्यत्र व्यासभाष्य में कहा गया है कि—'योगस्य योग एवोपाध्यायः' अर्थात् योग का योग ही शिक्षक है। इस तथ्य को इस सूत्र में भी स्पष्ट किया गया है कि जब योगाभ्यासी का संयम पर विजय हो जाता है तो उसे अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाने के लिये एक विशेष प्रकार का प्रज्ञा का प्रकाश प्रकट होता है जो बहुत ही निर्मल एवं निर्भ्रान्त होता है और यह प्रज्ञालोक योगी को ईश्वरीय प्रसाद=परमेश्वर की कृपा से मिलता है। जैसे—पिता अपने अबोध बच्चे को उचित मार्गदर्शन करके उसे आगे बढ़ाने को प्रोत्साहित करता है, ऐसे ही परमपिता परमेश्वर योग के जटिल मार्ग पर चलने के लिये प्रज्ञालोक देकर योगी का मार्गदर्शन करके उसे प्रोत्साहित करते हैं॥ ५॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

व्यासभाष्यम्

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परिचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात्? तदर्थस्यान्यथैवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम्? एवं ह्युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु, योगेन स योगे रमते चिरम्॥ इति॥ ६॥

भाष्यानुवाद—उस संयम का जिसने योगसाधना भूमि=अवस्थाविशेष को जीत लिया है=अभ्यास कर लिया है, उसका अनन्तर=व्यवधान रहित=अतिशय निकट क्रमप्राप्त अगली अवस्थाओं में विनियोग=उपयोग लेना चाहिए। क्योंकि नीचे की अथवा प्रथम भूमि=अवस्थाओं को विना जीते उत्तरवर्त्ती भमि का उल्लंघन करके=विना जीते प्रान्तभूमि=अत्युच्च भूमियों में

संयम नहीं किया जा सकता। और उस संयम के बिना योगी को प्रज्ञालोक=समाधिजन्य बुद्धि का प्रकाश कैसे प्राप्त हो सकता है? और ईश्वर के अनुग्रह से यदि योगी ने उत्तर भूमि=उच्च दशा में संयम का अभ्यास कर लिया है तो उसको तो निचली परचित्त-ज्ञानादि अवस्थाओं में संयम करना युक्त नहीं अर्थात् उन्नत दशा को प्राप्त होकर अधर-दशा में संयम करना व्यर्थ ही है। उसका कारण यह है कि उस प्रयोजन का=अधरभूमि में संयम करने का संयम से भिन्न उपाय=ईश्वरानुग्रह से ही बोध अथवा सिद्धि हो जाने के कारण। [और यह जानने के लिये कि] इस भूमि की अनन्तर भूमि कौन सी है, इस विषय में योग=योग का अभ्यास ही उपाध्याय=गुरु होता है इसका कारण ऐसा कहा गया है—

योग से ही योग को जानना चाहिये। योग के अभ्यास से योग प्रवर्तित=आगे बढ़ता है। जो योगी योग-साधना में प्रमाद नहीं करता=सदा निरन्तर अभ्यास करता रहता है, वह योग=योगाभ्यासरूपी गुरु से योग-साधना में दीर्घकाल तक रमण करता रहता है॥

सूत्रार्थ—(तस्य) उस पूर्वावस्थाओं में अभ्यस्त संयम का (भूमिषु) उत्तरवर्त्ती अतिशय उन्नतदशाओं में (विनियोगः) उपयोग लेना चाहिए॥

भावार्थ—इस सूत्र में योगाभ्यासी को निर्देश दिया गया है कि योग का अभ्यास करते करते जब संयम का अभ्यास हो जाये, तो अपने कर्त्तव्य की समाप्ति न समझ लेवे। अथवा योग के लक्ष्य से विमुख होकर उसका उपयोग अन्यत्र कदापि न करे, अन्यथा पूर्ण लाभ नहीं हो सकेगा। योगी का संयम का विनियोग योग की भूमियों में ही करना चाहिये। यहाँ 'भूमि' शब्द योग की विशेषावस्थाओं का बोधक है। जैसे उन्नत महल में पहुंचने के लिए क्रमशः सीढ़ियों से ही जाना श्रेयस्कर होता है और सरलता से लक्ष्य पर पहुंच जाता है। वैसे ही योगाभ्यासी की भूमियों पर क्रमशः से ही चलना चाहिए। नीचे के स्तरों को बिना जीते अगली दशाओं में सफलता हो भी कैसे सकती है? परन्तु यह सामान्य नियम है। जो पूर्वजन्मादि के विशेष संस्कारों वाले योगी होते हैं, वे यदि अगली दशाओं में ईश्वरानुग्रह से पहुंच जाते हैं, उन्हें नीचे की दशाओं में अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है।

योग की भूमियाँ=विभिन्न दशायें कौन सी हैं? यद्यपि यहाँ सूत्र तथा भाष्य में इसका कोई संकेत नहीं है, पुनरपि अन्यत्र उनका निर्देश अवश्य किया गया है। जैसे—योग० १।४२–४४ सूत्रों में सवितर्का, निर्वितर्का,

सविचारा, निर्विचारा आदि नामों से योग की विभिन्न दशाओं का कथन किया गया है ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

व्यासभाष्यम्

[त्रयम्] तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संप्रज्ञातस्य समाधेः [पूर्वेभ्यः] पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद—[पूर्वेभ्यः] सम्प्रज्ञात-समाधि में यम-नियमादि प्रथम साधनों की अपेक्षा से [त्रयम्] बाद में कहे गये धारणा, ध्यान और समाधि, ये साधन अन्तरङ्ग हैं।

सूत्रार्थ—(पूर्वेभ्यः) सम्प्रज्ञात समाधि के यम-नियमादि प्रथम पाञ्च साधनों की अपेक्षा से (त्रयम्) ये बाद में कहे गये धारणा, ध्यान और समाधि, साधन अन्तरङ्ग हैं।

"यमादिक पाञ्च अङ्गों से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग हैं और यमादिक बहिरङ्ग हैं ॥" (शास्त्रार्थसंग्रह)

भावार्थ—अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दोनों शब्द सापेक्ष हैं। इनको क्रमशः आन्तरिक तथा बाह्य भी कह सकते हैं। परन्तु जैसे आन्तिक व दूर-शब्द सापेक्ष होते हैं। इनकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती, वैसे ही ये शब्द सापेक्ष हैं। जैसे मनुष्य प्रातः उठकर प्रथम अपने शरीरसम्बन्धी कार्य करता है, फिर परिवार वालों के करता है और उसके बाद इष्ट-मित्रों के करता है। इसमें परिवार वालों की अपेक्षा अपने कार्य अन्तरंग हैं और मित्रों की अपेक्षा परिवार के कार्य अन्तरंग होते हैं।

यहाँ योगांगों में भी प्रथम पाञ्च अंगों को बहिरंग तथा धारणादि को अन्तरंग इसलिये ही कहा गया है कि योग के लक्ष्य तक पहुंचने में धारणादि अतिशय समीप हैं। और यमनियमादि अंग तो धारणादि तक पहुंचने में चित्त की शुद्धि तथा एकाग्रता कराकर सहायक होते हैं। और यह अन्तरंगादि का नियम सम्प्रज्ञात समाधि के लिये कहा है। असम्प्रज्ञात समाधि में तो धारणादि भी बहिरंग साधन हो जाते हैं ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

व्यासभाष्यम्

[तदपि] **तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति । कस्मात्, तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥**

भाष्यानुवाद—[तदपि] वे सम्प्रज्ञातयोग में अन्तरङ्ग कहे गये धारणा, ध्यान तथा समाधि, ये तीनों साधन निर्बीजयोग=असम्प्रज्ञातयोग में बहिरंग होते हैं। क्योंकि तदभाव=धारणादि के अभाव अतिक्रमण होने पर निर्बीज-समाधि होती है।

सूत्रार्थ—(तदपि) सम्प्रज्ञातयोग में अन्तरंग रूप से कहे गये धारणादि तीनों साधन (निर्बीजस्य) असम्प्रज्ञात योग के (बहिरंगम्) बहिरंग=बाहरी अंग ही हैं।

भावार्थ—अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों शब्द सापेक्ष होने से सम्प्रज्ञात समाधि में जो धारणादि अन्तरंग साधन माने गये हैं, वे ही असम्प्रज्ञात समाधि में बहिरंग हो जाते हैं। धारणा, ध्यान तथा समाधि सम्प्रज्ञात योग में अन्तरंग इसलिए हैं कि ये विषय की समानता से समीप हैं। अर्थात् व्युत्थान वृत्तियों का निरोध और उन्हें एकाग्र करना दोनों का लक्ष्य है। परन्तु धारणादि निर्बीज (असम्प्रज्ञात) योग में बहिरंग (दूर) इसलिए हो जाते हैं कि इस दशा में चित्तवृत्ति को अवसिताधिकार=अपना कार्य करके समाप्त हो जाती है। अतः चित्तवृत्ति को निरोध करने वाले धारणादि साधन बाह्य होने से बहिरंग हो जाते हैं।

और असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज कहने का भी विशेष प्रयोजन है। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति का अधिकार बना रहता है। यद्यपि इस समय वृत्ति भोगाभिमुख नहीं रहती, पुनरपि किसी प्रबल कारण के उपस्थित होने पर भोगों की ओर झुक सकती है। और भोगोन्मुख होना ही संसार=जन्ममरण में बीज=कारण होता है। व्यासमुनि ने यो० १।४६ सूत्र के भाष्य में बाह्य-वस्तुबीजाः=बाह्यवस्तु के आधार वाली कहकर इसे सबीज कहा है। परन्तु असम्प्रज्ञातयोग में चित्तवृत्ति का व्यापार पूर्णतः समाप्त हो जाता है और संस्कारों की निवृत्ति होने से इस समाधि को सूत्र में निर्बीज कहकर सार्थक शब्द का प्रयोग किया है॥ ८॥

अव०—अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्त-परिणामः ?

(**अर्थ**)—गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है, इसलिये जब चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है, उस समय चित्त का परिणाम कैसा होता है ?

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्यासभाष्यम्

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद—व्युत्थान[1]=चित्त की अस्थिर दशा में उत्पन्न संस्कार चित्त के धर्म हैं। वे प्रतीतिरूप=वृत्तिरूप नहीं हैं। प्रत्यय=चित्तवृत्ति के निरोध करने पर इन व्युत्थान संस्कारों का निरोध नहीं होता। और निरोध=चित्तवृत्ति के निरोध होने पर उत्पन्न होने वाले संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। उन दोनों प्रकार के संस्कारों में (निरोधकाल में) व्युत्थानसंस्कारों का अभि-भव (दबना) हो जाता है और निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव (प्रकट होना) होता है। व्युत्थानसंस्कार दब जाते हैं, निरोधसंस्कार प्रकट हो जाते हैं। जब चित्त निरोधक्षण से अन्वित=युक्त होता है अर्थात् निरोधदशा में होता है, तब (निरोध की स्थिति में) चित्त का प्रतिक्षण संस्कारों का परिवर्त्तन होना ही निरोध-परिणाम कहलाता है। उस समय चित्त संस्कारशेष=निरोध-कालीन संस्कारमात्र शेषवाला हो जाता है, यह निरोधसमाधि के=असम्प्र-ज्ञातसमाधि के प्रसङ्ग में (यो० १।१८ सूत्र में) कहा गया है।

सूत्रार्थ—चित्तवृत्ति के निरोध होने पर (व्युत्थान-निरोधसंस्कारयोः) व्युत्थानसंस्कारों और निरोधसंस्कारों का क्रमशः (अभिभवप्रादुर्भावौ) अभिभव

---

१. यद्यपि चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरोध ये पाञ्च दशायें होती हैं, परन्तु यहाँ निरोध से पूर्व की समस्त दशाओं के संस्कारों को व्युत्थान संस्कार कहा है।

(दबना) तथा प्रादुर्भाव (प्रकट होना) होता है। अतएव (निरोधक्षणचित्ता-न्वयः) निरोधसमय[1] के संस्कारों का चित्त से सम्बन्ध होना (निरोध-परिणामः) निरोध परिणाम कहलाता है।

भावार्थ—असम्प्रज्ञात-योग में चित्तवृत्ति के निरोध होने पर चित्त का परिणाम कैसा होता है? क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक होने से चञ्चल होता है। वह शान्त कैसे रहेगा? इसका समाधान इस सूत्र में किया गया है। यद्यपि असम्प्रज्ञात योग में चित्त का अपना कार्य पूरा करने के बाद कारण में लय होना कहा है। पुनरपि वृत्तिनिरोध के समय चित्त के परिणाम के विषय में यहाँ समाधान किया गया है। इस अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होने से चित्त असमर्थ हो जाता है और व्युत्थानदशा की समस्त वृत्तियों के निरोध होने से अभिभूत=दब जाते हैं और कार्यरत नहीं हो सकते। इस-लिये निरोध क्षणों में जैसी चित्त की दशा होती है, वैसी ही आगे रहती है, इसे ही सूत्रकार ने चित्त का निरोध परिणाम[2] कहा है। यही बात (यो० १।१८) सूत्र में 'संस्कारशेषोऽन्यः' कहकर स्पष्ट की है। समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर संस्कार ही शेष रहते हैं और 'तस्य परं वैराग्यमुपायः' उन संस्कारों का भी अभिभव पर-वैराग्य से हो जाता है॥ ९॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

व्यासभाष्यम्

[संस्कारात्] निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति। तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभि-भूयत इति॥ १०॥

भाष्यानुवाद—[संस्कारात्] निरोधसंस्कारों का अभ्यास=बार-बार करने से जो पाटव=पटुता=कुशलता अथवा दृढता आ जाती है, उससे चित्त की

१. निरोधसमाधि=असम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों का प्रकट होना और व्युत्थान-संस्कारों का दब जाना ही निरोध परिणाम है।

२. व्युत्थान और निरोध दोनों संस्कार चित्त के धर्म हैं। जिनमें एक के उदय होने से दूसरे अस्त हो जाते हैं। चित्त के तीन परिणाम होते हैं—१. निरोध परिणाम २. समाधि परिणाम ३. एकाग्रता परिणाम। इस सूत्र में चित्त का निरोध परिणाम बताया गया है, शेष परिणाम अगले सूत्रों में कहे हैं।

प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जाती है। और निरोध-संस्कारों के मन्द होने पर व्युत्थानधर्म वाले संस्कारों से निरोध-धर्म-संस्कार दब जाते हैं।

सूत्रार्थ—(तस्य) निरोधसंस्कारों वाले चित्त की (संस्कारात्) निरोध-संस्कारों की दृढता से (प्रशान्त-वाहिता) प्रशान्त प्रवाहरूप से स्थिति हो जाती है।

भावार्थ—असम्प्रज्ञात-योग में समस्त चित्त-वृत्तियों का निरोध होने पर संस्कार शेष रह जाते हैं। और इन संस्कारों का अभिभव निरोधसंस्कारों के पूर्णाभ्यास करने से हो जाता है। यदि योगाभ्यासी इस उच्चतम दशा में पहुंच-कर भी कुछ प्रमाद कर बैठता है, तो विपरीत कार्य भी हो जाता है अर्थात् व्युत्थान-कालीन संस्कार ही निरोध-संस्कारों का अभिभव कर देते हैं। इसलिये योगी को इस अवस्था में भी शिथिलता कदापि नहीं करनी चाहिये। और जब निरोध-संस्कारों की प्रबलता से दूसरे संस्कार दब जाते हैं तब चित्त का प्रशान्त-प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। अर्थात् चित्त निर्मल होने से शान्त रहता है ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥ ११ ॥

व्यासभाष्यम्

सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद—सर्वार्थता [सब विषयों की ओर उन्मुख होना] चित्त का धर्म है, और एकाग्रता [किसी एक विषय में चित्त का प्रवृत्त होना] भी चित्त का धर्म है। सर्वार्थता का क्षय=दबा देना और एकाग्रता का उदय=प्रकट होना, उन दोनों=सर्वार्थता व एकाग्रता रूप धर्मों में धर्मी चित्त अनुगत=सम्बद्ध रहता है। जब यह चित्त इन अपने धर्मों में से (सर्वार्थता व एकाग्रता में से) सर्वार्थता रूप धर्म के अपाय=दबने और एकाग्रतारूप धर्म के उपजन=उदय से सम्बद्ध होकर समाधि को प्राप्त हो जाता है यह चित्त का समाधि-परिणाम कहा जाता है।

सूत्रार्थ—(चित्तस्य) चित्त के (सर्वार्थता-एकाग्रतयोः) सर्वार्थता=सब विषयों की ओर प्रवृत्त होना और एकाग्रता=एक स्थान में लगना रूप धर्मों में से जब क्रमशः (क्षयोदयौ) सर्वार्थता का क्षय=दबना और एकाग्रता=का उदय होता है, तो यह (समाधि-परिणामः) चित्त का समाधि-परिणाम-कहलाता है।

भावार्थ—यद्यपि चित्त के निरोध-परिणाम के पश्चात् दूसरे परिणाम नहीं होते, पुनरपि प्रसंग-वश चित्त के निरोध-परिणाम से पूर्ववर्त्ती (सम्प्रज्ञात समाधि में) दूसरे परिणामों का भी यहाँ कथन किया गया है। सर्वार्थता=विभिन्न विषयों में चित्त का प्रवृत्त होना और एकाग्रता=चित्त का किसी विषय में लगना, ये दोनों चित्त के धर्म हैं। जब चित्त के सर्वार्थता-धर्म का अभिभव और एकाग्रता धर्म का आविर्भाव होता है, और चित्त से संबन्ध दोनों का रहता है, तब यह चित्त का 'समाधि-परिणाम' कहलाता है ॥ ११ ॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

व्यासभाष्यम्

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः, समाधिचित्त-मुभयोरनुगतं पुनस्तथैवाऽऽसमाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैका-ग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद—समाधि को प्राप्त चित्त की पूर्व प्रत्यय=प्रतीति शान्त हो जाती है और अगली प्रतीति उसी के समान उदित=प्रकट हो जाती है। समा-हित चित्त दोनों प्रकार की प्रतीतियों से सम्बद्ध होता है और फिर वैसे ही शान्तोदय का क्रम समाधि के भ्रेष=टूटने तक चलता रहता है। यह निश्चय से धर्मी चित्त का एकाग्रता-परिणाम कहलाता है।

सूत्रार्थ—(ततः पुनः) पूर्व सूत्रोक्त समाधि-परिणाम के पश्चात् अर्थात् एकाग्रता के उदय होने पर जो (चित्तस्य) समाहित चित्त की (तुल्य-प्रत्ययौ) एक समान प्रतीतियों=समान ज्ञानधाराओं का (शान्तोदितौ) शान्त तथा उदय का क्रम चलता रहता है, यह (एकाग्रता-परिणामः) चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।

भावार्थ—इस सूत्र में प्रसंगानुसार चित्त के समाधि-परिणाम से परवर्त्ती एकाग्रता-परिणाम का स्वरूप बताया गया है। समाधिदशा में व्युत्थान-दशा की वृत्तियों के अभिभूत होने पर जब चित्त एकाग्र होने लगता है, तब भी चित्त में विभिन्न प्रकार की अनुभवात्मक प्रतीतियाँ शान्त और प्रकट होती रहती हैं। उन प्रतीतियों में पूर्व प्रतीति के शान्त और उत्तर (अगली दूसरी) प्रतीति के उदय होने का क्रम समाधि-भंग होने तक चलता रहता है। ये प्रतीतियाँ व्युत्थान-दशा से भिन्न होती हैं। व्युत्थान दशा में एक विषय न होकर भिन्न-भिन्न विषय होते हैं, परन्तु चित्त की इस दशा में तुल्य प्रत्यय=समानविषयक ही प्रतीतियाँ होती रहती हैं। इस पूर्वप्रतीति के शान्त और उत्तर प्रतीति के उदय के समय चित्त का 'एकाग्रता-परिणाम' होता है॥ १२॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः॥ १३॥

व्यासभाष्यम्

एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्म-परिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थान-निरोधयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः। लक्षणपरिणामश्च। निरोध-स्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्म-त्वमनतिक्रान्तो वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपन्नः। यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां वियुक्तः।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानलक्षणं हित्वा धर्मत्व-मनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्। एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा। न चानागतवर्तमाना-भ्यां-लक्षणाभ्यां वियुक्तम्। एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नम्। यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति। एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति।

तथाऽवस्थापरिणामः। तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति। एष धर्माणामवस्था परिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यव-स्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुण-

वृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्। गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात्त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः।

परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति। तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।

अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येनैव परिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः। कस्मात्। एकान्ततानभ्युपगमात्। तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति। यथापुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु, विरक्तो भवतीति।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति। तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्। सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्। एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात्क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति।

किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति संभवः। क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति। उक्तं च रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। तस्मादसंकरः। रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः। तथा लक्षणस्येति।

न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षितास्तत्र लक्षितास्तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैका चैकस्थाने। यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः। कथम्। अध्वनो व्यापारेणाव्यवहितत्वात्। यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदाऽनागतो यदा करोति

तदा वर्तमानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदाऽतीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते ।

नासौ दोषः । कस्मात् । गुणनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् । यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनां तस्मिन्विकारसंज्ञेति ।

तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसंपद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति । घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते । घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति । एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद—इससे=पूर्वोक्त चित्त के (निरोध परिणाम, समाधिपरिणाम तथा एकाग्रतापरिणाम को ही यहाँ दूसरे शब्दों से कहा है) धर्म, लक्षण और अवस्थारूप परिणामों से भूत=पृथिव्यादि महाभूतों और इन्द्रिय=नेत्रादि में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम भी कहा गया समझना चाहिए ।

[धर्मपरिणाम[1]] उनमें (धर्मी में) व्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कारों का क्रमशः अभिभव (दबना) और प्रादुर्भाव (प्रकट होना) धर्मपरिणाम है ।

[लक्षण-परिणाम] और लक्षण[2] निरोध तीन लक्षणों वाला होता है, तीन मार्गों से युक्त है । वह अनागत लक्षण=भविष्य लक्षणरूप प्रथम मार्ग को छोड़कर धर्मभाव को न छोड़ता हुआ वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त करता है, जिसमें इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति (प्रकटता) होती है, वह इसका द्वितीय मार्ग है । और यह वर्तमान लक्षणरूप मार्ग अतीत=भूत और अनागत=भविष्य लक्षणों से वियुक्त नहीं है ।

वैसे ही व्युत्थान तीन लक्षणों वाला है, तीन मार्गों से युक्त होता है ।

---

१. धर्मी में पूर्व धर्म के दबने और अन्य धर्म के प्रकट होने को धर्मपरिणाम कहते हैं ।

२. काल-परिणाम को यहाँ लक्षण-परिणाम कहते हैं ।

वह वर्त्तमान लक्षण को छोड़कर धर्मभाव को न त्यागता हुआ अतीत लक्षण रूप परिणाम को प्राप्त होता है। यह इसका तृतीय मार्ग है। और वह भविष्य तथा वर्तमान लक्षणों से वियुक्त नहीं है। इसी प्रकार फिर व्युत्थान को प्राप्त करता हुआ अनागत लक्षण को छोड़कर धर्मभाव को न त्यागता हुआ वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त होता है। जहाँ कि इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति होने पर व्यापार होता है। यह इस का द्वितीय मार्ग है और वह अतीत तथा अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं होता है। इसी भाँति फिर निरोध और व्युत्थान होता रहता है।

[अवस्था[1] परिणाम] उसी प्रकार अवस्था-परिणाम होता है। उसमें निरोध संस्कारों के समय निरोध संस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थान-संस्कार दुर्बल होते हैं। यह धर्मों का अवस्था परिणाम है। उसमें धर्मी का धर्मों के द्वारा परिणाम, धर्मों का तीन मार्ग वाले लक्षणों के द्वारा परिणाम और लक्षणों का भी अवस्थाओं के द्वारा परिणाम होता है। इस प्रकार गुणों का व्यवहार धर्मों, लक्षणों, तथा अवस्थाओं के परिणामों से शून्य क्षण भर भी नहीं रहता। क्योंकि गुणों की वृत्ति चञ्चल स्वभाव वाली है गुणों का स्वभाव गुणों की प्रवृत्ति का कारण कहा है। इससे भूतों और इन्द्रियों में धर्म और धर्मी के भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिए।

यथार्थ में तो परिणाम एक ही होता है। धर्मी का स्वरूप मात्र ही धर्म है, धर्मी की यह विक्रिया=विकाररूप में प्रकट होना ही धर्मों द्वारा विस्तार से कही जाती है। उस धर्मी में वर्त्तमान धर्म के ही अतीत, अनागत और वर्त्तमान रूप मार्गों में भावों=विकारों की भिन्नता होती है, द्रव्य की भिन्नता नहीं। जैसे—सोने के पात्र को तोड़कर 'अन्यथात्व= भिन्न पात्र बनाने पर भाव= विकार को भिन्नता होती है, सुवर्ण की भिन्नता नहीं।

इसी विषय में दूसरे आचार्यों का मत है—धर्म से धर्मी पूर्वतत्त्व का त्याग न होने से अनभ्यधिक=अविशिष्ट होता है अर्थात् पृथक् नहीं होता। यदि विभिन्न धर्मों से धर्मी अन्वयी=सम्बद्ध होता है, तो पूर्व और पश्चात् के अवस्थाभेद का अनुसरण करने वाला कौटस्थ्य=नित्यत्व से परिवर्तित हो जायेगा अर्थात् नित्य नहीं रहेगा ? यह दोष नहीं है। क्योंकि एकान्त=सिद्धान्त रूप में इस बात को स्वीकार न करने के कारण ये तीनों लोकों के पदार्थ

---

१. एक धर्म के अनागत लक्षण से वर्त्तमान लक्षण में प्रकट होने तक उसकी अवस्था को दृढ़ करने में और वर्तमान लक्षण से अतीत लक्षण में जाने तक उसकी अवस्था को दुर्बल करने में जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा होता है वह अवस्थापरिमाण है।

व्यक्ति भाव से पृथक् हो जाते हैं, क्योंकि इनके नित्यत्व का निषेध किया गया है। और वियुक्त हुआ भी नष्ट नहीं होता, क्योंकि इसके विनाश का प्रतिषेध[1] किया गया है। संसर्ग से=मिलकर बनी स्थूल वस्तुओं अथवा विकारभूत कार्य पदार्थों की अपेक्षा इस धर्मी=कारणतत्त्व की सूक्ष्मता है। और सूक्ष्म होने से उपलब्धि नहीं होती है।

[लक्षण-परिणाम]—लक्षण-परिणाम वाला धर्म (तीनों अतीतादि) मार्गों में वर्त्तमान रहता हुआ जो अतीत-लक्षण परिणाम वाला है, वह अनागत और वर्त्तमान लक्षणों से पृथक् नहीं होता। वैसे ही अनागत=अनागत लक्षण से युक्त होता हुआ वर्त्तमान और अतीत के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। वैसे ही वर्त्तमान=वर्त्तमान लक्षण युक्त होता हुआ अतीत और अनागत के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। जैसे पुरुष किसी एक स्त्री में रक्त होता हुआ भी दूसरी स्त्रियों में विरक्त नहीं होता।

लक्षण-परिणाम में दोष परिहार—लक्षण-परिणाम में सब मार्गों का सब लक्षणों से सम्बन्ध होने कारण अध्वसंकर=मार्गों का संकर दोष प्राप्त होता है, ऐसा दूसरे आचार्य आक्षेप करते हैं। उसका समाधान यह है—धर्मों का धर्मत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता! धर्मत्व होने पर लक्षण-भेद भी कहना होगा न कि वर्त्तमान समय में ही उसका धर्मत्व है। (इसी को उदाहरण देकर समझाते हैं) इस प्रकार चित्त राग धर्मवाला न बन सकेगा, क्योंकि क्रोध के समय राग के वर्त्तमान न रहने से और तीनों लक्षणों का एक व्यक्ति में एक साथ ही सम्भव भी नहीं है। क्रम से मानने पर तो उसके अपने व्यञ्जक= (अभिव्यक्ति करने वाले) के सहयोग से व्यक्त होने वाला भाव हो सकता है। और कहा भी है—रूपातिशय और वृत्त्यतिशय परस्पर विरोधी होते हैं। और सामान्य तो अतिशयों के साथ प्रवृत्त होते हैं। इस कारण से संकर-दोष नहीं आता है। जैसे—कहीं (स्त्री आदि में) राग का ही वर्त्तमान होना, उसी समय अन्यत्र राग का अभाव हो, ऐसा नहीं होगा। किन्तु केवल सामान्य से संगत है, अतः वहाँ उसका भाव है, वैसे ही लक्षण समझना चाहिए। धर्मी तीन मार्गों वाला नहीं होता, किन्तु धर्म तीन मार्गों वाले होते हैं। वे धर्म लक्षित हों अथवा अलक्षित हों उस उस अवस्था को प्राप्त होते हुए अवस्था-भेद से भिन्नता से निदान किये जाते हैं, द्रव्यान्तर होकर नहीं। जैसे—एक[2] रेखा शत के

---

१. योगशास्त्र का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि सत् पदार्थ का स्वरूप नाश कभी नहीं होता और असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती।

२. एका रेखा=एक का अंक। शत=सैंकड़ा। दश=दहाई, एक=इकाई, इस प्रकार जानना चाहिए।

स्थान में शत, दश के स्थान में दश, और एक के स्थान पर एक को दर्शाती है। अथवा जैसे स्त्री के एक होने पर भी वह किसी से माता, किसी से पुत्री और किसी से बहन कही जाती है।

अवस्था-परिणाम में नित्यत्व दोष का परिहार—अवस्था-परिणाम में कुछ लोगों के द्वारा कूटस्थ=नित्यत्वप्रसक्ति का दोष कहा गया है। कैसे? अतीतादि लक्षणों का केवल व्यापार से ही व्यवधान होता है। जब धर्म अपने व्यापार को नहीं करता, तब अनागत, जब करता है तब वर्त्तमान और जब करके निवृत्त हो जाता है तब अतीत हो जाता है। इस प्रकार धर्म, धर्मी, लक्षणों और अवस्थाओं की कूटस्थता=नित्यता प्राप्त होती है।

किन्तु यह दोष नहीं है। क्योंकि गुणी=धर्मी के नित्य होने पर भी गुणों के विचित्र विमर्दन से=अभिभव और उदय की विलक्षणता के कारण। जैसे—संस्थान=आकृति वाले कार्यपदार्थ आदिमान्=कारण वाले हैं और विनाशी व अविनाशी (तिरोभाव तथा आविर्भाव होने वाले) शब्दादि गुणों के धर्ममात्र=विकाररूप हैं इसी प्रकार विनाशी व अविनाशी सत्त्वादि गुणों का लिङ्ग=महत्तत्त्व आदिमान् (कारण) धर्ममात्र है। और उस धर्म की विकार संज्ञा है। इस विषय में उदाहरण है—धर्मी मिट्टी पिण्डाकार रूप धर्म से अन्य धर्म (घटादि) को प्राप्त होती हुई धर्म के द्वारा घटाकर रूप में परिणत हो जाती है। घटाकार अनागत लक्षण को छोड़कर वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्म लक्षणों द्वारा परिणत हो जाता है। और घड़ा नयेपन तथा पुराने पन को प्रतिक्षण प्राप्त करता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है। (और जिस प्रकार लक्षणों का अवस्थाओं में परिणाम होता है, वैसे ही) धर्मी की भी धर्मान्तर होना एक अवस्था है और धर्म की भी लक्षणान्तर होना एक अवस्था है। इस प्रकार से (धर्म, लक्षण, और अवस्था परिणामों के रूप में एक ही धर्मी का परिणाम अवान्तर भेदों के कारण भिन्न भिन्न दिखाया है। इसी प्रकार (धर्मी मिट्टी के परिणामों की भाँति) अन्य पदार्थों में भी परिणाम घटित कर लेने चाहिये।

वे ये धर्म, लक्षण, और अवस्थारूप परिणाम धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण (त्याग) नहीं कर सकते हैं, इसलिये वास्तव में एक ही परिणाम इन सभी (धर्म, लक्षण, अवस्था रूप) विशेष परिणामों के भेदों को व्याप्त करता है। अब यह परिणाम क्या है? अवस्थित=पूर्वतः विद्यमान वस्तु के पूर्वधर्मों के निवृत्त (तिरोभाव) हो जाने पर अन्य धर्मों की उत्पत्ति (आविर्भाव) ही परिणाम कहलाता है।

सूत्रार्थ—(एतेन) इस गत सूत्रों में कथित चित्त के परिणाम से—

(भूतेन्द्रियेषु) पृथिव्यादि भूतों में नेत्रादि इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्था-परिणामा व्याख्याता:) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, और अवस्थापरिणाम की व्याख्या जाननी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार यो० ३।९-१२ सूत्रों में चित्त के धर्म, लक्षण तथा परिणाम बताये गये हैं, उसी प्रकार पाञ्चों भूतों तथा इन्द्रियों के भी परिणाम समझने चाहिए। यद्यपि गत सूत्रों में चित्त के परिणामों के निरोधपरिणाम, समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम नाम दिये हैं, धर्म, लक्षण, अवस्था नाम नहीं दिये हैं। परन्तु इन शब्दों को पर्यायवाची भी नहीं कहा जा सकता। फिर व्याख्या समझने का प्रकार कैसे जाना जायेगा? इसका उत्तर यह है कि चित्त के जो निरोध, समाधि और एकाग्रता परिणाम बताये हैं, उनमें से प्रत्येक इन धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का समवेत रूप है। तात्पर्य यह है कि चित्त के निरोध परिणाम में भी धर्म, लक्षण, अवस्था रूप तीनों परिणाम होते हैं। इसी प्रकार समाधि और एकाग्रता परिणाम में धर्मादि तीनों होते हैं।

और धर्मादि परिणामों को समझने से पूर्व योग-शास्त्र का सिद्धान्त जानना परमावश्यक है। इस शास्त्र के अनुसार असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी स्वरूप नाश नहीं होता। वस्तु (धर्मी) के केवल आकारादि धर्म तथा अनागत, वर्त्तमान एवं अतीत के रूपों में कालिक परिवर्त्तन होते रहते हैं और बदलने का तात्पर्य भी नष्ट होना कदापि नहीं है, प्रत्युत एक धर्म का अभिभव=दब जाना और दूसरे धर्म का आविर्भाव=प्रकट होना ही होता है। धर्म, लक्षण, अवस्था तीनों वस्तुओं में (धर्मी में) सदा विद्यमान रहते हैं परन्तु दबते-उभरते रहते हैं और धर्मी वस्तु उन दबने-उभरने वाले धर्मों से सदा अनुगत रहता है।

धर्म-परिणाम—धर्मी के अवस्थित रहते हुए पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर और धर्मान्तर के प्रकट होने को धर्मपरिणाम कहते हैं।

चित्त में धर्म-परिणाम—यो० ३।९ सूत्र में चित्त के निरोध-परिणाम में धर्मपरिणाम समझाया गया है। धर्मी चित्त के व्युत्थान संस्कारों का दबना और निरोध-संस्कारों का प्रकट होना चित्त का धर्म-परिणाम है। इसी प्रकार यो० ३।११ सूत्र में धर्मी चित्त के सर्वार्थता धर्म के दबने और एकाग्रता धर्म के प्रकट होने में धर्मपरिणाम है।

चित्त में लक्षण-परिणाम—काल-परिणाम को लक्षण-परिणाम कहते हैं। वह तीन मार्गों (भेदों) वाला है—अनागत (भविष्य), उदित (वर्त्तमान) तथा अतीत (भूत)। प्रत्येक धर्म इन तीनों लक्षणों से युक्त होता है। जैसे धर्म-परिणाम वाले चित्त के उदाहरण में निरोध संस्कार के प्रकट होने से पूर्व भविष्य काल में छिपा रहना अनागत लक्षण-परिणाम है। और उन्हीं संस्कारों का भविष्य काल को छोड़कर वर्त्तमान काल में प्रकट होना वर्त्तमान लक्षण-परिणाम है और व्युत्थान संस्कारों का वर्तमानकाल को छोड़कर भूतकाल में छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है।

चित्त में अवस्था-परिणाम—एक धर्म के अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में प्रकट होने तक उस धर्म को दृढ़ करने में और वर्त्तमान लक्षण से अतीत-लक्षण जाने तक पूर्व धर्म को दुर्बल करने में जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा होता है, वह अवस्थापरिणाम है। जैसे (३।१०) सूत्र में निरोधस-माधि के भङ्ग होने तक निरोध संस्कारों को प्रतिक्षण दृढ़ करने, स्थिर करने और पुनः व्युत्थान संस्कारों के दुर्बल होने तक जो प्रशान्त प्रवाह का बहना है, वह चित्त का अवस्थापरिणाम है।

भूतों व इन्द्रियों में धर्मादि परिणाम—चित्त-परिणाम की भाँति भूतेन्द्रिय परिणाम भी समझना चाहिए। भूतेन्द्रिय-परिणामों को समझने से पूर्व इनके कारण-कार्य भाव को भी जानना आवश्यक है। पञ्चभूत और इन्द्रियाँ ये सूक्ष्म-भूतों तथा सात्त्विक अहंकार के कार्य हैं। मूल प्रकृति से लेकर भूतेन्द्रियों तक जो परिणाम होते हैं वे तत्त्वान्तर परिणाम होते हैं। परन्तु भूत-इन्द्रियों के परिणामों को तत्त्वान्तर न कहकर धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम ही कहा जा सकता है। यद्यपि भूतेन्द्रियों से पूर्व प्रकृतियों के परिणामों में भी धर्मादि परिणाम होते हैं, परन्तु उनमें तत्त्वान्तर परिणाम भी है, किन्तु भूतेन्द्रियों का धर्मादि परिणाम ही होता है। दूसरी बात यह भी जाननी चाहिये कि चित्त भी अहंकार का कार्य है अन्य इन्द्रियों की भांति। चित्त के निरोधादि परिणामों को भूतेन्द्रियों में होने वाले धर्मादि परिणाम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि निरोध, समाधि और एकाग्रतारूप परिणामों में से प्रत्येक परिणाम धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम, तथा अवस्थापरिणाम वाला होता है।

मिट्टी और घड़े के उदाहरण से भूतों में धर्मादि तीनों परिणाम समझने चाहिये। मृत्तिकारूपधर्मी का पिण्डरूप धर्म को छोड़कर घटरूप धर्म में परिवर्त्तित होना धर्म-परिणाम है। एक ही मिट्टी के विभिन्न प्रकार के घटादि बर्तन बनाये जाते हैं। मिट्टी धर्मी सब पात्रों में जैसी की तैसी रहती है, केवल

उसके आकार बदलते रहते हैं। इनमें प्रथम पिण्डरूप धर्म का तिरोहित होना और दूसरे धर्मों का प्रकट होना धर्मपरिणाम है। और जब तक घटादि आकार नहीं बना था, वह पहले मिट्टी में विद्यमान होने पर भी तिरोहित था और नष्ट होने पर फिर तिरोहित हो जायेगा। घटादि धर्मों का मिट्टी में अभाव कभी न था। घटादि रूप में प्रकट होने से पहले मृत्तिका धर्मी में अनागत लक्षणपरिणाम, वर्त्तमान होने पर वर्त्तमान लक्षणपरिणाम और घटादि धर्म का अतीत काल में नष्ट होकर छिप जाना अतीत लक्षणपरिणाम है। और मृत्तिका के घटरूप धर्म के अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में आने तक और वर्त्तमान लक्षण से अतीत लक्षण में जाने तक उसकी अवस्था में क्रमशः जो दृढ़ और दुर्बल करना रूप प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, वह घटधर्म का अवस्थापरिणाम है। इसी प्रकार दूसरे भूतों के और प्राणियों के शरीरों में भी धर्मादि परिणाम जानने चाहिये।

इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मादि परिणाम भी जानने चाहिये। जैसे—धर्मी नेत्र का अपने धर्म नील, पीत, रक्तादि विषयों में एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप का ग्रहण करना धर्मपरिणाम है। और धर्मी नेत्र के धर्म नीलादि के प्रकट होने से पूर्व अनागत लक्षण परिणाम है, वर्तमानकाल में प्रकट होना वर्त्तमानलक्षणपरिणाम है और वर्त्तमानकाल से अतीत काल में छिप जाना अतीत लक्षण परिणाम है। और वर्त्तमान लक्षण परिणाम में ग्राह्य नीलादि विषय का स्फुट, स्फुटतर तथा अस्फुट आदि प्रतीतियों का होना अवस्था-परिणाम है। इसी प्रकार दूसरी घ्राणादि इन्द्रियों के परिणाम भी जानने चाहिए।

इन समस्त परिणामों में धर्मी (द्रव्य) वही रहता है मूलतत्त्व का न तो प्रादुर्भाव होता और नहीं तिरोभाव। परन्तु धर्मी का धर्मों से, धर्मों का अनागतादि लक्षणों से और लक्षणों का अवस्था से परिणाम होता है। यथार्थ में यह सब एक ही परिणाम होता है। धर्मी का स्वरूप मात्र ही धर्म होता है, कोई भिन्न वस्तु नहीं। क्योंकि धर्मी के विकार को ही यहाँ धर्म नाम से कहा गया है। जैसे सुवर्ण का आभूषण तोड़कर अन्य आभूषण बनाने पर केवल आकार ही बदलता है, सुवर्ण का स्वरूप नहीं। वैसे ही चित्तादि धर्मियों का स्वरूप नहीं बदलता, उसी के विकार रूप धर्म ही आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं॥ १३॥

अव०—तत्र ।

(अर्थ)—उनमें (धर्मी का स्वरूप यह है—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

व्यासभाष्यम्

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योऽन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्त्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मी धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते। यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्येत।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति, तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः सव्यापारा उदितास्ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तरा वर्त्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्त्तमानाः? पूर्वपश्चिमताया अभावात्। यथाऽनागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य। तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः। तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्त्तमानस्येति।

"अथाव्यपदेश्याः के? सर्वं सर्वात्मकमिति। यत्रोक्तम्—जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं दृष्टम्। तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति।

देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति। य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी। यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः। कस्मात्, अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत। तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति" ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद—धर्मी की योग्यता से अवच्छिन्न=युक्त शक्ति ही धर्म है। और वह फलोत्पत्ति के भेद से अनुमान किया जाता हुआ एक धर्मी के भिन्न-भिन्न धर्मों वाला देखा गया है। उन भिन्न-भिन्न धर्मों में वर्त्तमान धर्मी अपने व्यापार=कार्य का अनुभव करता हुआ शान्त=अतीत और अव्यपदेश्य=भविष्यरूप (अनागत) धर्मों से भिन्न होता है। और जब सामान्यधर्म से धर्मी संयुक्त होता है, उस समय धर्मी के स्वरूपमात्र होने से कौन=किस रूप वाला धर्मी किस=व्यापाररूप अन्य धर्मों से भिन्न होगा? अर्थात् उस समय किसी से भिन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

उसमें धर्मी के जो शान्त=अतीत, उदित=वर्त्तमान और अव्यपदेश्य=अनागत तीन प्रकार के धर्म होते हैं, वे इस प्रकार हैं—उनमें शान्त वे धर्म हैं जो अपना व्यापार (कार्य) करके उपरत=कार्यरहित हो जाते हैं, उदित वे धर्म हैं जो व्यापार-सहित=कार्य कर रहे होते हैं। ये उदित-धर्म अनागत लक्षण वाले धर्मों के अव्यवहित=अतिशय समीप होते हैं और अतीत धर्म उदित=वर्त्तमान धर्मों के अव्यवहित=अतिशय समीप होते हैं। वर्त्तमान-धर्म अतीत के समीप क्यों नहीं होते? (अतीत और वर्त्तमान धर्मों में) पूर्व पश्चिमता के अभाव होने से। जैसे—भविष्य और वर्त्तमान धर्मों में पूर्व-पश्चिमभाव होता है, ऐसा अतीत-धर्म का (वर्त्तमानधर्म के साथ) नहीं है। इसलिये अतीत धर्म का अनन्तर=पश्चात् होने वाला कोई धर्म नहीं है। इससे अनागत=भविष्य रूप धर्म ही वर्त्तमानधर्म का अव्यवहित पूर्ववर्त्ती होता है, अतीत नहीं।

अव्यपदेश्य=अनागत धर्म कौन से हैं? सभी धर्मी सभी शक्तियों वाले होते हैं। जिस विषय में (पूर्वाचार्यों ने) कहा है—जल और पृथिवी के परिणाम रसादि की विश्वरूपता=विविधरूपता स्थावर (अचर) पदार्थों में देखी जाती है और उसी प्रकार स्थावरों की विविधरूपता जङ्गम=चर पदार्थों में और जङ्गमों=चर पदार्थों की विविधरूपता स्थावर=अचर पदार्थों में दिखाई देती है। इस प्रकार जाति के नष्ट न होने से सभी पदार्थ (धर्मी) सभी शक्तियों वाले होते हैं। किन्तु इन सभी शक्तियों=धर्मों की अभिव्यक्ति देश, काल, तथा आकाररूप अपबन्धन=प्रतिबन्ध होने के कारण एकसाथ नहीं होती। अतः जो इन अभिव्यक्त (वर्त्तमान) अथवा अनभिव्यक्त (अतीत व अनागत) धर्मों में अनुगत=रहता है और सामान्य-विशेषरूप वाला है, वही धर्मी है।

और जिसके मत में (सब धर्मों में) धर्मी अनुगत नहीं है, केवल धर्ममात्र ही की सत्ता मानी है, उसके मत में भोग=कर्मफल के भोग का अभाव प्राप्त होगा। क्योंकि दूसरे विज्ञान=चित्त के द्वारा किये गये कर्म का भोक्ता के रूप में दूसरे विज्ञान का अधिकार कैसे हो सकता है? और उसके मत में स्मृति का अभाव होगा, क्योंकि दूसरे के द्वारा देखे गये विषय का स्मरण दूसरे को नहीं होता है। इस (अनुभूत-विषयक) वस्तु की प्रत्यभिज्ञा=स्मृति से सिद्ध होता है कि धर्मी सब धर्मों में अनुगत होता है, जो भिन्न धर्मवाला होकर (स्मृति आदि से) पहचाना जाता है। इसलिये (समस्त पदार्थ) अनुगत से रहित धर्ममात्र नहीं हैं (प्रत्युत सभी धर्मों में अनुगत धर्मी है।)

सूत्रार्थ--(शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती) जो शान्त=अतीत, उदित= वर्त्तमान तथा अव्यपदेश्य[1]=अनागतधर्मों में अनुगत रहता है, वह (धर्मी) धर्मी कहलाता है।

भावार्थ—पूर्वसूत्र में धर्मादि तीन परिणाम बताये हैं, अब वे जिसके धर्म हैं उस धर्मी का स्वरूप यहाँ बताया जाता है। पूर्वसूत्र के व्यासभाष्य में उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि मिट्टी के गोले, बर्तन घटादि तथा कालान्तर में उनके टुकड़े आदि भिन्न-भिन्न आकार जो हो चुके हैं, अथवा होंगे, वे सब एक मिट्टी धर्मी के विभिन्न धर्म हैं। प्रथम मिट्टी के चूरे को पानी से गीलाकर पिण्डाकार बनाया गया, फिर उससे कुम्हार ने भिन्न-भिन्न घटादि पात्र बनाये और फिर टूटने पर भिन्न-भिन्न आकार हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न आकार घटादि, जो एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं, उन सभी में एक धर्मी समानरूप से अनुगत है। उस धर्मी के समस्त धर्मों को सूत्र में तीन भागों में विभक्त किया है—(१) शान्त=जो अपना-अपना व्यापार करके उपरत हो गये हैं, वे शान्त अथवा अतीत धर्म होते हैं। (२) उदित=वे धर्म हैं जो वर्त्तमान में कार्यरत हैं। (३) अव्यपदेश्य=जो धर्म धर्मी में शक्तिरूप में स्थित हैं, जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता वे अव्यपदेश=अनागतधर्म हैं। जैसे—घट बनने से पूर्व मिट्टी में अव्यपदेश्यरूप में था, घट बनने के बाद उदित हो जाता है और टूटने के पश्चात् शान्तरूप में होता है। धर्मी मिट्टी इन सभी धर्मों में अनुगत[2] होती है। और ये सब धर्म एक धर्मी तत्त्व के हैं। इस तरह एक धर्मी में विभिन्न-धर्म विद्यमान रहते हैं और वे देश, कालादि उचित निमित्त को पाकर प्रकट हो जाते हैं। और जो अभिव्यक्त धर्म नहीं हैं वे धर्मी में तिरोहितरूप से रहते हैं। सामान्यरूप से अन्वित धर्मी विशेष धर्मों के उदित होने पर सामान्य-विशेष वाला कहलाता है।

और यहाँ व्यासभाष्य में 'अव्यपदेश्य' की व्याख्या में 'सर्वं सर्वात्मकम्' सभी धर्मी सब शक्तियों वाले हैं, कहा है। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि सभी पदार्थों में सब प्रकार की शक्तियाँ हैं। यहाँ यथाशक्ति ही निर्देश समझना चाहिये। जिस पदार्थ के जो धर्म अभिव्यक्त नहीं हैं, उन्हीं को यहाँ सर्व शब्द से ग्रहण किया गया है। अन्यथा सब से सब की उत्पत्ति होने लगे।

---

१. व्यपदेष्टुं कथयितुमयोग्योऽव्यपदेश्यः। अर्थात् जैसे अनुभूत (अतीत) और अनुभूयमान (वर्तमान) धर्मों के विषय में कहा जा सकता है, वैसा अनागत विषय में नहीं।

२. आश्रयरूप में स्थित होना 'अनुगत' होता है।

इसी की व्याख्या जलभूमि के परिणाम की विविधरूपता दिखाकर की है। स्थावर=वृक्षादि में मधुर, अम्ल, मृदु आदि विविधरूप देखने में आते हैं, वे सब जल-भूमि के परिणाम-स्वरूप ही हैं। और जङ्गमों=चलने फिरने वाले प्राणियों के शरीरों में जो रूपादि की विविधता है, वह स्थावर=वृक्ष, ओष-ध्यादि के परिणामस्वरूप है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं में विभिन्न विकारों को उत्पन्न करने की शक्ति है। परन्तु उनकी अभिव्यक्ति एकसाथ क्यों नहीं होती ? इसमें देश=स्थान का प्रतिबन्ध होता है। जैसे—केसर कश्मीर में ही पैदा होती है, अन्यत्र गर्म-प्रदेशों में नहीं। और काल का प्रतिबन्ध होता है कि जैसे—तरबूज शीतकाल में नहीं होता, ग्रीष्मकाल में ही होता है। और आकार का भी प्रतिबन्ध होता है, जैसे—विभिन्न योनियों में आकार परमेश्वर ने बनाये हैं, उनमें मृगादि मनुष्याकार नहीं होते अथवा मनुष्य-मृगादि के आकार वाले नहीं होते। अथवा मनुष्यकृत-घटादि अपने आकार को छोड़कर अन्याकार वाले नहीं होते। और जो शान्तधर्म वाले धर्मी हैं, उनमें विभिन्न धर्म कैसे रहते हैं ? इसका उत्तर व्यासभाष्य में यह दिया है कि जाति अविनाश-धर्मा है। वह कभी नष्ट नहीं होती। यदि कोई घट नष्ट हो गया है, तो वह अन्यत्र नहीं है, ऐसा कदापि नहीं होता है। और नष्ट हुए घटादि में भी कालान्तर में मिट्टी रूप होने पर वह शक्ति अनभिव्यक्त-रूप में देखी जा सकती है। अतः सब धर्मियों में उनके समस्त धर्म रहते हैं और समस्त धर्मों में धर्मी अनुगत होता है, इस नियम में कोई दोष नहीं आता है।

और व्यासभाष्य में धर्मों से भिन्न एक धर्मी की सत्ता न मानने वाले क्षणिक-वादियों के मत का सयुक्तिक खण्डन किया है। एतदर्थ चित्त का उदाहरण दिया है। चित्त एक धर्मी है, जिसके स्मृति आदि धर्म होते हैं। पूर्वानुभूत विषय की स्मृति इसलिये ही हो जाती है कि जिसने नेत्रादि से देखा, सुना, चखा या सूंघा था, वह अब भी विद्यमान होने से उनकी स्मृति करपाता है। यदि धर्मी को न माना जाये तो दूसरे से देखी वस्तु का दूसरा स्मरण कैसे कर सकता है ? यद्यपि चित्तादि भी बिना चेतनात्मा के कार्य नहीं कर सकते, पुनरपि चित्त को धर्मी मानकर उसका उदाहरण दिया गया है। क्योंकि क्षणिकवादियों के मत में चेतनात्मा की कोई सत्ता ही नहीं है। इसी प्रकार कर्म किसी ने किये और उसका फल दूसरा चित्त भोगे, यह भी क्षणिकवाद में दोष है। अतः धर्मों से भिन्न, किन्तु धर्मों में अनुगत एक धर्मी की सत्ता मानना अपरिहार्य है ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

व्यासभाष्यम्

एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति । तद्यथा चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः । यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः । पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावः क्रमः । तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः । नातीतस्यास्ति क्रमः । कस्मात् । पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं, सा तु नास्त्यतीतस्य । तस्माद्द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः । तथाऽवस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते । सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति । धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति ।

य एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः । धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति । यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदाऽयमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते ।

चित्तस्य द्वये धर्मा परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च । तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः । ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः ।

"निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ इति ॥ १५ ॥

भाष्यानुवाद—एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिये, ऐसा प्रसङ्ग=दोष आने पर क्रम की भिन्नता ही परिणामों की भिन्नता में कारण होता है। जैसे—चूर्ण=पिसीहुई मिट्टी, पिण्डाकार मिट्टी, घटाकार मिट्टी, कपालाकार मिट्टी, और कणरूप मिट्टी, यह पाञ्च प्रकार का मिट्टी-सम्बन्धी क्रम है। जो धर्म जिस धर्म का अनन्तर=समीप वाला धर्म है, वह उसका क्रम है। मिट्टी का पिण्ड अपने स्वरूप से नष्ट होता है, घड़ा पैदा हो जाता है, यह धर्मपरिणामक्रम है। लक्षणपरिणाम में क्रम यह है—जैसे घड़े के अनागत लक्षण की स्थिति में वर्तमान लक्षण की स्थिति का क्रम है। वैसे ही पिण्ड के वर्तमान लक्षण की स्थिति में अतीत लक्षण की स्थिति का क्रम है। अतीत लक्षण का क्रम नहीं होता। क्योंकि पूर्व के पश्चात् होने पर ही अव्यवहित परवर्त्तिता=अनन्तर सामीप्य हो सकता है। और वह (पूर्व से परता का भाव) अतीत का नहीं है। इसलिये दो ही लक्षणों (अनागत और वर्त्तमान) का क्रम होता है। वैसे ही अवस्थापरिणाम में भी क्रम है। जैसे—नवीन घड़े के प्रान्त=बनने

के कुछ काल के बाद में पुरानापन दिखलाई पड़ता है और वह पुरानापन क्षण परम्परा का अनुसरण करने वाले क्रम के द्वारा प्रकट होता हुआ अतिशय अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। अर्थात् पुरानापन सर्वथा प्रकट हो जाता है। यह धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम से भिन्न तृतीय प्रकार का (अवस्थानामक परिणाम है।

और वे ये क्रम धर्म और धर्मी के भेद होने पर ही स्वरूप[1] को प्राप्त हुए होते हैं, और धर्म भी अपने दूसरे धर्मों के स्वरूप की अपेक्षा से धर्मी[2] हो जाता है। किन्तु जब परमार्थरूप में धर्मी में अभेद की दृष्टि से कथन किया जाता है, तब अभेदोपचार के द्वारा वह धर्मी ही धर्म कहा जाता है। उस समय यह क्रम (क्रमिक विकास) एक ही रूप में (एक ही धर्मी का धर्म परिणाम के रूप में) प्रतिभासित होता है।

(और जिस प्रकार बाह्य पदार्थों के विभिन्न परिणाम प्रथम दिखाये हैं, इसी प्रकार चित्त के भी दिखाते हैं) चित्त धर्मी के दो प्रकार के धर्म हैं—परिदृष्ट (प्रत्यक्ष) और अपरिदृष्ट (परोक्ष)। उनमें प्रत्ययात्मक=ज्ञान कराने वाली प्रमाणादि चित्त की वृत्तियाँ परिदृष्ट हैं और जो चित्त में स्वरूप से ही स्थित धर्म होते हैं, वे अपरिदृष्ट (परोक्ष) हैं और वे सात ही होते हैं, जिनको वस्तु स्वरूप अनुमान से ही सिद्ध किया जा सकता है। (निरोधधर्मसंस्काराः०) अर्थात् निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये चित्त के धर्म दर्शनवर्जित=अपरिदृष्ट हैं॥

सूत्रार्थ—(क्रमान्यत्वम्) क्रम की भिन्नता (परिणामान्यत्वे) धर्मी के परिणामों की भिन्नता में (हेतुः) कारण है॥

भावार्थ—पहले सूत्रों में एकधर्मी के अनेक धर्मों का कथन किया गया है। परन्तु इसमें सन्देह होता है कि एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिये, अनेक क्यों? इसका समाधान इस सूत्र में किया गया है। क्रम के भेद से परिणामों में भिन्नता हो जाती है। जैसे मिट्टी एक धर्मी है, उसके भिन्न

---

१. इस का भाव यह है कि ये तीनों धर्मादि परिणाम धर्म-धर्मी के भेद स्वीकार करने पर अस्तित्व में आते हैं। यथार्थ में समस्त विकार एक मूलप्रकृति धर्मी के धर्म हैं। वह परमार्थतः प्रकृति ही धर्मी है। प्रकृति के अन्य सब कार्यों में धर्म-धर्मी औपचारिक ही है।

२. धर्म-धर्मी का कोई निश्चित नियम नहीं है, प्रत्युत अपेक्षा कृत है। जैसे घट की अपेक्षा से मिट्टी धर्मी है और वह मिट्टी भी गन्धतन्मात्रा का धर्म है और गन्धतन्मात्रा अहंकार का धर्म है।

भिन्न क्रम होते रहते हैं। प्रथम मिट्टी चूर्ण रूप में थी, पानी मिलाकर पिण्डरूप हो गई, कुम्हार ने पिण्ड से घटाकारादि कर दी, घट के टूटने पर कपालों (ठीकरों) का रूप तथा उनके वारीक होने पर कालान्तर में फिर चूर्ण रूप में मिट्टी हो जाती है। इस प्रकार क्रम-भेद से एकधर्मी के भिन्न-भिन्न अनेक परिणाम हो जाते हैं।

क्रम का अभिप्राय है—एक परिणाम का किसी अन्य परिणाम के अनन्तर=अतिशय निकट भाव से होना उसका क्रम है। मिट्टी के चूर्ण से पिण्डाकार होना, पिण्ड से घटाकार होना, यह धर्मपरिणाम है। और घड़ा बनने से पूर्व मिट्टी के पिण्ड में अनागतरूप में स्थित था, उसका वर्तमान रूप में घटाकार होना और फिर वर्तमान रूप से टूटकर अतीत रूप में हो गया है, यह लक्षण-परिणाम क्रम है। अतीत का फिर आगे क्रम नहीं होता, क्योंकि पूर्व-पर भाव होने पर ही क्रम होता है। और अवस्था-परिणाम क्रम इस प्रकार है—जो घड़ा अनागत (भविष्यत्) भाव से वर्तमान दशा में आया है, वह उस समय नवीन होता है, कालान्तर में वह पुराना हो जाता है। और कुछ दिनों के बाद और अधिक पुराना हो जाता है। यह नवीनता से पुरानापन एकदम नहीं हुआ, प्रत्युत धीरे-धीरे प्रतिक्षण परिणत होकर हुआ है। यह अवस्था-परिणाम का क्रम है। और ये तीनों परिणाम धर्म और धर्मी के भेद स्वीकार करने पर ही अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं। वास्तव में समस्त भौतिक जगत् प्रकृति का विकार है अतः प्रकृति ही धर्मी है, अन्य उसके धर्म हैं। पुनरपि व्यावहारिक दृष्टि से मिट्टी आदि को भी धर्मी मानकर औपचारिकरूप से धर्म-धर्मी भाव बताया गया है।

और व्यासभाष्य में भौतिक पदार्थों के त्रिविध-परिणाम बताकर उनसे भिन्न चित्त के परिगणन किया है। चित्त के परिदृष्ट (प्रत्यक्ष) और अपरिदृष्ट (परोक्ष) दो प्रकार के धर्म दिखाये हैं। परिदृष्ट धर्म प्रत्ययात्मक=ज्ञान कराने वाली प्रमाणादि चित्त की वृत्तियाँ प्रत्यक्ष हैं और अपरिदृष्ट धर्मों का ज्ञान अनुमानादि से होता है। प्राचीन आचार्यों ने अपरिदृष्ट धर्मों की संख्या सात बताई है, जो निम्न प्रकार से हैं—

(१) **निरोध**—असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर संस्कारमात्र शेष रहते हैं। चित्त के इस परिणाम को सामान्य-मनुष्य आप्त प्रमाण से जान सकते हैं।

(२) **धर्म**—धर्म तथा अधर्म का फल ही शुभाशुभ होता है। शुभाशुभ फल को देखकर धर्माधर्म का बोध होता है। धर्माऽधर्म के अनुष्ठान काल में

चित्त धर्मरूप अथवा अधर्मरूप हो जाता है। यह चित्त का धर्म परिणाम है। यहाँ धर्म शब्द से अधर्म का भी ग्रहण समझना चाहिये।

(३) **संस्कार**--जो कुछ पुरुष कर्म करता है, उसके संस्कार चित्त में स्थित होते हैं। उनमें प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार ये संस्कारों की चित्त में विभिन्न स्थितियाँ हैं, जो यो० २।४ में व्याख्यात हैं। इनमें जो संस्कार कार्यरत होता है, चित्त भी वैसा ही हो जाता है। यह चित्त का संस्कारपरिणाम है।

(४) **परिणाम**—चित्त प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक है। और 'चलं च गुणवृत्तम्' इसलिये चित्त प्रतिक्षण परिणत होता रहता है। कभी सत्त्वगुणप्रधान है तो दूसरे रजोगुण व तमोगुण अभिभूत रहते हैं, कभी रजोगुण प्रधान है तो सतोगुण तथा तमोगुण अभिभूत रहते हैं और जब चित्त तमोगुण प्रधान होता है, तो सत्त्व, व रजस् अभिभूत रहते हैं। जिस गुण की मुख्यता होती है उव समय चित्त तन्मय हो जाता है। यह परिणाम अनुमान से जाना जा सकता है।

(५) **जीवन**—इस शरीर को धारण का प्रयत्नविशेष चित्त के सहाय से चलता रहता है। कभी जीवन में उत्साह होता है, तो कभी निराशा, कभी शोक, दुःख, भयादि के कारण प्रयत्न में शिथिलता भी हो जाती है। यह जीवन को चलाने वाला प्रयत्नविशेष चित्त का परिणाम है। जो अनुमान से समझा जा सकता है।

(६) **चेष्टा**--शरीर के विभिन्न इन्द्रियादि प्रदेशों में जो भी शारीरिक चेष्टा होती है, उन सब में चित्त का सहयोग अत्यावश्यक है। चित्त के सम्पर्क के विना नेत्र देखता हुआ भी नहीं देखता, कान सुनता हुआ भी नहीं सुनता। यह चित्त का सम्पर्क भी अनुमानगम्य ही है।

(७) **शक्ति**--चित्त का एक शक्तिरूप परिणाम भी है। चित्त के सबल होने पर मनुष्य अधिक कार्य करता है और निर्बल या हतोत्साह दशा में नहीं। इससे चित्त के शक्ति के कारण हुए परिणाम का ज्ञान भी अनुमान से होता है॥ १५॥

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

व्यासभाष्यम्

[परिणामत्रयसंयमात्] धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम्। धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः। तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु संपादयति १६॥॥

भाष्यानुवाद— [परिणामत्रयसंयमात्] धर्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम में संयम करने से योगियों को अतीत और अनागत का ज्ञान हो जाता है। एक ही आलम्बन में किये गये धारणा, ध्यान और समाधि को संयम कहते हैं। इस कारण से धर्मादि तीनों परिणामों का साक्षात्कार किया जाता हुआ योगियों को ध्येयपदार्थों में अतीत=भूत और भविष्यत् काल का ज्ञान सम्पन्न कराता है।

सूत्रार्थ—(परिणामत्रयसंयमात्) धर्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम, और अवस्थापरिणाम में संयम करने से (अतीत=अनागतज्ञानम्) योगी को अतीत=भूत और अनागत=भविष्य का ज्ञान होता है।

भावार्थ—संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे तीनों कालों में धर्म, लक्षण, अवस्थापरिणाओं के अन्तर्गत आ जाते हैं। ऊपर तीनों परिणामों की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि अनागत (भविष्यत्) शक्ति के रूप में प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। जब योगी इन वस्तुओं के परिणामों में संयम करता है तो उन पदार्थों के अतीत परिणाम और भविष्यत् परिणाम को जान लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह वस्तु किन-किन परिणामों में से होकर वर्त्तमान में आई है, और कितना समय लगा है, इसके ज्ञान से योगी को उस वस्तु के भविष्य में होने वाले परिणामों का भी बोध हो जाता है॥ १६॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्॥ १७॥

व्यासभाष्यम्

[शब्दार्थप्रत्ययानाम्] तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती। श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्। पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति।

वर्णा एकसमयासंभवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याऽऽविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।

वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवाऽऽपन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति।

तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते। तदेकं पदमेकबुद्धिविषयमेकप्रयत्नक्षिप्तम-

भागमक्रमवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते।

तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभागः एतावतामेवंजातीयकोऽनुसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति। [इतरेतराध्यासात्संकरः] संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इति। एवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति। एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात् संकीर्णा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्। य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्।

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति। तथा न ह्यसाधना क्रियाऽस्तीति।

तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति। दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, जीवति प्राणान्धारयति। तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं वा कारकवाचकं वा। अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति।

[तत्प्रविभागः] तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः। तद्यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः, क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च। कस्मात्। सोऽयमित्यभिसंबन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेत इति।

यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः। स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः। एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथार्था शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः। एवं तत्प्रविभागसंयमाद्योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं संपद्यत इति॥ १७॥

भाष्यानुवाद—[शब्दार्थप्रत्ययानाम्] उनमें वाणी (वागिन्द्रिय) वर्णोच्चारण करने में ही सार्थक होती है। श्रोत्रेन्द्रिय ध्वनि के परिणाम-मात्र को ग्रहण करने वाली है और पद=नाद (वर्णात्मकध्वनियों) के उच्चारण के पश्चात् एकत्व ग्रहण कराने वाली बुद्धि से ग्रहण होता है। सब वर्णों का एक समय में उच्चारण करना सम्भव न होने से वे परस्पर निरनुग्रहात्मक=असम्बद्ध स्वभाव वाले होते हैं। वे वर्ण पदभाव का स्पर्श न करके (पद को उपस्थित न करके) प्रकट होते हैं और विनष्ट हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येक वर्ण अपदस्वरूप ही कहा जाता है। (यह वर्ण और पद का भेद मानकर कहा गया है। परन्तु दूसरी दृष्टि से) एक-एक वर्ण पद का आत्मा=पद के निर्माण में

उपादानरूप है, वह समस्त अभिधान=अर्थबोध कराने की शक्ति=योग्यता से युक्त है, दूसरे सहकारी वर्णों से पतियोगी=सम्बद्ध होने के कारण वैश्वरूप्य=विविधरूपता को प्राप्त होता हुआ सा (असंख्य पदरूप बनाहुआ) पूर्व वर्ण उत्तर=अगले वर्ण के साथ और उत्तर-वर्ण पूर्व-वर्ण के साथ विशेषरूप में अवस्थित होता है। इस प्रकार अनेकवर्ण क्रमानुसार=आनुपूर्वी की अपेक्षा रखने वाले अर्थ-संकेत से युक्त होते हैं। और इतने ये वर्ण समस्त अर्थबोध कराने की शक्ति से भरपूर हुए गकार, औकार और विसर्जनीय सास्नादिमान् अर्थ (पदार्थ=गाय नामक पशु) को प्रकाशित करते हैं।

जो इस प्रकार अर्थसंकेत से युक्त और ध्वनिगतक्रम से उपसंहृत=सहित वर्णों की बुद्धि में एक अभिव्यक्ति होती है, वह वाच्यार्थ का वाचक (अखण्ड-स्फोटरूप) पद नाम से संकेतित किया जाता है। वह पद एक होता है, एक बुद्धि का विषय होता है, एक प्रयत्न से प्रकट होता है, अखण्ड होता है, क्रमरहित होता है, अवर्ण=वर्णाकार से रहित होता है, बुद्धिनिष्ठ होता है, और अन्तिम वर्ण के ज्ञान के व्यापार से अभिव्यक्त होता है, और दूसरों को बताने की इच्छा से (वक्ता से) बोले जाने वाले और श्रोताओं से सुने जाने वाले वर्णों के द्वारा अनादिकालीन वाणी के व्यवहार की वासना से अनुविद्ध लोकबुद्धि से सिद्ध (नित्य) के सदृश प्रतीत होता है।

उस पद का संकेत-ज्ञान से प्रविभाग होता है अर्थात् इतने वर्णों का इस प्रकार का अनुसंहार=मिलन एक अर्थ का वाचक होता है। संकेत तो पद और पदार्थ का पारस्परिक अध्यारोप=अभिन्नाकार रूप स्मृति वाला होता है कि जो यह शब्द है, वही यह अर्थ है, और जो यह अर्थ है वही शब्द है। इस प्रकार पारस्परिक अध्यारोप वाले शब्द और अर्थ का संकेत होता है। और ये शब्द अर्थ और ज्ञान पारस्परिक अध्यास के कारण संकीर्ण=मिश्रित से हो जाते हैं। जैसे—'गौः' शब्द है, 'गौः' ही अर्थ है और 'गौः' ही ज्ञान है। जो इनके प्रविभाग को जानता है, वह सर्ववित्=समस्त (प्राणियों के) शब्दों का ज्ञाता हो जाता है।

(जैसे एक वर्ण सर्वाभिधान-शक्ति से युक्त होता है, वैसे ही) समस्त पदों में वाक्यार्थ को बोध कराने वाली शक्ति रहती है। जैसे—'वृक्षः' ऐसा कहने पर 'अस्ति=है' यह ज्ञान[1] होता है। क्योंकि कोई भी पदार्थ सत्ता=विद्य-

---

१. यही बात व्याकरणमहाभाष्य में कही है—'अस्ति भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति'। वर्त्तमानकाल तथा प्रथमपुरुष में 'अस्ति' का ज्ञान बिना प्रयोग के भी होता है।

मानता का उल्लंघन नहीं करता है। उसी प्रकार बिना कारक के क्रिया नहीं होती। और इसलिये ही 'पचति=पकाता है' यह कहने पर सभी कारकों का आक्षेप=प्राप्ति होती है। चैत्र नामक व्यक्ति क्रियाकर्त्ता, अग्नि पकाने की क्रिया में करण और चावल का कर्मरूप में कथन तो अर्थ का नियमन करने के लिये अनुवाद मात्र है। और पूरे वाक्य के लिये एक पद की रचना भी देखी जाती है। जैसे—'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' 'वेद का अध्ययन करता है' इस वाक्य अर्थ में 'श्रोत्रिय' पद का और 'प्राणान् धारयति=प्राणों को धारण करता है' इस वाक्य-अर्थ में 'जीवति' पद का प्रयोग होता है।

और उस वाक्य में पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये वाक्यगत पद का विभाग करके=ठीक से व्युत्पत्ति करके ही सिद्ध करना चाहिये कि वह पद क्रियाबोधक है अथवा कारकबोधक है। अन्यथा 'भवति' 'अश्वः' 'अजापयः' इत्यादि पदों में नाम तथा आख्यात का समान रूप होने के कारण क्रिया और कारक का विज्ञान न होने से कैसे व्याख्या कर सकें? क्योंकि उक्त उदाहरणों में प्रत्येक पद क्रियावाचक और कारकवाचक भी है। (जैसे—'घटो भवति' यहाँ 'भवति' क्रियावाचक है, 'भवति भिक्षां देहि' यहाँ 'भवति' नामवाचक है। 'त्वम् अश्वः'=तू गया या तूने श्वास लिया, यहाँ 'अश्वः' पद क्रियावाचक है, 'अश्वो धावति' घोड़ा दौड़ता है, यहाँ नामवाचक 'अश्वः' शब्द है। और इसी प्रकार 'त्वम् अजापयः शत्रून्' तू शत्रुओं को हरवाता है, यहाँ 'अजापयः' शब्द क्रियावाचक है। परन्तु त्वम् अजापयः पिब' तू बकरी का दूध पी, यहाँ नामवाचक है।)

[तत्प्रविभाग०] उन शब्द, अर्थ और ज्ञान का प्रविभाग दिखलाते हैं। जैसे—'श्वेतते प्रासादः=मकान सफेद हो रहा है' यहाँ 'श्वेतते' पद क्रियार्थक है। और 'श्वेतः प्रासादः'=मकान सफेद है' यहाँ 'श्वेतः' पद कारकार्थ का बोधक है। 'श्वेतते और श्वेतः' शब्दों का अर्थ क्रमशः क्रियारूप और कारकरूप है। और ज्ञान भी क्रियारूप और कारकरूप होता है। इसमें कारण यह है कि 'सोऽयम्' वह यही है' इस प्रकार के पारस्परिक एकाकार सम्बन्ध से संकेतकृत एकाकार ही ज्ञान होता है। जो यह 'श्वेत अर्थ' है, वह श्वेत शब्द तथा 'श्वेत-ज्ञान' का आलम्बनीभूत है। क्योंकि वह अर्थ अपनी अवस्थाओं से विकृत होता हुआ न तो शब्द के साथ संगत होता है और न ज्ञान के साथ संगत होता है। इसी प्रकार शब्द और ज्ञान एक दूसरे के साथ संगत नहीं होते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है, और ज्ञान भिन्न है, यह तीनों का विभाग=भेद है। इस प्रकार शब्दार्थ व ज्ञान तीनों के

प्रविभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों की बोली का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ—(शब्दार्थ-प्रत्ययानाम्) शब्द, अर्थ और प्रत्यय=ज्ञान के (इतरेतराध्यासात्) एक दूसरे के अध्यास से=एक के धर्म दूसरे में देखने से (संकरः) परस्पर मिश्रण होता है (तत्प्रविभागसंयमात्) शब्द, अर्थ व ज्ञान के प्रविभाग में संयम करने से (सर्वभूतरुतज्ञानम्) सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ—शब्द वाचक होता है, जिसे कण्ठादि से बोलते और कानों से सुनते हैं। अर्थ वाच्य होता है, जो शब्द के द्वारा जाना जाता है। और प्रत्यय=ज्ञान अर्थात् विषयाकार चित्त की वृत्ति का होना, जो शब्द और अर्थ दोनों को मिलाकर ज्ञान कराती है। ये तीनों शब्द अर्थ और ज्ञान परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं और अपनी-अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं। अर्थात् 'गौः' शब्द वक्ता की वागिन्द्रिय में है, गो शब्द का अर्थ सास्नादिमान् पशुविशेष गोशालादि स्थानों में रहता है और गो शब्द का ज्ञान मन में रहता है। परन्तु सामान्यजनों के निरन्तर अभ्यास के कारण ये तीनों मिले हुए प्रतीत होते हैं। व्यवहार में यह देखा भी जाता है कि जब हम किसी से कहते हैं कि गाय को चारा दे आओ, अथवा पानी पिलाओ, तो वह व्यक्ति तीनों को एकाकार समझकर कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। परन्तु ये ही वाक्य हम किसी विदेशी से, जो 'गो' शब्द के अर्थ को नहीं जानता, कहें वह तीनों (शब्द, अर्थ और ज्ञान) पर विचार करके प्रथम तीनों के भेद को जानने का प्रयत्न करेगा, फिर उसका व्यवहार कर सकेगा।

इस प्रकार व्यवहार में साधारण व्यक्ति शब्दार्थ तथा ज्ञान का सांकर्य बनाये रखता है—शब्द में अर्थ का, अर्थ में शब्द का, शब्द में ज्ञान का, ज्ञान में शब्द का, अर्थ में ज्ञान का, और ज्ञान में अर्थ का अध्यास=एकाकार करके इन तीनों का लोक में व्यवहार होता है। इस अभेद स्थिति को ही सूत्र में 'संकर' शब्द से कहा गया है। इसी प्रकार पशु-पक्षी जो शब्द बोलते हैं, उनमें शब्द अर्थ तथा ज्ञान तीनों होते हैं। किन्तु सामान्य-जन नहीं जान पाते। योगी पुरुष इन तीनों के पृथक्-पृथक् विभागों पर संयम करके एक समाधिजन्य (यो० ३।५) विशेष प्रज्ञा को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह मनुष्यों के शब्दों का ही नहीं, प्रत्युत सब प्राणियों के शब्द, अर्थ तथा ज्ञान से सूक्ष्म-विभाग को समझ लेता है और इस प्रकार सब प्राणियों की ध्वनियों को समझ लेता है।

इसके अतिरिक्त व्यास-भाष्य में स्फोटवाद=जिससे अर्थ स्फुट होता है का विस्तार से वर्णन किया है। अर्थात् वर्णों के मेल से पद और पदों के मेल से जो वाक्य बनते हैं, जिनसे हमें शब्द, अर्थ तथा उनसे ज्ञान होता है, उनके प्रविभाग पर भी विचार किया गया है। कहीं एक पद से ही पूरे अर्थ का बोध हो जाता है, कहीं एक पद पूरे वाक्य के अर्थ को बता देता है, कहीं एक ही शब्द क्रिया का बोधक है, परन्तु अन्यत्र नामवाचक है। इस प्रकार जैसे—मानवीय-भाषा में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विभागों का हमें ध्यान रखना पड़ता है, इसी प्रकार पशु-पक्षियों के शब्दों में भी विभाग को जानना पड़ेगा, तभी उनके शब्दों को समझा जा सकता है। व्यास-मुनि ने योगी के लिये ये वर्णस्फोट, पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट के उदाहरण देकर दूसरे प्राणियों की ध्वनियों को समझने में एक मार्ग-दर्शन किया है॥ १७॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

व्यासभाष्यम्

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः। तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि। भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च संतोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति। भगवाञ्जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं संतोषसुखमुक्तम् कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणस्त्रिगुणश्च

प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः। तृष्णादुःखसंतापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—ये संस्कार निश्चय से दो प्रकार के हैं—(१) एक स्मृति और अविद्यादि क्लेशों के कारणभूत वासनारूप संस्कार (२) और दूसरे सुख-दुःखरूप कर्मफल भोग के कारण रूप धर्माधर्म रूप संस्कार। ये (दोनों प्रकार के संस्कार) पूर्वजन्मों में सञ्चित हुए परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति जीवन, धर्म के समान चित्त अपरिदृष्ट धर्म हैं। इन संस्कारों में किया गया संयम इन संस्कारों के साक्षात्कार कराने के लिये समर्थ होता है। और इन संस्कारों का साक्षात्कार (उन पूर्वजन्मों के) देश=स्थान, काल तथा निमित्त के अनुभवों के विना नहीं होता। इस प्रकार संस्कारों के साक्षात्कार करने से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। और इसी प्रकार पर=भावी जन्म का भी संस्कारों का साक्षात्कार करने से ज्ञान हो जाता है।

इस विषय में यह आख्यान=ऋषियों का संवाद सुना जाता है—भगवान् जैगीषव्य को संस्कारों का साक्षात्कार करने से दश महासर्गों में हुए जन्म के परिणाम क्रम को जानते हुए विवेकजज्ञान प्रकट हुआ। इस के बाद जैगीषव्य को शरीरधारी भगवान् आवटच ने कहा—दशमहासर्गों में भव्य होने के कारण न दबाये जाने योग्य बुद्धिसत्त्व वाले तुमने नरक=अत्यन्त दुःखमय तथा तिर्यक्-योनि=पक्षी आदि योनियों के गर्भ से होने वाले दुःख को अनुभव करते हुए और देवों तथा मनुष्यों के रूप में बार बार उत्पन्न होते हुए सुख और दुःख में से किसका अधिक अनुभव किया? भगवान् आवटच को जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि—दश महासर्गों में भव्य होने के कारण न दबाये जाने योग्य बुद्धि-सत्त्व वाले मेरे द्वारा नारकीय तिर्यक् योनि में होने वाले दुःख को देखते हुए और देवों व मनुष्यों में बार-बार उत्पन्न होते हुए मैंने जो कुछ अनुभव किया, वह सब दुःख ही है, ऐसा मैं समझता हूँ। तत्पश्चात् भगवान् आवटच ने फिर पूछा—यह जो आयुष्मान् आप का प्रकृतिजय=पर स्वामित्वरूप अनुत्तम सन्तोष-सुख है क्या इसे भी आपने दुःख-पक्ष में ही रक्खा है? भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया—विषय-सुख की अपेक्षा से ही यह सन्तोषसुख अत्युत्तम कहा गया है, किन्तु कैवल्यसुख=मोक्षसुख की अपेक्षा से वह भी दुःख ही है। (क्योंकि) बुद्धिसत्त्व का यह धर्म (भी) त्रिगुणात्मक है और त्रिगुणात्मक ज्ञान हेय=त्याज्य दुःख की कोटि में रक्खा गया है। तृष्णातन्तु दुःखस्वरूप होता है, तृष्णारूप दुःखप्रवाह के दूर होने से यह (सन्तोषसुख) निर्मल,

निर्बाध, सर्वानुकूल सुख कहा गया है। (कैवल्य की दृष्टि से तो यह भी दुःख ही है।)

सूत्रार्थ—(संस्कारसाक्षात्करणात्) योगी को संयम के द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार होने से (पूर्वजातिज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ—जीवात्मा जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, उसके संस्कार चित्त-पटल पर अंकित होते हैं। और यह चित्त सूक्ष्मशरीर का एक घटक है जो जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों में साथ जाता है। सूक्ष्म शरीर के नाश से इस सूक्ष्म-शरीर का नाश नहीं होता है। जैसे—ग्रामोफोन के प्लेट के रिकार्ड होते हैं, वैसे ही जन्म-जन्मान्तर के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते रहते हैं। और वे संस्कार दो प्रकार के होते हैं—(१) एक स्मृति और अविद्यादि क्लेशों के कारण-भूत वासनारूप संस्कार और (२) दूसरे शुभाशुभकर्मों के संस्कार, जिनके परिणामस्वरूप जीवात्मा सुख-दुःख भोगता है। उन संस्कारों में संयम करने से योगी को उनका साक्षात्कार हो जाता है और वे संस्कार जिस देश, काल तथा निमित्त से बने हैं, वे सब योगी को स्मरण हो जाते हैं। यही पूर्वजन्म का ज्ञान है। अनेक अबोध बालक जिनके संस्कार अच्छे होते हैं, वे अपने पिछले जन्मों की बातें बता देते हैं और जैसे जैसे इस जन्म के संस्कारों का आवरण पड़ता जाता है, वैसे वैसे वे पूर्वजन्म की बातों को भूल जाते हैं। योगीपुरुष संयम के द्वारा उस आवरण को हटा देता है, जिससे वह चित्त-पटल पर अंकित संस्कारों को समझने में समर्थ हो जाता है। व्यासभाष्य में अगले जन्म के कारणभूत संस्कारों के जानने से भावी[1] जन्म के जानने की बात भी लिखी है, वह भी संस्कारों को जानने के कारण ही होता है। और यहां व्यासभाष्य में पूर्वजन्म को जानने के विषय में दो ऋषियों का प्राचीन संवाद भी दिया है, जिससे स्पष्ट है कि योगी संस्कारों के आश्रय से जन्म-जन्मान्तरों की बातों को जान लेता है॥ १८॥

---

१. कुछ व्याख्याकार व्यासभाष्य के 'परत्र' शब्द का 'दूसरे जीवों के संस्कार' अर्थ करते हैं और उनमें संयम करने से दूसरों के पूर्वजन्मों का भी ज्ञान हो जाता है। यह व्याख्या संगत नहीं कही जा सकती। यद्यपि अगले यो० ३।१६ सूत्र के अनुसार जब दूसरे के चित्त का ज्ञान सम्भव है तो चित्तस्थ संस्कारों का भी साक्षात्कार क्यों नहीं होता? इसका समाधान यो० ३।२० सूत्र में दिया गया है। अर्थात् योगी दूसरे के चित्त के आलम्बन=रागादि के आश्रयभूत स्त्री आदि को नहीं जान सकता। अतः परचित्त संस्कारों के देश, काल, निमित्त को न जानने से दूसरे के पूर्वजन्मों को नहीं जान सकता।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १६ ॥

व्यासभाष्यम्

[प्रत्ययस्य] प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद—[प्रत्ययस्य] प्रत्यय=दूसरे के ज्ञान में संयम करने से=ज्ञान के साक्षात्कार होने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—(प्रत्ययस्य) दूसरे के ज्ञान (चित्तवृत्ति) में संयम करने से (पर-चित्तज्ञानम्) योगी को दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—दूसरे मनुष्य की आकृति, चेष्टा, इङ्गित, नेत्र और मुख के विकारों को देखकर अबोध बालक तथा दूसरे सामान्य मनुष्य भी दूसरे के मन की बातों को जान लेते हैं। और योगी पुरुष दूसरे जीवों की आकृति आदि से दूसरे की रागादि युक्त चित्तवृत्ति को जान जाता है और उसमें संयम करने से परचित्त=दूसरे के चित्त को जान लेता है। यद्यपि सूत्र में 'प्रत्ययस्य' के साथ 'पर' शब्द नहीं है पुनरपि 'परचित्त ज्ञान' रूप फल से संयम करने वाले 'प्रत्यय' में 'पर' का सम्बन्ध जानना चाहिये ॥ १६ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२० ॥

व्यासभाष्यम्

रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। [तत्सालम्बनम्] परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नाऽऽलम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

भाष्यानुवाद—(पूर्वसूत्रोक्त परचित्त को जानने वाला योगी) रागयुक्त दूसरे के ज्ञान को जानता है। किन्तु वह अमुक आलम्बन में अनुरक्त है, यह नहीं जानता है। क्योंकि दूसरे के प्रत्यय=ज्ञान का जो आलम्बन आश्रय स्त्री आदि हैं, वह योगी के चित्त के आलम्बन का विषय नहीं बनाया गया है। दूसरे का प्रत्यय=बाह्य ज्ञान ही तो (संयम करने वाले) योगी के चित्त का आलम्बन=संयम का विषय होता है।

सूत्रार्थ—(च) और योगी (तस्य) परचित्त के (अविषयीभूतत्वात्) संयम

का विषय न होने के कारण (तत्सालम्बनम्) परचित्त को आलम्बन-सहित (न) साक्षात् नहीं करता है ।।

भावार्थ—योगी को ३।१८ सूत्र के अनुसार जैसे अपने चित्त के संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म के देश, काल, निमित्तादि का ज्ञान होता है, वैसे ही क्या परचित्त के संस्कारों के देशादि का ज्ञान हो जाता है ? इस आशंका का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। ३ । १९ सूत्र में जो परिचित्त के ज्ञान की बात कही है, वह केवल दूसरे की चित्तवृत्ति आदि को देखकर ही कही है। जिससे योगी इतना ही जान पाता है कि इसके चित्त की वृत्ति राग वाली, अथवा द्वेषवाली है। परन्तु राग अथवा द्वेष का आलम्बन कौन है, यह योगी को पता नहीं होता। योगो के संयम का विषय प्रत्यय=परचित्त का ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं। परचित्त किस देश, काल, तथा किस निमित्त से रागी है, अथवा विरक्त है, यह योगी के संयम का विषय नहीं है ।। २० ।।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशा-संयोगेऽन्तर्धानम् ।। २१ ।।

व्यासभाष्यम्

[कायरूपसंयमात्] कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिष्टभ्नाति । ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुष्प्रकाशासंप्रोगेऽऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ।।

भाष्यानुवाद—[कायरूपसंयमात्] देह के रूप में संयम करने से रूप की जो (नेत्रेन्द्रिय द्वारा) ग्रहण करने योग्य शक्ति है, उसको योगी रोक देता है। और रूपग्रहण करने की शक्ति के स्तम्भित होने पर नेत्रप्रकाश के प्रयोग न होने से योगी को 'अन्तर्धान' नामक सिद्धि होती है। इस रूपान्तर्धान की भांति शब्दादि का भी अन्तर्धान जानना चाहिये।

सूत्रार्थ—(कायरूपसंयमात्) शरीर के रूप में संयम करने से (तद्ग्राह्य-शक्तिस्तम्भे) रूप की ग्राह्य-शक्ति के रुक जाने पर (चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगे) नेत्र के प्रकाश का संयोग न होने पर (अन्तर्धानम्) योगी को 'अन्तर्धान=छिप जाना' नामक सिद्धि होती है।

भावार्थ—चक्षु रूप के ग्रहण करने में साधन है और रूप ग्राह्य है। चक्षु

ग्रौर रूप के संयोग होने पर देखने का कार्य होता है। ग्रौर ग्रहरण-शक्ति तथा ग्राह्यशक्ति दोनों में से एक शक्ति के रुक जाने पर देखने का कार्य नहीं हो सकता। योगी ग्रपने शरीर के रूप में संयम करके ग्राह्य-शक्ति को रोक देता है, इस कारण दूसरे द्रष्टा पुरुषों की ग्रहण-शक्ति नेत्रों के ठीक होने पर भी वे उस योगी के शरीर को नहीं देख सकते। यही योगी का ग्रन्तर्धान=छिप जाना है। यदि उस समय योगी के शरीर का स्पर्श किया जाय, तो त्वगिन्द्रिय से योगी की स्पष्ट प्रतीति होती है। ग्रौर कायरूप संयम की भांति योगी शब्द, स्पर्श, रस ग्रौर गन्ध, इन ग्राह्य-शक्तियों पर भी संयम कर सकता है। उस समय योगी को स्पर्श से भी नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार शब्दादि के विषय में भी जानना चाहिये ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

व्यासभाष्यम्

[सोपक्रमं निरुपक्रमम्] आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथाऽऽर्द्रं वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्।

[ग्ररिष्टेभ्यः] ग्ररिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च। तत्राऽऽध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाऽऽधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति, पितॄनतीतानकस्मात्पश्यति। तथाऽऽधिदैविकं स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वा पश्यति। विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद—[सोपक्रमंनिरुपक्रमञ्च] ग्रायुरूप फल देने वाला कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम ग्रौर निरुपक्रम। उनमें से सोपक्रम कर्म वैसे ही शीघ्र फल देने वाले होते हैं जैसे—गोला वस्त्र फैलाया हुग्रा थोड़े समय में ही सूख जाता है। ग्रौर जैसे—वही गीला वस्त्र लपेटा हुग्रा देर से सूखता है, वैसे

ही निरुपक्रम कर्म देर से फल देने वाले होते हैं। अथवा जैसे—अग्नि सूखे ईन्धन के समूह में डाला हुआ और चारों तरफ से वायु से युक्त होकर थोड़े समय में ही ईन्धन को जला देता है, वैसे ही शीघ्र फलदायक कर्म सोपक्रम होते हैं। और जैसे—वही अग्नि तिनकों के ढेर में क्रमशः अवयवों=थोड़े-थोड़े भागों पर डाली जाये तो देर से जलायेगी, वैसे ही निरुपक्रम कर्म विलम्ब से फल देने वाले होते हैं। वह एक जन्म में फल देने वाला आयु का निमित्त कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम। उसमें संयम करने से अपरान्त= मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

[अरिष्टेभ्यः[1]] अथवा अरिष्टों=विपरीत चिह्नों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। उनमें आध्यात्मिक अरिष्ट ये हैं कि अपने शरीर में कान बन्द करने पर घोष=शरीर के अन्दर होने वाले अनाहत नाद को नहीं सुनता है, अथवा आँखों को बन्द करने पर एक चमकीले प्रकाश को नहीं देखता है। उसी प्रकार आधिभौतिक अरिष्ट ये हैं—प्राणी यम-दूतों को देखता है अथवा अपने मृत-पितरों को देखता है। और आधिदैविक अरिष्ट ये हैं कि—अचानक स्वर्ग को या सिद्धों को देखता है अथवा सब कुछ उल्टा ही देखता है। इससे भी मृत्यु को उपस्थित जानता है।

सूत्रार्थ—(**सोपक्रमम्**) उपक्रमसहित=आरम्भ सहित=तीव्रवेगवाले (च) और (निरुपक्रमं कर्म) उपक्रमरहित=आरम्भरहित=मन्दवेग वाले दो प्रकार के कर्म होते हैं (तत्संयमात्) उन कर्मों में संयम करने से योगी को (अपरान्त-ज्ञानम्) मृत्यु का ज्ञान हो जाता है (वा) अथवा (अरिष्टेभ्यः) मरणसूचक अशुभ चिह्नों से मृत्यु का ज्ञान होता है।

भावार्थ—इस सूत्र में कर्म के दो विशेषण पढ़े गये हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। जिन कर्मों का फल शीघ्र मिलता है वे सोपक्रम और विलम्ब से फल देनेवाले कर्म निरुपक्रम कहलाते हैं। आयु इन कर्मों का ही फल होता है। व्यास-भाष्य में इन कर्मों के अन्तर को दो उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। जैसा—गीला वस्त्र निचोड़कर फैलाया जाये तो शीघ्र सूख जाता है और उसी वस्त्र को बिना फैलाये ही डाल दिया जाये तो देर से सूखता है। अथवा सूखे ईन्धन के ढेर में पड़ी अग्नि वायु के संयोग से शीघ्र जला देती है, और थोड़े-थोड़े ईन्धन को अथवा गीले ईन्धन को वायु के संयोग न होने पर

१. अरिष्ट=विपरीत मरणसूचक अशुभ चिह्नों का नाम है।

अग्नि विलम्ब से जलाती है। ऐसे ही आयुरूप फल देने वाले कर्म ऊपर बताये हैं। योगी इन कर्मों में संयम करके मृत्यु का ज्ञान कर लेता है। और योगी से भिन्न व्यक्ति भी मृत्यु चिह्नों (अरिष्टों) के द्वारा मृत्यु का ज्ञान कर लेते हैं। और व्यासभाष्य में आधिभौतिक अरिष्टों में यम-दूतों को देखना और मृत-पितरों को देखना लिखा है। इससे इन बातों को सत्य नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अरिष्ट का अभिप्राय ही विपरीत चिह्न प्रकट होना है। मृत्यु का समय आने पर जीवात्मा की शक्तियाँ धीरे-धीरे संकुचित होने लगती हैं और उस समय विक्षिप्त सी दशा होने से विपरीत ही कार्य दिखाई देते हैं। अतः इन विक्षिप्त दशा के कार्यों में विश्वास करना कदापि सत्य नहीं हो सकता॥ २२॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

व्यासभाष्यम्

[मैत्र्यादिषु] मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावनास्तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। भावनातः समाधिर्यः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति॥ २३॥

भाष्यानुवाद—[मैत्र्यादिषु] मैत्री, करुणा, मुदिता, ये तीन भावनायें हैं। योगी उनमें से सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करके मैत्री बल प्राप्त करता है। दुःखी प्राणियों में करुणा की भावना करके करुणाबल प्राप्त करता है। पुण्यात्माओं में मुदिता=प्रसन्नता की भावना करके मुदिता-बल प्राप्त करता है। भावना करने से जो समाधि हो, वह संयम है, उससे अवन्ध्यवीर्य=व्यर्थ न जाने वाले अदम्य मैत्र्यादि बल उत्पन्न होते हैं। (यो० १। ३३ सूत्र में चार भावनाओं में से यहाँ न कही गयी उपेक्षा के विषय में) पापियों के प्रति उपेक्षा होती है, भावना नहीं। अतः उसमें (उपेक्षा में) समाधि नहीं होती है। इसलिये उपेक्षा से बल प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि उसमें संयम का अभाव होता है।

सूत्रार्थ—(मैत्र्यादिषु) मैत्री आदि में संयम करने से (बलानि) योगी को मैत्री आदि शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—यद्यपि योगी के लिये यो० १। ३३ सूत्र में मैत्री, करुणा,

मुदिता और उपेक्षा, ये चार भावनायें बताई गई हैं। पुनरपि जिसकी उपेक्षा ही की जा रही है, उसमें संयम कैसे होगा? इस कारण से सूत्र में उपेक्षा भावना को छोड़ दिया है। योगी-पुरुष सुखी पुरुषों में मैत्री, दुःखी प्राणियों में करुणा और पुण्यात्माओं के प्रति मुदितभावना करने और तदनुरूप संयम से अदम्य शक्तिसम्पन्न हो जाता है। अर्थात् इन भावनाओं वाला व्यक्ति अकुतोभय होकर प्राणि-मात्र के हित की इच्छा से अलौकिक कार्यों के करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है॥ २३॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

व्यासभाष्यम्

हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति। वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि ॥ २४॥

भाष्यानुवाद—(योगी का) हाथी के बल में संयम करने से हाथी के जैसा बल हो जाता है। वैतनेय=गरुड़ के बल में संयम करने से योगी वैनतेय=गरुड़ के बल वाला हो जाता है। और वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बल वाला हो जाता है।

सूत्रार्थ—(बलेषु) योगी हस्ती आदि के बलों में संयम करके (हस्ति-बलादीनि) हाथी आदि के तुल्य बल को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—संयम की परिभाषा में धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों का एकत्र होना लिखा है। व्यासभाष्य तथा सूत्र में हाथी अथवा गरुड़ शब्दों के देखकर ऐसी आशंका होती है कि क्या योगी हाथी आदि के अन्दर प्रवेश करके इनके बलों में संयम करता है? किन्तु यह धारणा मिथ्या एवं शास्त्र-विरुद्ध है। क्योंकि योगी संयम बाह्य वस्तुओं में न करके अपने अन्दर ही करता है। संयम का स्वरूप भी ऐसा ही है। और व्यासभाष्य में हाथी आदि के साथ वायु का उदाहरण दिया है, जिससे स्पष्ट होता है कि यह बाह्य संयम नहीं है, प्रत्युत आन्तरिक ही है। क्योंकि सूत्र और भाष्यकार ने हाथी आदि में संयम न कहकर इनके बल=शक्ति में कहा है। शक्ति में संयम अन्दर ही किया जा सकता है। और ३। २५ सूत्र से भी यही स्पष्ट होता है कि योगी अन्दर के संयम से ही दूरस्थ, व्यवहित तथा सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान कर लेता है॥ २४॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥ २५ ॥

व्यासभाष्यम्

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद—योगदर्शन के (१।३६) सूत्र में मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही गयी है, उसमें जो आलोक=प्रकाश है, उसको योगी सूक्ष्म, व्यवहित=व्यवधान के कारण छिपे हुए, अथवा दूरस्थ पदार्थ पर फेंककर उस पदार्थ की जानकारी कर लेता है।

सूत्रार्थ—योगी को (प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक=प्रकाश का विन्यास=स्थापना करने से (सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्) संयम की हुई सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त, तथा दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ—यो० १।३५-३६ सूत्रों में मन को स्थिर करने वाली विषयवती और ज्योतिष्मती प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। इस सूत्र में दूसरी प्रवृत्ति ज्योतिष्मती के आलोक में संयम करने से सूक्ष्म इन्द्रियातीत पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, जिनका बाह्येन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता। इसी प्रकार व्यवधानयुक्त और दूरस्थ वस्तुओं का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से घटादि का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही ज्योतिष्मती के प्रकाश में सूक्ष्मादि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है॥ २५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

व्यासभाष्यम्

तत्प्रस्तारः सप्त लोकाः। तत्रवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येव भूर्लोकः मेरुपृष्ठादारभ्य—आध्रुवाद्ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः चतुर्थः प्रजापत्यो महर्लोकः त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्रजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

इति संग्रहश्लोकः।

तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिला-

काशतमः प्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्त्राः । यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते । ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि । भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि श्रृङ्गाणि । तत्र वदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः, श्वेतः पूर्वः, स्वच्छः पश्चिमः, कुरण्टकाभ उत्तरः । दक्षिणापश्वे चास्य जम्बूर्यतोऽयं जम्बूद्वीपः । तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिंदिवं लग्निमिव वर्तते । तस्य नीलश्वेतश्रृङ्गवन्त उदीचीनस्त्रयः पर्वता द्विसहस्त्रायामाः । तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसाहस्त्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्त्रायामाः । तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनव योजनसाहस्त्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति । सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वमाल्यवत्सीमानः प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः । मध्ये वर्षमिलावृत्तम् । तदेतद्योजनशतसाहस्त्रं सुमेरोर्दिशिदिशि तदर्धेन व्यूढम् ।

स खल्वयं शतसाहस्त्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः । ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलिगोमेधपुष्करद्वीपाः, समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः । सप्त समुद्रपरिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः । तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम् । अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाऽऽकाशे खद्योत इति ।

तत्र पाले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुर-गन्धर्व-किन्नरकिम्पुरुष-यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षस-कूष्माण्ड विनायकाः प्रतिवसन्ति । वर्षेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देव मनुष्याः । सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः, तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुभान समित्युद्यानानि, सुधर्मा देवसभा, सुदर्शनं पुरं वैजयन्तः प्रासादः, ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धावायु विक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपरि निविष्टा दिवि विपरिवर्त्तन्ते ।

माहेन्द्र निवासिनः षड्देवनिकायाः-त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति । सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगेनौपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः । महति लोक प्रजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः-कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनामाः प्रचिताभा इति । एते महाभूतवशिनो ध्यानहाराः कल्पसहस्त्रायुषः ।

प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका

ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति । ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुण-द्विगुणोत्तरायुधः । द्वितीये तपसि लोके त्रिविधोदेवनिकायः अभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणऽद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः । तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः ।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः । तेऽपि त्रैलोक्यमध्येप्रतितिष्ठन्ति । त एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतद् योगिना साक्षात्करणीयं सूर्मद्वारे संगमंकृत्वा ततोऽन्यत्रापि, एवं तावदभ्यसेद् यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद—उस का विस्तार सात लोक हैं । उनमें अवीचि=भूकेन्द्र से लेकर मेरुपर्वत के ऊपरी धरातल तक भूलोक है । मेरुपृष्ठ से लेकर ध्रुव तक ग्रहों, नक्षत्रों, और तारों से विचित्रित अन्तरिक्ष लोक है । उससे ऊपर पाञ्चप्रकार का स्वर्लोक है, जिनमें तीसरा लोक माहेन्द्र है । चौथा प्रजापति का महःलोक है । फिर आगे ब्रह्म के तीन लोक हैं, जैसे—जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक । इस लोकसप्तक का संग्रह श्लोक इस प्रकार है—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्रजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥

अर्थात् ब्रह्मलोक तीन भागों वाला, प्रजापति का महःलोक, महेन्द्र का स्वर्लोक कहा गया है, द्युलोक में तारे हैं अर्थात् तारे व नक्षत्रों वाला लोक द्युलोक है और भूलोक में प्रजाओं का स्थान है ।

उन सात लोकों में भूलोक का वर्णन इस प्रकार है—अवीचि=भूकेन्द्र के समीप स्थित छः महानरक भूमियाँ हैं, जो क्रमशः ठोस मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अन्धकार में स्थित और महाकाल अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, और अन्धतामिस्र नाम वाले हैं । जिनमें अपने कर्मों से उपार्जित दुःख का भोग करने वाले प्राणी दुःखप्रद लम्बी आयु में पड़कर उत्पन्न होते हैं । और फिर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल तलातल और पाताल, ये सात पाताललोक हैं । यह भूमि आठवीं है जो कि सात द्वीपों वाली वसुमती नामक भूमि है, जिसके मध्य में पर्वतों का राजा सुनहरा सुमेरु पर्वत स्थित है । उसके शृङ्ग=चोटियाँ चान्दी, वैदूर्यमणि, स्फटिकमणि और सोने से बनी हैं । उस सुमेरु पर्वत का दक्षिण आकाश भाग वैदूर्यमणि की चमक से नीलकमल

की पंखुड़ियों के समान श्यामवर्ण का है। पूर्व का आकाशीय भाग सफेद, पश्चिम का आकाशीय भाग निर्मल और उत्तर की ओर कुरण्टक नामक फूल की तरह सुनहरी कान्तिवाला है। और इस पर्वत के दक्षिण भाग में जम्बू है, जिससे यह जम्बूद्वीप कहलाता है। उस सुमेरु के चारों ओर सूर्यकिरणप्रसार से रात-दिन उसमें लगे हुए से लगते हैं। उस सुमेरु पर्वत के उत्तर की ओर स्थित नील, श्वेत, तथा शृंगवान् नामक तीन पर्वत हैं, जो दो हजार (योजन) आयाम= विस्तार वाले हैं। उन पर्वतों के बीच बीच में नौ नौ हजार योजन विस्तार वाले तीन वर्ष देश=रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरुनामक देश हैं। उसके दक्षिण में दो हजार योजन क्षेत्रफल वाले निषध, हेमकूट और हिमशैल नामक पर्वत हैं। उन पर्वतों के बीच बीच में नौ नौ हजार योजन क्षेत्रफल वाले हरिवर्ष[1], किम्पुरुष और भारत नामक तीन देश हैं। और उस सुमेरु पर्वत के पूर्व की ओर स्थित माल्यवान् पर्वत की सीमावाला भद्राश्व[2] नामक देश है, और पश्चिम में गन्धमादन पर्वत की सीमा वाला 'केतुमाल[3]' नामक देश है। और सुमेरु पर्वत के बीच में (पर्वत के ठीक नीचे) 'इलावृत[4]' नामक देश है। इस प्रकार यह जम्बूद्वीप सौ हजार योजन क्षेत्रफल वाला है और इसके आधे पचास हजार योजन क्षेत्रफल में चारों ओर की दिशाओं में सुमेरु पर्वत है (और पचास हजार योजन क्षेत्रफल में देश है।)

वह यह सौ हजार योजन क्षेत्रफल वाला **जम्बूद्वीप** है, जो अपने से दुगुणे विस्तार वाले मण्डलाकार लवणोदधि[5]=क्षार समुद्र से घिरा हुआ है। उस जम्बूद्वीप से दुगुणे परिणाम वाला **शाकद्वीप**[6], जो अपने से दुगुणे परिणाम

---

१. हरिवर्ष=चीन, किम्पुरुष=तिब्बत देशों के नाम हैं।

२. भद्राश्व=मंचूरिया देश का नाम है।

३. केतुमाल=रूस तुर्किस्तान का नाम है।

४. इलावृत=मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान।

५. लवणोदधि=साईबेरिया के नीचे कस्पीयन समुद्र। इक्षुरससमुद्र=बाल्टिक समुद्र पूर्व रशिय समुद्र ब्लेक समुद्र आदि। सुरासमुद्र=लालसमुद्र तथा शाल्मल और कुशद्वीप के मध्य का समुद्र। सर्पिः समुद्र=अटलांटिक समुद्र। दधिसमुद्र=ग्रीनलैण्ड और स्केण्डिनेविया के बीच का समुद्र। मण्डसमुद्र (लवणसमुद्र)=साईबेरिया के नीचे का समुद्र= कास्पियन समुद्र पश्चिम का समुद्र। क्षीरसमुद्र=पेसिफिक समुद्र। स्वादूदक समुद्र= दक्षिणी अटलांटिक समुद्र।

६. शाकद्वीप=उत्तरी मध्य अमेरीका और ग्रीनलैण्ड आदि। कुशद्वीप=दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका क्रौञ्चद्वीप=उत्तरी अफ्रिका योरोप। शाल्मलिद्वीप=पूर्वी अफ्रीका और लेम्बुरीया। मगधद्वीप=(गोमेधद्वीप)=दक्षिणी पूर्वी अरबिया एशिया माईनर। पुष्करदीप दक्षिण अमरीका।

वाले मण्डलाकार इक्षुरस-समुद्र से घिरा हुआ है। इस शाकद्वीप से दुगुणे परिणाम वाला **कुशद्वीप** है, जो अपने से दुगुणे परिणाम वाले मण्डलाकार मदिरा समुद्र से घिरा हुआ है। इस कुशद्वीप से दुगुणे क्षेत्रफल वाला **क्रौञ्चद्वीप** है, जो अपने से दुगुणे परिणाम वाले मण्डलाकार घृत-समुद्र से घिरा हुआ है। इस क्रौञ्चद्वीप से दुगुणे क्षेत्रफल वाला **शाल्मलिद्वीप** है, जो अपने से दुगुणे परिणाम वाले मण्डलाकार दधि-समुद्र से घिरा हुआ है। इस शालमलिद्वीप से दुगुणे क्षेत्रफल वाला **मगधद्वीप** (गोमेध) है, जो अपने से दुगुणे परिणाम वाले मण्डलाकार क्षीर-समुद्र से घिरा हुआ है। इस मगधद्वीप से दुगुणे क्षेत्रफल वाला **पुष्कर द्वीप** है, जो अपने से दुगुणे परिणाम वाले मण्डलाकार स्वादूदक-समुद्र से घिरा हुआ है। और ये द्वीप और समुद्र सर्षपराशि=सरसों की तरह विचित्र तथा पर्वतों से अलंकृत है। और ये द्वीप सात समुद्रों से घिरे हुए, कङ्कण की भाँति गोलाकार वाले, 'लोक-आलोक' नामक पर्वतों से परिवृत्त और पचास कोटि योजन परिमाण वाले हैं। इस प्रकार यह सब भूमण्डल सुप्रतिष्ठित है और ब्रह्माण्ड के बीच में स्थित है। और यह ब्रह्माण्ड प्रकृति का वैसा ही एक लघुतम भाग है, जैसे आकाश में खद्योत=जुगनू=(चमकने वाला छोटा पतंगकीट) होता है।

उनमें से पाताल में, समुद्र में और इन पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक नौ देवगण निवास करते हैं। और अन्य सब द्वीपों में देवता और मनुष्य पुण्यात्मा लोग रहते हैं। सुमेरु पर्वत देवताओं की उद्यान भूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ, और सुमानस, ये उपवन हैं। और वहाँ सुधर्मा नामक देवसभा, सुदर्शन नामक नगरी तथा वैजयन्त नामक महल है। और ग्रह, नक्षत्र और तारे तो ध्रुव में बंधे हुए से वायु-विक्षेप के नियम से प्रकटित गति वाले होकर सुमेरु पर्वत के ऊपर स्थित होकर अन्तरिक्षलोक में (द्वितीयलोक में) भ्रमण करते रहते हैं।

तृतीय माहेन्द्र नामक लोक में रहने वाले छः प्रकार के देवगण हैं—(१) त्रिदश, (२) अग्निष्वात्त, (३) याम्य, (४) तुषित, (५) अपरिनिर्मितवशवर्त्ती, (६) परिनिर्मितवशवर्त्ती। ये सभी देवगण सिद्धसंकल्प, अणिमादि ऐश्वर्यों से युक्त, कल्प तक जीने वाले, वृन्दारक नाम से कहे जाने वाले, काम और भोग के कारण स्वाभाविक शरीरवाले और उत्तम अप्सराओं से सेवा कराने वाले हैं।

चतुर्थ प्राजापत्य लोक में (महः नामक लोक में) पाञ्च प्रकार के देवगण

रहते हैं—(१) कुमुद, (२) ऋभु (३) प्रतर्दन, (४) अञ्जनाम और (५) प्रचिताभ। ये समस्त देवगण पञ्चमहाभूतों को वश में करने वाले, ध्यान-जन्य तृप्ति का आहार करने वाले और एक हजार कल्प पर्यन्त जीने वाले हैं।

पञ्चमलोक-ब्रह्मा के प्रथम जनलोक में चार प्रकार के देवगण हैं—(१) ब्रह्मपुरोहित, (२) ब्रह्मकायिक, (३) ब्रह्ममहाकायिक, (४) अमर। ये समस्त देवगण पञ्चमहाभूतों तथा इन्द्रियों को वश में किये हुए, और क्रमशः दुगुणी दुगुणी आयु वाले हैं अर्थात् दो सहस्र कल्पायु वाले ब्रह्म पुरोहित हैं, चार सहस्र कल्पायु वाले ब्रह्मकायिक हैं, आठ हजार कल्पायु वाले ब्रह्ममहाकायिक हैं, और सोलह हजार कल्पायु वाले अमरदेव हैं।

छठे लोक में—(ब्रह्मा के दूसरे) तपोलोक में तीन प्रकार के देवगण हैं—(१) अभास्वर, (२) महाभास्वर और (३) सत्यमहाभास्वर। ये समस्त देव पञ्चमहाभूतों, इन्द्रियों तथा प्रकृति को वश में करने वाले, क्रमशः दुगुणी दुगुणी आयु वाले अर्थात् अभास्वर बत्तीस हजार कल्प, महाभास्वर चौंसठ हजारकल्प और सत्यमहाभास्वर एक लाख अठाईस हजार कल्प पर्यन्त आयु वाले ध्यानाहार करने वाले, ऊर्ध्वरेता, उच्चस्तर का अखण्डज्ञान रखने वाले और नीचे के लोकों का भी यथार्थज्ञान रखने वाले हैं।

सप्तम लोक में—(ब्रह्मा के तीसरे) सत्य लोक में चार प्रकार के देवगण हैं—(१) अच्युत, (२) शुद्धनिवास, (३) सत्याभ, (४) संज्ञासंज्ञी। वे देव-गण किसी प्रकार के भवनादि की अपेक्षा न रखने वाले, अपने में प्रतिष्ठा वाले, ऊपर ऊपर ही रहने वाले, प्रकृति के स्वामी तथा कल्पपर्यन्त आयु वाले हैं। उनमें से अच्युत नामक देवगण सवितर्क समाधिजन्य सुख में मग्न रहने वाले हैं। शुद्धनिवास नामक देवगण सविचारसमाधिजन्य सुख में मग्न रहते हैं। सत्याभ नामक देवगण आनन्दानुगतसमाधिजन्य सुख में मग्न रहते हैं। और संज्ञा-संज्ञी नामक देवगण अस्मितानुगत समाधिजन्य सुख में मग्न रहते हैं। और वे सब देव तीनों लोकों के मध्य में स्थित रहते हैं।

वे ये सातलोक सभी ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। विदेह और प्रकृतिलीन तो मोक्ष में होते हैं इस लिये उन्हें लोकों के मध्य में नहीं रक्खा गया है। योगी को (इस समस्त भुवन का) सूर्य द्वार में संयम करके साक्षात्कार करना चाहिये। और योगी सूर्य से अन्यपदार्थों में भी इसी प्रकार के संयम का अभ्यास तब तक करता रहे, जब तक यह सब देख न लिया जाये।

सूत्रार्थ—योगी (सूर्ये) शरीरस्थ इडा नाड़ी में संयम करके (भुवनज्ञानम्) समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान कर सकता है।

भावार्थ—इस सूत्र में सूर्य में संयम करने से योगी को भुवनज्ञान होना लिखा है। परन्तु यह सूर्य बाह्य भौतिक नहीं है। प्रत्युत शरीरस्थ इडा नामक नाड़ी का ही नाम सूर्य है। इस विषय में यो० ३।२८ सूत्र का भावार्थ द्रष्टव्य है। वहाँ सप्रमाण इस विषय में लिखा गया है।

और व्यास-भाष्य में सात लोकों का पर्याप्त विस्तृत वर्णन किया गया है। यह सब सत्य है अथवा असत्य, यह कहना अतीव कठिन है। क्योंकि इसमें अधिकतर वर्णन अप्रसिद्ध है और जो प्रसिद्ध है वह तो सत्य प्रतीत होता है। किन्तु वह भी अनुसन्धान के योग्य है और योगी विशेषों से प्रकाश करने योग्य है। और इस भाष्य को देखने से ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि इसमें अर्वाचीन काल के लोगों ने काल्पनिक बातों का मिश्रण करने का अत्यधिक प्रयत्न किया है। उनमें से निम्नलिखित बातें पौराणिक काल की देन होने से सत्य नहीं कहीं जा सकतीं। जैसे—

(१) इसमें पृथिवी से ऊपर छः लोक (अन्तरिक्ष लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक) तथा नीचे चौदह लोक माने हैं, जिनमें सात नरक (अवीचि, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्ध-तामिस्र) और सात पाताल लोक हैं (महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल)। यह नीचे ऊपर का कथन भूगोल खगोल की विद्या से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि यह समस्त ब्रह्माण्ड सूर्य के चारों तरफ घूम रहा है और ऐसे-ऐसे सूर्य भी पता नहीं कितने हैं। यह हमारी पृथिवी ज्योतिष के अनुसार वर्ष भर में सूर्य के चारों तरफ घूम जाती है, इसी प्रकार दूसरे लोक-लोकान्तर भी हैं। जिसे यहाँ द्युलोक माना है, जिसमें तारे व नक्षत्र हैं, क्या वे पृथिवी के निचले भाग में रहने वालों को नहीं दिखाई देते ? जैसे हमारी अपेक्षा अमरीका भूमि के निचले भाग में है, तो ऊपर का द्युलोक अमरीका वालों क नहीं दीखना चाहिये। परन्तु ऐसा प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। और जब द्युलोक ऊपर मानते हो तो भूमि के निचले भाग में द्युलोक के सूर्यादि का प्रकाश नहीं पहुंचना चाहिये ? अथवा दूसरे सूर्य की कल्पना करनी होगी ? ऐसी विज्ञानविरुद्ध बातों को कोई आंखों से अन्धा बुद्धिहीन स्वीकार कर सकता है, दूसरे बुद्धिजीवी नहीं।

(२) पृथिवी के नीचे सात नरक और सात पातालों की बात भी काल्पनिक ही है। क्योंकि ये चौदह लोक नीचे ऊपर क्रमशः ही माने गये हैं। और इनके

मध्य में कुछ तो अवकाश होगा। फिर इतने विशाल क्षेत्र में फैले लोकों को आज के विज्ञान के युग में बैठा वैज्ञानिक न जान सके, यह कैसे सम्भव है ? और जो आज के वैज्ञानिक उपग्रहों को आकाश में छोड़ रहे हैं, जो पृथिवी के चारों तरफ तेजी से घूम रहे हैं, क्या उन्हें इन चौदह लोकों का ज्ञान नहीं हो सकता ? अथवा ये उपग्रह उन लोकों से टकराते क्यों नहीं ? यदि भूमि के नीचे हों तो अवश्य टकरायें, परन्तु भौतिक विज्ञान से अनभिज्ञ और भूगोल-खगोल की विद्या से शून्य लोगों ने ऐसी विद्या-विरोधी बातें लिखकर ऋषियों के ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिया, इससे बड़ा जघन्य-कृत्य क्या हो सकता है ?

(३) भूमि से नीचे सात नरकों की कल्पना और भी विचित्र की है। इन नरकों में महाकाल नरक मिट्टी पत्थरों वाला है, अम्बरीष नरक जलपूरित है, रौरव नरक अग्नि से पूर्ण है, महारौरव नरक वायु से भरा है, महासूत्र नरक अन्दर से खाली है (आकाशपूरित है), अन्धतामिस्र नरक अन्धकार से व्याप्त है। और इन नरकों में अपने दुष्कर्मों से अर्जित चिरकाल तक दुःख भोगने के लिये प्राणी जन्म लेते हैं। यह भी बुद्धि तथा विद्याहीनों की महा गप्प है। क्योंकि उन्होंने स्वर्ग-नरक शब्दों के शास्त्रीय अर्थों को न समझकर ऐसी मिथ्या बातें लिख दी हैं। जब कोई प्राणी मर जाता है, उसका भौतिक शरीर यहीं पञ्च-तत्त्वों में मिल जाता है, फिर इन नरकों में, जो जलमय, अग्निमयादि बताये हैं, वह शरीर के बिना कैसे दुःख भोग सकता है ? यह तो ऐसी ही कल्पना है कि जैसे—शरीरधारी को समुद्र में अथवा अग्निकुण्ड में फेंक दिया जाये और वह तड़फ तड़फकर मर जाये। परन्तु बिना शरीर के जीवात्मा को ये अग्नि आदि पदार्थ दुःख कैसे दे सकते हैं ? और यदि दुःख भोगने के ये नरक स्थान विशेष बना दिये हैं, तो इस पृथिवी पर जो मनुष्यों से भिन्न योनियाँ हैं वे क्या हैं ? क्या वे दुःख भोगने की योनियाँ नहीं हैं ? और मानव जीवन में ऐसे-ऐसे दुःख भोगते देखे जाते हैं, जिन्हें देखकर यही कहा जाता है कि यह अपने किसी दुष्कर्म का फलभोग रहा है। फिर भूलोक को भी नरकलोक क्यों नहीं माना गया ? इत्यादि अनेक आशंकायें इन मिथ्या मान्यताओं में उत्पन्न होती हैं, जिनका इन नरकों को मानने वाले पौराणिकों के पास कोई उत्तर नहीं है।

(४) और 'पाताले जलधौ पर्वतेष्वेषु देवनिकाया' अर्थात् समुद्रवर्त्ती पाताल के पर्वतों पर देवगण रहते हैं, जिनमें असुर, गन्धर्व, किन्नर, किं-पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, तथा विनायक गिनाये हैं। ये कैसे देव हैं, जिनमें राक्षस, पिशाच,

भूत तथा प्रेत भी सम्मिलित हैं ? इन सबको देव मानने पर दुष्कर्म करने वाले प्राणी का क्या नाम होगा ? क्या देव शब्द की कोई नई परिभाषा ही कर दी है ? और इसी व्यासभाष्य में खगोलवर्त्ती माहेन्द्रादि लोकों में देवों का निवास माना है, और पातालों में भी। क्या इनमें एक ही भांति के देव रहते हैं ? अथवा देवों की भी उत्तमाधम तथा मध्यमादि विभिन्न श्रेणियाँ हैं, जो लोकविशेषों में पृथक्-पृथक् रहना माना है ? और क्या देव भी मनुष्यों की भांति शरीरधारी होकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार इन विभिन्न लोकों में फल भोग रहे हैं ? फिर देव और मनुष्यों में अन्तर ही क्या है ?

(५) और पौराणिक जगत् में मृतकश्राद्ध में अग्निष्वात्तादि पितर माने गये हैं, जिन्हें यहाँ ऊपर माहेन्द्र लोक में माना है और भूत, प्रेतों का निवास पाताललोक में। क्या भूतप्रेतों से पितर भिन्न हैं ? अथवा इनकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं ? और भूत-प्रेतों का निवास पाताललोक में है, तो वे भूत-प्रेतों को मानने वाले इस पृथिवी पर-भूतप्रेतों का जाल क्यों फैलाते रहते हैं ? और वे भूलोक के प्राणियों को दु:ख देने के लिये क्यों आते हैं ? यथार्थ में ये सब मिथ्या कल्पनायें ही हैं। मरने के बाद जीवात्मा कर्मानुसार योनियों में ईश्वरीय व्यवस्था से चला जाता है, उनका श्राद्धादि के समय आना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। और भूत-प्रेत का अन्ध-विश्वास ही है, इसीलिये जो इन्हें मानते हैं, उन्हीं को ये सताते हैं, दूसरों को नहीं। इसलिये कि वे भूत-प्रेतों को मानने वालों को यह सिखाना चाहते हैं कि तुम भी इन मिथ्या बातों को छोड़कर सुख से रहो।

(६) और एक कल्प की आयु चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष मानी गई है और इतने ही वर्ष प्रलय के होते हैं। और यहाँ भूमि से ऊपर के लोकों में रहने वाले देवगणों की आयु एक कल्प से लेकर एक लाख अट्ठाईस हजार कल्प-पर्यन्त बतायी है। यह भी महागप्प है। इतनी लम्बी आयु कदापि किसी की सम्भव नहीं है। शास्त्रों के अधार पर मोक्ष का भी इतना समय नहीं है। और जब इन देवों को ऊर्ध्वरेता लिखा है, रेतस् का अर्थ वीर्य है, वीर्यादि धातुये शरीर में पैदा होती हैं।

और अप्सरायें जिनकी सेवा करने वाली मानी हैं, अणिमादि ऐश्वर्य वाले बताया है, तथा भवनों में निवास करने वाले माने गये हैं। इत्यादि बातों से ये देव शरीरधारी सिद्ध होते हैं। और कोई भी शरीरधारी इतनी लम्बी आयु का नहीं हो सकता।

इत्यादि बातों से स्पष्ट है कि यह सब परवर्त्ती प्रक्षेप है। महर्षि-व्यास

जैसे आप्तपुरुष ऐसी मिथ्या बातें कदापि नहीं लिख सकते। अन्यथा उनको आप्तपुरुष अथवा महर्षि शब्द से कहना मिथ्या है ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

व्यासभाष्यम्

चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराणां व्यूहं विजानीयात् ॥ २७ ॥

भाष्यानुवाद—चन्द्रमा में संयम करके ताराओं के व्यूह=स्थितिक्रम को जान सकता है।

सूत्रार्थ—(चन्द्रे) शरीरस्थ पिंगला नाड़ी में संयम करके (ताराव्यूहज्ञानम्) योगी ताराओं के व्यूह स्थितिक्रम (सन्निवेश) को जान सकता है।

भावार्थ—इस सूत्र के विषय में अगले सूत्र ३।२८ का भावार्थ द्रष्टव्य है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

व्यासभाष्यम्

ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात्। ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥ २८ ॥

भाष्यानुवाद—योगी फिर ध्रुव में संयम करके [तद्गतिज्ञानम्] ताराओं की गति को जान सकता है। ऊर्ध्व=ऊपर के विमान=विशेष मानयुक्त ग्रह-नक्षत्रों में संयम करके उन्हें जान सकता है।

सूत्रार्थ—(ध्रुवे) ध्रुव नाड़ी में संयम करके (तद्गतिज्ञानम्) ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

भावार्थ—इस सूत्र में 'तत्' शब्द से पूर्व-सूत्रोक्त 'तारा' का ग्रहण है। प्रायः व्याख्याकार 'ध्रुव' शब्द से ध्रुव तारे का ग्रहण करते हैं कि यह व्याख्या परस्पर विरोधी तथा मिथ्या होने से मान्य नहीं है। योग के प्रथम पाञ्च अंग वाह्य हैं और तीन अन्तरंग। जिससे स्पष्ट है कि संयम किसी बाह्यवस्तु में करना शास्त्र-विरुद्ध है। यो० ३।२५ से २७ तक सूत्रों में सूर्यादि शब्दों से आन्तरिक सूर्यादि का ही ग्रहण करना चाहिये। इस भौतिक शरीर में तीन

नाड़ियाँ हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इनमें से इडा जो शरीर के दक्षिण-भाग से शुरु होकर ऊपर उत्तरभाग तक जाती है, वह सूर्य है। और पिंगला जो शरीर के बायें भाग से प्रारम्भ होकर ऊपर दक्षिणभाग तक जाती है वह चन्द्र है और इन दोनों के मध्य खड़ी नाड़ी, जो रीढ़ की हड्डी से होकर गई है—ध्रुव कहलाती है। इनमें संयम करने से भुवन, नक्षत्र तथा उनकी गतियों का ज्ञान होता है। क्योंकि मनुष्य का शरीर ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप है। सुषुम्णा नाड़ी शरीर की मुख्य नाड़ी है और जितने सूर्यादि चक्र हैं, वे सब इसी में हैं। इसलिये इस नाड़ी में संयम करने से समस्त शरीर का ज्ञान हो जाता है और शरीर के ज्ञान से बाह्य ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। महर्षि-दयानन्द ने इस विषय में बहुत स्पष्ट कहा है—

(१) "इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है कि धारणादिक तीन अङ्ग आभ्यन्तर के हैं। सो हृदय में ही परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग-ज्ञान से ही योगी जानता है। बाहर के पदर्थों से किञ्चिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता, किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है और से नहीं। इस विषय में जो कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जानें। क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ (समा० २)
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (समा० ३)

जब योगी चित्तवृत्तियों का निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उसके चेतनस्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, अन्यत्र नहीं ॥

(दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह)

(२) उपनिषद् की साक्षी—

स ब्रूयाद् यावान् वा अयमाकाशस्तावादेषो ऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् इति ॥

(छान्दोग्योप० प्रपा० ८। खं० १। मं० ३)

इसकी व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

"हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा पृथिवी लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं" ॥

(ऋ० भू० उपासना०) ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

व्यासभाष्यम्

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि । पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः ॥ २९ ॥

भाष्यानुवाद--योगी नाभीचक्र में संयम करके कायव्यूह=शरीर के स्थितिक्रम का ज्ञान करे। (इस शरीर में) वात, पित्त और श्लेष्मा=कफ तीन दोष हैं। और त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, तथा शुक्र (वीर्य) ये सात धातुएँ हैं। इन धातुओं में पहले-पहले कही गई धातु (अपने से बाद में कही धातु की अपेक्षा से) बाह्य=बाहिरी है। यह इन के सन्निवेश का क्रम है।

सूत्रार्थ—योगी (नाभिचक्रे) नाभिचक्र में संयम करके (कायव्यूहज्ञानम्[1]) शरीर के व्यूह=स्थितिक्रम का ज्ञान करे।

भावार्थ—सूत्र के 'व्यूह' शब्द का अर्थ व्यासभाष्य में विन्यास (सन्निवेश) शब्द से स्पष्ट किया है। इस भौतिक शरीर में ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रारचक्र) से लेकर मूलाधार चक्र तक छः चक्र हैं। इनमें नाभिचक्र शरीर के मध्य में स्थित है। इस स्थान से पंखुड़ियों की भांति सब ओर नाड़ियाँ फैली होती हैं। इसलिये इसमें संयम करने से योगी को कायव्यूहज्ञान=शरीर के अवयवों के सन्निवेश का ज्ञान हो जाता है। इस कायव्यूह को समझाने के लिये व्यासभाष्य में वातादि दोषों और त्वचादि सात धातुओं के सन्निवेशक्रम को दिखाया है। वात, पित्त तथा कफ इनकी समता ही स्वास्थ्य तथा विषमता ही शरीर-सन्निवेश का ध्वस्त होना है। और त्वचादि को धातु इसलिये कहते हैं कि ये शरीर को धारण कर रही हैं। त्वचादि सात धातुओं में पहली-पहली धातुयें बाद वाली धातुओं की अपेक्षा बाह्य हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर में त्वचा सब से बाहर होती है। त्वचा के बाद अन्दर की ओर रक्त रहता है, जो त्वचा से भिन्न मांसादि की अपेक्षा बाह्य है। इन दोनों के बाद मांस रहता है, जो त्वचा व रक्त की अपेक्षा अन्दर परन्तु स्नायु आदि की अपेक्षा बाह्य है। इन तीनों से अन्दर की ओर स्नायु=नसें होती हैं, जो त्वचादि की अपेक्षा अन्दर, परन्तु अस्थि आदि की अपेक्षा बाह्य होती हैं। इन चारों से अन्दर की ओर

---

१. कायस्य शरीरस्य व्यूहस्य=अवयवादिसन्निवेशस्य ज्ञानम् कायव्यूहज्ञानम्।

अस्थि=हड्डियाँ होती हैं, जो त्वचादि की अपेक्षा अन्दर, परन्तु मज्जा व शुक्र की अपेक्षा बाह्य होती हैं। इन पाञ्चों से अन्दर की ओर मज्जा धातु है, जो शुक्र की अपेक्षा बाह्य है और सबसे भीतर वीर्य रहता है। यह त्वचादि सात धातुओं की शरीर में स्थिति है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

व्यासभाष्यम्

[कण्ठकूपे] जिह्वाया अधस्तात्तन्तुस्तन्तोरधस्तात्कण्ठस्ततोऽधस्तात्कूपस्तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

भाष्यानुवाद—[कण्ठकूपे] जिह्वा क नीचे सूत की भांति नस है, उसके नीचे कण्ठ है और कण्ठ के नीचे कूप=गर्त्तविशेष है, (उसे कण्ठकूप कहते हैं) उसमें संयम करने से भूख और प्यास योगी को बाधित नहीं करतीं अर्थात् सताती नहीं हैं।

सूत्रार्थ—(कण्ठकूपे[1]) कण्ठ-कूप में संयम करने से (क्षुत्पिपासानिवृत्तिः[2]) भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

भावार्थ—शरीर में कण्ठकूप कहाँ है? इसका उत्तर व्यासभाष्य में यह दिया—है जिह्वा (जीभ) के नीचे सूत के समान एक नस है, उसके नीचे कण्ठ है और कण्ठ के नीचे जो गर्त्ताकार स्थान है, वह कण्ठकूप है। योगी जब उस स्थान पर संयम करता है, तो उसकी भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि दश प्राणों में उदान नामक वायु कण्ठकूप में कार्य करता है। जो हम भोजनादि खाते हैं, उसको यही वायु आमाशय में पहुंचाता है और जब आमाशय खाली हो जाता है, तब उसकी भूख-प्यासरूप में अनुभूति यही उदानवायु करवाता है। इस कण्ठकूप में संयम करने से उदानवायु का कार्य रुक जाता है अर्थात् उसका स्पर्श कण्ठकूप में न होने से योगी को भूख-प्यास नहीं लगती और योगी जब तक संयम करने में समर्थ होता है, तब तक भूख-प्यास की चिन्ता से मुक्त रहता है ॥ ३० ॥

---

१. कण्ठे गले कूप इव कूपः=कण्ठकूपो गर्त्ताकार स्थानविशेषस्तस्मिन्।

२. क्षुच्च पिपासा चेति क्षुत्पिपासे, तयोर्निवृत्तिः।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

व्यासभाष्यम्

कूपादध उरसि कूर्माकारानाडी, तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते । यथा सर्पो गोधा चेति ॥ ३१ ॥

भाष्यानुवाद—कण्ठ-कूप से नीचे उरसि=छाती में कूर्माकार=कछुवे के आकार वाली एक नाडी है, उस कूर्मनाडी में संयम करने वाला योगी स्थिरता को प्राप्त कर लेता है, जैसे—सर्प=साँप और गोधा=गोह स्थिर हो जाते हैं।

सूत्रार्थ—(कूर्मनाड्याम्) कूर्म-नाडी में संयम करने से (स्थैर्यम्) योगी को स्थिरता प्राप्त होती है।

भावार्थ—कण्ठकूप से नीचे छाती में कूर्म=कछुवे के आकार वाली एक नाडी है, उसे कूर्म-नाडी कहते हैं। उसमें संयम करने से योगी को स्थिरता= अच्युतस्थिति प्राप्त होती है। और यह स्थिरता[1] शारीरिक ही होती है। इस बात को व्यास-भाष्य में सर्प तथा गोधा के उदाहरण से स्पष्ट किया है। जैसे—साँप या गोधा (गोह) स्वेच्छा से अपने शरीर को स्थिर कर लेते हैं अर्थात् सांप की स्थिरता बिल में प्रवेश करने पर देखी जा सकती है। बिल में प्रवेश करते हुए सर्प कितने भी बल के साथ खींचने से नहीं खींचा जा सकता। और गोधा का प्रयोग चोर दिवारों पर तथा युद्ध के समय किले आदि उन्नत स्थानों पर चढ़ने के लिये किया जाता है। गोधा के पैरों में मजबूत डोरी बांध-कर किले की दिवार पर फैंक देते हैं और फिर उस रस्सी के आश्रय से किले पर योद्धा लोग चढ़ जाते हैं। सर्प तथा गोधा की भाँति योगी पुरुष भी कूर्म-नाडी में संयम करने से शरीर को इतना स्थिर कर लेते हैं, कि जिससे कोई उनके शरीर को स्थानान्तरित अथवा इधर-उधर हिलाने में समर्थ नहीं होता ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

व्यासभाष्यम्

[मूर्धज्योतिषि] शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमं कृत्वा

---

१. कुछ व्याख्याकारों ने मानसिक स्थिरता भी मानी है। परन्तु व्यास-भाष्य के सर्प और गोधा के दृष्टान्त से असंगत होने से मानसिक स्थिरता मानना ठीक नहीं है।

[सिद्धदर्शनम्] सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३२ ॥

भाष्यानुवाद–[मूर्धज्योतिषि] सिर के कपाल के भीतर एक छिद्र अतिशय चमकीले प्रकाश वाला है [जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं] उसमें संयम करके योगी को [सिद्धदर्शनम्] द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में विचरने वाले पदार्थों का दर्शन=ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ—(मूर्धज्योतिषि) मूर्धा=मस्तिष्कस्थित ज्योति अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में संयम करने से (सिद्ध[1]-दर्शनम्) सिद्ध=द्युलोक और मध्य इधर-उधर गति करने वाले सूक्ष्म अदृश्य पदार्थों का दर्शन=साक्षात्कार हो जाता है।

भावार्थ—सिर में दोनों कपालों के बीच में एक ऐसा छिद्र=छोटा सा स्थान है, जो अतीव प्रबल प्रकाश वाला है, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इस मूर्धस्थ ज्योति को सूत्रकार ने मूर्धज्योति कहा है। इस स्थान पर संयम करने से सिद्ध=सूक्ष्म नित्य पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है। व्यासभाष्य में 'सिद्ध' शब्द की व्याख्या द्युलोक तथा पृथिवी लोक के मध्य में विचरने वालों से की है। व्याख्याकार जिसका अर्थ दिव्ययोनिविशेष के देवनिकाय करते हैं। किन्तु देव मनुष्यों के ही स्तर विशेष होते हैं, पृथक् योनिविशेष नहीं। इसलिए अन्तरिक्ष में विचरने वाली देवयोनि को मानना ठीक नहीं है। और कुछ व्याख्याकार इस मूर्धस्थ ज्योति को जीवात्म-ज्योति मानते हैं। क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार जीवात्मा का निवास इसी स्थान में है। परन्तु यह कथन योगशास्त्र की मान्यता से विरुद्ध होने से असंगत है। जीवात्मा जीवात्म-ज्योति में ही ध्यान या संयम करे, यह बुद्धिगम्य नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने जीवात्मा का स्थान दोनों स्तनों के मध्य नाभि से ऊपर माना है। एतदर्थ यो० ३। ३४ सूत्र पर टिप्पणी द्रष्टव्य है। अतः इस मूर्धज्योति में सत्त्वगुण का प्रकाश मानना संगत है। उसमें संयम करने से सूक्ष्म तथा अदृश्य प्राकृतिक पदार्थों का साक्षात्कार होना ही युक्तियुक्त तथा संगत लगता है।

देवों के विषय में व्यासभाष्य की साक्षी—

महर्षि व्यास देवों को मनुष्य-योनि का ही एक भाग मानते हैं, मनुष्यों से

---

१. पौराणिक भाष्यकार 'सिद्धदर्शन' का अभिप्राय देवयोनिविशेष लेते हैं। परन्तु यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि ऐसी देवयोनिविशेष=जो अन्तरिक्ष में निवास करती हो, कदापि सम्भव नहीं है। अतः 'सिद्धानां सूक्ष्मनित्यपदार्थानां दर्शनं साक्षात्कारः सिद्धदर्शनम्' ऐसी व्याख्या करनी ही ठीक है। सिद्ध शब्द 'सिद्धे-शब्दार्थसम्बन्धे' (महाभाष्ये) इस प्रमाण से नित्यपर्यायवाची है।

भिन्न कोई योनिविशेष नहीं, इस विषय में व्यास-भाष्य की अन्तःसाक्षी देखिये—

(क) "समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः।" (योग० ३।४४ भाष्य) अर्थात् देव और मनुष्य एक ही योनि के स्तर विशेष से भेद हैं। उसी के सामान्य रूप को मनुष्य तथा विशिष्ट (विद्यादि गुणों के कारण) स्तर वालों को देव कहते हैं। क्योंकि व्यासभाष्य में 'सामान्यविशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम्' कहकर उसी का स्पष्टीकरण देव-मनुष्य के उदाहरण से दिया है।

(ख) "तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात् कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्वामिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यतः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहाऽऽस्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः।" (यो० ३।५१ भाष्य)

अर्थात् योगसाधना में संलग्न मनुष्य जब मधुमती[1] भूमि के स्तर को प्राप्त कर लेता है और उसका अन्तःकरण अविद्यादि क्लेशों के क्षीण होने से शुद्ध हो जाता है, तब उस ब्रह्मवेत्ता योगी को भूमि आदि सम्पत्ति के स्वामी देव लोग अपने स्थानों पर निमन्त्रित करते हैं कि—भगवन्! यहाँ बैठिये, यहाँ रमण कीजिये, ये हमारे द्वारा प्रस्तुत भोग कामना करने योग्य हैं। इससे स्पष्ट है कि ये देव मनुष्यों में ही विशिष्ट-स्तर वाले होते हैं, मनुष्यों से भिन्न अन्तरिक्षलोक में विचरने वाली योनिविशेष नहीं। अन्यथा योगाभ्यासी को बुलाना, बिठाना तथा भोग्यवस्तुओं का भेंट करनादि बातें असंगत ही हो जायेंगी॥ ३२॥

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३॥

व्यासभाष्यम्

प्रातिभं नाम तारकं तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्। यथोदये प्रभा भास्करस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति॥ ३३॥

---

१. इसी ३।५१ सूत्रभाष्य में चार प्रकार के योगी परिगणित किये हैं। उनमें 'मधुभूमिक' द्वितीय श्रेणी के योगी होते हैं।

भाष्यानुवाद—[प्रातिभाद्[1]] प्रातिभज्ञान को तारकज्ञान कहा जाता है अर्थात् जो योगी को विवेकज्ञान होने से पूर्व बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होता है, वह विवेकज्ञान का पूर्वरूप होता है। जैसे—सूर्योदय होने पर उसका ज्ञापक चिह्न प्रभा होती है (वैसे ही विवेकख्याति से पूर्व प्रातिभ-ज्ञान होता है।) इस प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी सब कुछ[2] जान-लेता है ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—(वा) अथवा (प्रातिभात्) योगज प्रतिभा से उत्पन्न होने से बिना उपदेश के होने वाले ज्ञान से (सर्वम्) पूर्वोक्त समस्त सिद्धज-ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ—प्रातिभ-ज्ञान सूर्योदय के प्रथम ज्ञापक चिह्न प्रभा के समान है। योगी को जब विवेकज-ज्ञान होने लगता है, तब वह उसका प्रातिभज्ञान सूर्य-प्रभा के समान सर्वप्रकाशक होता है। और यह ज्ञान बाह्य निमित्त से न होने से आन्तरिकज्ञान कहलाता है। व्यास-भाष्य में प्रातिभज्ञान को 'तारकज्ञान' कहा है, जो योगी को उत्तरोत्तर योगमार्ग पर चलने पर बाधाओं अथवा भ्रान्तियों से पार करने के कारण तारकज्ञान कहलाता है। सूत्र में 'सर्वम्' शब्द सापेक्ष है, जिसका तात्पर्य पूर्वोक्त विभूतियों से है। प्रातिभ-ज्ञान से पूर्वकथित एक-एक स्थान पर किये गये संयम से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब योगी को प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

व्यासभाष्यम्

[हृदये] यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमाच्चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

---

१. यहाँ 'प्रातिभ' की व्याख्या 'तारक' शब्द से की है। और 'तारक' की व्याख्या ३। ५४ सूत्र के भाष्य में यह की है—तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः।' और तारकम् का अर्थ है—'तारयति दुःखमग्नान् जनान्।'

२. सब कुछ जानने का आशय यही है कि जो ऊपर संयम करने की सिद्धियां बताई हैं, उन सब को योगी प्रातिभज्ञान से जान लेता है। सूत्र में तथा भाष्य में 'वा' शब्द विकल्प का द्योतक है।

भाष्यानुवाद—[हृदये] इस शरीर में जो यह ब्रह्मपुर=ब्रह्म नगर में गुप्त कमल-गृह है, उसमें विज्ञान=चित्त की स्मरणात्मक वृत्ति है, उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ—[हृदये] हृदय स्थान में संयम करने से (चित्तसंवित्) चित्त का ज्ञान हो जाता है अर्थात् चित्त का क्या स्वरूप है, उसकी कैसी-कैसी प्रवृत्तियाँ हैं, इत्यादि बोध योगी को हृदय में संयम करने से हो जाता है।

भावार्थ—चित्त को अन्तःकरण कहते हैं। और जीवात्मा जो कुछ करने की इच्छा करता है, वह इस अन्तःकरण के द्वारा ही करता है। जीवात्मा का यह साधन चित्त परिच्छिन्न जीवात्मा के समीप ही रहता है। इसीलिये शास्त्रों की यह मान्यता है कि चित्त सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है और जीवात्मा सूक्ष्म-शरीर से परिवेष्टित रहता है। अतः जीवात्मा तथा चित्त दोनों का निवास स्थान शरीर में हृदय है। इस हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् चित्त में समस्त कर्माशय तथा वासनायें रहती हैं।

---

१. व्यासभाष्य के समान छान्दोग्योपनिषद् प्रपा० ८ में निम्न पाठ मिलता है—

"यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म०" ॥

इसकी व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा............खोज करने से मिल जाता है" । (ऋ० भू० उपासना०)

इस में हृदय के स्थान का बहुत ही स्पष्ट उल्लेख हुआ है। पुनरपि कुछ विद्वान् मस्तिष्क में हृदय मानते हैं, उनकी मान्यता प्रमाणहीन होने से मिथ्या है। और वेदान्त-दर्शन में इसी तथ्य की पुष्टि की है—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्। तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥

(वेदान्त० १।३।२५, २६)

अर्थात् परमेश्वर की उपासना हृदय में करनी चाहिये। और बादरायण के मत से हृदय मस्तिष्क में हो, तो उससे ऊपर उपासना कहाँ होगी? और योग० ३।३२ तथा ३।३४ सूत्रों से भी स्पष्ट है कि मूर्धज्योति और हृदय के पृथक्-पृथक् स्थान हैं। जिससे स्पष्ट है कि महर्षि-दयानन्द की हृदय की व्याख्या सत्य है। अन्यथा दोनों को पृथक्-पृथक् कहना निरर्थक हो जाता है। व्यासमुनि ने भी यो० ३।१ सूत्रभाष्य में हृदयपुण्डरीक को मूर्धज्योति (ब्रह्मरन्ध्र) से पृथक् माना है। अतः महर्षि पतञ्जलि, महर्षि व्यास और महर्षि-दयानन्द, तीनों की एक मान्यता है। फिर इन ऋषियों से विरुद्ध अनुभवहीन व्यक्तियों की मान्यता सत्य कैसे हो सकती है?

जिनसे अनुरूप जीवात्मा कार्य करता है। योगी को इन चित्तस्थ वासनाओं का, चाहे वे प्रसुप्तरूप हों, अर्थात् कार्यरत न हों अथवा अवसर (निमित्त) पाकर जाग्रत होने वाली हों, सबका ज्ञान हो जाता है।

परन्तु इस भौतिक शरीर में यह हृदय-स्थान कहाँ है? यह विद्वानों में विवादास्पद है। कुछ विद्वान् मस्तिष्क में हृदय-स्थान मानते हैं, और कुछ रक्त-शोधक यन्त्र से भिन्न दोनों स्तनों के मध्य और उदर से ऊपर जो गर्त्ताकार स्थान है, उसे हृदय-स्थान मानते हैं। यद्यपि इसका निर्णय योगीजन ही कर सकते हैं, क्योंकि वे साक्षात्-द्रष्टा होते हैं। इसीलिये हमारे समक्ष वर्त्तमान समय के योगिराज महर्षि-दयानन्द का लेख परम-प्रमाण है, जो पादटिप्पणी में द्रष्टव्य है। जिससे सुगम्य स्पष्टीकरण दूसरा नहीं हो सकता। परन्तु शास्त्रों के सम्यगालोचन से भी निष्पक्ष विद्वान् निर्णय कर सकते हैं।

योगदर्शनकार ने मूर्धज्योति तथा हृदय स्थान को भिन्न भिन्न मानकर (३।३२ और ३।३४ में) संयमजन्य सिद्धियों को माना है। और व्यासमुनि ने मूर्धज्योति को शिर के कपालों के मध्य स्पष्ट किया है। यदि वह आत्मा का स्थान होता हो उसमें संयम करने से हृदयस्थ चित्त का ज्ञान माना है। पुनरपि हृदय-स्थान कहाँ है? इसकी व्याख्या में व्यासमुनि से मूर्धज्योति की भांति शिर में हृदय को नहीं माना है। अपितु 'हृदय' की व्याख्या में 'ब्रह्मपुरं दहरं पुण्डरीकं वेश्म' शब्द लिखे हैं। यदि यह हृदय शिर में ही होता तो व्यासमुनि मूर्धज्योति की भांति इसका भी निर्देश अवश्य करते। और हृदय और मूर्धज्योति एक ही स्थान पर होते तो सूत्रकार तथा भाष्यकार भिन्न-भिन्न निर्देश क्यों करते। और यदि शिर में ही दो भिन्न-भिन्न स्थान मानकर व्याख्या की जाये, तो भी संगत नहीं है। क्योंकि जीवात्मा भिन्न स्थान पर रहे, और चित्त भिन्न स्थान पर रहे, तो जीवात्मा चित्त से कार्य कैसे कर सके? और जीवात्मा सूक्ष्म-शरीर से परिवेष्टित रहता है, यह मान्यता भी इस पक्ष में मिथ्या हो जाती है। अतः सूत्रकार और भाष्यकार के भिन्न-भिन्न स्थान निर्देश से स्पष्ट है कि हृदय-स्थान शिर से भिन्न स्थान पर है, जो द्वितीय पक्ष की पुष्टि करता है।

और ऋषि का अभिप्राय साक्षाद्-दर्शन से होता है। इन साक्षाद्-द्रष्टा ऋषियों की बातों में विरोध मानना इन्हें ऋषि पद से च्युत ही करना है। इस ऋषि पद के अनुसार पतञ्जलि, व्यास और दयानन्द तीनों की हृदय की व्याख्या अभिन्न प्रतीत हो रही है। साथ ही पाद-टिप्पणी में दिये वेदान्त-सूत्रों १।३।२५–२६ से भी इस पक्ष की पुष्टि हो रही है। क्योंकि वेदान्त-दर्शन

में ईश्वर की उपासना हृदय-स्थान में मानकर उससे ऊपर भी मानी है। यदि हृदय का स्थान उदर से ऊपर न मानकर मस्तिष्क में माना जाये, तो उससे ऊपर ग्रौर कौनसा प्रदेश उपासना स्थल हो सकता है ? ग्रत: वेदान्त-दर्शन में भी शिर से भिन्न हृदय-स्थान माना है। क्योंकि हृदय-स्थान-सम्बन्धी विषय सूक्ष्म है, सर्वसामान्य इसको नहीं जान सकते, इसलिये ऋषियों तथा ऋषियों के बनाये शास्त्रों के ग्रनुसार विवादास्पद विषय का निर्णय करना उचित है।

ग्रौर व्यासभाष्य में 'हृदय' शब्द से किस स्थान का ग्रहण होता है, इस विषय में एक उद्धरण ग्रौर देखिये—'प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः'। (योग० भा० ३। ३९) ग्रर्थात् प्राणवायु मुख व नासिका से लेकर हृदय तक गति करता है। ग्रौर यह हृदय मस्तिष्कगत कदापि नहीं हो सकता। यदि विपक्षी यह कहे कि यहाँ तो रक्तशोधक यन्त्र को हृदय कहा है, तो उसका यह कथन संगत नहीं है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष-गम्य होने से सन्देहास्पद नहीं है, ग्रौर एक ही शास्त्रकार ऋषि इस प्रकार एक ही शब्द का प्रयोग विभिन्न ग्रर्थों में कैसे करेगा ? ग्रौर ऋषि सन्दिग्ध बातों का उल्लेख न करके सदा सरल व सुबोध बातों को ही लिखते हैं॥ ३४॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

व्यासभाष्यम्

बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्व-पुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्। तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात्। स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद्दृश्यः।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुष-विषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते, पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम्—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" [बृ० २। ४। १४] इति॥ ३५॥

भाष्यानुवाद—बुद्धिगत सतोगुण प्रख्याशील=प्रकाश स्वभाववाला है, वह

समानरूप से अविनाभावी[1] सम्बन्ध से साथ रहने वाले रजोगुण तथा तमोगुण को वश में करके=उनका अभिभव करके सत्त्व=बुद्धि और पुरुष की भिन्नता के रूप में (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति दशा में) परिणत=परिवर्तित हो जाता है। और पुरुष=चेतनात्मा उस परिणामी सतोगुण से अत्यन्त विपरीतधर्म वाला, शुद्धस्वरूप, भिन्न, चैतन्य मात्रस्वरूप वाला है। इस प्रकार अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष का प्रत्याविशेष=अभिन्नरूप से प्रतीति होना ही **भोग** है। इसका कारण यह है कि बुद्धि द्वारा पुरुष को विषयों का दर्शन कराया जाता है (अतः दोनों की एकाकार प्रतीति होती है।) और वह भोग की प्रतीति बुद्धि के परार्थता के कारण पुरुष के लिये दृश्य बनती है।

परन्तु जो उस बुद्धिवस्तु से भिन्न चैतन्य मात्र स्परूप वाला पुरुषत्व-ज्ञान है, उसमें संयम करने से पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है। और उस बुद्धिनिष्ठ पुरुष-विषयक ज्ञान से पुरुष (चेतनात्मा) का ज्ञान नहीं होता। पुरुष स्वयं ही उस शुद्ध पुरुष के ज्ञान को स्वात्मा में आश्रित देखता है। (क्योंकि बुद्धि तो उस ज्ञान तक पहुंचाकर निवृत्त हो जाती है) ऐसा कहा भी है—अरे उस विज्ञाता=ज्ञान के कर्त्ता को किस साधन से जाना जा सकता है।

सूत्रार्थ—(अत्यन्तासङ्कीर्णयोः) जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं उन (सत्त्व-पुरुषयोः) चित्त और पुरुष की (प्रत्ययाविशेषो भोगः) अभेद प्रतीति का होना भोग कहलाता हैं। (परार्थत्वात्) क्योंकि वह भोग प्रतीति परार्थ=पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली है। और (स्वार्थ-संयमात्) भोगप्रतीति से भिन्न अपने पुरुष-विषयक ज्ञान में संयम करने से (पुरुषज्ञानम्) पुरुष=जीवात्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

भावार्थ—यहाँ 'सत्त्व' शब्द का आशय चित्त की सतोगुणप्रधान बुद्धि-वृत्ति से है। व्यासभाष्य में उसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—यद्यपि चित्त त्रिगुणात्मक है, परन्तु जब रजोगुण व तमोगुण को दबाकर सतोगुण की मुख्यता होती है तो वह चित्त प्रख्याशील=प्रकाशशील होने से 'सत्त्व' कहलाता है। यह सत्त्व पुरुष से सर्वथा भिन्न है। पुरुष चेतन है तो सत्त्व अचेतन है, पुरुष अपरिणामी है तो सत्त्व परिणामी, और पुरुष शुद्ध है, तो सत्त्व रजोगुणादि से युक्त होने से शुद्ध नहीं है। परन्तु पुरुष को बाह्य सुख-दुःख का भोग सत्त्व के आश्रय से ही होता है। नेत्रादि इन्द्रियों से गृहीत बाह्यविषय जैसा सत्त्व

---

१. अविनाभावी-सम्बन्ध का आशय यह है कि जिनके बिना सतोगुण न रह सके। अर्थात् सतोगुण के साथ रजोगुणादि अवश्य रहते हैं। केवल उनका अभिभव ही होता है।

(बुद्धि) में भासित होता है, पुरुष को वैसी ही प्रतीति होती है। बाह्यविषयों के आश्रय से सत्त्व की जैसी शान्त, घोर अथवा मूढ वृत्ति होती है, पुरुष भी वैसा ही अनुभव करता है। यह सत्त्व पुरुष का प्रत्ययविशेष=दोनों की एकाकार प्रतीति ही भोग कहलाती है। इस प्रतीति में भोग के साधन सत्त्वादि हैं, भोग्य विषय हैं और भोक्ता पुरुष है। पुरुष को भोग कराने में सत्त्ववृत्ति साधन होने से 'परार्थ' कहलाती है।

और इस सत्त्व से सर्वथा भिन्न पुरुष में जब सत्त्ववृत्ति में भासित कोई बाह्यविषय प्रतिभासित नहीं होता, तब पुरुष शुद्ध चेतनस्वरूप होता है। उस अपने स्वरूप में संयम करने से योगी को अपने पुरुष=आत्मतत्त्व का बोध अथवा साक्षात्कार होता है। उस समय सत्त्ववृत्ति सर्वथा निवृत्त हो जाती है। क्योंकि सत्त्ववृत्ति से सम्बद्ध रहते हुए पुरुष को बोध नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

व्यासभाष्यम्

प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्। श्रावणाद्दिव्यशब्दश्रवणम्। वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः। आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित्। आस्वादाद्दिव्यरससंवित्। वार्त्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

भाष्यानुवाद—प्रातिभ सिद्धि से सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त दूरस्थ, अतीत और अनागत (भविष्य) का ज्ञान होता है। श्रावणसिद्धि से दिव्य शब्दों का श्रवण, वेदना-सिद्धि से दिव्यस्पर्श की प्राप्ति आदर्श सिद्धि से दिव्यरूप की अनुभूति, आस्वाद-सिद्धि से दिव्यरस की अनुभूति और वार्तासिद्धि[1] से दिव्यगन्ध का विज्ञान होता है। ये दिव्य अनुभूतियाँ योगी को (प्रातिभादि की सिद्धि होने पर) नित्य होती हैं।

सूत्रार्थ—(ततः) उस स्वार्थ-संयम=अपने चेतन स्वरूप में संयम करने से योगी को (प्रातिभ-श्रावण-वेदनादर्शास्वादवार्त्ताः) प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्त्ता, ये छः सिद्धियाँ (जायन्ते) प्रकट हो जाती हैं।

भावार्थ—इससे प्रथम सूत्र में स्वार्थ-संयम से पुरुष-ज्ञान=आत्मतत्त्व का बोध बताया है। और इस सूत्र में स्वार्थ-संयम से प्रातिभादि अन्यसिद्धियाँ बतायी गई हैं। और यो० ३।३७ सूत्र से स्पष्ट है कि ये सिद्धियाँ समाधि

१. वृत्ति=वर्त्तते गन्धविषय इति वृत्तिः, तत्प्रभवा सिद्धिर्वार्त्ता।

में विघ्न हैं और व्युत्थानकाल में ही इन्हें सिद्धियाँ कहा जाता है। अतः ये सिद्धियाँ पुरुषज्ञान से पूर्व की हैं। इन सिद्धियों का स्वरूप व्यासभाष्य के अनुसार इस प्रकार है—

१. **प्रातिभ**—मन में सूक्ष्म=अतीन्द्रिय व्यवहित=किसी व्यवधान से छिपी हुई, विप्रकृष्ट=दूरस्थ, अतीत=बीते समय की और अनागत=भविष्य में होने वाली वस्तुओं को जानने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है।

श्रावण—श्रवणेन्द्रिय में दिव्यश्रवण का सामर्थ्य प्रकट होना अर्थात् सूक्ष्म, दूरस्थादि ध्वनियों को सुनने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

वेदन—त्वचा इन्द्रिय में दिव्यस्पर्श की प्राप्ति करना अर्थात् सूक्ष्म, व्यवहितादि स्पर्श को अनुभव करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वेद्यतेऽनयेति वेदनम्, जिससे प्रतीति की जाये उसे वेदन कहते हैं।

आदर्श—'आ समन्ताद् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार नेत्रेन्द्रिय में दिव्यरूप को देखने की शक्ति प्राप्ति करना अर्थात् सूक्ष्म, व्यवहित अथवा दूरस्थ रूप को देखने का सामर्थ्य प्रकट हो जाता है।

आस्वाद—रसनेन्द्रिय में दिव्यरस का ज्ञान प्रकट होना अर्थात् सूक्ष्म, व्यवहितादि रस के आस्वादन का सामर्थ्य प्राप्त करना।

वार्त्ता—घ्राणेन्द्रिय में दिव्यगन्ध जानने का सामर्थ्य प्राप्त करना अर्थात् सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थादि गन्धों को जानने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

योगाभ्यासी पुरुष को ये सिद्धियाँ प्रतिदिन होती रहती हैं, अतः योगी को इनसे सावधान तथा अप्रमत्त प्रतिक्षण रहना चाहिये। क्योंकि ये योगी के पतन का कारण भी बन सकती हैं। विषयों की यह प्रबल अनुभूति विषयों में आसक्ति का कारण भी बन सकती है। इस विषय में मनु ने स्पष्ट कहा है—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' अर्थात् बलवती इन्द्रियाँ विद्वान् पुरुष को भी आकृष्ट कर लेती हैं॥ ३६॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

व्यासभाष्यम्

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वा त्। व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः॥ ३७॥

भाष्यानुवाद—वे पूर्व-सूत्रोक्त प्रातिभ, श्रावणादि सिद्धियाँ समाहित=

स्थिर चित्तवाले योगी के लिये तो उत्पन्न होने वाले उपसर्ग=अन्तराय (विघ्न) हैं। क्योंकि ये दर्शन=विवेकख्याति की प्राप्ति में प्रत्यनीक=विरोधी हैं। और जो व्युत्थित चित्तवाले=अस्थिर चित्तवाले हैं, उनके लिये उत्पन्न प्रातिभादि सिद्धियाँ हैं।

सूत्रार्थ—(ते) वे प्रातिभादि सामर्थ्य (समाधौ) स्थिर चित्त वाले पुरुष की चित्तवृत्ति निरोध दशा में (उपसर्गाः) विघ्न=बाधक[1] हैं और (व्युत्थाने) व्युत्थान दशा=अस्थिर चित्त की दशा में (सिद्धयः) सिद्धियाँ हैं।

भावार्थ—योगाभ्यासी पुरुष की दो दशायें होतीं हैं—एक समाधि=चित्तवृत्ति के निरोध की दशा और दूसरी व्युत्थान दशा। योगाभ्यास-रत पुरुष अनवरत समाधि-दशा में ही नहीं रहता। इस भौतिक शरीर के निर्वाह के लिये सांसारिक कार्य भी करता है, भोजनादि कार्यों में भी रत रहता है अथवा अपने इष्टमित्रों से भी व्यवहार करता है। प्रातिभादि सिद्धियों का सामर्थ्य समाधि=चित्तवृत्ति निरोध काल में चित्तवृत्ति को दिव्यगन्धादि की ओर आकृष्ट करने के कारण बाधक बनता है और समाधि से भिन्न दशा में प्रातिभादि सिद्धियों से जहाँ स्वयं विषयाकृष्ट हो सकता है, वहाँ उसके इस योगज चमत्कार-प्रदर्शन से दूसरे सामान्य पुरुष प्रभावित होकर उसके पीछे लग जाते हैं। और वह योगाभ्यासी पुरुष जादूगर की भांति बन जाता है। यह स्थिति योगी के लिये अत्यधिक भयानक होती है। लोक में होने वाली प्रतिष्ठा तथा दूसरे व्यक्तियों की उसके प्रति श्रद्धा योगाभ्यासी पुरुष को समाधि से गिराने के लिये प्रबल विघ्न हो जाते हैं। समाहित चित्त वाला योगाभ्यासी पूर्णतः इन विघ्नों से सजग तथा अप्रमत्त रहकर ही अपनी रक्षा कर सकता है। इसलिये योगाभ्यासी के लिये एकान्त पर्वत, गुफादि का स्थान ही उपयुक्त रहता है ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

व्यासभाष्यम्

[बन्धकारणशैथिल्यात्] लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशय-

---

१. क्योंकि इन में आसक्त होने वाला पुरुष हर्ष, गौरव, आश्चर्यादि दिखाने वाला होने से समाधि से पतित हो जाता है।

वशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः । तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्-भवति । [प्रचारसंवेदनाच्च] प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव । कर्म-बन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरा-न्तरेषु निक्षिपति । निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति । यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति ।। ३८ ।।

भाष्यानुवाद—[बन्धकारणशैथिल्यात्] चञ्चलस्वभाव होने से अप्रतिष्ठत =अस्थिर मन का कर्माशयवश शरीर में बन्धन और स्थिति होती है। उस बन्धन के कारणरूप कर्म (कर्माशय) की शिथिलता समाधि के बल से होती है।

[प्रचारसंवेदनाच्च] और चित्त की प्रचारसंवेदन=गमनागमन रूप गति का ज्ञान भी समाधि से ही होता है। चित्त के कर्मरूप बन्धन के क्षय= शिथिल होने से और उसकी गति का ज्ञान होने से योगी चित्त को अपने शरीर से निकालकर दूसरे शरीरों में डालता=प्रविष्ट कराता है। और प्रविष्ट चित्त के साथ योगी की इन्द्रियाँ=इन्द्रियशक्तियाँ भी अनुसरण करती हैं। जैसे मधु-मक्खियाँ उड़ते हुए मधुमक्खी राजा के पीछे उड़ती हैं और उसके बैठ जाने पर=(प्रविष्ट होने पर) बैठ जाती हैं (प्रविष्ट हो जाती हैं)। वैसे ही इन्द्रिय-शक्तियाँ चित्त के परशरीर में प्रविष्ट होने पर अनुसरण करती हैं ।। ३८ ।।

सूत्रार्थ—(चितस्य) चित्त के (बन्धकारणशैथिल्यात्) बन्धन के कारण-भूत कर्माशय के शिथिल=समाधि से क्षीण होने से (च) और (प्रचारसंवेदनात्) चित्त के प्रचार=गति मार्गों के जानने से (परशरीरावेशः) योगी का चित्त दूसरे शरीरों में आवेश=प्रवेश करता है।

भावार्थ—इस सूत्र को समझने के लिये पाठकों को जीवात्मा के शरीर-संयोग होने के कारण तथा जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों में साथ जाने वाले[1] सूक्ष्मशरीर को जानना अत्यन्त आवश्यक है। जीवात्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण ईश्वरीय व्यवस्था से विभिन्न योनियों में गमनागमन करता रहता है। अतः बन्धन का कारण शुभाशुभ कर्मजन्य कर्माशय है और सूक्ष्म-

१. महर्षि दयानन्द कृत सूक्ष्मशरीर की व्याख्या इस प्रकार है="दूसरा पांच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर कहलाता है। यह सूक्ष्म-शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।" (स० प्र० नवम समु०)

शरीर जीवात्मा के साथ सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर संयुक्त करता है। उसी का प्रमुख घटक चित्त है। उसके बन्धन का कारण भी कर्माशय ही है। जब योगी योग-बल से कर्माशय को शिथिल कर देता है, क्षीणप्राय कर देता है, इसलिये कर्माशय चित्त को बान्धने में असमर्थ हो जाता है। और चित्त के सञ्चारमार्ग=गति के मार्गों को योगी जान लेता है, तब योगी अपने चित्त को अपने वर्तमान शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में प्रवेश करा सकता है। चित्त के गतिमार्ग सूक्ष्म नाडियाँ तथा बाह्येन्द्रियाँ ही हैं जिनसे चित्त गमनागमन कर सकता है और चित्त परशरीर में अकेला ही नहीं जाता, प्रत्युत इन्द्रियाँ भी रानी मक्खियों की भांति अनुसरण कर जाती हैं।

यद्यपि यह चित्त के परशरीर प्रवेश की बात अतीव आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। परन्तु सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों ने इस योगज-सिद्धि को माना है, अतः सन्देह का अवसर नहीं रहता। पुनरपि यह विषय योगिगम्य ही है। इस विषय में एक आर्य-पुरुष ने महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य का उदाहरण भी दिखाया था, उसका ठीक पता न मिलने से उसे हम यहां नहीं दिखा सके, परन्तु स्वयं देखने के कारण महर्षि ने लिखा अवश्य है। अतः इस विषय पर विद्वानों को सन्देह करना तो ठीक नहीं, हाँ! योगाभ्यास के द्वारा अन्यसिद्धियों की भांति अनुभूति करके विषय का विशेष स्पष्टीकरण अवश्य करना चाहिये। यो० ३।४३ सूत्र के भाष्य में भी 'यथा परशरीराण्याविशन्ति योगिनः' लिखकर व्यासमुनि ने परशरीर प्रवेश की बात मानी है। और परशरीर प्रवेश का आशय दूसरे के शरीरों में प्रवेश न मानकर जन्मान्तर मानना अधिक संगत है। वर्तमान शरीर में जीवात्मा की स्थिति कर्माशयवश (प्रारब्ध कर्म के अधीन) है। जब योगी इस कर्माशय के बन्धन को शिथिल कर देता है और चित्त के गमनमार्ग को जान लेता है, तब एक शरीर से दूसरे नवीन शरीर में प्रवेश करने में कर्माशय का बन्धन प्रतिबन्धक नहीं होता। जिससे योगी निर्विघ्नतापूर्वक स्वेच्छा से दूसरे शरीर में प्रवेश करसकता है। दूसरे मनुष्य ऐसा स्वेच्छा से नहीं कर सकते ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

व्यासभाष्यम्

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं, तस्य क्रिया पञ्चतयी प्राणो

मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः। समं नयनात्समानश्चाऽऽनाभिवृत्तिः। अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः। उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः। व्यापी व्यान इति। एषां प्रधानं प्राणः। उदान जयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति। तां वशित्वेन प्रतिपद्यते॥ ३९॥

भाष्यानुवाद—समस्त इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) प्राणादि लक्षण वाली है अर्थात् प्राणों के आश्रय से होती है और वह प्राणों का व्यापार ही जीवन है। उस प्राण की क्रिया पाञ्च प्रकार की है—(१) मुख और नासिका से हृदय पर्यन्त सञ्चार करने वाला 'प्राण' है। (२) खाये-पीये आहार को सम=समानरूप से ले जाने के कारण हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त कार्य करने वाला 'समान' है। (३) मलमूत्रादि को अपनयन=नीचे ले जाने के कारण नाभि से लेकर पैर के तलुवे तक कार्य करने वाला 'अपान' है। (४) (नासिकाग्र से) ऊपर ले जाने के कारण सिर तक कार्य करने वाला 'उदान' है। (५) और समस्त शरीर में व्यापक होकर कार्य करने वाला 'व्यान' है। इन सब में प्राण प्रधान =मुख्य है।

योगी 'उदान' नामक प्राण पर (संयम करके) जय करने से जल, कीचड, कण्टकादि के संग से रहित हो जाता है और उसकी प्रयाण काल= मृत्यु के समय उत्क्रान्ति=ऊर्ध्वगति होती है। और योगी उस उत्क्रान्ति= ऊर्ध्वगति को अपने अधीन कर लेता है।

सूत्रार्थ—योगी (उदानजयात्) उदान नामक वायु पर विजय प्राप्त करने से (जल-पङ्क-कण्टकादिषु) जल, कीचड और कांटे आदि वाले स्थानों में (असङ्गः) सङ्ग[1] रहित रहता है (च) और (उत्क्रान्तिः) उदानजय से मृत्यु के समय उर्ध्वगति प्राप्त करता है।

भावार्थ—इस भौतिकशरीर के जीवन का आधार प्राण है। प्राणों के आश्रय से ही समस्त इन्द्रियों का व्यापार होता है। और प्राण के भेद तथा कार्यस्थान व्यासभाष्य में बताये हैं अर्थात् प्राण, समान, अपान, उदान और व्यान ये कार्यभेद से प्राण के पांच भेद हैं। इनमें प्राण मुख व नासिका से लेकर हृदय तक कार्य करता है। समानवायु हृदय से लेकर नाभि पर्यन्त कार्य करता है। इसका कार्य—खाये पिये पदार्थों के रस को समानरूप से सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाना है। अपानवायु नाभि से लेकर पादतल तक कार्य करता

---

१. अर्थात् जल में डूबता नहीं है, कीचड़ में धंसता नहीं है और कांटों से बिंधता नहीं है, इत्यादि।

है। इसका विशेष कार्य मलमूत्रादि को नीचे की ओर ले जाना है। उदानवायु कण्ठ से ऊपर शिर पर्यन्त कार्य करता है और इसका कार्य ऊर्ध्वगति करना है। योगी इसी में संयम करके मृत्यु के समय ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है और व्यान-वायु समस्त शरीर में व्यापक होकर गति करता है, इसी के आश्रय से रक्तसंचारादि शरीर में होता है। इन सब में प्राणवायु सबका आधार होने से मुख्य है।

यहाँ उदान वायु में संयम करने के दो फल बताये हैं—एक जल, कीचड और कांटों आदि में न फंसना अर्थात् योगी का शरीर इतना हलका[1] हो जाता है, जिसके कारण वह जल में डूब नहीं सकता, कीचड में धंसता नहीं और कांटे आदि से बिंधता[2] नहीं है। और दूसरा फल है—उत्क्रान्ति=उर्ध्व-गमन करना है। योगी उदान-वायु को वश में करके स्वेच्छा से मृत्यु के समय उर्ध्वगति कर सकता है। इसी तथ्य को प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति ॥ (प्रश्नो० ३।७) अर्थात् उदानवायु सुषुम्णा नाडी के द्वारा ऊर्ध्वगति कराकर पुण्यलोक को प्राप्त कराता है। और छान्दोग्योप० ५।१०।१ बृहदारण्यको० ६।२।१५ में भी उर्ध्वगमन=मरणकाल में योगी स्वेच्छा से उर्ध्वगति करता है, यह बात द्रष्टव्य है। और—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति ॥ (छान्दो० ८।६।६ ॥ कठो० ६।१६)

इसमें भी सुषुम्णा नाडी से उर्ध्वगति करके अमृतत्व की प्राप्ति कही है ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

व्यासभाष्यम्

जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलयति ॥ ४० ॥

भाष्यानुवाद—योगी समान-प्राण को संयम द्वारा जीतकर तेज को प्रकट करके प्रकाशमान हो जाता है

१. योगी का शरीर रूई की भांति हलका हो जाता है, यह बात यो० ३।४२ सूत्र में द्रष्टव्य है।

२. इसी सिद्धि के कारण महर्षि दयानन्द को मृत्यु के समय शारीरिक असह्य पीडा दुःखी न कर सकी और उन्होंने स्वेच्छा से सबसे कहकर शरीर का त्यागकर ऊर्ध्वगति प्राप्त की।

सूत्रार्थ—समानजयात् योगी समानवायु के जय=संयम से (ज्वलनम्) तेज को प्राप्त करता है।

भावार्थ—यो० ३। ३६ के व्यासभाष्य में पांच प्राणों का वर्णन किया गया है। उनमें समानवायु में संयम का इस सूत्र में फल बताया है। समानवायु हृदय से लेकर केन्द्रस्थान नाभिपर्यन्त कार्य करता है। इसका कार्य समस्त खाये पिये पदार्थों के रस को सारे शरीर में पहुंचाना है। इसमें संयम करके योगी वैसे ही तेजस्वी हो जाता है जैसे अग्नि तेजवायु के वेग से प्रचण्ड और चमकने लगती है। और शरीर के केन्द्रस्थान नाभि पर संयम होने से योगी की तेजस्विता बढ़ जाती है ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

व्यासभाष्यम्

सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च। यथोक्तम्—तुल्यदेश-श्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति। तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम्। अनावरणं चोक्तम्। तथाऽमूर्तस्याप्यन्यत्रानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य। शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम्। बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति। तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्। श्रोत्राकाशयोः संबन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

भाष्यानुवाद—समस्त श्रोत्रेन्द्रियों का आधार आकाश है और सब शब्दों का भी। जैसे कहा भी है सभी समान स्थान में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय वालों को एक देश वाले (एक ही प्रकार के) शब्दों का श्रवण होता है। और यह श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का लिङ्ग=ज्ञापकचिह्न है। और आकाश को अनावरण=आवरण रहित भी कहा है। इसलिए अमूर्त्त=अतीन्द्रिय वस्तु के अनावरण=घिरी हुई न होने के कारण आकाश का विभु होना सिद्ध होता है। शब्दों का ग्रहण कराने से श्रोत्रेन्द्रिय का अनुमान होता है। बधिर (बहरा) और अबधिर (जो बहरा नहीं है) में एक शब्द को ग्रहण करता है, दूसरा ग्रहण नहीं करता है, इस कारण से श्रोत्रेन्द्रिय ही शब्द को विषय बनाने वाली इन्द्रिय है।

इस (शब्द) और आकाश के (आधाराधेय रूप) **सम्बन्ध में** संयम करने वाले योगी की दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय हो जाती है।

सूत्रार्थ—(श्रोत्राकाशयोः) श्रवणेन्द्रिय और आकाश के (सम्बन्धसंयमात्)

सम्बन्ध में संयम करने से (दिव्यं श्रोत्रम्) योगी का श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय) दिव्य हो जाता है।

भावार्थ—शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है आकाश शब्द का आधार है। इसी बात को वैयाकरण भी मानते हैं। महाभाष्य में महर्षि-पतञ्जलि लिखते हैं—"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाश देशः शब्दः।" अर्थात् शब्द का आकाश स्थान है, श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, बुद्धि से शब्द का निश्चय होता है और उच्चारण करने पर शब्द की अभिव्यक्ति होती है। और श्रोत्र की उत्पत्ति अहंकार के कार्य सूक्ष्मभूत शब्दतन्मात्रा से होती है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश का आधार-आधेय सम्बन्ध (आश्रयाश्रयिभाव) है। इस श्रोत्र तथा आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति होती है। अर्थात् योगी दिव्य श्रवणशक्ति प्राप्त होने से सूक्ष्म, व्यवहित, दूर-स्थादि शब्दों को सुन सकता है।

और दिव्य श्रोत्र की सिद्धि को समस्त इन्द्रियों का उपलक्षण समझना चाहिये। इसी प्रकार योगी त्वक्-वायु के चक्षु-तेज के रसन-जल के और घ्राण-पृथिवी के सम्बन्धों में संयम करके दिव्य त्वक्, दिव्य चक्षु, दिव्य-रसन और दिव्य घ्राण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। सूत्रकार ने यो० ३।३६ में तथा व्यासभाष्य में श्रवणादि समस्त सिद्धियों का स्पष्ट निर्देश किया है। उन्हीं का यहाँ विशेष स्पष्टीकरण किया गया है ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूल-समापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

व्यासभाष्यम्

यत्र कायस्तत्राऽऽकाशं तस्यावकाशदानात्कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्संबन्धं लघुषु वा तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्भवति। लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति। ततस्तूर्णनाभि-तन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति। ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

भाष्यानुवाद—जहाँ शरीर है, वहां आकाश है। उस प्रकाश के अवकाश देने के कारण शरीर का आकाश के साथ सम्बन्ध (आधार-आधेय तथा व्याप्य-व्यापक रूप) तथा प्राप्ति=मिलन होता है। उस सम्बन्ध में संयम करने वाला योगी उस सम्बन्ध को जीतकर अथवा लघु=हल्के (सूक्ष्म) रूई आदि

परमाणु पर्यन्त पदार्थों में समापत्ति[1]=तदाकार होकर काय और आकाश के सम्बन्ध को जीतने वाला हल्का हो जाता है। और लघु=हल्का होकर जल में पैरों से विहार=विचरण करता है। तत्पश्चात् मकड़ी के जाले से तन्तुओं में विचरण करके सूर्य की किरणों में विचरण करता है। तब इस योगी का स्वेच्छा से आकाश-गति=आकाश में विहार करना सिद्ध हो जाता है।

सूत्रार्थ—(काय-आकाशयोः) शरीर और आकाश के (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (च) और (लघुतूल-समापत्तेः) हलके रूई आदि पदार्थों में समापत्ति करने (तदाकारता प्राप्त हो जाने) से (आकाश-गमनम्) योगी आकाश-गमन सिद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—यद्यपि शरीर पञ्चभौतिक है, इसमें पञ्चभूतों का संयोग है। पुनरपि इधर उधर गति करते समय आकाश ही शरीर को अवकाश देता है। और आकाश पञ्चभूतों में सूक्ष्मतम होने से सब में व्यापक है।

अतः शरीर और आकाश का आधार-आधेय, व्याप्य-व्यापकभाव संबंध है। इसलिये यह शरीर आकाश से पृथक् कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश सर्वत्र विद्यमान है। इन दोनों के सम्बन्ध में संयम करने से और रूई आदि हलके पदार्थों में समापत्ति करने से अर्थात् उनके समान शरीर को हल्का करने से योगी आकाश में गमन कर सकता है। व्यास-भाष्य में शरीर के हलके होने पर कुछ आकाश-गमन के उदाहरण भी दिये गये हैं। जैसे वह हल्का होने से पैरों से जल पर चल सकता है, मकड़ी के जाले के तन्तु में विचरण कर सकता है। और सूर्य की किरणों में विहार कर सकता है इत्यादि आकाशगति के उदाहरण दिये हैं। और शरीर को हल्का करने की बात यो० ३।३९ सूत्र में भी कही है कि योगी उदान-वायु में संयम करके जल में डूबता नहीं है, कीचड़ में धंसता नहीं है और कांटे आदि से बिंधता नहीं है। जिससे स्पष्ट है कि योगी आकाशगमन सिद्धि से इच्छानुसार आकाश में गमन कर सकता है॥ ४२॥

---

१. 'समापत्ति' शब्द की व्याख्या यो० १।४१ में इस प्रकार की है—तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः=तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते॥

(व्यासभाष्यम्)

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

व्यासभाष्यम्

[बहिरकल्पिता वृत्तिः] शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते। या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता। तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति। यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः। [ततः प्रकाशावरणक्षयः] ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

भाष्यानुवाद—[बहिरकल्पिता वृत्तिः] शरीर से बाहर मन की वृत्ति का होना 'विदेहाधारणा कहलाती है। वह (मन की वृत्ति) यदि मन के शरीर में स्थित=रहते हुए वृत्ति मात्र से बाहर होती है, तो वह 'कल्पिता' कहलाती है। किन्तु जो शरीर निरपेक्ष होकर (शरीराहङ्कार से रहित होने से) बहिर्भूत=परमात्मा की उपासना में ही स्थित मन की बाह्य-वृत्ति होती है, वह अकल्पिता' कहलाती है। योगी पुरुष उन वृत्तियों में से कल्पिता के द्वारा अकल्पिता वृत्ति की साधना करते हैं, जो कि 'महाविदेहा' कहलाती है, जिस महाविदेहा के द्वारा योगी परशरीर=दूसरों के शरीरों में प्रवेश करते हैं। और उस धारणा से (सतोगुण प्रधान होने से) प्रकाशस्वरूप बुद्धिसत्त्व का जो आवरण=रजोगुण तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्माशय तथा उनका फल है, उस आवरण का क्षय हो जाता है।

सूत्रार्थ—(बहिरकल्पिता) शरीर से बाहर भी व्यापक परमात्मा में बिना संकल्प के स्थित हुई (वृत्तिः) मन को वृत्ति=मन का व्यापार (महाविदेहा) महाविदेहा कहलाती है। (ततः) उस महाविदेहा वृत्ति से (प्रकाशावरणक्षयः) प्रकाश के आवरण[1] का नाश हो जाता है।

भावार्थ—इस सूत्र में चित्तवृत्ति के दो भेद माने हैं—एक कल्पिता, जिसे 'विदेहाधारणा' कहते हैं और दूसरी अकल्पिता, जिसे 'महाविदेहा कहते हैं। यहाँ कल्पिता शब्द का अर्थ संकल्प की गई वृत्ति, जो शरीर-सापेक्ष होती है,

---

१. यहाँ अविद्यादि क्लेशों का, कर्माशय स्थित वासनाओं का तथा उनके विपाक =फल का आवरण शब्द से ग्रहण होता है। ये सब रजोगुण तथा तमोगुणमूलक होते हैं।

उससे है। और अकल्पिता वृत्ति शरीर निरपेक्ष संकल्प-रहित होती है। शरीर-विषयक अहंकार का परित्याग कर जब चित्त स्वतन्त्रता से अपना व्यापार बाहर-भीतर व्यापक परमात्मा में लगाये रखता है, वह धारणा अकल्पिता है, उसी को महाविदेहा कहते हैं। योगी योग-साधनारत प्रथम कल्पिता=संकल्पपूर्वक वृत्ति से अपनी साधना को प्रारम्भ करता है, इसमें सफलता प्राप्त कर अकल्पिता धारणा में निरन्तर अभ्यास करता है। और इसमें संयम करने से योगी को जब सफलता मिल जाती है, तब उसके सात्त्विक चित्त के आवरणभूत अविद्यादि क्लेश- कर्माशय तथा उनके फलों का क्षय हो जाता है। यह चित्त का आवरण रजोगुण तथा तमोगुण मूलक होता है। इनसे चित्त के ढकने पर अविद्यादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है और कर्माशय फलोन्मुख होता है। योगाभ्यास करते करते जब सतोगुण प्रधान चित्त हो जाता है, तो सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण का अभिभव कर देता है, जिससे इन गुणों से प्रकट होने वाले आवरण का नाश हो जाता है। और इस सिद्धि के द्वारा योगी यथेच्छ विचरण करता हुआ परशरीरों में प्रवेश कर सकता है।

इसका भाव यह है कि जब तक चित्तवृत्ति रजोगुण व तमोगुण के अभाववश मलीन रहती है, तब तक परमात्मा की उपासना में नहीं लग सकती। और जब सतोगुण की प्रधानता योगसाधना से हो जाती है और दूसरे रजोगुणादि का अभिभव हो जाता है, तब चित्तवृत्ति प्रकाशस्वरूप तथा शुद्ध होने से परमात्मा में स्थिर होने लगती है और उस समय भी यदि संकलपपूर्वक चित्तवृत्ति को परमात्मा में लगाया जाता है, तो उसका नाम विदेहाधारणा है और इसी के पुनः-पुनः सुदृढ अभ्यास से जब बिना संकल्प के चित्तवृत्ति परमात्मा में स्थिर होती है उसे महाविदेहाधारणा कहते हैं।

इस सूत्र तथा भाष्य के व्याख्याकारों को 'बहिर्' शब्द को समझने में बड़ी भ्रान्ति हुई है। वे इसका अर्थ बहिर्देश अथवा बाह्य विषय में चित्तवृत्ति को लगाना करते हैं। परन्तु उन्होंने सूत्र तथा भाष्य में कहे परिणाम पर ध्यान नहीं दिया। क्या प्रकाशावरण का क्षय बहिर्देश में चित्त लगाने से हो सकता है? इस फल पर यदि वे विचार करते तो उन्हें अपनी व्याख्या असंगत ही लगती। इस सूत्र तथा भाष्य को समझने के लिये दूसरे आध्यात्मिक शास्त्रों का अवलोकन करना परमावश्यक है। मुण्डकोपनिषद् २।२।८ में लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अर्थात् परावर=अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक परमेश्वर के साक्षात् होने पर अविद्यादि क्लेशों, संशयों तथा कर्मों का क्षय हो जाता है। और यही बात इस सूत्र में कही है, अतः यहाँ 'बहिर्' शब्द से बाहर=समस्त ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर व्यापक परमात्मा का ग्रहण करना ही संगत होता है। क्योंकि उसी के साक्षात्कार से प्रकाशावरण का क्षय होता है। यहाँ 'बहिर्' शब्द को उपलक्षण तथा सापेक्ष मानकर अन्दर-बाहर व्यापक परमात्मा का वाचक मानना ही सर्वथा संगत है। क्योंकि शास्त्रकारों[1] ने परमात्मा को बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण माना है।

और इसी 'बहिर्' शब्द की भांति यो० ३।१ सूत्र के भाष्य में 'बाह्ये वा विषये' पाठ मिलता है। उसकी भी व्याख्या टीकाकारों ने असंगत की है। महर्षि-दयानन्द ने वहाँ 'बाह्य' 'शब्द' से परमात्मा के मुख्य नाम ओम् वा गायत्री के जप तथा इनके वाच्य परमेश्वर वा हृदय में विचार करना अर्थ ग्रहण करते हुए लिखा है—

"बाह्यविषय जैसा कि ओंकार वा गायत्री मन्त्र, इनमें चित्त लगावे,.........और इसका अर्थ जो ईश्वर उसको हृदय में विचारे।.........ओंकार का वाच्य ईश्वर है और उसका वाचक ओंकार है। बाह्यविषय से इनको ही लेना और कोई नहीं।"

(शास्त्रार्थसंग्रहः)

अतः इस 'बाह्य' शब्द की भाँति इस सूत्र में भी 'बहिः' शब्द से परमेश्वर तथा ओंकारोपासना का ही ग्रहण करना उचित है। इसी से प्रकाशावरण का क्षय सम्भव है, अन्यथा नहीं॥ ४३॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः॥ ४४॥

व्यासभाष्यम्

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाऽऽकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः। एतद्भूतानां प्रथमं रूपम्। द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतोगतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते।

अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः। तथा चोक्तम्—एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति।

---

१. परमात्मा की अन्दर-बाहर व्यापकता के विषय में अन्य प्रमाण भी देखिये—
(क) तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (यजु० ४०।५)
(ख) दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः॥ (मुण्ड० २।२।६)

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम्। द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति।

शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः। समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः।

स च भेदाभेदविवक्षितः। आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघ आम्रवणं ब्राह्मणसंघ इति।

सः पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवः समूहो वनं संघ इति। अयुतसिद्धावयवः संघातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति। अयुतसिद्धावयव भेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः। एतत्स्वरूपमित्युक्तम्।

अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम् तन्मात्रं भूतकारणं, तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत्तृतीयम्। अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः। अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वं, भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी, गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्। तेष्विदानीं भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति। तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति। तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें पार्थिवादि=पृथिवी आदि पाञ्चमहाभूतों में रहने वाले शब्दादि=शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, ये विशेष धर्म आकारादि धर्मों के साथ स्थूल शब्द से कहे गये हैं। यह भूतों का प्रथम स्वरूप है। भूतों का दूसरा रूप उनका सामान्य है। जैसे भूमि मूर्त्ति=पिण्डरूप या कठोररूप है, जल स्नेहरूप है, अग्नि उष्णता=दाहक गुण वाली है, वायु प्रणामी=प्रणमनशील (वहनशील) और आकाश सर्वतोगति=सर्वत्र व्याप्त है। यह सब स्वरूप शब्द से कहा जाता है। इस सामान्य स्वरूप के ही शब्दादि विशेष हैं। वैसे कहा भी है—एक जाति (सामान्य) में अन्तर्गत रहने वाले इन पृथिवी आदि के शब्द, स्पर्शादि धर्ममात्र भेदक हैं।

इस शास्त्र में सामान्य और विशेष के समूह को द्रव्य कहा गया है। समूह दो प्रकार का होता है—(१) जिन का भेद (शब्दों से) प्रकट नहीं है, ऐसे अवयवों से युक्त समूह, जैसे—शरीर, वृक्ष, यूथ=झुण्ड और वन। (२) जिनका भेद शब्दों से प्रकट है, ऐसे अवयवों से युक्त दूसरा समूह होता है। जैसे—उभये देवमनुष्याः—देव और मनुष्य दोनों का समूह। देव समूह का एक भाग है और मनुष्य दूसरा भाग है, उन दोनों से ही समूह कहा जाता है। और वह

समूह विवक्षित भेद और अविवक्षित भेद वाला है। आम्राणां वनम्=आमों का वन, ब्राह्मणानां संघः=ब्राह्मणों का संघ, ये विवक्षित भेद के उदाहरण हैं। और आम्रवन और ब्राह्मणसंघ[1], ये अविवक्षित भेद का उदाहरण हैं।

और वह समूह फिर दो प्रकार का है—(१) युतसिद्धावयव और अयुतसिद्धावयव। युतसिद्धावयवों वाले समूह के उदाहरण हैं—वन और संघ। और अयुतसिद्ध अवयवों वाले समूह के उदाहरण हैं—शरीर, वृक्ष और परमाणु। परन्तु पतञ्जलि का अपना मत यह है कि—अयुत सिद्ध= अपृथक् करणीय अवयवों के भेद से युक्त समूह को द्रव्य कहते हैं। यह पञ्चमहाभूतों का स्वरूप कहा गया है।

इन पृथिवी आदि भूतों का सूक्ष्मरूप क्या है ? भूतों का कारण तन्मात्रा ही सूक्ष्मरूप है। भूतों का एक अवयव परमाणु है, जो स्वयं सामान्य-विशेषात्मक और अयुत सिद्ध अवयवों के भेद से युक्त समूह है। इस प्रकार सब तन्मात्रायें भूतों का तीसरा रूप है।

अब भूतों का चौथा रूप=ख्याति=कान्ति, क्रिया प्रगति, स्थिति= जड़ता के स्वभावाले सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण हैं, जो अपने कार्यों के स्वभाव का अनुसरण करने के कारण सूत्र में 'अन्वय' शब्द से कहे गये हैं। और इन भूतों का पाँचवाँ रूप—'अर्थवत्त्व' है अर्थात् पुरुष के भोग और अपवर्ग के सम्पादन की सार्थकता=सामर्थ्यविशेष गुणों में ही अन्वयिनी=अनुगत (संगत) होती है। क्योंकि सत्त्वादि गुण तन्मात्राओं में, भूत= स्थूलभूतों तथा भौतिक पदार्थों में हैं, इसलिये सभी पदार्थ अर्थवत्=सार्थक हैं।

अब उन उपर्युक्त पाञ्च रूपों में संयम करने से योगी को उस उस रूप का स्वरूप दर्शन=साक्षात्कार और उन पर विजय प्राप्त होती है। उन पाञ्चों भूतों के स्वरूपों को जीतकर योगी भूतजयी हो जाता है। और भूतों के जय से भूतों की प्रकृतियाँ (तन्मात्रायें) इस योगी के संकल्पों का वैसा ही अनुसरण करती हैं, जैसे बछड़े का अनुसरण करने वाली गायें बछड़े की इच्छा पूर्ति करती हैं।

सूत्रार्थ— (स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्म-अन्वय-अर्थवत्व-संयमात्) पृथिवी आदि पञ्चभूतों के स्थूलरूप, सामान्यस्वरूप, भूतों की तन्मात्रादि सूक्ष्मरूप, अन्वय=

---

१. ब्राह्मणानां संघः।' इस प्रयोग में षष्ठी विभक्ति भेद को बता रही है। 'ब्राह्मण एव संघः=ब्राह्मणसंघः'' इसमें कर्मधारय समास (ब्राह्मण ही संघ है) में अविवक्षित भेद है। इसी प्रकार **'आम्राणां वनम्' और 'आम्रवणम्'** में समझना चाहिए। (कर्मधारय समास मयूरव्यंसकादि मानकर होता है।)

पृथिवी आदि में कारण रूप से गुणत्रय का अन्वयी भाव से मिले रहना, और अर्थवत्त्व=पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये पञ्चभूतों का कार्यरत रहना, योगी इन के स्वरूपों में संयम करने से (भूतजयः) पृथिवी आदि पञ्चभूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—इस शास्त्र में 'परिणामत्रयसंयमात्०' (यो० ३।१६) इस सूत्र से लेकर यो० ३।४३ पूर्वसूत्र पर्यन्त योगी को विविध संयमों से प्राप्त सिद्धियों का वर्णन किया गया है। यद्यपि ये सिद्धियाँ भी योगी के साधना का फल ही हैं, परन्तु इन सिद्धियों से (आकाशगमनादि से) समाधि में बाधायें भी उपस्थित हो सकती हैं। इसीलिये ३।३७ सूत्र में 'ते समाधावुपसर्गाः' इन सिद्धियों को विघ्न माना है। अब इस शास्त्र में मुख्यरूप से प्रतिपाद्य ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के विषय में संयम से होने वाली सिद्धियों का कथन किया जाता है। इस सूत्र में ग्राह्य-विषयक संयम से होने वाली सिद्धि का कथन है। और यहाँ भूतों के पाञ्च रूप बताये हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भूत स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व, इन पाञ्च विशेषताओं से जाना जा सकता है, जिनका व्यासभाष्य में निम्नप्रकार से वर्णन किया गया है—

(१) **स्थूल**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पाञ्च भूतों के जो अपने अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विशेष धर्म हैं वे अपने-अपने विशिष्ट आकार-प्रकारादि के साथ स्थूल कहलाते हैं। जैसे—पृथिवी का विशेष गुण गन्ध है, परन्तु उसमें अपने से सूक्ष्म जल आदि के गुण (रस, रूप, स्पर्श और शब्द) भी समाविष्ट हैं। और उसके काठिन्य, गुरुत्वादि धर्म हैं। जल का विशेष गुण रस है और उसमें उससे सूक्ष्म रूप, स्पर्श और शब्द गुण समाविष्ट हैं तथा जल के स्नेह, सूक्ष्मता, मृदुता, गुरुत्वादि धर्म हैं। अग्नि का विशेष गुण रूप है, परन्तु उसमें उससे सूक्ष्म भूतों के स्पर्श व शब्द गुण भी हैं। और अग्नि के ऊर्ध्वगति, दाहकता, पाचकता, लघुतादि धर्म हैं। वायु का विशेष गुण स्पर्श है, किन्तु उसमें उससे सूक्ष्म आकाश का शब्द-गुण भी है। और वायु के तिर्यग्गति, पवित्रता, कम्पन, रुक्षतादि धर्म हैं। और आकाश का विशेष गुण शब्द है और उसके व्यापकता, अवकाश देनादि, धर्म हैं। इन विशेष धर्मों के साथ पञ्चभूतों का जो आकार-प्रकार हमारे सामने है, वह इनका स्थूल रूप है।

(२) **स्वरूप**—पृथिवी आदि पञ्चभूतों का जो अपना सामान्य रूप है उसे ही यहाँ 'स्वरूप' शब्द से जानना चाहिए। जैसे पृथिवी का मूर्त्ति=पिण्डरूप होना,

जल का स्निग्धता, अग्नि का उष्णता, वायु का प्रवहनशीलता और आकाश का व्यापकता। ये मूर्त्ति आदि धर्म ही पृथिवी आदि के सामान्य हैं और इस सामान्य स्वरूप के शब्दादि गुण परस्पर भिन्नता करने के कारण विशेष हैं। यद्यपि मूर्त्ति आदि धर्म भी पृथिवी आदि भूतों के भेदक हैं, परन्तु पृथिवी के निम्बू और अङ्गूर में जो खट्टा और मीठे का भेद है वह रस के कारण है। इसलिये रसादि को विशेष कहा गया है। इसमें 'एकजातिसमन्वितानामेषां धर्मनात्रव्यावृत्तिः' यह किसी प्राचीन आचार्य का प्रमाण भी व्यासभाष्य में दिया है।

द्रव्य का स्वरूप—'सामान्य-विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम्' अर्थात् इस शास्त्र में सामान्य-विशेष धर्मों के समुदाय को द्रव्य माना गया है। पृथिवी आदि भूत भी द्रव्य इसलिए हैं कि ये भी सामान्य-विशेष के समूह रूप हैं। समूह भी दो प्रकार का होता है—(१) एक जिसमें समुदाय के अवयवों का भेद छिपा रहता है, जैसे—शरीर, वृक्ष, यूथ तथा वन। इनमें अवान्तर भेदक शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता। शरीर-हस्तादि अवयवों का, वृक्ष शाखादि का, वन वृक्षादि का, और यूथ बकरी आदि अवयवों का समूह होता है। परन्तु अवयव-बोधक शब्द नहीं बोला जाता इसलिए इसमें अवयवों का भेद छिपा हुआ है। (२) दूसरा समूह वह है जहाँ शब्द के द्वारा अवयवों का भेद प्रकट किया हुआ है, जैसे—'उभये देवमनुष्याः' देवता और मनुष्य दोनों हैं। यहाँ देव और मनुष्यों का समूह है, उसके एक भाग को देव शब्द ने दूसरे भाग को मनुष्य शब्द ने प्रकट कर दिया है। और यह समूह भेद-विवक्षा और अभेद-विवक्षा के भेद से दो प्रकार का है। जैसे—आम्राणां वनम्=आमों का वन, ब्राह्मणानां संघः=ब्राह्मणों का संघ। यहाँ षष्ठी विभक्ति भेद विवक्षा में है। और 'आम्रवनम्' 'ब्राह्मण-संघः' इनमें जो आम हैं वे ही वन हैं जो ब्राह्मण हैं, वे ही संघ हैं, यहाँ अभेद विवक्षा है। और यह समूह युतसिद्धावयव और अयुतसिद्धावयव भेद से दो प्रकार का है। अयुतसिद्धावयव का तात्पर्य है—जिसके अवयव पृथक् प्रतीति से रहित मिलकर समूह बनाते हैं। जैसे—शरीर, वृक्ष, परमाणु आदि। इनमें शरीरादि के अवयव परस्पर मिले हुए होते हैं। और युतसिद्धावयव=जिसके अवयव पृथक् पृथक् हों। जैसे आमों के वन में आम के वृक्ष पृथक् पृथक् होते हैं। एक दूसरे से आश्रित नहीं होते। इसी प्रकार गो-संघादि उदाहरण जानने चाहिए। आचार्य पतञ्जलि के मत में अयुतसिद्धावयव-समूह को ही द्रव्य माना है। पृथिवी आदि भूतों का ऐसा मिला हुआ ही द्वितीय रूप है।

(३) **सूक्ष्म**—पृथिवी आदि पाञ्च स्थूल भूतों का कारण पञ्चसूक्ष्म भूत हैं जिन्हें पञ्चतन्मात्रायें भी कहा जाता है। ये तन्मात्रायें भी सूक्ष्म परमाणुओं का अयुतसिद्धावयव समूहरूप होती हैं। यह पृथिवी आदि भूतों का सूक्ष्मरूप तृतीय है।

(४) **अन्वय**–पञ्चभूत पृथिव्यादि प्रकृति के कार्य हैं। और प्रकृति त्रिगुणात्मक है। उपादान कारण के गुण कार्य में अनुगत होते हैं। इसलिए प्रकृति सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, जो क्रमशः प्रकाश-क्रिया-स्थिति शील है, वे पाञ्चों भूतों में अनुगत होते हैं। यह भूतों का चतुर्थ रूप है।

(५) **अर्थवत्त्व**—यहाँ 'अर्थ' शब्द अर्थ का 'प्रयोजन' है। इसलिये 'अर्थवत्त्व' का अर्थ प्रयोजन वाला है। प्रकृति पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करती है। अतः प्रकृति से बने समस्त त्रिगुणात्मक विश्व का यही प्रयोजन है। यह भूतों का पञ्चम-रूप है।

इस प्रकार पञ्चभूतों के इन पूर्वोक्त पाञ्च रूपों में से योगी जिस रूप में संयम करता है, उस पर योगी का स्वरूप-ज्ञान होने से जय होता है। और स्थूलादि पाञ्चों रूपों में संयम करने से पाञ्चों भूतों के पाञ्चों रूपों का साक्षात्कार योगी का हो जाता है। और योगी भूतजयी हो जाता है। और बछड़े के पीछे चलने वाली गायों की भाँति पञ्चभूतों की प्रकृतियाँ योगी के संकल्प का अनुसरण करने लगती हैं॥ ४४॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥

व्यासभाष्यम्

[अणिमादिप्रादुर्भावः] १—तत्राणिमा भवत्यणुः। २—लघिमा लघुर्भवति। ३—महिमा महान्भवति। ४—प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। ५—प्राकाम्यमिच्छानभिघातः। भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। ६—वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ७—ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। ८—यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति। कस्मात्। अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति। एतान्यष्टावैश्वर्याणि।

कायसंपद्वक्ष्यमाणा। तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां, शिलामप्यनुविशतीति। नाऽऽपः स्निग्धाः क्लेदयन्ति। नाग्निरुष्णो

दहति। न वायु प्रणामी वहति। अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

भाष्यानुवाद—[अणिमादिप्रादुर्भावः] उनमें अणिमा=अणु=सूक्ष्म होता है, लघिमा=लघु=हल्कापन होता है, महिमा=महान् होता है, प्राप्ति=जिससे अङ्गुलि के अग्रभाग से भी चन्द्रमा को छूता है, प्राकाम्य=इच्छा का निर्बाध पूरा होना, जिससे योगी जल में डुबकी लगाने और बाहर आने के समान भूमि में अन्दर चला जाता है और बाहर आ जाता है, वशित्व=इन पञ्चभूतों तथा भौतिक पदार्थों को वश में कर लेता है और स्वयं दूसरों के वश में नहीं होता, ईशितृत्व=उन पञ्चभौतिक पदार्थों की प्रभव=उत्पत्ति, अप्यय=विनाश तथा व्यूह=स्थितिक्रम को करने में समर्थ हो जाता है, यत्र कामावसायित्व=सत्यसङ्कल्पता, जिसमे जैसा संकल्प हो, वैसे ही पञ्चभूतों तथा भूतों की प्रकृतियों=तन्मात्राओं की स्थिति हो जाती है। किन्तु समर्थ होने पर भी पदार्थों को उल्टा[1] नहीं कर सकता। कारण यह है कि पूर्वसिद्ध कामावसायी=सत्यसंकल्प वाले (ईश्वर) का भूतों में वैसा संकल्प होता है। ये अणिमादि आठ ऐश्वर्य हैं।

[कायसम्पत्] काय-सम्पत्ति के विषय में आगे (यो० ३। ४६ में) कहा जायेगा। [तद्धर्मानभिघातः] उन पञ्चभूतों के धर्म (योगी के कार्यों में) बाधा=रुकावट नहीं करते। पृथिवी अपने मूर्त्ति=कठोरधर्म से योगी की शारीरिक क्रिया को नहीं रोकती। इसलिये योगी शिला में भी प्रवेश कर सकता है, स्निग्ध जल योगी को गीला करने अथवा गलाने में समर्थ नहीं होता, अग्नि की उष्णता योगी को नहीं जलाती, वहनशील वायु योगी को नहीं उड़ाता और आवरण रहित आकाश में भी योगी ढके शरीर वाला हो जाता है अर्थात् गुप्त शरीर वाला हो जाता है और वह योगी सिद्धों को भी अदृश्य हो जाता है।

सूत्रार्थ—(ततः) उन भूतों के जय से (अणिमादिप्रादुर्भावः) योगी को अणिमादि सिद्धियाँ प्रकट होती हैं (कायसम्पत्) यो० ३। ४६ सूत्र में कही कायसम्पत्ति प्राप्त होती है (च) और (तद्धर्माऽनभिघातः) पञ्चभूतों के कठोरतादि धर्मों से अभिघात=रुकावट नहीं होती।

भावार्थ—गतसूत्र में पृथिवी आदि पञ्चभूतों के स्थूलादि पाञ्चों रूपों में संयम करने का फल भूतजय=पञ्चभूतों का वशीकार बताया है। और उस

---

१. तात्पर्य यह है कि ईश्वरीय सृष्टि के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता।

भूतजय से योगी को अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य, कायसम्पत् तथा भूतों के धर्मों से अभिघात न होना, ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अणिमा, महिमा, लघिमादि सिद्धियों में 'गरिमा' का नाम नहीं है। सम्भव है व्यास-भाष्य में महिमा के अन्तर्गत ही गरिमा को माना है। कुछ व्याख्याकार इन सिद्धियों को शारीरिक मानकर ही व्याख्या करते हैं। परन्तु यह मान्यता असंभव तथा असंगत ही प्रतीत होती है कि योगी शरीर को इतना महान् बना लेवे कि अंगुलि से चन्द्रमा को छू सके, भूमि में जल की भांति डुबकी लगा सके इत्यादि। परन्तु ये बातें व्यास-भाष्य में लिखी हैं, इसलिये इनको सहसैव मिथ्या कह देना भी उचित नहीं है। इस विषय में योगियों को अवश्य ही सत्यासत्य का निर्णय करने में सहायक बनना चाहिये। वर्त्तमान युग के महान् योगिराज महर्षि-दयानन्द ने इन सिद्धियों के विषय में इस प्रकार कहा है—

(क) "**अणिमादि विभूतियाँ हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि [योगी का चित्त] छोटी से छोटी वस्तु को विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है, उसे 'गरिमा' कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है**"॥ (उपदेश-मञ्जरी ११ वाँ उपदेश)

(ख) "**सो हृदय में ही परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योगज्ञान से योगी जानता है। बाहर के पदार्थों से किञ्चिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता, किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है और से नहीं**"॥ (शास्त्रार्थ०)

(ग) "**इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि, इन्हों की, जैसी प्रभा, वैसी ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है**"॥ (शास्त्रार्थ०)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अणिमादि सिद्धियाँ मानसिक हैं, शारीरिक नहीं। और इन सिद्धियों में कामावसायित्व=सत्य-संकल्प होना, के विषय में व्यास-भाष्य में यह भी स्पष्ट किया है कि योगी न तो ईश्वर के तुल्य हो सकता है और नहीं ईश्वर-रचित पदार्थों में विपर्यय ही कर सकता है। चान्द को सूर्य अथवा सूर्य को चान्द इत्यादि ईश्वरीय-सृष्टि में विपर्यय योगी कदापि नहीं कर सकता। क्योंकि पदार्थों का विपरीत करने का सामर्थ्य योगी का नहीं होता और ऐसा करना ईश्वर के संकल्प के विरुद्ध है।

और इन सिद्धियों के अतिरिक्त 'कायसम्पत्' की व्याख्या अगले सूत्र में।

की गई है, अतः वहीं द्रष्टव्य है। और सूत्रकथित तीसरी सिद्धि तद्धर्मानभिघात का तात्पर्य यह है कि पृथिवी का कठिनताधर्म, जल का स्नेहधर्म, अग्नि का जलाना धर्म, वायु का गति धर्म और आकाश का अनावरणता धर्म योगी का प्रतिबन्धक नहीं होता। अर्थात् भूतजयी योगी के भूतों के उपयोग लेने रूप कार्यों में ये कठिनतादि धर्म प्रतिबन्ध नहीं करते। और प्रतिबन्ध न होने से योगी सब कार्यों को निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न कर लेता है। इस विषय में भी व्यास-भाष्य में कही—शिला में अनुप्रवेश करना, अग्नि का न जलनादि बातों पर योगी-पुरुषों को विचार करके निर्णय करना चाहिये ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

व्यासभाष्यम्

दर्शनीयः कान्तिमानतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

भाष्यानुवाद—(योगी को भूतजय से 'कायसम्पत्' नामक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है) अर्थात् योगी दर्शनीय=रूपवान्, कान्तिमान्=तेजस्वी, अतिशय-बल=अत्यन्त बलवान् और वज्रसंहनन=वज्र के समान सुदृढ़ तथा पुष्ट शरीरावयवों वाला हो जाता है।

सूत्रार्थ—(रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि) भूतों के वशीकार से योगी को रूप=दर्शनीय रूप, लावण्य=अनुपम कान्ति, बल=अतिशयबल और वज्रसंहननत्व=वज्र की भांति अंगों की दृढ़ता, यह (कायसम्पत्) शारीरिक सम्पदा (ऐश्वर्य) प्राप्त होती है।

भावार्थ—पृथिवी आदि पञ्चभूतों के वशीकार से योगी को जो काय-सम्पत्=शारीरिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, उसकी व्याख्या इस सूत्र में की है। अर्थात् भूतजयी योगी का शरीर दर्शनीय, तेजस्वी, बलवान् तथा वज्र के समान सुदृढ़ हो जाता है। इन चार गुणों को ही 'कायसंपत्' नाम से यहाँ कहा गया है ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमा-दिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

व्यासभाष्यम्

[ग्रहण]सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः। तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रह-

णम् । न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारं कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयेतेति । [स्वरूप] स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् । [अस्मिता] तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः । तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामः । [अर्थवत्त्व] पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति । पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

भाष्यानुवाद—[ग्रहण] पञ्चभूतों के सामान्य विशेषात्मक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषय ग्राह्य हैं। उन विषयों में नेत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति=वर्त्तनशक्ति ग्रहण है और यह ग्रहण=इन्द्रियों की वृत्ति सामान्यमात्र विषय को ही ग्रहण कराने वाली नहीं होती (किन्तु सामान्य विशेष दोनों का ग्रहण कराती है।) अन्यथा इन्द्रिय से अनालोचित=ग्रहण न किया गया विषय-विशेष मन से कैसे निश्चित किया जा सके ? (क्योंकि बाह्येन्द्रिय से ग्रहण करने पर ही मन निश्चय करता है।)

[स्वरूप] (इन्द्रियों का) स्वरूप—प्रकाशशीलबुद्धिसत्त्व (महत्तत्त्व) के सामान्य विशेषों के अयुतसिद्ध=नैसर्गिक पृथक् न होने वाले अवयवों के भेद से युक्त जो समूहद्रव्य है, वह इन्द्रियों का स्वरूप[1] है।

[अस्मिता]—उन इन्द्रियों का तृतीय रूप अस्मिता का लक्षण वाला अहंकार है। अर्थात् इन्द्रियों का कारण जो अहंकार है, वह इन्द्रियों का अस्मिता नामक रूप है। उस सामान्य रूप अहंकार के इन्द्रियाँ विशेष कार्य हैं।

[अन्वय]—इन्द्रियों का चौथा रूप है—व्यवसायात्मक=निश्चयात्मक व्यवहार कराने वाले, प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील सत्त्व, रजस्, व तमोगुण जिनका अहंकार सहित इन्द्रियाँ परिणाम है। (सत्त्वादि तीनों गुण इन्द्रियों में कारण-कार्य भाव से अनुगत होने से यहाँ अन्वय रूप में कहे गये हैं।)

[अर्थवत्त्व]—इन्द्रियों का पञ्चमरूप—सत्त्वादि तीनों गुणों में जो पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन का सामर्थ्य अनुगत है, वह इन्द्रियों का अर्थवत्व पांचवाँ रूप है।

इन उपर्युक्त पाञ्चों इन्द्रियों के रूप में क्रम से संयम करके और उनमें

---

१. प्रकाशात्मक महत्तत्त्व का परिणाम जो अयुत सिद्ध अवयव सात्त्विक अहंकार है, उसमें कार्यरूप से अनुगत जो सामान्य विशेष रूप द्रव्य है, वह इन्द्रियों का स्वरूप है। अर्थात् सात्त्विक अहंकार का जो प्रकाशस्वरूप कार्य है, वह इन्द्रिय है।

पञ्चरूप जय प्राप्त करके योगी को 'इन्द्रियजय' नामक सिद्धि प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ— (ग्रहण-स्वरूप-अस्मिता-अन्वय-अर्थवत्त्व-संयमात्) ग्रहण= नेत्रादि इन्द्रियों को रूपादि विषयाभिमुखीवृत्ति-स्वरूप=सात्त्विक अहंकार का कार्य होने से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व, अस्मिता=इन्द्रियों का कारण अहंकार, अन्वय=सत्त्वादि गुणों का अपने प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिरूप धर्मों से इन्द्रियों में अनुगत होना, अर्थवत्त्व=पुरुष के भोगापवर्ग को सम्पन्न करना इन्द्रियों का प्रयोजन, इन्द्रियों के इन पाञ्च रूपों में संयम करने से (इन्द्रियजयः) योगी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है ॥

भावार्थ—३ । ४४ सूत्र में पृथिवी आदि पञ्चभूतों के पाञ्च रूपों में संयम करने से भूतजय कहा है, उसी प्रकार इस सूत्र में इन्द्रियों के पाञ्च रूपों में संयम करने से इन्द्रियजय नामक सिद्धि बतायी गई है। वे पाञ्च रूप इस प्रकार समझने चाहिये—

(१) ग्रहण=रूपादि विषयों को ग्रहण करने की जो इन्द्रियों की वृत्ति है, वह इन्द्रियों का ग्रहण रूप है। ग्राह्य पृथिवी आदि पञ्चभूतों का स्वरूप पहले (३ । ४४ में) कहा गया है। उनके सामान्य-विशेषधर्मों से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, ये इन्द्रियों के ग्राह्य हैं। इन्द्रियों द्वारा शब्दादि का ग्रहण होने पर ही मन निश्चय करता है। अतः योगी को विषयों की ओर ले जाने वाली इन्द्रियों को वृत्ति पर संयम करना चाहिये।

(२) स्वरूप—इन्द्रियाँ विषयों का साक्षात्कार कराने से प्रकाशरूप हैं। नेत्रादि इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने से प्रकाशक हैं। और सात्त्विक अहंकार सात्त्विक महत्तत्त्व का परिणाम है। अतः महत्तत्व के पृथक् न होने वाले प्रकाशक अवयवों से युक्त तथा सामान्य विशेष दोनों रूपों का ग्रहण करना ही इन्द्रियों का स्वरूप है।

(३)—अस्मिता—इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। अतः इन्द्रियों का कारण अहंकार है। इसी उपादानकारण को यहाँ अस्मिता कहा है।

(४) अन्वय—इन्द्रियाँ अहंकार का, अहंकार महत्तत्त्व का और महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य है। और 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' नियम के अनुसार कारण के गुण कार्य में आते हैं। अतः इन्द्रियों में प्रकृति के सत्त्वादि गुण अनुगत हैं। इसी अन्वयी भाव को यहाँ इन्द्रियों का चतुर्थरूप कहा है।

(५) अर्थवत्त्व—इस शब्द का अर्थ है—प्रयोजनवाला। इन्द्रियों का

भी वही प्रयोजन है जो प्रकृति का है। अतः पुरुष के भोग तथा अपवर्ग को सम्पन्न करना इन्द्रियों का पञ्चम अर्थवत्त्व रूप है।

इन इन्द्रियों के रूपों में संयम करने से योगी को इन्द्रियों का यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है। और यथार्थबोध होने से योगी इन्द्रियों के वश में न होकर उनको अपने अधीन कर लेता है। जिससे इन्द्रियों का विषय प्रवण-स्वभाव धीरे धीरे समाप्त हो जाता है। इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर योगी की इच्छा से कार्यरत होती हैं। यही योगी का इन्द्रिय-जय कहलाता है ॥ ४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

व्यासभाष्यम्

[मनोजवित्वम्] कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्। [विकरण-भावः] विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरण-भावः। [प्रधानजयः] सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते। एताश्च करणपञ्चरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

भाष्यानुवाद—[मनोजवित्वम्] शरीर को अत्युत्तम गति प्राप्त होना मनोजवित्व है। [विकरणभावः] विदेह=देह की अपेक्षा के बिना इन्द्रियों का अभीष्ट देश में, अभीष्ट समय में और अभीष्ट विषय के अनुकूल वृत्ति=इन्द्रियों का व्यापार में लगना विकरणभाव है। [प्रधानजयः] प्रकृति के सभी विकारों का वश में हो जाना प्रधानजय है। ये तीनों सिद्धियाँ 'मधुप्रतीक' कही जाती हैं। और ये सिद्धियाँ करण=इन्द्रियों के पाञ्च रूपों के जय से प्राप्त होती हैं।

सूत्रार्थ—(ततः) उस इन्द्रियजय होने से (मनोजवित्वम्) मन के समान शरीरस्थ इन्द्रियों का वेगवाला होना (विकरणभावः) शरीर की अपेक्षा के बिना सूक्ष्म, दूरस्थादि विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त करना (च) और (प्रधानजयः) प्रकृति के विकारों को वश में करना, ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों पर जय करने से योगी को तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सूत्र ३।४७ में इन्द्रियों के ग्रहणादि पाञ्चरूपों में संयम करने से इन्द्रियजय बताया है। उनमें इन्द्रियों के ग्रहण (विषयग्रहणवृत्ति) में संयम करने से प्रथममनोजवित्व सिद्धि प्राप्त होती है। यहाँ व्यासभाष्य में मनोज-

वित्व का अर्थ शरीर को अनुत्तमगति प्राप्त करना लिखा है। यहाँ शरीर से अभिप्राय शरीरस्थ बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से ही है। क्योंकि मन के समान शरीर की गति सम्भव नहीं है। मन के अनुसार इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। इन्द्रियों का विशेष शक्तिसम्पन्न होना ही मनोजवित्व सिद्धि प्राप्त करना है। दूसरी सिद्धि विकरणभाव है, जिसके प्राप्त होने पर इन्द्रियाँ शरीर की अपेक्षा के बिना सूक्ष्म, व्यवहित अथवा दूरस्थ विषयों को भी ग्रहण करने लगती हैं। यह इन्द्रियों के स्वरूप में संयम करने का फल है। और तीसरी सिद्धि प्रधानजय है। जिसका तात्पर्य प्रकृति के विकारों को वश में करना है। जिसके परिणामस्वरूप योगी निर्बाध रूप से अभिप्रेत कार्य कर सकता है। यह इन्द्रियों के कारण अस्मिता=अहंकारादि में संयम करने का परिणाम है। योगशास्त्र में ये तीनों सिद्धियाँ 'मधुप्रतीका कहलाती हैं। इन ग्राह्य व ग्रहण के स्वरूप-बोध से होने वाली सिद्धियों को मधुप्रतीका कहने का भाव यह है कि ये मधु=मोक्षानन्द के प्रतीक=चिह्न होती हैं। क्योंकि इनके बाद ग्रहीता के स्वरूप का बोध होने से 'विवेकख्याति' प्राप्त हो जाती है ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् । [सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्] सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः । [सर्वज्ञातृत्वम्] सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः । इत्येषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

भाष्यानुवाद—रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न मलों से शून्य सतोगुण-प्रधान बुद्धि के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर और उत्कृष्ट वशीकारसंज्ञा=वैराग्य में स्थित तथा सत्त्व=बुद्धि और पुरुष की भिन्नता की दर्शनस्थिति में प्रतिष्ठित (चित्तवाले) योगी को सर्वभावाधिष्ठातृत्व=सब भावों (वस्तुओं) का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। [सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्] (सर्वभावाधिष्ठातृत्व का अभिप्राय यह है) व्यवसाय=ज्ञानात्मक तथा व्यवसेय=ज्ञेयात्मक सभी रूपों वाले सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण अपने स्वामी क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा के प्रति सम्पूर्ण

दृश्यात्मक रूप में=समस्त भोग्य पदार्थों के रूप में उपस्थित होते हैं। [सर्वज्ञातृत्वम्] और सर्वज्ञता प्राप्त होती है अर्थात् शान्त=भूत, उदित=वर्त्तमान, तथा अव्यपदेश्य=भविष्यत् धर्मभाव के रूप में स्थित सभी रूपों वाले सत्त्वादि गुणों का बिना किसी क्रम के (एकसाथ) विवेकजन्य ज्ञान होता है। यह 'विशोका' नाम की सिद्धि है जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ (विवेकज-ज्ञान से सम्पन्न), क्लेशबन्धन से क्षीण=दग्धक्लेशबन्धन वाला और वशी=सबका अधिष्ठाता होकर विहार=विचरण करता है।

सूत्रार्थ—(सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य) चित्त और पुरुष के भेद को जानने वाले योगी को (सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्) सब भाव=सत्तात्मक त्रिगुणमय पदार्थों का स्वामित्व (च) और (सर्वज्ञातृत्वम्) सत्त्वादि गुणों के शान्तादि समस्त रूपों को जानने से विवेकज ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—ग्राह्य तथा ग्रहण में संयम करने से होने वाली सिद्धियों का कथन करके इस सूत्र में ग्रहीता में संयम करने का फल कथन करते हैं। सूत्र में 'सत्त्व' शब्द से चित्त (अन्तःकरण) का ग्रहण है। विवेकख्याति के समय चित्त सतोगुणप्रधान होने से 'सत्त्व' कहलाता है, क्योंकि उस समय रजोगुण व तमोगुण अभिभूत दशा में रहते हैं। और 'पुरुष' शब्द से जीवात्मतत्त्व का ग्रहण है। इन दोनों के भेद का साक्षात्कार होने से योगी को दो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **सर्वभावाधिष्ठातृत्व**—योगी संयम के अभ्यास से जब ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है कि रजोगुण व तमोगुण के मलों से रहित सतोगुण की प्रधानता होने एवं निर्मलान्तःकरण होने से उत्कृष्ट वैराग्य दशा को प्राप्त कर लेता है, उस समय समस्त त्रिगुणात्मक प्रतिकूल विकार भी पुरुष स्वामी के समक्ष उपस्थित होकर योगी को आकृष्ट नहीं कर सकते। योगी उनको वश में करके अपने अभिप्रेत कार्यों को करता रहता है। यही योगी का सर्वभावाधिष्ठातृत्व कहलाता है।

(२) **सर्वज्ञातृत्व**—ग्राह्य तथा ग्रहण को जानने वाला योगी जगत् के सब तत्त्वों को जान लेता है। योगी के लिए ऐसा कोई तत्त्व नहीं रहता, जिसके यथार्थ स्वरूप को योगी न जानता हो। इस स्थिति को ही सूत्रकार ने सर्वज्ञातृत्व कहा है। व्यासभाष्य में इस विषय में कहा है कि प्रकृतिजन्य विश्व त्रिगुणात्मक है, जितने भी धर्मी रूप में प्राकृतिक पदार्थ हैं, उनमें शान्त, वर्तमान तथा उदित होने वाले गुणों का बिना किसी क्रम के जब विवेकज ज्ञान

हो जाता है, तब योगी सब तत्त्वों को जानने से सर्वज्ञ कहलाता है। इसलिये जीवात्मा की सर्वज्ञता सापेक्ष ही है, परमेश्वर की भांति नहीं।

योगी की इन सिद्धियों को व्यासभाष्य में 'विशोका' नाम से कहा है। इसका कारण सब क्लेशों के बन्धन से रहित होने और वशी होकर स्वेच्छा से विचरने से है। इस दशा में योगी सर्वथा शोकरहित हो जाता है।

और सर्वज्ञता का भाव यह है कि अब उसके लिए कोई तत्त्व ज्ञेय नहीं रहता। इसीलिये उपनिषदों में कहा है—

'आत्मनो वा अरे दर्शनेनेदं सर्वं विदितम्॥'

अर्थात् अन्तिम आत्म-तत्त्व के जानने पर सबका ज्ञान हो जाता है॥४६॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ५०॥

व्यासभाष्यम्

[तद्वैराग्यादपि] यदाऽस्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति। [दोषबीजक्षये] एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते। [कैवल्यम्] तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानाम् प्रतिप्रसवे पुरुषस्याऽऽत्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्, तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति॥ ५०॥

भाष्यानुवाद—[तद्वैराग्यादपि] क्लेशों और कर्म=कर्माशय के क्षीण हो जाने पर जब इस योगी को ऐसा ज्ञान हो जाता है कि यह विवेकज ज्ञान (विवेकख्याति) भी सतोगुण का ही धर्म है, और सतोगुण तो हेय=त्याज्यकोटि में रखा गया है और पुरुष अपरिणामी, शुद्धस्वरूप और सत्त्वगुण से सर्वथा भिन्न है। [दोषबीजक्षये] तब इस प्रकार उस (सतोगुणजन्य विवेकख्याति) से विरक्त होते हुए योगी के जितने क्लेशबीज रहते हैं, जो जले हुए धान के बीजों के समान फलोत्पत्ति में समर्थ नही हैं, वे मन के साथ कारण में लीन हो जाते हैं। उन (क्लेशादि) के प्रलीन होने पर पुरुष फिर तीनों[1] तापों को नहीं भोगता है। [कैवल्यम्] तब मन में कर्म, क्लेश और उनका फल रूप से अभि-

१. तीन ताप ये हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख।

व्यक्त होने वाले, किन्तु चरितार्थ=पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन पूर्ण करने से कृतकृत्य हुए गुणों के प्रतिप्रसव=(मन के सहित) अपने कारण में लीन हो जाने पर जो पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग होना है, वह कैवल्य= मोक्ष कहलाता है। उस समय पुरुष अपने स्वरूप में स्थित चैतन्य मात्र ही रहता है।

सूत्रार्थ—(तद् वैराग्याद् अपि) उस पूर्वसूत्रोक्त सतोगुणप्रधान विशोका-सिद्धि से भी विरक्त होने से (दोष[1]बीजक्षये) सब क्लेशों तथा उनके बीज= कारणरूप अविद्या के नाश होने पर (कैवल्यम्) गुणों से आत्यन्तिक वियोग होने से पुरुष का मोक्ष होता है।

"(तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ।।" (ऋ० भू० मुक्तिविषय)

भावार्थ—सूत्र (३। ४९) में सात्त्विक चित्त तथा पुरुष की भिन्नता के ज्ञान होने पर सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञातृत्व नामक सिद्धियों को 'विशोका' नाम से कहा है। इस स्थित में योगी जिस विवेकजज्ञान को प्राप्त करता है, वह भी सतोगुण-प्रधान चित्त का धर्म है। और चित्त त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार होने से मोक्ष-प्राप्ति के लिये त्याज्य है। इस लिये इस विवेकज्ञान= विशोका सिद्धि से ऊँचा उठने के लिए योगी को वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि पुरुष=चेतनात्मतत्त्व परिणामी चित्त से भिन्न अपरिणामी तत्त्व है। इस वैराग्य को पर-वैराग्य भी कहा जाता है, क्योंकि योगी का इस दशा में प्रकृति से आत्यन्तिक-वियोग हो जाता है। फिर योगी के योगभ्रष्ट होने की सम्भावना क्षीण ही हो जातो है। और उसे किसी प्रकार का ताप=दुःख नहीं सताता है।

इस दशा में चित्त पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के सिद्ध होने से स्वकारण में लीन हो जाता है और अनादिकालीन चित्तस्थ अविद्यादि क्लेशों के बीज=कारणभूत संस्कार और वासनायें दग्धबीज की भाँति फलोन्मुख होने में सर्वथा असमर्थ हो जाती हैं और चित्त के साथ ही कारण में लीन हो जाती हैं। इस स्थिति (गुणों से आत्यन्तिक[2] वियोग) में योगी पुरुष केवल अपने स्वरूप में ही स्थित होने से कैवल्य=मोक्ष में स्थित हो जाता है।

---

१. दोषः=दुष्यति विकारभावं प्राप्नोति मनो येन स रागादिक्लेशः।

२. प्रकृति-सम्पर्क से सर्वथा पृथक्।

और यहां भौतिक मन का अपने कारण में लय मानकर व्यासमुनि ने स्पष्ट किया है कि मोक्ष में भौतिक मन नहीं रहता। इसी तथ्य को महर्षि दयानन्द ने माना है—

(क) "दूसरा पांच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता हैं। यह सूक्ष्मशरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद है—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्मभूतों के अंशों से बना है, दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविकगुण रूप है।"

(स० प्र० नवम समु०)

(ख) 'मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं।.........जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है॥" (स० प्र० नवम समु०)॥ ५०॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुन-रनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥

व्यासभाष्यम्

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरति-क्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः। सप्तविधाऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वविशुद्धि-मनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहाऽऽस्यतामिह रम्यताम्।

कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहा-यसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता-प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान्भावयेद्घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धा-

लोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव ;पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनी कुर्यामिति । स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत् ।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति । स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवाऽऽत्मानं न भावयिष्यति । तथा चास्य छिद्रान्तरापेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः । एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढी भविष्यति । भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति ॥ ५१ ॥

भाष्यानुवाद—वे योगी चार प्रकार के होते हैं—(१) प्राथमकल्पिक (२) मधुभूमिक (३) प्रज्ञाज्योति (४) अतिक्रान्तभावनीय। उनमें प्रथम (प्रकार का) योगी प्रवृत्तमात्रज्योति=जिसे पदार्थों को प्रकाशित करने वाली ज्योति प्राप्त होने लगी है, ऐसा योगाभ्यासी प्राथमकल्पिक है। ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला योगी दूसरी कोटि का होता है, जिसे मधुभूमिक कहते हैं। पञ्चभूतों तथा इन्द्रियों पर विजय करने वाला योगी प्रज्ञाज्योति कहलाता है। यह योगी सभी साक्षात्कृत विषयों में कृतरक्षाबन्ध=आसक्त न होने के लिये आत्मरक्षादि के लिये दृढाभ्यासादि कर लेता है और असाक्षात्कृत, जो अभी साक्षत् करणीय हैं, उन विषयों में करणीय साधनानुष्ठानों को करने वाला होता है। और चौथा योगी, जो अतिक्रान्त भावनीय होता है, उसके लिये चित्त प्रतिसर्ग=चित्त का अपने कारण में लीन करना ही एक प्रयोजन रह जाता है। इस योगी की सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा[1]=अन्तिम स्तर की प्रज्ञा हो जाती है।

उन चारों योगियों में मधुमती भूमि को साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मण=ब्रह्म को जानने वाले योगी को स्थानीय (भूमि आदि के) स्वामी देव=विद्वान् लोग सत्त्वशुद्धि को देखते हुए विभिन्न स्थानों से सत्कारपूर्वक निमन्त्रण देते हैं—भगवन्! यहाँ बैठिये, इस स्थान पर रमण कीजिये यह भोग=भोग्यपदार्थ कमनीय=स्पृहा करने योग्य है, यह कन्या कमनीय=सुन्दर है, यह रसायन=आयुवर्धक औषध है, जो बुढ़ापे और मृत्यु को भी दूर करता है, यह आकाश में चलने वाला विमान है, ये कल्पवृक्ष[2] हैं, यह पवित्र

---

१. यह सप्तविधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा यो० २। २७ सूत्र के भाष्य में द्रष्टव्य है।

२. कल्पवृक्ष, गङ्गा, अप्सरादि की बातें अर्वाचीन पौराणिक काल की होने से प्रक्षिप्त हैं। कमनीय कन्या से भिन्न अप्सरा कौन है? कल्पवृक्ष कहाँ पर है? गंगा नदी का क्या आशय है? यह सब काल्पनिक ही प्रतीत होता है। और कुछ पुस्तकों में यह पाठ कोष्ठान्तर्गत करने से भी सन्दिग्ध है।

गंगा है, ये सिद्ध महर्षि हैं, ये श्रेष्ठ अनुकूल अप्सरायें हैं, ये दिव्य कान और नेत्र हैं, यह वज्रतुल्य शरीर, यह सब आपने अपने गुणों द्वारा ही अर्जित किया है, इसे आप (चिरंजीवी) सेवन करें और इस अक्षर, अजर और अमर देवों के प्रिय स्थान को स्वीकार करें।

इस प्रकार कहा जाता हुआ योगी विषयों की आसक्ति के दोषों को देखताहुआ इस प्रकार विचार करे—इन भीषण संसार (जन्म-मरण) के धधकते अङ्गारों में जलने के समान दुःखों को सहते हुए और जन्म-मरण के घोर अन्धकार में भटकते हुए मैंने जैसे तैसे (किसी तरह से) क्लेश रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला यह योगरूपी दीपक प्राप्त किया है। और उस योग-दीपक का ये तृष्णा के कारणभूत विषयों की वायु प्रतिपक्ष=विरोधी है। उस इस योग दीपक के प्रकाशवाला मैं इस विषयरूपी मृगतृष्णा के धोखे में आकर कैसे फिर उसी प्रज्वलित (धधकती हुई) संसार (जन्म-मरण) की अग्नि में अपने को इन्धन बनाऊं? आपका इन स्वप्नतुल्य तथा कृपण=हीन अथवा दयनीय मनुष्यों द्वारा अभिलषणीय विषयों के लिये भला हो। इस प्रकार सुस्थिर बुद्धि वाला होकर योगी समाधि=योग साधना में ही लगा रहे।

इस प्रकार योगी विषयों में आसक्त न होकर स्मय=गर्व भी न करे कि मैं तो अब देवों का भी प्रार्थनीय हो गया हूँ। क्योंकि गर्व के कारण योगी अपने को सुस्थिर मानते हुए मृत्यु के द्वारा बालों को पकड़ने के समान अपने को समुन्नत न कर सकेगा। और इस गर्वित योगी के दूसरे दोषों की ताक में रहने वाला और बड़े यत्न से दूर करने योग्य प्रमाद (असावधानी) लब्धा-वकाश होकर=अवसर पाकर क्लेशों को उभार देगा अर्थात् आश्रय देकर क्लेशों में फंसा देगा। उससे फिर अनिष्ट का प्रसङ्ग (संसारचक्र में फंसना) हो जाएगा।

इस प्रकार आसक्ति और गर्व से शून्य योगी के द्वारा भावित=साक्षात् किया हुआ (योगानुष्ठान किया हुआ) अभ्यास रूप अर्थ सुदृढ हो जायेगा। और भावनीय=साधन करने योग्य अर्थ सामने आजायेगा अर्थात् योगारूढ होकर अग्रसर होता रहेगा॥

सूत्रार्थ—योगी पुरुष को (स्थान्युपनिमन्त्रणे) मानव-समाज में विशेष स्थान रखने वाले सम्पन्न और विद्वान् पुरुषों के सादर निमन्त्रित करने पर (सङ्ग-स्मयाकरणम्) सङ्ग=आसक्ति और स्मय=अभिमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि (पुनः) ऐसा करने से फिर (अनिष्टप्रसङ्गात्) योगी को

अनिष्ट=योगमार्ग से भ्रष्ट करने वाले प्रसङ्ग=आसक्ति का दोष हो सकता है।

भावार्थ—चित्तवृत्तियों के निरोध को इस शास्त्र में योग माना है। परन्तु निरोध से पूर्व क्षिप्त-विक्षिप्तादि विभिन्न दशाओं को पार करके निरोध दशा को योगी प्राप्त करता है। उसको अविद्यादिक्लेशों का क्षय, परवैराग्य-प्राप्ति, अनादिकालीन चित्तस्थ वासनाओं का विवेकख्याति से दग्ध करना और चित्त को एकाग्र करके निरोध दशा को प्राप्त करनादि उपाय करने पड़ते हैं। और जो योगाभ्यासी जिस स्तर तक पहुंच चुका है उसे उतनी ही शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, और दूसरे योगाभ्यास में प्रथम स्तर पर लगे व्यक्तियों को उस स्तर तक पहुँचने में विलम्ब होना स्वाभाविक ही है। ऐसे दीर्घकाल में संसाध--नीय योगमार्ग पर चलने वाले पुरुष के लिये पद पद पर सजग व उद्बुद्ध रहना परमावश्यक है। और उत्तरोत्तर उन्नत स्तर पर पहुंचने पर पतन की अधिक संभावना रहने से योगी को अतीव सावधान रहने की आवश्यकता रहती है।

योगी के इन विभिन्न स्तरों को व्यासभाष्य में चार भागों में विभक्त किया है।

(१) **प्राथमकल्पिक योगी**—जिसने अभी योगाभ्यास प्रारम्भ ही किया है, योग की ज्योति भोग मार्ग की अपेक्षा प्रशस्य होने से जिसकी श्रद्धावश उसमें प्रवृत्ति ही हुई है, उसे अभी किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है। (२) **मधुभूमिक**—यह योग का दूसरा स्तर है। इसमें योगी को निर्भ्रान्त ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। जिससे योगी को आगे बढ़ने में पर्याप्त सहायता मिलती है। (३) **प्रज्ञाज्योति**—इस तीसरे स्तर में योगी पञ्चभूतों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। उससे (३।४५) अणिमादि सिद्धियाँ और (३।४८) मनोजवित्वादि सिद्धियाँ योगी को प्राप्त होजाती हैं। (४) **अतिक्रान्त-भावनीय**—योग के इस स्तर में योगी तीसरे स्तर की सिद्धियों से विरक्त हो जाता है और आत्मतत्त्व को जानने के लिये समस्त स्तरों को पार करने पर चित्त का अपने कारण में लय करना ही शेष रहता है। इस दशा में चित्त (२। २७ में कही) सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा वाला हो जाता है।

योग के इन विभिन्न स्तरों में तृतीय और चतुर्थ स्तर ही ऐसे हैं, जिनमें योगी को सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसे सिद्धपुरुष के प्रति श्रद्धातिशय रखने वाले सांसारिक व्यक्ति सिद्धपुरुष को आदर पूर्वक अपने स्थानों पर बुलाकर उसका उत्तमोत्तम भोगों से यथाशक्ति सत्कार करने की इच्छा प्रकट करते हैं

और योगी को निमन्त्रण देते हैं। उस समय योगी के समक्ष दो प्रकार से पतन के कारण उपस्थित हो सकते हैं। (१) योगी उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर उनके निवास स्थानों पर जाने लगे और अतिशय सत्कार से उपहार किये भोगों में आसक्त होने से उन्हीं के प्रति आकृष्ट होने लगे। और (२) योगी को योग के चमत्कारों और दूसरे लोगों के अतिशय आदर करने से अभिमान पैदा होने लगे। ये दोनों प्रसङ्ग योगी के लिये अनिष्टकारक हैं, जो उसे योग से भ्रष्ट करके पतित कर देते हैं।

योग के भाष्यकार कारुणिक महर्षि व्यास ने सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हुए योगाभ्यासी व्यक्ति को यहाँ बहुत सावधान किया है। योगी पुरुषों को योगज सिद्धियों के चमत्कारों तथा सांसारिक लोगों के निमन्त्रणों से सदा बचते रहना चाहिये और ऐसी स्थिति पैदा होने पर योगी प्रतिपक्ष की भावना को प्रतिबुद्ध करके इन अनिष्टों का निवारण करता रहे। अर्थात् जिन क्लेशों से दुःखी होकर मैंने अतीव कठिन अभ्यास के द्वारा योग का दीपक प्राप्त किया है, उसे अभिमान और आसक्ति बुझाकर फिर से संसार के जटिल पाश में बान्धने वाले हैं, अतः इनसे पृथक् रहना ही कल्याणकारक है, इत्यादि प्रतिपक्ष की भावना जागृत करता रहे ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

व्यासभाष्यम्

यथाऽपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः। तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते।

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसंभवात्। पूर्वस्मादुत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

भाष्यानुवाद—जैसे द्रव्य का अपकर्ष=सूक्ष्म करते-करते अन्तिम भाग परमाणु कहलाता है, वैसे ही अत्यन्त छोटा अन्तिम कालांश को क्षण कहा जाता है। अथवा जितने समय में परमाणु पूर्वदेश=पहले स्थान को छोड़ और उत्तरदेश=दूसरे बाद वाले स्थान कोप्राप्त होवे, वह समय क्षण है। उस क्षण की प्रवाह (धारा) न टूटना ही (क्षण का) क्रम है। क्षण और उसके क्रम का वस्तुरूप से समाहार (संग्रह) नहीं है, (प्रत्युत) बुद्धिगत क्षण समाहार (क्षण-समूह) होता है। जैसे—मुहूर्त, अहोरात्र, इत्यादि। वह यह काल (क्षणसमूहरूप) वस्तुशून्य होता हुआ भी बुद्धि से निर्मित शब्दज्ञान (शाब्दी प्रमा) का अनुसरण करने वाला है और व्युत्थानदर्शी=असमाहित दृष्टि वाले लौकिक सामान्यजनों के सम्मुख वस्तुरूप सा अवभासित=प्रतीत होता है।

परन्तु क्षण तो वस्तुपतित=वास्तविक होता है और क्रम का आश्रयभूत होता है। और क्रम क्षणों के नैरन्तर्य स्वरूप (तारतम्यरूप) होता है। उस को (क्षणनैरन्तर्यरूपी क्रम को ही) कालवेत्ता योगी 'काल' नाम से कहते हैं। दो क्षण एकसाथ नहीं होते, और क्रम भी दो साथ स्थित क्षणों का नहीं होता। क्योंकि दो क्षणों की एक साथ स्थिति सम्भव नहीं है। पूर्वक्षण से आगे होने वाले क्षण का जो आनन्तर्य=सामीप्य है, वह क्रम है। अतः वर्त्तमान (अवस्था वाला) ही एक क्षण होता है, उससे पूर्व तथा बाद के क्षण वर्तमान नहीं होते, इसलिये क्षणों का समाहार (संग्रह) नहीं होता। जो भूतकालीन और भावी क्षण हैं, वे परिणामान्वित=अतीतलक्षण परिणाम तथा अनागतलक्षण परिणाम में सामान्यरूप से अनुगत कहे जाने चाहियें। इस कारण से इस एक (वर्त्तमान) क्षण से ही समस्त जगत् परिणाम को प्राप्त होता रहता है। उसी (वर्तमान) क्षण पर ये सभी धर्म चढ़े हुए=प्राप्त हुए होते हैं। उन दोनों क्षण और उसके क्रम में संयम करने से उन दोनों का साक्षात्कार होता है। और उस साक्षात्कार से विवेकज-ज्ञान प्रकट होता है।

सूत्रार्थ—योगी को (क्षण-तत्क्रमयोः) क्षण और उसके क्रम में (संयमात्) संयम करने से (विवेकजम्) विवेक से उत्पन्न (ज्ञानम्) ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—योगदर्शनकार ने ३।३५ तथा ३।४९ सूत्रों में पुरुषतत्त्व की चित्त से भिन्नता को जानने के लिये स्वार्थसंयमादि उपाय बताये हैं। इस सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति ज्ञान को विवेकज-ज्ञान भी कहते हैं। उस ज्ञान की प्राप्ति का एक अन्य उपाय इस सूत्र में वर्णन किया गया है—क्षण और

उसके क्रम में संयम करना। इसका अभिप्राय यह है कि पुरुषतत्त्व[1] से भिन्न संसार में जितने प्रकृतिजन्य पदार्थ हैं, वे सब क्षण-परिणामी हैं और पुरुष अपरिणामी तत्त्व है। इनके भेद का ज्ञान क्षण-तत्क्रम में संयम करने से होता है। जिस समय योगी क्षण तथा उनके क्रम में संयम करता है, तो उसे समस्त परिणामी प्रकृतिजन्य पदार्थों की यथार्थ सीमा का बोध हो जाता है और अपरिणामी पुरुषतत्त्व इनसे भिन्न है, यह निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। और इस विवेकज-ज्ञान का प्रकार ३।५३ सूत्र में समझाया गया है। अर्थात् पदार्थों का एक दूसरे से भेद का ज्ञान जातिभेद, लक्षणभेद तथा देशभेद से होता है, परन्तु दो समान प्रतीत होने वाले सूक्ष्म-परमाणु आदि के भेद का ज्ञान क्षण और उसके क्रम में संयम करने से होता है।

और क्षण तथा उसके क्रम की व्याख्या व्यासभाष्य में इस प्रकार की है—जैसे द्रव्य का सबसे लघुतमकण, जिसके भाग न हो सकें, उसको परमाणु कहते हैं, वैसे ही समय की सब से छोटी विभागरहित गति क्षण है। इसको और स्पष्ट करने के लिये व्यासमुनि ने लिखा है—जितने समय में एक परमाणु अपने पहले स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को प्राप्त होवे, उतने काल की मात्रा 'क्षण' है। और क्षण के प्रवाह का विच्छेद न होना (बने रहना) 'क्रम'[2] कहलाता है। पूर्वक्षण से आगे होने वाले क्षण की जो समीपता है, उसे क्रम कहते हैं। 'क्षण' पद काल को बताता है और काल यथार्थ में कोई वस्तुभूत तत्त्व नहीं है। जैसे—घट, पट आदि वस्तुभूत द्रव्य हैं, और एकसाथ विद्यमान रहते हैं, वैसे दो क्षणों का युगपत्=एकसाथ होना असम्भव है। क्षणों का समूह मुहूर्त्त, रात, दिन, मासादि बौद्धिक समाहार होने से अस्थिर पुरुषों को वस्तुस्वरूपसा प्रतीत होता है। और क्षणों का क्रम भी बौद्धिक व्यवहार ही है, वस्तुभूत नहीं। क्योंकि दो क्षण एकसाथ नहीं हो सकते। एक वर्त्तमान क्षण ही सत्य है। उसी एक वर्तमान क्षण का परिणाम ही समस्त ब्रह्माण्ड है। क्षण के आश्रय से वस्तु के परिणाम को नापा जा सकता है। योगी को क्षण और उसके क्रम में संयम करने से अतिसूक्ष्म वस्तुओं के परिणाम का साक्षात्कार हो जाता है, जिससे योगी प्रत्येक क्षण में विद्यमान तथा परिणाम होने से उनकी भिन्नता को जान सकता है॥ ५२॥

---

१. पुरुषतत्त्व से अभिप्राय आत्मा और परमात्मा दोनों से है।

२. 'क्रम' का स्वरूप स्वयं सूत्रकार ने इस प्रकार बताया है—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ (यो० ४। ३३)

अर्थात् क्षण के अनन्तर होने वाला परिणाम के पिछले भाग या समाप्ति में जो ग्रहण किया जावे, वह क्रम होता है॥

अव०—तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

(अर्थ)—उस विवेकज-ज्ञान का विषय-विशेष प्रस्तुत किया जाता है—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

व्यासभाष्यम्

तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुः, गौरियं वडवेयमिति। तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति। द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति। यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदितिप्रविभागानुपपत्तिः। असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकज्ञानादिति।

कथं पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणाद्देशाद्भिन्नः। ते च आमलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने। अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति। एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति।

अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति। तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वे हेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति। अत उक्तं मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५३ ॥

भाष्यानुवाद—दो समान पदार्थों में देश और लक्षण की समानता होने पर भी जातिभेद उनकी भिन्नता का हेतु=ज्ञापक होता है। जैसे—(एक स्थान पर स्थित होने से देश-समानता और एक रंग होने से लक्षण-समानता होने पर भी) गौरियम्=यह गाय है, वडवेयम्=यह घोड़ी है। (इनमें जातिकृत भेद है।)

और समान स्थान तथा समान जाति होने पर लक्षणभिन्नता का हेतु होता है। जैसे कालाक्षी गौः=यह काली आँख वाली गाय है, स्वस्तिमती गौः=यह स्वस्ति चिह्न वाली गाय है। (इनमें लक्षणकृत भेद है।)

और दो आँवलों में जाति व लक्षण की समानता होने से देश-भेद

भिन्नता का हेतु है। जैसे—(जाति व लक्षण की तुल्यता होने पर भी) यह आँवला पूर्व का है और यह उत्तरवर्त्ती है। और जब ज्ञाता पुरुष के अन्य विषय में आसक्त होने पर पूर्वदेशस्थ आंवले को उत्तरदेश में हटा दिया जाये तो ज्ञाता को समानदेशी होने पर यह पूर्ववर्त्ती आँवला है और यह उत्तरवर्त्ती, ऐसा भेद करना सम्भव न हो सकेगा। और तत्त्वज्ञान सन्देह रहित होना चाहिये, इसलिए यह कहा गया है कि उस विवेकज्ञान से ही (इस प्रकार की) प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है। इसका कारण यह है कि पूर्ववर्ती आंवले के साथ के क्षणों वाला देश उत्तरवर्त्ती आंवले के साथ के क्षणों वाले देश से भिन्न है। और वे दोनों आंवले अपने अपने देशों के क्षणों के अनुभवों के कारण भिन्न हैं। अन्य देशों के क्षणों का अनुभव ही उन दोनों आंवलों की भिन्नता में हेतु है।

इस दृष्टान्त से समानजाति, समान लक्षण और समान देश वाले परमाणु का पूर्ववर्त्ती परमाणु के देश के साथ वाले क्षणों का साक्षात्कार होने से उत्तरवर्त्ती परमाणु का वह पूर्व देश न होने पर उस उत्तर देश का (क्षणों के साथ) अनुभव भिन्न होता है। साथ वाले क्षणों का भेद होने से उन दोनों परमाणुओं की भिन्नता का ज्ञान ईश्वर=योगज ऐश्वर्यसम्पन्न योगी को हो जाता है।

दूसरे आचार्य (वैशेषिक दर्शन के ज्ञाता) तु (इस प्रकार) कहते हैं कि (परमाणुओं में) जो अन्त्य=अन्तिम विशेष भेदक धर्म हैं, वे (परमाणुओं की) भिन्नता का ज्ञान कराते हैं। उनके मत में भी देश और लक्षणभेद तथा मूर्त्ति=पिण्डरूप, व्यवधान और जाति का भेद ही भिन्नता का (ज्ञापक) कारण है। (सबसे अधिक सूक्ष्म) क्षणों का भेद तो योगी की बुद्धि से जाना जा सकता है। इसलिए आचार्य वार्षगण्य ने भी कहा है—

"मूर्त्ति-व्यवधि-जाति-भेदाऽभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् ॥"

अर्थात् मूर्त्ति=पिण्डरूप (अवयवसंनिवेश), व्यवधि=सीमा (व्यवधान) और जाति का भेद, इनके अभाव से मूल प्रकृति (परमाणुओं) में पृथक्त्व नहीं होता है।

सूत्रार्थ—(तुल्ययोः) दो समान प्रतीत होने वाली वस्तुओं का (जातिलक्षणदेशैः) जाति, लक्षण तथा देश से (अन्यतानवच्छेदात्) भेद का निश्चय न होने से (ततः) उस पूर्वसूत्रोक्त क्षण-तत्क्रम में संयम से उत्पन्न विवेकज्ञान से (प्रतिपत्तिः) भेद का निश्चय होता है।

भावार्थ—पूर्व-सूत्र में क्षण, और उससे क्रम में संयम करने से विवेकज्ञान का कथन किया गया है। और इस सूत्र में उसका प्रकार समझाया गया है। इस ब्रह्माण्ड में जितने भी विद्यमान पदार्थ हैं, उनमें भेद का निश्चय जाति,

लक्षण तथा देश से होता है। जाति का अभिप्राय अनेक व्यक्तियों में जो अनुगत सामान्य धर्म से है। जैसे--गोमात्र में गोत्वजाति अनुगत धर्म है। एक ही देश में समान लक्षण (काले आदि रंग) वाली गाय और भैंस में भेद का ज्ञान जाति से होता है। इसी प्रकार गाय और वडवा (घोड़ी) का भेद जाना जाता है। और लक्षण का अभिप्राय भेदक विशेष धर्म से है। एक ही देश में जाति से समान वस्तुओं में भेद का ज्ञान लक्षण=(असाधारण धर्म) से होता है। जैसे—कालाक्षी गौः=काली आंख वाली गाय, और स्वस्तिमती गौः=स्वस्ति चिह्न-वाली गाय। इनमें लक्षण से भेद का निश्चय होता है। और देश से अभिप्राय पूर्वत्व-परत्वादि स्थान से है।

जैसे--जाति और लक्षण से समान होने पर भी दो आंवलों के भेद का निश्चय पूर्व-उत्तरदेश भेद से हो जाता है यह आंवला पूर्वदेशस्थ है। और यह उत्तरदेशस्थ है। परन्तु दो आँवले इकट्ठे रक्खे हों और द्रष्टा ने उन्हें पूर्वोत्तर रूप में देखा हो और उस द्रष्टा पुरुष के अन्यमनस्क होने पर कोई उन आंवलों को विपर्यय से रख देवे, अर्थात् पूर्व देश के आंवले को उत्तरदेश में और उत्तर देश के आंवले को पूर्वदेश में रख देवे, तब वह पूर्वद्रष्टा उनका निश्चय कदापि नहीं कर सकता। इनके भेद का ज्ञान योगी विवेकजज्ञान से कर सकता है। व्यास-मुनि ने इस रहस्य को इस प्रकार समझाया है—

यद्यपि उन दोनों आंवलो में जाति, लक्षण तथा देश से भेद का निश्चय नहीं किया जा सकता। परन्तु जो आंवला पहले उत्तरदेश में रखा था, उसके क्षण वाला देश पूर्व देश में रखे आंवले के क्षण वाले देश से भिन्न है। योगी पुरुष क्षण-तत्क्रम में संयम करके आंवलों के देश-क्षण-अनुभव से दोनों के भेद का निश्चय कर लेता है। पूर्व की ओर रखे आंवले के क्षण और उसके उत्तरदेश में रखने के क्षण में तथा उनके क्रम में संयम करके योगी दोनों आंवलों के परि-क्रम (बदलने के क्रम) का साक्षात्कार कर लेता है। और यह जान जाता है कि इन आंवलों में अमुक आंवला उस क्षण पूर्वदेश में रखा था और अमुक उत्तर देश में रखा था। दोनों पूर्वोत्तर देशों में रक्खे आंवलों के क्षण तथा उसके क्रम में संयम से परिवर्तित देश के क्षण और क्रम के भेद को योगी जान सकता है, समान्य मनुष्य नहीं। इसी दृष्टान्त के समान जाति, लक्षण तथा देश से समान परमाणुओं में भी पूर्व देश-क्षण तथा उत्तरदेश-क्षण के भेद तथा उनके क्रम में भेद को जानकर योगी भेद का निश्चय कर सकता है। दूसरे दर्शनकारों ने परमाणुओं में भेदज्ञान के लिये अन्त्य=अन्तिम विशेष (भेदक) धर्म को कारण माना है। उनके मत में भी देश, लक्षण, मूर्त्ति, व्यवधान और जाति

को भेद का कारण माना है। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण में क्षणकृत भेद को तो योगी ही संयम के द्वारा जान सकता है इसकी पुष्टि में व्यासभाष्य में वार्षगण्य आचार्य का भी मत उद्धृत किया है। अर्थात् मूलप्रकृति=परमाणुओं के भेद को मूर्त्ति, व्यवधान तथा जाति से नहीं जाना जा सकता, तदर्थ योगी का संयम ही भेद का ज्ञापक हो सकता है॥ ५३॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ५४॥

व्यासभाष्यम्

तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः। सर्वविषयं नास्य किंचिदविषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः। अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूतिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति॥ ५४॥

भाष्यानुवाद—[तारकम्] जो योगी को अपनी प्रतिभा से उत्पन्न बिना उपदेश के ज्ञान होता है, उसे 'तारक' कहते हैं। [सर्वविषयम्] सर्वविषय-ज्ञान का अर्थ है कि यह ज्ञान सब विषयों में पहुँचने वाला होने से, इससे कुछ भी अविषयीभूत नहीं होता। [सर्वथाविषयम्] (इसका अर्थ है) कि योगी भूत, भविष्यत् और वर्तमान सबको बारी बारी से जानता है। [अक्रमम्] (इसका अर्थ है) कि योगी एक क्षण में उपस्थित सबको सब प्रकार से ग्रहण कर लेता है। यह विवेकजज्ञान परिपूर्ण होता है। इस विवेकज ज्ञान का ही एक भाग योगप्रदीप है, जो मधुमती भूमि से लेकर जब तक परिसमाप्ति (सप्तप्रान्तभूमिप्रज्ञा) होती है, तब तक रहता है।

सूत्रार्थ—(विवेकजं ज्ञानम्) विवेकज ज्ञान (तारकम्) अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होने से अनुपदिष्ट होता है, (सर्वविषयम्) सब सूक्ष्म व्यवहितादि वस्तुओं को विषय बनाने वाला होता है (सर्वथा विषयम्) सब तत्त्वों के अतीत अनागतादि रूपों को सब प्रकार से विषय बनाने वाला होता है (च) और (अक्रमम्) क्रम की अपेक्षा न रखके सब को एकसाथ विषय बनाने वाला होता है।

भावार्थ—पूर्वसूत्र में विवेकज्ञान का प्रकार बताकर इस सूत्र में विवेक

ज्ञान का स्वरूप बताया गया है। दूसरे ज्ञानों से विवेकज्ञान की भिन्नता बताते हुए सूत्रकार ने चार विशेष लक्षण बताये हैं—(१) दूसरे ज्ञान उपदेश अथवा सिखाने से प्राप्त होते हैं, परन्तु विवेकज ज्ञान योगप्रतिभा से उत्पन्न होने से बिना उपदेश के होता है। (२) दूसरे ज्ञान सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थादि विषयों का ज्ञान नहीं कराते, परन्तु विवेकजज्ञान सबको विषय बनाता है अर्थात् इस ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों का भी ज्ञान होता जाता है। (३) दूसरे ज्ञान वर्तमान की वस्तुओं का ही ज्ञान कराते हैं, परन्तु विवेकजज्ञान अतीत तथा अनागत विषयों का भी बोध कराता है। (४) और दूसरे ज्ञान क्रम से होते हैं। एकसाथ नहीं परन्तु विवेकज-ज्ञान क्रम की अपेक्षा नहीं रखता। एक क्षण में उपस्थित सब वस्तुओं का ज्ञान कर लेता है। इन चार विशेषताओं के कारण व्यास-भाष्य में विवेकज ज्ञान को परिपूर्ण बताया है। इसी योगज दीपक के मधुमती, प्रज्ञाज्योति आदि अंशमात्र ही हैं। योगी मधुमती=भूमि से लेकर ज्ञान की वृद्धि करता हुआ समाधि की इस अन्तिम अवस्था तक पहुंच पाता है। इससे कोई वस्तु बिना जाने नहीं रहती है ॥ ५४ ॥

अव०—प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा ?

(अर्थ)—विवेकज ज्ञान को प्राप्त करने वाले को [मोक्ष प्राप्ति होती है] अथवा विवेकजज्ञान को प्राप्त न करने वाले को ?

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

व्यासभाष्यम्

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताख्यातिमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवाऽऽपन्नं भवति, तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा। नहि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति। सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यं, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति ॥ ५५ ॥

भाष्यानुवाद—जब रजोगुण तथा तमोगुण रूप मल से रहित बुद्धिसत्त्व

=सतोगुणप्रधान बुद्धि पुरुष की भिन्नता प्रतीति कराने वाली हो जाती है। और क्लेश दग्धबीज की भांति (असमर्थ) हो जाते हैं, तब पुरुष की शुद्धि जैसी स्थिति को (बुद्धि) प्राप्त हो जाती है। उस समय पुरुष में उपस्थित भोगों का भी अभाव हो जाना ही पुरुष की शुद्धि है। इस अवस्था में योगी चाहे ईश्वर=विवेकज ऐश्वर्य सम्पन्न हो अथवा अनीश्वर[1] अल्प=ऐश्वर्य वाला हो, विवेक-ज्ञानवाला हो अथवा उससे भिन्न हो, उसको कैवल्य=मोक्ष प्राप्त हो जाता है। दग्धक्लेशबीज वाले योगी को ज्ञान की फिर कोई आवश्यकता अथवा इच्छा नहीं रहती। बुद्धिसत्त्व की शुद्धि के द्वारा इस समाधिजन्य ऐश्वर्य[2] और ज्ञान का उपक्रम=कथन किया गया है। वास्तव में तो ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, उस अज्ञान के निवृत्त होने पर उत्तर=भावी (अविद्या से उत्पन्न होने वाले अस्मितादि) क्लेश उत्पन्न नहीं होते। और क्लेशों के अभाव होने पर कर्मफलों का अभाव हो जाता है। और इस (क्लेशाभाव) दशा में अपना कार्य समाप्त होने से कृतकृत्य हुए सत्त्वादि गुण पुरुष=चेतनात्मा के लिये फिर दृश्यरूप में उपस्थित नहीं होते। वह पुरुष का कैवल्य है, उस समय पुरुष=आत्मा स्वरूपमात्रज्योतिवाला, निर्मल तथा केवली हो जाता है।

सूत्रार्थ—(सत्त्वपुरुषयोः) सतोगुणप्रधान चित्त[3] की बुद्धिवृत्ति और पुरुष=जीवात्मतत्त्व की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि की समानता होने पर (कैवल्यम्) मोक्ष होता है। (इति) इति शब्द पाद की समाप्ति का द्योतक है।

"(सत्त्वपुरुष०) **अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं।।**" (ऋ० भू० मुक्तिविषय)

भावार्थ—मोक्षप्राप्ति के अन्तरंग साधनों का तथा संयम से होने वाली विभिन्न विभूतियों का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने इस सूत्र में कैवल्यप्राप्ति की उच्चतम दशा का वर्णन किया है। सूत्र में 'सत्त्व' शब्द से चित्त की सात्त्विक बुद्धिवृत्ति का ग्रहण है। चित्त प्रकृति का कार्य होने से त्रिगुणात्मक है। जब चित्त में रजोगुण अथवा तमोगुण मुख्य होते हैं, तब चित्त मलीन रहता है और

---

१. 'अनीश्वर' शब्द में अल्प अर्थ में नञ् समास है, सर्वथा अभाव अर्थ में नहीं।

२. समाधिजन्य ऐश्वर्य सर्वाधिष्ठातृत्व है और सर्वज्ञता है।

३. योगशास्त्र में चित्त तथा मन शब्दों को पर्यायवाची मानकर ही प्रयोग किया गया है। और इन्हीं को अन्तःकरण कहते हैं। महर्षिदयानन्द लिखते हैं—**अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प विकल्प, निश्चिय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है।**" (स० प्र० नवम समु०)

योगाभ्यास करते करते रजोगुण तथा तमोगुण अभिभूत होकर क्षीणप्राय हो जाते हैं, तब सतोगुण के प्रधान होने से चित्त शुद्ध हो जाता है और वह पुरुष=जीवात्मतत्त्व की भांति शुद्धसा प्रतीत होता है। और यह शुद्धि विवेकख्याति के द्वारा अविद्यादि क्लेशों तथा चित्त में स्थित वासनाओं के दग्धबीजवत् होने से होती है। और 'पुरुष' शब्द से जीवात्मतत्त्व का ग्रहण है, इसकी मलीनता क्या है? विवेकख्याति के अभाव में परस्पर भिन्न बुद्धि और पुरुष के ज्ञानों की अभेद प्रतीति होने से जो भोगासक्त होना है, वह पुरुष की मलीनता है। क्योंकि पुरुष को बाह्य विषयों का ज्ञान कराने के लिये बुद्धितत्त्व मुख्य साधन है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय बुद्धि में जैसा भासता है, वैसा ही पुरुष को बोध होता है। और इन्द्रियों द्वारा गृहीत बाह्यविषयों के अनुरूप बुद्धिवृत्ति शान्त, घोर और मूढ हो जाती है और वैसा ही पुरुष को ज्ञान होता है। बुद्धिवृत्ति और पुरुष के बोध की समानता होना ही भोग है और यही पुरुष की अशुद्धि है। विवेकख्याति होने के लिये चित्त की शुद्धि होना आवश्यक है तथा चित्त-शुद्धि से सत्त्व-पुरुष के भेद का बोध होने पर पुरुषशुद्धि होती है। पुरुष अपने शुद्धस्वरूप में स्थित होने से केवली हो जाता है और प्रकृति के सम्पर्क से सर्वथा छूट जाता है, यही पुरुष की मुक्ति कहलाती है।

और व्यास-भाष्य में यह भी स्पष्ट किया है कि मोक्षप्राप्ति के लिये प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान होना परमावश्यक है, जिससे अविद्यादि क्लेशों का क्षय होकर सत्त्वपुरुष की शुद्धि होती है। परन्तु विभिन्न योगज विभूतियों का प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा।

सत्त्व-पुरुष की शुद्धि होने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है, चाहे उस योगी को योगज विभूति की प्राप्ति हुई हो अथवा नहीं। इससे सिद्ध है कि कैवल्य-प्राप्ति के लिये योगज-विभूतियों का प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों की साधना विशेष से विवेकख्याति विना योगजविभूतियों के भी हो सकती है। और योगजविभूतियों के अनन्तर भी। अतः इन संयम से प्राप्त विभूतियों का प्राप्त करना वैकल्पिक व्यवस्था ही है।

इसके साथ ही व्यासभाष्य में 'विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा' यह पाठ भी है। जिससे कुछ भ्रान्ति अवश्य होती है कि इसी सूत्र के भाष्य में विवेकख्याति से क्लेशों के दग्ध होने से सत्त्वशुद्धि कही है, जो कैवल्यप्राप्ति में परमावश्यक है। और फिर यहाँ विवेकजज्ञान का विकल्प क्यों कहा है? परन्तु पूर्वापर के पाठ का अनुशीलन करने से इस भ्रान्ति का निराकरण हो

जाता है। यहाँ व्यासभाष्य के विवेकज ज्ञान और सत्त्व पुरुषान्यताख्याति में अन्तर है। यह विवेकजज्ञान योगविभूतियों के समान ही एक विभूति मात्र ही है। योगसूत्रकार ने ३।५२ सूत्र में क्षण-तत्क्रम में संयम करने से विवेकजज्ञान की प्राप्ति मानी है। और अन्य विभूतियों की भांति विवेकजज्ञान विभूति की भी मोक्षप्राप्ति के लिये अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है। क्यों कि इन विभूतियों के विना भी सत्त्व-पुरुष की शुद्धि होने पर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ॥ ५५ ॥

इति पातञ्जलसूत्र-व्यासभाष्ययोर्भाषार्थप्रकाशिते महर्षि-दयानन्द-
व्याख्याविभूषिते पातञ्जलयोगशास्त्रे योगजविभूतिस्वरूप-
प्रतिपादकस्तृतीयो विभूतिपादः समाप्तिमगात् ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः प्रारभ्यते ॥

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

व्यासभाष्यम्

देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः। ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः। मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः। तपसा संकल्पसिद्धिः, कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादिः। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद—दूसरे देह से (जन्मान्तर में) प्राप्त सिद्धि जन्म से (जन्म-जात) होती है। असुर[1] भवन=प्राणप्रद (जीवन देने वाले) भवनों (चिकित्सा-लयों) में सिद्ध की गयी रसायन=जीवनप्रद औषधियों से सिद्धि प्राप्तकरना, मन्त्रों से=वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानप्राप्ति से अथवा गायत्र्यादि मन्त्रों के जप से आकाशगमन और अणिमादि सिद्धि प्राप्त करना, तप=ब्रह्मचर्यादि व्रतों के अनुष्ठान से संकलपसिद्धि=संकल्पानुसार विचरण करनादि सिद्धि प्राप्त करना और समाधि से=चित्तवृत्तिनिरोध से होने वाली सिद्धियाँ [विभूतिपाद में] कही गई हैं।

सूत्रार्थ—(जन्मौषधिमन्त्र[2]तपःसमाधिजाः) दूसरे जन्मों से, सिद्ध की गई

---

१. असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति। (निरु० ३। ८) असुं प्राणं राति ददा-तीति असुरो जीवनप्रदः।

२. जन्म च औषधिश्च मन्त्रश्च तपश्च समाधिश्चेति जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधय-स्तेभ्यो जायन्ते यास्ताः।

रसायन-ओषधियों से मन्त्र-जप से, तप से तथा समाधि से उत्पन्न=प्राप्त होने वाली (सिद्धयः) सिद्धियाँ (पाञ्च प्रकार की) होती हैं।

भावार्थ—योगदर्शन के पिछले तीन पादों में क्रमशः समाधि का स्वरूप, समाधिप्राप्ति करने के साधन और समाधि से होने वाली विभूतियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। और उनके साथ उनसे सम्बद्ध प्रासंगिक विषयों का भी कथन किया गया है। अब इस चतुर्थपाद में समाधि के फलरूप, 'कैवल्य' का स्वरूप बताया गया है। इसमें प्रथम कैवल्यप्राप्ति के योग्य चित्त का निर्णय करने के लिये सर्वप्रथम चित्त में होने वाली सिद्धियों का कथन किया गया है। जो इस प्रकार हैं—

(१) **जन्मजातसिद्धि**—जो दूसरे जन्मों में कियेगये योगानुष्ठानादि से प्राप्त हो जाये, उसे जन्मजातसिद्धि कहते हैं। पूर्वजन्म में जीव ने जैसे उत्तम या निकृष्ट कर्म किये होते हैं, वैसे ही जीव अगला जन्म धारण करता है। इसमें कतिपय प्रमाण देखिये—

(क) देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥
(मनु० १२। ४०)

अर्थात् जो मनुष्य सतोगुणी होते हैं वे उत्तम देव=विद्वान्, जो रजोगुणी हैं, वे मध्यम मनुष्य, और जो तमोगुणी हैं वे निकृष्ट गति को प्राप्त करते हैं।

(ख) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ (कठो० ५। ७)

अर्थात् कुछ जीव अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार स्थाणु=वृक्षयोनि को प्राप्त करते हैं और दूसरे ज्ञान-कर्मानुसार मनुष्यादि जंगमयोनियों को प्राप्त करते हैं।

(ग) पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः॥ (न्याय० ३। २। ६४)

अर्थात् पूर्वजन्मकृत कर्म और योगाभ्यास के फलानुबन्ध से समाधि की सिद्धि होती है।

इस प्रकार पूर्वजन्म में किये योगाभ्यास के अनुरूप जो उत्तम जन्म प्राप्त होता है और उसमें सामान्य जन की अपेक्षा उत्तम संस्कारों के कारण जो विचित्र परिणाम होता है, वह जन्मजातसिद्धि कहलाती है।

(२) **ओषधि-जात-सिद्धि**—'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन' इस लोकोक्ति के अनुसार अन्न का मन पर विशेष प्रभाव होता है। तामसिक भोजन से

तमोगुणी, राजसिक भोजन से रजोगुणी और सात्त्विक भोजन से सतोगुणी मन हो जाता है। इसी प्रकार पारे आदि से सिद्ध की गई रसायन ओषधियों के सेवन से जो चित्तादि में विलक्षण-परिणाम होता है, वह ओषधिजातसिद्धि होती है। जिन सोमरस आदि ओषधियों से कायाकल्प हो जाता है, उनसे चित्त में भी परिणाम अवश्य होता है।

(३) **मन्त्र-जातसिद्धि**—योग-दर्शन में स्वाध्याय की गणना नियमों में की है, जिनके अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय और ज्ञानदीप्ति होती है। और योग० २। १-२ सूत्रों में भी क्रियायोग में इनकी गणना की है, जिसका फल समाधि प्राप्त कराना तथा क्लेशों को क्षीण करना है। और इसीलिये योग-दर्शन में यह कहा है—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ (योग० २। ४४) अर्थात् स्वाध्याय करने से अभीष्ट देव के साथ मिलन होता है। और स्वाध्याय का अर्थ व्यासमुनि ने यह किया है—'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।' (योग० भा० २।१) अर्थात् 'ओम्' व गायत्री आदि पवित्र करने वाले मन्त्रों का जप करना—और मोक्ष का उपदेश करने वाले वेदादि शास्त्रों का पढ़ना 'स्वाध्याय' कहलाता है। अतः गायत्री आदि मन्त्रों के जप तथा तदर्थभावना करने से जो चित्त की एकाग्रता अथवा निर्मलता होती है, यह मन्त्रसिद्धि कहलाती है।

(४) **तपोजा-सिद्धि**—'तपस्' का अर्थ—योगाङ्गों के अनुष्ठान करने में शीतोष्णतादिद्वन्द्वों को सहन करना है। योग-दर्शन में इसके विषय में कहा है—'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।' (यो० २। ४३) अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों में जो विशेष शक्ति प्राप्त होती है और उससे अज्ञान का नाश होने से ज्ञानदीप्तिरूप जो सिद्धि होती है, उसको तपोजा सिद्धि कहते हैं। इस सिद्धि के द्वारा मन इन्द्रियों के द्वारा दिव्य श्रवणादि सिद्धियों को प्राप्त करता है।

(५) **समाधिजा-सिद्धि**—योग-साधना से चित्तवृत्ति के निरोध होने से जो समाधि-दशा में विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनका कथन विभूतिपाद में विशेषरूप में किया गया है, वे सब समाधिज सिद्धियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार ये पाञ्च चित्त-सिद्धि के प्रकार हैं। इन प्रकारों से योगी का चित्त सिद्ध होता है और चित्त की सिद्धि होने तथा इन्द्रियादि में दिव्य-शक्ति प्राप्त होने से चरम लक्ष्य 'कैवल्य' की प्राप्ति में बहुत सहायता मिलती है। परन्तु इन चित्त-सिद्धियों में समाधिज (ध्यानज) चित्त ही (४।६ के अनुसार) वासनाओं से रहित होता है।

और इन्द्रियों में विलक्षण परिणाम हो जाता है। इसका उत्तर इस सूत्र में और ४।३ में दिया गया है। अर्थात् पूर्व सूत्र में जो सिद्धियाँ कहीं हैं, उनके संस्कार जन्मान्तर के देहादि में प्रवेश करते हैं, जिससे देहादि में पूर्वशरीर से विलक्षणता प्राप्त हो जाती है। पूर्वदेह तथा इन्द्रियों के कारण में जो न्यूनता थी, उसकी पूर्ति तथा प्रतिबन्धक अशुद्धि का अपाकरण योगजधर्म से देहान्तर में हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप योगी को देहान्तर में प्राप्त शरीर-इन्द्रियादि में दिव्य-शक्ति प्राप्त होती है। जिसका प्रकार अगले (यो० ४।३) सूत्र में किसान के उदाहरण से समझाया गया है॥ २॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥

व्यासभाष्यम्

न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति। न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति। कथं तर्हि, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनाऽपकर्षत्यावरणं त्वासां भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवाऽऽपः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति। यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्भौमान्वारसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुं, किं तर्हि मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपकर्षति। अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति। तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्, न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति। अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः। विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते। ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति। तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः॥ ३॥

भाष्यानुवाद—वह धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक=प्रेरक नहीं होता। कार्य से कारण प्रवृत्त नहीं होता है। तो कैसे (जात्यन्तरपरिणाम) होता है? उस धर्मादि निमित्त से कृषक की तरह वरणभेद=आवरण का भेदन मात्र किया जाता है। जैसे कृषक जल से पूर्ण केदार=क्यारी से दूसरी समतल, निचली अथवा अधिक निचली क्यारी में जल पहुँचाने का इच्छुक जल को हाथ से (अञ्जलि से) नहीं पहुंचाता, किन्तु जलों के आवरण (मेण्ड) को तोड़ देता है, उसके टूट जाने पर जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में पहुंच जाता है। वैसे ही

धर्मरूप निमित्त प्रकृतियों के आवरणभूत अधर्म को हटा देता है, उसके हटने पर स्वयं ही प्रकृतियाँ अपने अपने विकार को प्राप्त हो जाती हैं।

अथवा जैसे वही कृषक उसी क्यारी में जलीय अथवा पार्थिव रसों को धान्य=अन्न के पौधों की जड़ों में प्रविष्ट कराने में समर्थ नहीं होता, तो वह क्या करता है ? मुद्ग, गवेधुक (गोजवी), श्यामकादि (घासों) को उस क्यारी से खोदकर हटा देता है। और उनके दूर होने पर (जलीय अथवा पार्थिव) रस धान्य=अन्न के पौधों की जड़ों में स्वयं प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार धर्म भी अधर्म की निवृत्ति मात्र में कारण बनता है, शुद्धि और अशुद्धि के परस्पर आत्यन्तिक विरोध होने से। धर्म प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण नहीं होता है। इस विषय में नन्दीश्वरादि के उदाहरण देने योग्य हैं। इस बात को विपरीत रूप से भी लें तो अधर्म धर्म को बाधित करता है। और उससे अशुद्धि वाले परिणाम होते हैं। इसके विपरीत रूप में भी नहुष, अजगर आदि के उदाहरण देने योग्य हैं ।।

सूत्रार्थ—(निमित्तम्) योगज धर्मादि जो निमित्त है वह (प्रकृतीनाम्) उपादान तत्त्वों का (अप्रयोजकम्) प्रवर्त्तक नहीं होता है (तु) किन्तु (ततः) उस योगज धर्मादिनिमित्त से (क्षेत्रिकवत्) किसान की भांति (वरणभेदः[१]) प्रकृति के आवरण=प्रतिबन्धक अधर्म से उत्पन्न अशुद्धिरूप विघ्न पृथक्=दूर हो जाता है।

भावार्थ—गत सूत्रों में चित्त की विभिन्न सिद्धियों का कथन करके देहान्तर में उनका फल कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या योग-साधना से उत्पन्न धर्मादिनिमित्त देहान्तर में प्रकृति के तत्त्वों को प्रेरित करते हैं, अथवा अनुकूल परिणाम में उत्पन्न प्रतिबन्धकरूप विघ्नों को दूर करते हैं ? इसका उत्तर इस सूत्र में लौकिक उदाहरण देकर इस प्रकार दिया है—जैसे किसान खेत की सिंचाई के समय एक क्यारी से दूसरी क्यारी में अथवा एक खेत से दूसरे खेत में पानी ले जाना चाहता है, तब वह पानी को हाथ से खींचकर नहीं ले जाता, प्रत्युत पानी को रोकने वाली मेंड (मिट्टी की बनाई डोल) को कुदाली से हटा देता है। उस बाधा के हटने से पानी स्वयं प्रवाहित होकर यथेष्ट स्थान पर पहुंच जाता है। अथवा किसान स्वयं पौधों की जड़ों में जलीय या भूमि सम्बन्धी रसों को नहीं पहुंचाता, अपितु खेत में बोये धान्य के अतिरिक्त स्वतः ही उत्पन्न मुद्ग, गवेधुक, श्यामकादि घासों को नलायी करके उखाड़ कर

१. 'वरण' शब्द का अर्थ 'वृञ् आच्छादने' धात्वर्थ के अनुसार प्रतिबन्धक अधर्मोत्पन्न संस्कार है।

पृथक् कर देता है। पौधों को रस मिलने में जो घास बाधक थी, उसके दूर होने से जल पौधों की जड़ों में स्वयं पहुंच जाता है, और उससे भूमि-सम्बन्धी रस भी उन्हें स्वयं प्राप्त होता रहता है अथवा यह कहना चाहिए कि पौधों के मूल तन्तु रस को ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार योगी के देह-इन्द्रियादि प्रकृति के अनुकूल-परिणामों में बाधक जो अधर्मसंस्काररूप होते हैं, उनका निवारण योगजधर्म से होता है और उस बाधा के दूर होने पर उपादान-तत्त्व देहान्तर में चित्तादि की न्यूनता को स्वयं पूरा कर देते हैं। यहाँ व्यास-भाष्य में अन्वय-व्यतिरेक भाव से इस तथ्य को उदाहरण देकर समझाया है। जैसे योगज-धर्म के संस्कारों से अशुद्धि का नाश हो जाता है और चित्तादि में दिव्य-सिद्धि उत्पन्न होती है, ठीक इसी प्रकार अधर्माचरण से अशुद्धि बढ़ जाती है और चित्तादि मलीन हो जाते हैं। जैसे—नन्दीश्वरादि ने योगसाधना के द्वारा चित्तादि की अशुद्धि का नाश करके दिव्य-सिद्धियाँ प्राप्त की और अधर्माचरण-रूप संस्कारों के कारण नहुष, अजगरादि ने तिर्यक् योनियों में जन्म लिया। इस विषय में यो० १। १२ सूत्र का व्यासभाष्य भी द्रष्टव्य है—

'यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः।

तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं पमिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति।'

अर्थात् जैसे नन्दीश्वरकुमार ने मनुष्यत्व से देहान्तर में योगजधर्म से देवत्व को प्राप्त किया और नहुष ने जो देवों का भी राजा था, अशुद्धि के कारण जन्मान्तर में तिर्यक्=पशु-पक्षी की योनि को प्राप्त किया॥ ३॥

अव०—यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्ति अथानेकमनस्का इति ?

(अर्थ)—जब योगी बहुत शरीरों का निर्माण[1] करता है तब क्या वे शरीर एक मनवाले होते हैं अथवा अनेक मनवाले ?

१. 'योगी बहुत शरीरों का निर्माण कर लेता है, यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि यह वैदिक सिद्धान्त से विरुद्ध कल्पना मात्र ही है। एक जीवात्मा कितनी भी साधना कर ले, तो भी एक समय में अनेक शरीरों की रचना तथा धारण कदापि सम्भव नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है कि वैदिक मान्यता में जीवात्मा परिछिन्न=एकदेशी है विभु=व्यापक नहीं। और यो० २। १३ सूत्र के भाष्य से भी यह विरुद्ध है। वहाँ तो स्पष्ट लिखा है-—'अनेकं जन्म युगपन्न सम्भवति' अर्थात् कर्मफल भोगने के लिमे अनेक शरीरों का धारण एकसाथ कदापि संभव नहीं है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

व्यासभाष्यम्

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति, ततः सचित्तानि शरीराणि भवन्ति ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद—चित्त के कारण अस्मितामात्र=अहंकार को लेकर योगी निर्माणचित्त=प्रवृत्ति के लिये चित्तों को करता है, पुनः शरीर सचित्त हो जाते हैं।

सूत्रार्थ—योगी (अस्मितामात्रात्) अस्मितामात्र=अहंकार से (निर्माणचित्तानि) निर्माणचित्तों को बना लेता है।

भावार्थ—इस सूत्र पर पौराणिक व्याख्याकारों को बड़ी भ्रान्ति हुई है। जिसके कारण उन्होंने योगी के द्वारा अनेक शरीरों की रचना की कल्पना कर ली और उसके अनुसार ही अनेक चित्तों की अस्मिता से रचना भी स्वीकार की है। और इतने से भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने इस सूत्र की अवतरणिका में भी प्रक्षेप कर दिया कि जिससे उनका किया सूत्रार्थ संगत प्रतीत हो। यदि उनकी व्याख्या में यथार्थता होती तो सूत्रकार 'निर्माणचित्तानि' न कहकर 'चित्तनिर्माणानि' कहते, जिससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यथार्थ में उन्होंने इस समस्तशब्द को समझा ही नहीं है।

निर्माण चित्त की व्याख्या—जीवात्मा कितनी भी साधना क्यों न करे, फिर भी वह परमात्मा के तुल्य तथा परमात्मा की रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि मुक्तात्मा की यथेच्छ विचरण करना, ईश्वरीय आनन्द का भोगना, अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करना, इत्यादि कार्यों के करने में सामान्य जीवों से विशिष्टता हो जाती है, परन्तु वह परमात्मा के कार्य जगद्रचनादि नहीं कर सकता। इसीलिये वेदान्त-दर्शन में कहा है—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च। (वे० ४। ४। १७)

अर्थात् जगद्रचनादि कार्यों को छोड़कर मुक्तात्मा को ऐश्वर्य प्राप्त होता है। और चित्तादि की रचना भी सृष्टि-रचना के अन्तर्गत ही है, जो परमात्मा के ही अधीन होती है, जीवात्मा के नहीं। वेद में इस विषय में स्पष्ट कहा है—'य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः।' (यजु० २३। ३) अर्थात् वह परमात्मा दो पैर वाले मनुष्यादि और चार पैर वाले गायादि प्राणियों के शरीर की रचना करता है। और ऋषि शब्द का अर्थ है—साक्षात्कार करने वाला। ऐसे साक्षात् द्रष्टा

आप्तपुरुषों के वचनों में विरोध कैसे हो सकता है ? वेदान्त-दर्शन के विरुद्ध योगदर्शन में चित्तादि की रचना जीवकृत मानी गयी हो, यह कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये इस सूत्र का यह अर्थ करना कि योगी 'अस्मिता' तत्त्व से अनेक चित्तों का निर्माण वैसे ही कर लेता है, जैसे कुम्भकार मिट्टी से घटादि की और सुवर्णकार सुवर्ण से आभूषणादि की रचना कर लेता है, यह बिल्कुल शास्त्रविरुद्ध कल्पना होने से मिथ्या तथा असम्भव बात है।

फिर 'निर्माण-चित्त' शब्द का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर यह है कि 'निर्माण' शब्द में निर् पूर्वक मा धातु से भाव में ल्युट प्रत्यय है। जिसके अनुसार 'निर्मितिर्निर्माणम्' बनाना इस शब्द का अर्थ है और निर्माणार्थ चित्तम्=निर्माण-चित्तम् इस समास के आश्रय से 'बनाने के लिये चित्त की उत्कृष्ट साधना करना 'निर्माणचित्त' कहलाता है। जैसे-सामान्यरूप से मन एक समय में एक ही कार्य कर सकता है, परन्तु योगी को—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥
(यो० ३ । ५४)

इस सूत्र के अनुसार जब विवेकोत्पन्न ज्ञान प्राप्त होता है, तो उससे वह प्रतीत न होने वाले क्रम से अनेक विषयों को भी जानने में समर्थ हो जाता है। अतीत तथा अनागत विषयों को भी जान लेता है। इस अवस्था में योगी के लिये कोई वस्तु अज्ञात नहीं रहती। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये योगी अपने चित्त की साधना करता है, जिस चित्त को परमात्मा ने बनाकर सर्ग के प्रारम्भ में जीवात्मा से सम्बद्ध किया है, उस चित्त की अन्त-र्निहित शक्तियों को ही योगी साधना करके प्रबुद्ध करता है। यही योगी का 'निर्माणचित्त' कहलाता है। और इसी अर्थ की संगति इस प्रकरण के अनुकूल है। क्योंकि इस चतुर्थपाद के प्रथम सूत्र से पञ्चम सूत्र तक चित्त की सिद्धियों का ही वर्णन किया गया है, चित्तरचना अथवा शरीररचनादि का नहीं। इसीलिये सूत्रकार छठे सूत्र में चित्त की विभिन्न सिद्धियों में 'तत्र ध्यानजमनाशयम्' कहकर समाधिसिद्ध चित्त को ही वासनाओं से रहित कहकर मोक्ष-प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ मानते हैं। और व्यासभाष्य में भी एक अन्य स्थान पर 'निर्माणचित्त' शब्द का प्रयोग आता है—

'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षि-रासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति।' (यो० १। २५ व्यासभा०)

यद्यपि व्यासमुनि ने यहाँ 'तथा चोक्तम्' कहकर इस वचन को उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट है कि यह वचन किसी प्राचीन आचार्य का है। इसमें

भी यही अर्थ संगत होता है कि परमर्षि कपिल ने अपने जिज्ञासु शिष्य आसुरि को इस शास्त्र का उपदेश चित्त की विशेषसिद्धि को प्राप्त करके किया।

और 'निर्माणचित्तानि' यह पद बहुवचनान्त होने से कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ अनेक चित्तों की रचना अथवा 'चित्त' शब्द को शरीरवाची मानकर अनेक शरीरों की रचना करते हैं, परन्तु यह व्याख्या अप्रासंगिक तथा मिथ्या होने से सत्य नहीं है। योगी को साधना से अक्रमिक अनेकज्ञान तो हो जाते हैं, परन्तु इस 'तारक' नामक सिद्धि के लिये अनेक शरीरों व अनेक चित्तों की रचना की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि एक चित्त ही योगज-सिद्धि से अतिशय सामर्थ्यसम्पन्न हो जाता है, जिससे अनेकज्ञान योगी को होने लगते हैं। इस अनेक ज्ञानप्राप्ति के कारण ही सूत्र में बहुवचन का प्रयोग सूत्रकार ने किया है।

और 'अस्मिता' शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं—'अस्मिता' को योग-दर्शनकार ने पञ्च क्लेशों में भी परिगणित किया है। जिसकी व्याख्या यो० २।६ सूत्र में चेतनात्मा और बुद्धिवृत्ति को एक समझना करके की है। और 'अस्मिता' एक प्रकृति का विकार भी है, जिसे महत्तत्त्व का कार्य कहते हैं, जिसके सतोगुण-प्रधान अंश से इन्द्रियों की रचना होती है। और 'अस्मिता' का अर्थ चित्त की अहंकारवृत्ति भी है। जिसके संयम करने से (यो० ३।४७ सूत्र में) 'इन्द्रियजय' नामक सिद्धि मानी है। जिसकी सिद्धि से (यो० ३।४८ सूत्र में) मनोजवित्व सिद्धि प्राप्त होती है। इन तीनों अर्थों में से इस सूत्र में प्रथम दो अर्थों की संगति न होकर अहंकार वृत्ति ही अर्थ 'अस्मिता' शब्द का यहाँ संगत होता है। योगी इसी वृत्ति के द्वारा निर्माण-चित्त की विशेष सिद्धियों को प्राप्त करता है॥ ४॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

व्यासभाष्यम्

बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद—बहुत चित्तों की एक चित्त को लेकर किस प्रकार अभिप्राय-पूर्वक प्रवृत्ति होती है? इसका कारण यह है कि समस्त चित्तों का प्रेरक-चित्त

एक है, वह एक वित्त जब ग्रन्य चित्तों का निर्माण करता है तब उससे प्रवृत्ति-भेद हो जाता है ॥

सूत्रार्थ—(ग्रनेकेषाम्) मन्त्रादि से सिद्ध विभिन्न निर्माण चित्तों की (प्रवृत्तिभेदे) भिन्न भिन्न ज्ञान कराने वाली प्रवृत्ति होने पर (एकं चित्तम्) एक चित्त ही (प्रयोजकम्) प्रवृत्ति का हेतु होता है।

भावार्थ—इससे पूर्व सूत्र में कहा है कि योगी ग्रस्मिता वृत्ति से निर्माण-चित्तों ग्रर्थात् चित्त की साधना से ग्रनेक ज्ञान कर लेता है। उन विभिन्न ज्ञानों की प्राप्ति को देखकर यह भ्रान्ति होने लगती है कि योगी के ग्रनेक चित्त हैं। इसका समाधान इस सूत्र में किया गया है कि योगी का चित्त एक ही होता है। जिसकी विशेष साधना से योगी ग्रनेक ज्ञान प्राप्त करता है। ग्रौर उस समय विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रवर्त्तक चित्त एक ही होता है। जिन व्याख्याकरों ने इससे पूर्व सूत्र की यह भ्रान्त व्याख्या की है कि योगी ग्रनेक चित्तों का निर्माण करता है, उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या भी वैसी हो की है। यदि उनकी व्याख्या सत्य होती, तो विभिन्न शरीरों में बनाये विभिन्न चित्तों का प्रेरक एक ही मन होता है, इस व्यासभाष्य की संगति उनके ग्रर्थ के साथ नहीं लग सकती। क्योंकि चित्त सूक्ष्मशरीर का एक घटक होने से परिच्छिन्न है, वह एकसाथ ग्रनेक शरीरों में कार्य कदापि नहीं कर सकता। ग्रौर चित्त का स्वामी जीवात्मा भी परिच्छिन्न है, वह भी विभिन्न शरीरों में युगपत्=एकसाथ कार्य नहीं कर सकता। इसलिए व्यासभाष्य के 'बहूनां चित्तानाम्' पदों की व्याख्या भी बहुविध ज्ञान ग्रथवा प्रवृत्ति ही करनी चाहिये।

ग्रौर ग्रगले सूत्र में जो ध्यानज चित्त को दूसरे मन्त्रादि से सिद्ध चित्तों से विशिष्ट माना है, वहाँ भी यह ग्रभिप्राय कदापि नहीं है कि एक ही योगी के विभिन्न चित्तों की ग्रपेक्षा से यह विशेषता बतायी है। एक व्यक्ति ग्रपने चित्त की साधना मन्त्रजप से करता है, दूसरा व्यक्ति तप से करता है, तीसरा रसायन ग्रोषधि से शक्तिसम्पन्न बनाता है, ग्रौर चौथा पूर्वजन्म की साधना से चित्त को साधता है। इन चारों चित्तों की सिद्धियों की ग्रपेक्षा समाधि से जो चित्त सिद्ध होता है, वह ही वासनारहित होने से मोक्ष-प्राप्ति में परम साधन बनता है। इससे इस सूत्र की व्याख्या में पूर्वापर संगति से कोई विरोध नहीं ग्राता है। इस पाद के प्रथम छः सूत्रों की व्याख्या चित्तों की विभिन्न सिद्धियाँ बताकर उनमें योगी के लिये उपयुक्त चित्त की सिद्धि बताना ही सूत्र-कार को ग्रभीष्ट है। इन सूत्रों का इनसे विरुद्ध ग्रर्थ करना ग्रसंगत, प्रकरण-

विरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध तथा अवैदिक मान्यता का ही पोषक हो सकता है, सत्य नहीं ॥ ५ ॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

व्यासभाष्यम्

पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेव [अनाशयम्] अनाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादि-प्रवृत्तिर्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद् योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद—निर्माणचित्त पाञ्च प्रकार का होता है। क्योंकि जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, और समाधि, इन पाञ्च से सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। (जिनसे चित्त पाञ्चप्रकार के होते हैं) उनमें जो चित्त ध्यानज=समाधि से उत्पन्न होता है, वही [अनाशयम्] रागादि मूलक आशय=वासनाओं से रहित होता है। उससे पुण्य तथा पाप का सम्बन्ध=संसर्ग योगी को नहीं रहता, क्योंकि योगी के क्लेश क्षीण हो जाते हैं। समाधि से भिन्न सिद्ध चित्तों में तो कर्माशय=वासनायें रहती हैं।

सूत्रार्थ—(तत्र) उन पञ्चविध निर्माण चित्तों में से (ध्यानजम्) ध्यान=समाधि से सिद्ध चित्त (अनाशयम्[1]) रागादि की प्रवृति से रहित होता है।

भावार्थ—इस कैवल्य-पाद के प्रथम सूत्र में जन्मजातादि पाञ्च प्रकार की सिद्धियाँ बतायी गई हैं। उन सिद्धियों के अनुरूप चित्त भी पाञ्चप्रकार के माने गये हैं अर्थात् चित्त की पांच विशिष्ट अवस्थायें बतायी गई हैं जिन्हें 'निर्माण-चित्त' के नाम से कहा गया है। निर्माणचित्त का अभिप्राय चित्तों की रचना करना नहीं है, प्रत्युत योगसाधनादि से चित्त की शक्तियों को प्रबुद्ध करना है। यद्यपि ये शक्तियाँ जन्मजातादि सिद्धियों से भी प्रबुद्ध होती हैं, परन्तु समाधि-सिद्ध चित्त की अपेक्षा उनमें मोक्ष-प्राप्ति का सामर्थ्य नहीं होता। इसका कारण

---

१. अनाशयम्=न विद्यन्त आशया यस्मिन तत्। आशयाश्च कर्मफलानुरूपवासनाः। तद्यथा व्यासभाष्ये—'कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फल विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः।' (योग० भा० १। २४)

यह है कि उन चित्तों में रागादि की वासनायें बनी ही रहती हैं। और जब तक वासनायें रहती हैं, तब तक जन्मादि के बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। और जो समाधि से सिद्ध चित्त होता है, वह अनाशय=वासनाओं से सर्वथा रहित हो जाता है। उसके अविद्यादि क्लेश क्षीण हो जाते हैं और वासनायें दग्ध-बीजवत् होने से फलोन्मुख नहीं हो सकतीं ॥ ६ ॥

अव०—यतः—

(अर्थ)—क्योंकि—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

व्यासभाष्यम्

चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाऽकृष्णा चेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या। तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधनानधीना न परान्पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषां तु पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद—यह कर्मजाति=(समस्त कर्म) चार प्रकार की होती है—कृष्णा=पापात्मक, शुक्लकृष्णा=पुण्यपापात्मक, शुक्ला=पुण्यात्मक, और अशुक्लाऽकृष्णा=पुण्य पाप से रहित। उनमें से दुरात्मा=पापी जनों की कर्मजाति पापात्मक होती है, बाह्यसाधनों से सिद्ध कर्मजाति पुण्य-पापात्मक होती है। क्योंकि उसमें दूसरे के प्रति पीडा=हिंसा और दया के द्वारा ही कर्माशय का संग्रह होता है। और तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की कर्मजाति पुण्यात्मक होती है। क्योंकि वह केवल मन के अधीन होने के कारण बाह्य साधनाधीन न होने से दूसरों को पीडा पहुंचाये विना होती है, और पाप-पुण्यरहित कर्मजाति उन संन्यासियों की होती है, जिनके अविद्यादि क्लेश क्षीण हो गये हैं और जो अन्तिम शरीर वाले अर्थात् जीवन्मुक्त होते हैं उनकी अशुक्ल=पुण्यरहित कर्मजाति के कर्म-फल के त्याग करने से और अ-कृष्णा=पापरहित कर्मजाति पापमूलक क्रियाओं को न अपनाने के कारण होती है। योगी से भिन्न प्राणियों की कर्मजाति तो प्रथम तीन प्रकार की अर्थात् कृष्णा, शुक्लाकृष्णा और शुक्ला ही होती है।

सूत्रार्थ—(योगिनः) योगी का (कर्म) कर्म (अशुक्लाकृष्णम्) पुण्य-पाप से रहित होता है (इतरेषाम्) और योगी से भिन्न पुरुषों के कर्म (त्रिविधम्) तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् कृष्ण=पापात्मक, शुक्ल=पुण्यात्मक और शुक्ल-कृष्ण=पुण्य-पापात्मक होते हैं।

भावार्थ—जो योगी पुरुष विवेकख्याति प्राप्त कर लेते हैं, उनके कर्मों में दूसरे जीवों के कर्मों से क्या भेद होता है ? और जैसे दूसरे जीवों के बन्धन के कारण उनके कर्म होते हैं, वैसे योगी के कर्म क्यों नहीं बाँधते ? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है—

समस्त जीवों के कर्मों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) कृष्णकर्म=ये वे पापरूप कर्म होते हैं, जो शास्त्रविरुद्ध हिंसा, चोरी आदि हैं, जिनका फल दुःख ही है।

(२) शुक्लकृष्णकर्म=ये कर्म पुण्य और पाप से मिश्रित होते हैं। जैसे भोजन पकाना, कृषि=खेती करनादि कर्म हैं, इनसे अतिथिसेवा, यज्ञ, दानादि पुण्य भी होता है और अनिच्छन् प्राणि-हिंसा भी होती है।

(३) शुक्लकर्म=ये वे कर्म हैं जो पुण्यप्रद होते हैं। जैसे ब्रह्मचर्य का पालन, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधानादि कर्म पुण्यप्रद हैं। परन्तु इनमें भी कर्मफल की इच्छा विद्यमान रहने से ये दुःख के कारण भी बन जाते हैं।

(४) अशुक्ल-अकृष्णकर्म=जो दोनों पुण्य-पाप से रहित कर्म होते हैं, जिनमें कामना या फल की इच्छा का भो सर्वथा त्याग होता है। और जो केवल देह-रक्षा तथा परोपकार की भावना से ही किये जाते हैं, वे अशुक्ल-अकृष्ण कर्म योगियों के होते हैं। इन योगियों के अविद्यादि क्लेश क्षीण हो चुके होते हैं, वासनायें दग्धबीज की भांति हो जाती हैं, और इस अवस्था में पहुंचकर उनका वर्तमान शरीर-संयोग अन्तिम होता है। इसके बाद वे मुक्त हो जाते हैं। ऐसे योगी पापकर्मों में कभो प्रवृत्त ही नहीं होते, और पुण्य-कर्मों को निष्कामभाव से करने से इन के कर्मों को अशुक्ल तथा अकृष्ण कहते हैं।

इन चार प्रकार के कर्मों में योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण=पुण्य-पाप से रहित होते हैं, अतः वे योगी के बन्धन के कारण नहीं बनते। परन्तु दूसरे तीन प्रकार के कर्मों का फल वासनामूलक होने से बन्धन होता है, इसी लिये इन कर्मों को करने वाले मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते ॥ ७ ॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

व्यासभाष्यम्

[ततः] तत इति त्रिविधात्कर्मणः, [तद्विपाकानुगुणानामेव] तद्विपाकानुगुणानामेवेति यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति। किंतु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद—[ततः] उस त्रिविधकर्म (पाप, पाप-पुण्य तथा पुण्य) से [तद्विपाकानुगुणानाम् एव] उनके फलों के अनुरूप जो वासनायें कर्मफल के पीछे रह जाती हैं, उनकी ही अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् जिस प्रकार के (पाप-पुण्यादि भेद से) कर्म का जो फल है, उसके अनुरूप जो वासनायें कर्मफल (भोग) के पीछे रह जाती हैं, उनकी ही अभिव्यक्ति होती है। फलोन्मुख होता हुआ दैवकर्म=देवश्रेणी का कर्म नारकीय=निकृष्ट कीटादि की, तिर्यक्=पशुपक्षियों की, और मनुष्यों की (कर्मानुरूप) वासनाओं की अभिव्यक्ति का कारण नहीं हो सकता, किन्तु देवों के अनुरूप कर्मों की वासनायें ही इसकी प्रकट होती हैं। नारकीय, तिर्यक् तथा मनुष्यों की वासनाओं में भी इसी प्रकार वही समान[1] बात है।

सूत्रार्थ—(ततः) उन शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण, त्रिविध कर्मों में से (तद्विपाकानुगुणानाम् एव) उनके फल के अनुरूप ही (वासनानाम्) वासनाओं की (अभिव्यक्तिः) मनुष्यादि के जन्म के रूप में अभिव्यक्ति=प्रकटता होती है।

भावार्थ—इससे पूर्व सूत्र में विभिन्न कर्मों के चार भेद किये हैं, उनमें योगी-पुरुष के कर्म पुण्य-पाप से रहित होते हैं, वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। परन्तु शेष तीन प्रकार के कर्मों वाले अर्थात् जिनके कर्म पापरूप, या पुण्यरूप अथवा पाप-पुण्य से मिश्रित हैं, उन जीवों के कर्मों के फल की

---

१. इसका तात्पर्य यह है कि—दैवकर्म की भांति नारकीयादि कर्मफलों की भी वासनायें समझनी चाहिये। जैसे—मनुष्यों के योग्य फलोन्मुखकर्म नारकीय तथा तिर्यक्-सम्बन्धी वासनाओं की अभिव्यक्ति का कारण नहीं बनता, किन्तु मनुष्योचित कर्मों की वासनाओं को ही प्रकट करता है। इसी प्रकार नारकीय, तिर्यक् आदि कर्मवासनाओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

व्यवस्था कैसे होती है ? अथवा जीव को कर्मानुसार जो योनि मिलती है, उस समय दूसरे कर्मों की वासनायें उद्बुद्ध क्यों नहीं होतीं ? इसका समाधान इस सूत्र में दिया गया है। यद्यपि जीवों के कर्मफल की व्यवस्था ईश्वरीय नियम से होती है और ईश्वर परमन्यायकारी, और जीवों की प्रत्येक चेष्टा को जानता है। उसकी व्यवस्था में किसी प्रकार का भी अन्याय होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। जीवों के उपर्युक्त मिश्रित कर्मों में से कौन से कर्म सद्यःफलोन्मुख होंगे और कौन से नहीं, यह जीवों के ज्ञान से दूर की बात है। परन्तु यह तो सत्य है कि जिन कर्मों का आधिक्य अथवा प्रबलता होती है, उनका फल प्रथम मिलता है। और जो कर्म ईश्वरीय व्यवस्था से फलोन्मुख होते हैं, उन्हीं के अनुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है, दूसरे कर्म प्रसुप्त-दशा में ही दबे रहते हैं।

उदाहरणस्वरूप जब कर्मों का फल मनुष्ययोनि होता है, तो उन्हीं के अनुरूप वासनायें प्रबुद्ध हो जाती हैं। और जिस कर्म या कर्मसमूह का विपाक=तुरन्त फलप्राप्ति होनी होती है, उससे भिन्न कर्म अभिभूत दशा में रहते हैं, और वे न तो बाधक बनते हैं और नहीं फलोन्मुख ही होते हैं। उदाहरणस्वरूप किसी जीव के मनुष्ययोनि देने वाले कर्मों का विपाक हो रहा है, उस समय न तो तिर्यक् आदि योनि देने वाले कर्मों का विपाक ही होता है, और नहीं वे बाधक ही बनते हैं। और कर्मफल की व्यवस्था का यह भी नियम है कि जिस जाति के कर्मों का विपाक हो रहा है, वे अन्य जाति की वासनाओं की अभिव्यक्ति का कारण भी नहीं बनते। जैसे—यदि मनुष्योचित कर्मों का विपाक हो रहा है, तो वे कर्म तिर्यक् (पशुपक्षी आदि) जाति की वासनाओं की अभिव्यक्ति के निमित्त भी नहीं बन सकते। सारांश यह है कि जिन कर्मों का विपाक=फल मिल रहा है, उस फल में न तो दूसरे कर्म बाधक ही बनते हैं, और नहीं वे कर्म अन्य जाति की वासनाओं को ही उद्बुद्ध कर सकते हैं। इसी भाव को सूत्रकार ने 'तद्गुणानाम् एव' कहकर अभिव्यक्त किया है ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयो-रेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

व्यासभाष्यम्

[जातिदेशकालव्यवहितानाम्] वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जना-

भिव्यक्तः। स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद्द्रागित्येव पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत। कस्मात्। यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव। [स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्] कुतश्च, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यथाऽनुभवास्तथा संस्काराः। ते च कर्मवासनानुरूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः। स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति॥ ९॥

भाष्यानुवाद—वृष-दंश[1] विपाकोदय=पुण्य-पापरूप कर्मों के फलानुरूप उदय=(उदेत्यस्मादित्युदयः) कर्माशय अपने अभिव्यञ्जक=प्रकट करने वाले निमित्त के प्रकट होने (उपस्थित होने) से प्रकट हो जाता है। वह कर्माशय यदि सैंकड़ों जाति=जन्मों से, अथवा देश (स्थान) गत दूरी से, अथवा सैंकड़ों कल्पों से अन्तरित=व्यवधान वाला होने से छिपा हुआ है, फिर भी अपने व्यञ्जक=प्रकट करने वाले निमित्त से द्राक्=शीघ्र ही अभिव्यक्त हो जाता है। (इस का कारण यह है) पूर्व अनुभव किये हुए पुण्य-पाप के फल के अनुरूप संस्काररूप में निष्पन्न वासनाओं को लेकर वह कर्माशय प्रकट हो जायेगा। क्योंकि जन्मादि से व्यवहित=छिपी हुई इन वासनाओं का तुल्यजातीयकर्म ही अभिव्यञ्जक=प्रकट करने वाला निमित्त बन जाता है, और इसलिये ही जन्मादि के व्यवधान का अभाव ही रहता है। यह कैसे होता है? स्मृति और संस्कार के एकरूप होने से व्यवधान का अभाव होता है। जिस प्रकार का अनुभव होता है, वैसे संस्कार बनते हैं और वे संस्कार कर्मवासना के अनुरूप होते हैं। और जैसी वासनायें होती हैं वैसी ही स्मृति होती है, इसलिये जाति=जन्म, देश तथा काल से व्यवहित=व्यवधानवाले संस्कारों से स्मृति होती है, और स्मृति से फिर संस्कार प्रकट होते हैं। इस प्रकार ये स्मृति और संस्कार

---

१. 'वृष-दंश' शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने मार्जार (बिलाव) योनि किया है।-यद्यपि इस शब्द का यह अर्थ भी होता है, इसलिये महर्षि दयानन्द ने भी वेदभाष्य में 'वृष दंशः=मार्जालः' (यजु० २४। ३१) अर्थ किया है। परन्तु यह अर्थ यहाँ संगत नहीं है। क्योंकि यहाँ सामान्यरूप से ही कथन किया गया है। 'वृष' शब्द का धर्म (पुण्य) तथा 'दंश' शब्द का अर्थ दुःख (अपुण्य) ही संगत होता है। इन अर्थों में प्रमाण देखिये—वृषो हि भगवान् धर्मः० (मनु० ८। १६) कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते। (महा० शान्ति० ३४२ अ० ८९ श्लोक) और 'दंश' शब्द में 'दंश दशने' (भ्वा०) धातु है। जिसने काटने वाले दुःख देनेवाले अपुण्य कर्म 'दंश' कहलाते हैं।

कर्माशय के फलानुरूप वृत्तिलाभवश=अभिव्यञ्जककारण के उपस्थित होने से प्रकट होते हैं। इसलिये जन्मादि से व्यवहित=व्यवधानवाली भी इन वासनाओं का निमित्तनैमित्तिकभाव के उच्छेद=नाश न होने के कारण आनन्तर्य=व्यवधानराहित्य=सामिप्य सिद्ध है।

सूत्रार्थ—(जाति-देश-कालव्यवहितानाम्) जाति=मनुष्यादिजाति, देश=स्थान तथा काल के व्यवधान से युक्त वासनाओं का (अपि) भी (आनन्तर्यम्) व्यवधानराहित्य=सामीप्य होता है (स्मृति-संस्कारयोः) क्योंकि स्मृति और संस्कारों के (एकरूपत्वात्) एकरूपता=सहचारभाव से रहने से।

भावार्थ—वासनाओं के अनुरूप मनुष्यादि का जन्म मिलता है। उन जन्मों में जिन वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है, तो अन्य वासनायें अभिभूत अथवा तिरोहित होकर चित्त में स्थित रहती हैं। ऐसी सैंकड़ों जन्मों से अथवा अनेकों जन्मों से पूर्व की वासनायें भिन्न-भिन्न जातियों=जन्मों, देश=स्थानों तथा चिरकाल के व्यवधानों से व्यवहित होने के कारण कैसे अभिव्यक्त होती हैं? इसका समाधान इस सूत्र में दिया गया है—

समस्त जीवों को वासनाओं के अनुरूप जन्म ईश्वरीय व्यवस्था से मिलता है। और वह जन्म (विभिन्नयोनियों के शरीरों का संयोग) वासनाओं के अनुरूप संस्कारों का अभिव्यञ्जक होता है। जाति, देश तथा काल की समापता वासनाओं के संस्कारों की अभिव्यक्ति का कारण नहीं होती, प्रत्युत संस्कार चाहे कितने ही पहले जन्मों के हों, कितने ही पुराने हों अथवा कितने ही दूर-देश के हों, अभिव्यञ्जक योनि को पाकर उनकी अभिव्यक्ति तुरन्त हो जाती है। उदाहरण स्वरूप एक जीवात्मा मनुष्ययोनि से गाय की योनि में जन्म लेता है और उस जीव के वासनानुरूप गाय के संस्कारों को सहस्रों वर्ष हो गये हैं, पुनरपि गाय की योनि उन प्रसुप्त संस्कारों को तुरन्त अभिव्यक्त करा देती है, उससे भिन्न संस्कार उनकी अभिव्यक्ति में किसी प्रकार भी बाधक नहीं बनते। क्योंकि अभिव्यञ्जक कारण के होने पर उद्बुद्ध संस्कार अपने अनुरूप स्मृति को जन्म देते हैं। और उस स्मृति से गाय की योनि के सहस्रों वर्षों पूर्व के संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं।

इस विषय में सूत्रकार ने यह हेतु दिया है—स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। अर्थात् स्मृति और संस्कार सदा समान विषयक ही होते हैं, प्रतिकूल नहीं, यह एक निश्चित नियम है। अर्थात् जैसा अभिव्यञ्जक जन्म होगा, उसी के अनुरूप अनुभव से स्मृति होगी और स्मृति के अनुरूप ही संस्कार प्रबुद्ध हो जाते हैं। यह स्मृति और संस्कर का नैमित्तिक कारण-कार्यभाव सम्बन्ध

है। जीवात्मा से सम्बद्ध अन्तःकरण में असंख्य संस्कार प्रसुप्त-दशा में पड़े रहते हैं, परन्तु उनमें से वे संस्कार ही प्रबुद्ध होते हैं, जिनकी स्मृति अभिव्यञ्जक जातिरूप कारण से होती है। जाति, देश तथा काल का व्यवधान भी स्मृति व संस्कार के सामीप्य को रोक नहीं सकता। क्योंकि स्मृति और संस्कार की एकरूपता=अभिव्यञ्जक जाति के समान ही होती है॥ ९॥

तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

व्यासभाष्यम्

[तासाम्] तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्। जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति।

घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम्—बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्। तथा चोक्तम्—ते चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शरीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्" ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद—आशीः[1]=इच्छा के नित्य होने से उनकी वासनाओं का अनादित्व सिद्ध है। जो यह आत्माशीः=अपनी इच्छा सब प्राणियों की दिखाई देती है कि मैं न रहूँ, ऐसा[2] न हो, अर्थात् मैं सदा बना रहूँ, वह स्वाभाविक (बिना कारण के) नहीं है। इसका कारण यह है कि—उत्पन्नमात्र प्राणियों

---

१. 'आशीः' पद में (आङ्+शासु इच्छायाम्+क्विप्) आङ्पूर्वक इच्छार्थक शास् धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ है।

२. 'द्वौ नञौ प्रकृतार्थं ब्रूतः' इस व्याकरण के नियम से दो निषेध अपरिहार्य क्रियार्थ को ही बताते हैं।

की द्वेषात्मक दुःख की स्मृति के निमित्त वाला मरण-भय मृत्युधर्म के अनुभव के बिना कैसे हो सकता है ? और स्वाभाविक वस्तु कारण का आश्रय नहीं लेती है। इसलिये अनादि वासनाओं से अनुविद्ध=युक्त यह चित्त (कर्माशय-रूप) कारणवश किन्हीं वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग के लिये प्रवृत्त होता है।

(चित्त के परिमाण के विषय में) कुछ दूसरे आचार्य ऐसा मानते हैं कि घडे और प्रासाद=महल के अन्दर रक्खे दीपक की भांति चित्त संकोच धर्म-वाला और विकासधर्मवाला है। अतः चित्त शरीर के परिमाण के आकार-वाला होता है। और वैसा मानने पर ही (पूर्वदेहत्याग और उत्तरशरीर की प्राप्ति में) अन्तराभाव=विघ्न का अभाव रहता है और संसार=जन्म-जन्मान्तर में स्थूल शरीर में प्रवेश करना सिद्ध होता है। (परन्तु चित्त के विषय में सिद्धान्तपक्ष यह है) योगदर्शन के आचार्य पतञ्जलि का मत यह है कि इस विभु चित्त की वृत्ति (व्यापार) ही संकोचधर्मवाली तथा विकास धर्मवाली होती है।

और वह चित्त (वृत्ति के संकोच तथा विकास में) धर्मादि रूप निमित्त की अपेक्षा करता है। धर्मादि निमित्त दो प्रकार का है—बाह्य और आध्यात्मिक। शरीरादि साधनों की अपेक्षा रखने वाले स्तुति, दान, अभिवादनादि बाह्यनिमित्त हैं। और जो केवल चित्त के अधीन श्रद्धादि[1] हैं वे आध्यात्मिक निमित्त हैं। और वैसा ही किसी पूर्वाचार्य[2] ने कहा भी है—ये जो ध्यान करने वाले योगियों की मैत्री, करुणादि सेवनीय भावनायें हैं, वे बाह्यसाधन (शरीरादि) निरपेक्ष होती हैं और उत्तमधर्म को सिद्ध करती हैं। उन दोनों निमित्तों में मानस=आध्यात्मिक निमित्त अधिक बलवान् होता है। क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से बढ़कर और क्या हो सकता है। [और चित्त-बल के बिना भला कौन व्यक्ति शारीरिक कर्म से दण्डकारण्य वन को शून्य करने का साहस कर सकता है ? अथवा (चित्तबल के बिना) अगस्त्य की भांति कौन समुद्र को पी सकता है ?] ॥

सूत्रार्थ—(तासाम्) उन वासनाओं की (अनादित्वम् च[3]) अनादिता

---

१. यहां आदि शब्द से वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, वैराग्यादि का ग्रहण होता है।

२. टीकाकारों ने पूर्वाचार्य के वचन को पञ्चशिखाचार्य का माना है।

३. 'च' इति निपातोऽत्र समुच्चयेऽप्यर्थे।

भी सिद्ध है (आशिषः) जीने की इच्छा के (नित्यत्वात्) सदा बनी रहने के कारण।

भावार्थ—गत दो सूत्रों में कहा गया है कि वासनाओं के विपाक के अनुसार मनुष्यादि का जन्म जीवों को मिलता है। यहाँ दो प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं—(१) जब वासनायें ही जन्म का निमित्त हैं, तो सृष्टि के प्रारम्भ में जब प्रथम जन्म मिलता है, तब पूर्ववासनाओं के अभाव में जन्म का निमित्त क्या होता है? (२) और जीवात्मा शरीर में आकर कर्म करता है शुभाशुभ कर्मों से वासनायें बनती हैं और वासनाओं से जन्म=शरीर संयोग होता है। इसमें अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। शारीरिक कर्म से वासनायें, और वासनाओं से शरीर, यह एक दूसरे क आश्रित होने से दोष उत्पन्न करता है। इन दोनों भ्रान्तियों का निराकरण इस सूत्र में इस प्रकार किया गया है—

प्रत्येक प्राणी में यह इच्छा सदा बनी रहती है कि 'मैं मृत्यु को प्राप्त न होऊँ, सदा बना रहूँ' यह जीने की इच्छा जीव के पूर्वानुभूत मृत्यु के भय को प्रकट करती है। अर्थात् जीव ने पूर्वजन्मों में मृत्यु के दुःख को अनुभव किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह जीवन-मरण का क्रम अनादि समय से रात-दिन की भांति चलता रहा है। और इस क्रम का प्रारम्भ इस सृष्टि का प्रारम्भ ही नहीं है, प्रत्युत प्रलय से पूर्व सृष्टि में भी था, इस प्रकार उससे पहले भी चलता रहा है। अतः इस सृष्टि के प्रारम्भ में भी पूर्वसृष्टि की वासनायें ही जन्म का कारण बनी हैं। और अन्योन्याश्रय दोष भी इसलिये नहीं आता कि इस जन्म का जो कारण वासनायें बनी हैं वे पूर्व-जन्म के कारण थीं, और पूर्वजन्म का कारण उससे पूर्वजन्म की वासनायें[1] थीं। इसका अभिप्राय यह है कि इस जन्म के कर्मों की वासनायें इस जन्म का कारण नहीं हैं, जिससे अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं हो सकता। क्योंकि ये वासनायें प्रवाह से अनादि होती हैं। और इन वासनाओं से चित्त अनुविद्ध होकर किन्हीं वासनाओं को निमित्त बनाकर पुरुष के भोग के लिये प्रवृत्त होता है, स्वाभाविक नहीं। क्योंकि स्वाभाविक वस्तु निमित्त के आश्रित कभी नहीं होती। और शेष वासनायें अभिभूत होकर चित्त के आश्रय से बनी रहती हैं, जो अपने अभिव्यंजक निमित्त को पाकर उद्बुद्ध तथा कार्यरत हो जाती हैं।

चित्त का परिमाण—यहाँ प्रसङ्ग से व्यास-मुनि ने चित्त के परिमाण

---

१. इससे यह भी स्पष्ट है कि—प्रत्येक वासना उत्पन्न होती है और फल का कारण बनकर नष्ट हो जाती है। यहाँ उन्हें प्रवाह से ही अनादि कहा है। अतः एक ही वासना अनादि काल से चली आ रही हो, ऐसा नहीं समझना चाहिये।

के सम्बन्ध में भी कुछ बातों पर विचार किया है । प्रथम दूसरे आचार्यों का मत दिखाकर तत्पश्चात् आचार्य पतञ्जलि की मान्यता दिखायी है, जो इस प्रकार है—

(१) चित्त उसी प्रकार संकुचित तथा विकासशील होता है, जैसे दीपक का प्रकाश घट में रखने से संकुचित तथा महल में रखने से विकसित हो जाता है। इसी प्रकार चित्त मनुष्य, हाथी, चींटी आदि जिस शरीर में जाता है उसी के परिमाण वाला हो जाता है।

(२) परन्तु आचार्य पतञ्जलि का मत यह है कि विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच, विकासवाली होती है, चित्त नहीं।

इन दोनों मतों में पतञ्जलि का मत ही युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है। चित्त शरीर के परिमाण वाला कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर के परिमाण वाला होने से समस्त शरीर के साथ चित्त का एकसाथ सम्बन्ध होता है। और फिर तो एकसाथ अनेक ज्ञान होने चाहिये, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। यह प्रत्यक्ष सर्वजनविदित है कि एक समय में एक ही ज्ञान होता है। इसका कारण स्पष्ट है कि चित्त शरीर के आकार वाला न होकर एक-देशी है, उसका जिस इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है, उसी का ग्रहण वह कर सकता है, दूसरे का नहीं। और यहाँ व्यास-भाष्य में चित्त के साथ 'विभु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे उसको व्यापक मानकर ही टीकाकारों ने व्याख्या की है। परन्तु वह सत्य नहीं है, क्योंकि यदि पतञ्जलि चित्त को व्यापक मानते तो समस्त शरीर में उसकी सत्ता माननी पड़ेगी और फिर दूसरे मत से इस मत का क्या भेद रहेगा ? शरीर के परिमाण के समान बडा कहें अथवा सारे शरीर में विद्यमान कहें इन दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं रहता। अतः 'विभु' शब्द का (वि पूर्वक भू धातु के अनुसार) विशेषेण भवतीति 'विभु' जो समस्त करणों में विशिष्ट है, अथवा योगसाधना करने से विशिष्ट वैभव=योगैश्वर्यों वाला हो जाता है, यह अर्थ ही सुसंगत होता है। अन्यथा चित्त को व्यापक मानने पर उसकी वृत्ति का संकोच तथा विकास कहना भी असंगत होता है। जो चित्त व्यापक है, उसकी वृत्ति उसके साथ अवश्य ही रहेगी, फिर उसका संकोच तथा विकास कैसे माना जायेगा ? अतः उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार चित्त को विभु मानकर उसे शरीर में एकदेशी ही मानना उचित है। इस विषय में वेदादि शास्त्रों के कतिपय प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्० (यजु० ३४।६) इसमें मन का स्थान हृदय में बताया है।

(२) तद्भावादणु मनः ।। (वैशे० ७ । १ । २३)

आकाश विभु है, उसके विपरीत मन अणु-परिमाणवाला है ।

(३) अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यत इति । क्रम वृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ? (न्याय० ३ । २ । ६)

अर्थात् मन विभु नहीं है, उसका इन्द्रियों से पर्याय से ही संयोग होता है ।

(४) (क) अणुपरिमाणं तत् कृति श्रुतेः ।। (सां० ३ । १४)

मन की सिद्धि शब्द-प्रमाण से होती है और वह मन अणुपरिमाण वाला है ।

(ख) न व्यापकत्वं मनसः करणत्वात्० ।। (सां० ५ । ६५)

अर्थात् मन एक करण है, उसका व्यापक होना सम्भव नहीं है ।

(५) महर्षि-दयानन्द ने भी शास्त्रों के अनुसार मन को सूक्ष्मशरीर का एक घटक माना है । और जब सूक्ष्म-शरीर ही व्यापक नहीं है, तो मन कैसे व्यापक हो सकता है ? और शिवसंकल्प के मन्त्र के 'दैवम्' पद की व्याख्या में महर्षि ने लिखा है—'दैवम्=देवे आत्मनि भवम्' अर्थात् मन जीवात्मा के पास हृदय में रहता है । जिसका शरीर में एकदेश में निवास हो, वह व्यापक कदापि नहीं हो सकता ।

(६) न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में लिखा है कि—'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन० ।' आत्मा का मन से संयोग होता है, मनका इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से । इस ज्ञान-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि जिसका संयोग होता है, वह संयोग से पूर्व पृथक् अवश्य रहता है । यदि मन व्यापक हो तो इन्द्रियों से संयोग कैसा ? क्योंकि वह तो पहले से इन्द्रियों से संयुक्त था ।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि मन (चित्त) व्यापक नहीं है, प्रत्युत अणु (एकदेशी) है और उसकी वृत्ति=व्यापार का ही समस्त इन्द्रियादि से सम्पर्क होता है ।

व्यासभाष्य में प्रक्षेप—इस सूत्र के व्यास-भाष्य में लिखा है—

'दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शरीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्त्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ।'

इसकी व्याख्या टीकाकारों ने यह की है—चित्त-बल के बिना केवल शारीरिक बल से कौन दण्डक वन को (खरदूषणादि चौदह हजार राक्षसों

का क्षय करके राक्षसों से) शून्य करने का उत्साह (श्री रामचन्द्र जी के सदृश) कर सकता है। तथा कौन अगस्त्यमुनि के समान समुद्र को पी सकता है।

ये दोनों बातें ही परवर्ती प्रक्षेप हैं। क्योंकि (१) यह वाक्य व्यास-भाष्य का न होकर 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत किया गया है। परन्तु यह किस ग्रन्थ का है यह अनुसन्धान करने योग्य है। ऐसा प्रतीत होता है किसी ने इसको यहाँ जोड़ने का बाद में प्रयत्न किया है। (२) और राक्षसों को मारकर भागना तथा दण्डकारण्य को खाली करना, यद्यपि चित्तबल के बिना केवल शारीरिक बल से सम्भव नहीं है। परन्तु यह व्यास की शैली नहीं है कि वे ऐतिहासिक पक्ष को रखकर किसी बात को कहते हों। (३) अगस्त्य-मुनि का समुद्र को पीना तो एक पौराणिक मिथ्या गप्प ही है। समुद्र के अथाह पानी को कौन पी सकता है? अतः स्पष्ट है कि किसी पौराणिक ने इसका प्रक्षेप किया है। (४) राम ने राक्षसों को शस्त्रास्त्रों से युद्ध करके भगाया अथवा मारा, इस प्रकार के प्रसङ्गों का यहाँ प्रकरण ही नहीं है। परमात्मा के मोक्षानन्द के प्रसंग में इस प्रकार की विषयों की कहानी कहना निरर्थक ही है ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

व्यासभाष्यम्

[हेतु] हेतुर्धर्मात्सुखमधर्माद्दुःखं सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्यन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा। ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्। अस्य च प्रतिक्षणमावर्त्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः। [फल-] फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः, न ह्यपूर्वोपजनः। [आश्रय-] मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते। [आलम्बन-] यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्। एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद—[हेतुः] धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है। सुख से राग, दुःख से द्वेष होता है। और उससे (राग-द्वेष से) प्रयत्न होता है। उस

प्रयत्न के द्वारा मन, वाणी और शरीर से क्रियाशील होता हुआ जीव अन्य जीवों पर दया करता है अथवा उनकी हिंसा करता है। और उससे फिर धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष, इस प्रकार क्रमशः प्रवृत्त होने वाला छः अरों वाला संसार-चक्र है। और प्रतिक्षण घूमते हुए इस संसार-चक्र की नेत्री=आगे बढ़ाने वाली अविद्या है, जो समस्त क्लेशों का मूलकरण है। इस प्रकार यह अविद्या समस्त वासनाओं का हेतु है।............... [फल] फल तो वह है, जिसको आश्रय बना जिस धर्मादि की वर्त्तमानता होती है, अपूर्व-उत्पत्ति नहीं। [आश्रय] समस्त वासनाओं का आश्रय मन है, जो साधिकार=सत्त्वादि गुणों के व्यवहार से युक्त है। क्योंकि जिसके गुणों का कार्य समाप्त हो गया है, उस चित्त में आश्रय के विना वासनायें स्थित नहीं हो सकतीं। [आलम्बन] जो अभिव्यञ्जक वस्तु उपस्थित होकर प्राणी की जिस वासना को प्रकट करती है, वह उसका आलम्बन है। इस प्रकार समस्त वासनायें इन हेतु, फल, आश्रय, तथा आलम्बन से संगृहीत होती हैं। और इन के अभाव होने पर वासनाओं का अभाव हो जाता है।

सूत्रार्थ—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः) हेतु=धर्माधर्मादि, फल, आश्रय तथा आलम्बन, इन चारों से (संगृहीतत्वात्) वासनाओं का संग्रह होने से (एषाम्) इन हेतु आदि के (अभावे) न रहने की दशा में (तद् अभावः) उन वासनाओं का अभाव हो जाता है।

भावार्थ—पूर्व सूत्र में वासनाओं को अनादि कहा है, और जिसका आदि न हो, उसका नाश भी कैसे हो सकता है? और वासनाओं के रहते हुए मोक्ष-प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। इस आशंका का समाधान इस सूत्र में इस प्रकार दिया है—इन वासनाओं को अनादि कहने का अभिप्राय सदा से आने वाली नहीं है। अनादि से अभिप्राय पुरुष का वासनाओं की उत्पत्ति कारण को न जानने से ही है। क्योंकि जिसका कारण होता है, वह कार्य से पूर्व नहीं हो सकता। हाँ—कारणरूप में सदा रह सकती है। इन वासनाओं के भी मन में संग्रह होने के चार कारण हैं—

(१) हेतु—धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, और राग-द्वेष। और इनका मूल-कारण है अविद्या।

(२) वासनाओं का फल=जाति, आयु और भोग।

(३) वासनाओं का आश्रय=साधिकार चित्त।

(४) वासनाओं का आलम्बन=इन्द्रियों के विभिन्न विषय ही आलम्बन हैं। समस्त वासनाओं के ये पूर्वोक्त चार ही कारण हैं। ऐसी कोई वासना

नहीं है, जो इनसे सम्बद्ध न हो। यह संसाररूपी चक्र छः अरों वाला है, अर्थात् धर्माचरण से सुख होता है, अधर्माचरण से दुःख होता है, सुखप्राप्ति से सुखदवस्तु के प्रति राग होता है दुःखप्राप्ति से दुःखद वस्तु के प्रति द्वेष हो जाता है। राग-द्वेषवश, परानुग्रह तथा परपीड़ा जीव करता है। इस प्रकार धर्माधर्म, सुख-दुःख तथा राग-द्वेष के वशीभूत ही प्राणियों की सब चेष्टायें देखी जाती हैं। और इस प्रकार अनादिकाल से भ्रमित सुखादि छः अरों वाले इस संसार-चक्र का मूलकारण अविद्या है। अविद्या के विद्यमान रहते हुए वासनाओं का अभाव कभी नहीं हो सकता। जब योगी विवेकख्याति को प्राप्त करके योग-साधना से अविद्या को दग्धबीज की भांति बना देता है, तो अविद्या के तिरो-भाव होने पर अविद्या के कार्यभूत वासनाओं का भी अभाव हो जाता है और योगी मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ हो जाता है॥ ११ ॥

अव०—नास्त्यसतः सम्भावो न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्त्तिष्यन्ते वासना इति ?

(अर्थ)—असत्=अविद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) नहीं होता और विद्यमान का विनाश नहीं होता है। अतः द्रव्यरूप से प्रकट होने वाली वासनायें कैसे निवृत्त हो जायेंगी ?

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

व्यासभाष्यम्

भविष्यद्व्यक्तिकमनागतमनुभूतव्यक्तिकमतीतं स्वव्यापारोपारूढं वर्त्तमानं, त्रय चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञान-मुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किंच भोगभागीयस्य वाऽप-वर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमि-त्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्त्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्व-मुत्पादयतीति।

धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः।

न च यथा वर्त्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि, स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति। स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्त्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीता-

नागतयोरध्वनोः। एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वानामिति ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद—भविष्य में अभिव्यक्ति वाला पदार्थ 'अनागत' होता है, (बीते समय में) अनुभव की गयी अभिव्यक्तिवाला पदार्थ 'अतीत' होता है और अपने अभिव्यक्त व्यापार में आरूढ़ हुई वस्तु 'वर्त्तमान' होती है। और ये तीनों प्रकार के पदार्थ ज्ञान का विषय बनते हैं। यदि ये तीनों ज्ञेय पदार्थ अपने स्वरूप से न होवें तो ज्ञान निर्विषय=ज्ञेयहीन होने से उत्पन्न न हो सकें। इसलिये (त्रैकालिक विषयों का ज्ञान होने से) अतीत तथा अनागत पदार्थ स्वरूप से हैं। और भोग सिद्ध करने वाले अथवा अपवर्ग=मोक्ष सिद्ध करने वाले कर्मों के फल को उत्पन्न करने में उत्सुक ज्ञान यदि निरुपाख्य=असद् रूप हो, तो उसके सकारण उद्देश्य से किये गये कुशलानुष्ठान=उचित धर्मादि साधनों का अनुष्ठान करना युक्तिसंगत न हो सके। यथार्थ में (अव्यक्तरूप में) सत्=विद्यमान फल को ही धर्मादि कारण अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं, अपूर्व=असत् वस्तु की उत्पत्ति में नहीं। निमित्त=साधनानुष्ठान किया गया धर्मादि निमित्त नैमित्तिक=निमित्त से होने वाले सिद्ध=नित्य विशेष फलों को अभिव्यक्त करता है, अपूर्व=असत् की उपत्ति नहीं करता है।

और धर्मी अनेक धर्मों के रखने के स्वभाव वाला होता है। उसके धर्म अध्वभेद=विभिन्नकालभेद से उसमें स्थिर रहते हैं। और जैसे--वर्त्तमान धर्म विशिष्ट अभिव्यक्ति से सम्पन्न द्रव्यरूप में रहता है, वैसे अतीत, अनागत धर्म नहीं रहते। तो फिर किस प्रकार रहते हैं? अनागत धर्म अपने व्यंग्यस्वरूप से ही स्थित रहता है अर्थात् अनागत धर्म आगे आने वाले क्षणों में अभिव्यक्त होने वाला होता है। और अतीतधर्म अपने पूर्वानुभूत अभिव्यक्ति वाले स्वरूप से स्थित रहता है। (वर्त्तमानस्यैवाध्वनः[१]) अभिव्यक्ति वर्त्तमानधर्म के समय में ही धर्मी के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। अतीत और अनागत धर्मों की स्थिति के समय वह स्वरूपाभिव्यक्ति नहीं होती है।

धर्मी के इन त्रिविध[२] धर्मों में से जब एक धर्म की उपस्थिति का समय होता है, तब शेष दो धर्म उसी धर्मी में समन्वित रहते ही हैं। उनका अभाव

---

१. यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति समझनी चाहिये।

२. धर्म और धर्मी का स्वरूप यह है—'योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। (यो० भा० ३।१४) शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ (यो० ३।१४) इनकी व्याख्या यथास्थान द्रष्टव्य है।

नहीं होता। इसलिये तीनों कालों वाले धर्मों की स्थिति (न अभूत्वा भावः) बिना पहले स्थित (विद्यमान) हुए नहीं होती अर्थात् असत् से सद्भाव नहीं होता, अपितु सत् की ही अभिव्यक्ति होती है, यही सिद्धान्तपक्ष है।

सूत्रार्थ—(धर्माणाम्) धर्मों के (अध्वभेदात्) कालिक-आधार पर मार्ग-भेद होने से (अतीत-अनागतम्) भूतकालीन तथा भविष्यत्काल में होने वाली वस्तु (स्वरूपतः, अस्ति) अपने स्वरूप से विद्यमान रहती है।

भावार्थ—गत-सूत्र में वासनाओं के हेत्वादि कारणों के अभाव होने पर वासनाओं का भी अभाव कहा है। जब सत्कार्यवाद[1] में असत् की उत्पत्ति तथा सत् का विनाश कभी नहीं होता, तो सत् वासनाओं का अभाव कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान सूत्रकार ने इस प्रकार किया है—

वासनाओं के हेतु आदि के अभाव होने पर उनके अभाव होने का अभिप्राय अत्यन्ताभाव से नहीं है, प्रत्युत अपने कारणरूप अविद्या में शान्त होने से है। प्रत्येक धर्मी वस्तु के धर्म अतीत, अनागत तथा वर्त्तमानकाल के भेद से सदा विद्यमान रहते हैं। जो धर्म वर्त्तमानकाल में उदित होते हैं, वे अतीत-काल में शान्त तथा भविष्यत्काल में अव्यपदेश्यरूप में रहते हैं। क्योंकि धर्मी वस्तु के स्वरूप का सर्वथा नाश नहीं होता, वह अपने कारण में विद्यमान अवश्य रहती है। और उस वस्तु के धर्म कारण में सदा बने रहते हैं। जब तक भविष्यत् दशा में होते हैं, वे धर्म तब तक अपना कार्य प्रकट नहीं करते और अतीतकाल में फिर शान्तभाव से विद्यमान रहते हैं। सामान्यबुद्धि वाला व्यक्ति इस रहस्य को न समझकर उनके वर्त्तमानरूप को ही स्वीकार कर लेता है और वस्तु के कारण-लय होने पर वस्तु के अभाव में धर्मों का भी नाश समझ बैठता है। परन्तु योगी-पुरुष धर्मों के अतीतादि तीनों भेदों को भली-भांति जान लेता है। और इन वासनाओं का भी वर्त्तमान (उदित) अवस्था से अतीत शान्त अवस्था को प्राप्त करना ही इनका अभाव होता है। ये वास-नायें हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन (यो० ४।११ में कहे) संगृहीत होती हैं, और पुरुष के बन्धन का कारण बनती हैं। इनके कारण के अभाव होने पर ये बन्धन का हेतु नहीं बनती। क्योंकि अविद्या समस्त क्लेशों तथा वास-नाओं का मूलकारण है, योगी को अविद्या का सम्पर्क न होने पर इनका अभाव हो जाता है। यहाँ अभाव का आशय योगी पुरुष से पृथक् होने से ही है,

---

१. **महर्षि-दयानन्द ने भी लिखा है—"कभी असत् का भाव वर्त्तमान और सत् का अभाव अवर्त्तमान नहीं होता। इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने जाना है"।**
(स० प्र० अष्टम०)

नाश से नहीं। अपने कारण अविद्या में तो उसका शान्तरूप से भाव रहता है। अतः योग के सत्कार्यवाद में वासनाओं के अभाव कहने से कोई दोषापत्ति न आती है॥ १२॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

व्यासभाष्यम्

[ते] ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा [व्यक्तसूक्ष्माः] वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षडविशेषरूपाः। [गुणात्मानः] सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः। तथा च शास्त्रानुशासनम्—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्"। इति॥ १३॥

भाष्यानुवाद—[ते] वे ये वर्त्तमान, अतीत तथा अनागत तीन धर्म [व्यक्तसूक्ष्माः] वर्त्तमान समय में अभिव्यक्तस्वरूप वाले होते हैं और अतीत तथा अनागत समय में सूक्ष्म=अनभिव्यक्तस्वरूप वाले होते हैं। और इनके अविशेषरूप=सामान्यरूप छः[1] होते हैं। [गुणात्मानः] यह समस्त (प्रकृतिजन्य विश्व) गुणों=सत्त्वादि गुणों का सन्निवेशविशेष=अवयवसंस्थान (जिसके अवयव त्रिगुणों के ही सम्मिश्रण से भिन्न-भिन्न रूप में बने हुए हैं) मात्र है। इस कारण से परमार्थतः=वास्तव में समस्त धर्म गुणात्मानः= सत्त्वादि गुणरूप ही हैं। और वैसा ही शास्त्र का उपदेश भी है—सत्त्वादिगुणों का परमरूप=यथार्थस्वरूप दृष्टिगोचर=दिखाई नहीं देता (क्योंकि गुणों का जो अव्यक्तस्वरूप है, वही मूलरूप है)। और जो गुणों का व्यक्तरूप दृष्टिगोचर होता है, वह माया की भांति (इन्द्रजाल की तरह) सुतुच्छकम्= विनाशी होने से तुच्छ है। इसका अभिप्राय यह है कि गुणों के दो रूप हैं— एक अव्यक्त प्रकृतिरूप और दूसरा व्यक्त-विकृतिरूप। इनमें अव्यक्त प्रकृतिरूप ही यथार्थ है, व्यक्त विकृतिरूप माया की भांति विनाशी होता है।

---

१. समस्त भावपदार्थों के छः विकार होते हैं—'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति' (निरुक्त० १। २) अर्थात् पैदा होता है, वर्त्तमान होता है, बदलता है, बढ़ता है, घटता है, और नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार धर्मों के व्यक्ताव्यक्तरूप में भी छः सामान्यरूप समझने चाहियें।

सूत्रार्थ—(ते) वे भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् इन तीन कालिक आधार पर मार्ग-भेद से विभक्तधर्म (व्यक्त-सूक्ष्माः) व्यक्त=प्रकटरूप तथा सूक्ष्म=अप्रकटरूप (गुणात्मानः) गुणस्वरूप होते हैं।

भावार्थ—धर्म और गुण में अन्तर—व्यास-भाष्य के ३। १३–१४ सूत्रों में लिखा है—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः'। पूर्व से विद्यमान वस्तु के पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति होना परिणाम है। जैसे—सुवर्ण के आभूषण को गलाकर उससे अन्य आभूषण बनाना। अथवा मिट्टी से घटादि पात्र बनाना। इससे स्पष्ट है कि धर्म निवृत्त तथा उदित होने वाला है। व्यासमुनि ने 'योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः' (यो० भा० ३। १४) कहकर योग्यतानुसार शक्ति को ही धर्म माना है, जो कि द्रव्य में 'शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी' (यो० ३। १४) सूत्र के अनुसार अतीतकाल में द्रव्य में शान्तरूप में, वर्त्तमान में उदितरूप में और भविष्यत्काल में अव्यपदेश्यरूप[1] में रहता है। और गुण—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के भेद से तीन हैं। ये तीनों गुण कारण-प्रकृति तथा उसके कार्यों में सदा विद्यमान रहते हैं। परन्तु ये तीनों गुण अभिभव=दब जाना, प्रादुर्भाव=प्रकट होना रूप में सभी कार्य-पदार्थों में गौण, मुख्यभाव से रहते हैं। इस प्रकार धर्म और गुण में परस्पर भेद होने पर भी व्यक्त=प्रकट होना और सूक्ष्म=प्रकट न होने के रूप में समानता है। इसलिये यहाँ सूत्र में धर्मों को गुणस्वरूप ही कहा है। और इसका आशय यह भी है कि वस्तु की शक्ति=सामर्थ्य को धर्म कहा है और वह शान्त व उदित होता रहता है, यह भी सत्त्वादिगुणों के अनुरूप ही होता है। अर्थात् जिस गुण की मुख्यता होगी, वैसी ही शक्ति (धर्म) भी होगी। और गुणों की जो परिणामविशेष शक्ति है, वही यहाँ 'धर्म' शब्द से अभिप्रेत है।

इस धर्म तथा गुण के विवेचन से स्पष्ट है कि जैसे—सुवर्णकार स्वर्ण-आभूषणों को पिघलाकर दूसरे बना देता है, परन्तु भूषणों का उपादान कारण नहीं बदल सकता, वैसे ही यह समस्त जगत् मूलप्रकृति का विकार सत्त्वादि गुणों का परिणाम है। महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें तथा पञ्चस्थूलभूत, सभी प्रकृति के विकार हैं। प्रकृति विभिन्न कार्यों में परिवर्तित होती रहती है, परन्तु उन कार्यों में कारण-प्रकृति के गुण व्यक्त तथा अव्यक्तरूप में विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार योगदर्शन के सत्कार्यवाद में किसी वस्तु का

---

१. इसी बात को व्यासमुनि ने इस प्रकार स्पष्ट करते हुए लिखा है—'तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति'। (यो० भा० ३।१४)

अभाव कभी नहीं होता। जो पदार्थ वर्त्तमानावस्था में होता है, उसके धर्म उदितरूप में होते हैं, और अतीतकाल में शान्तरूप तथा भविष्यत्काल में अव्यपदेश्यरूप में रहते हैं ॥ १३ ॥

अव०—यदा सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति ?

(**अर्थ**)—जब सभी पदार्थ गुण ही हैं, तो (उन पदार्थों में) शब्द एक है, इद्रिय एक है, यह व्यवहार कैसे होता है ?—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

व्यासभाष्यम्

प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं, ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः।

नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः। अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्रविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद—प्रख्या=प्रकाशशील, क्रिया=प्रवृत्तिशील, स्थिति=गुरुत्व के कारण स्थितिशील सत्त्व, रजस् तमस् गुण ग्रहणात्मक=विषयों का ग्रहण कराने की क्षमता रखते हैं, उनका करणभाव=ग्रहणकरने वाली इन्द्रियरूप में जो एक परिणाम है, वह कर्णेन्द्रिय[1] है। और उन्हीं गुणों का जो ग्राह्यरूप =विषयरूप से गृहीत होने की क्षमता रखने वाला है, उनका शब्दतन्मात्र भाव से जो एक परिणाम है, वह शब्दविषय[2] है। शब्दतन्मात्रादि की, जो मूर्ति=कठोरतादि रूप समानजातीयता है, उनका पृथिवी परमाणु रूप एक

१. यहाँ कर्णेन्द्रिय उपलक्षण मात्र ही है। इससे भिन्न इन्द्रियाँ भी करणरूप से एक एक परिणाम हैं।

२. यहाँ भी रूपादि अन्य विषयों का ग्रहण उपलक्षण मानकर करना चाहिये।

परिणाम=(पृथिवी, गौ, वृक्षादि) हैं। इसी प्रकार दूसरे जलादि भूतों में (मूर्ति धर्म को लेकर पृथिवी की भांति) अर्थात् जल में स्नेहधर्म, अग्नि में उष्णताधर्म, वायु में वहनशीलताधर्म, और आकाश में अवकाश देना रूप धर्मों को लेकर एक एक सामान्य=सजातीय जलादि एक एक विकार=परिणाम का प्रारम्भ समझना चाहिये।

क्षणिकवाद का प्रत्याख्यान—विज्ञान[1] से विसहचर पृथक्=रहने वाला कोई अर्थ=सत् पदार्थ नहीं है। परन्तु अर्थ विसहचर=सत् वस्तु से भिन्न ज्ञान तो स्वप्नादि में कल्पित की भांति सत् है। इस प्रकार जो व्यक्ति सत् वस्तु का अपलाप=निषेध करते हैं और उन के अनुसार सत् पदार्थ ज्ञान की परिकल्पनामात्र ही होता है, स्वप्न पदार्थों के समान, वास्तविक नहीं। इस प्रकार वे लोग अप्रामाणिक विकल्पितज्ञान के आधार पर सत्-वस्तु के स्वरूप को छोड़कर वस्तु के सद्रूप का ही खण्डन करते हैं। सद् वस्तु तो अपनी महिमा से=लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्ष रूप से अपनी सत्ता को उपस्थित कराने के कारण विद्यमान है। उस प्रत्यक्ष सद्वस्तु का भी अपलाप करने वाले लोगों की बातें कैसे श्रद्धा करने योग्य हो सकती हैं? अर्थात् जाग्रत-दशा में अनुभूयमान सत्-पदार्थों का स्वप्नगत-पदार्थों की भांति अपलाप कदापि नहीं किया जा सकता॥

सूत्रार्थ—(परिणामैकत्वात्) सत्त्वादि तीनों गुणों के गौण-प्रधान भाव से परिणाम के होने से (वस्तुतत्त्वम्)[2] परिणत पदार्थों की एकता सिद्ध होती है।

भावार्थ—गत सूत्र में यह कहा है कि यह समस्त भौतिक जगत् गुण-स्वरूप है। अर्थात् पृथिवी आदि पाञ्चों स्थूलभूत पञ्चतन्मात्राओं के कार्य हैं, पञ्चतमान्त्रायें तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार का कार्य होने से अहंकार-स्वरूप हैं, अहंकार महत्तत्त्व स्वरूप है, महत्तत्त्व प्रधान (मूल प्रकृति) स्वरूप है और प्रधान गुणत्रयस्वरूप है। अतः तीनों गुण ही समस्त पदार्थों के कारण हैं। यहाँ ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि तीनों गुणों का कार्य होने से पदार्थों में एकता की प्रतीति कैसे होती है? तीनों गुणों का कार्य होने से अनेक रूप ही गृहीत होने चाहिये। इसका समाधान इस सूत्र में इस प्रकार दिया है—यह

१. विज्ञानवादी क्षणिकवादी हैं, वे बाह्य किसी वस्तु की सत्ता पर विश्वास नहीं करते। चित्त ही ज्ञानरूप है, ज्ञान का आश्रय नहीं। और इनके मत में प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाला ही विज्ञान है॥

२. वस्तूनाम्=परिणतपदार्थानाम् तत्त्वं तादृशत्वमर्थाद् एकत्वम्।

सत्य है सत्त्वादि तीनों गुण ही सब पदार्थों के कारण हैं, परन्तु उनका परिणाम एक होता है ? अर्थात् सत्त्वगुण प्रकाशशील है, रजोगुण क्रियाशील है, तमोगुण स्थितिशील है, इनके स्वभाव भिन्न भिन्न होने से इनका परिणाम एक नहीं होना चाहिये। परन्तु वस्तुओं में एकता देखी जाती है—यह गाय है, यह वृक्ष है, यह पृथिवी है, यह जल है, इत्यादि। इसका कारण यह है कि सत्त्वादि गुणों के स्वभाव में भिन्नता होते हुए भी ये अङ्गाङ्गीभाव[1] से कार्य कर रहे हैं। किसी पदार्थ में सतोगुण मुख्य होता है तो दूसरे गुण गौण भाव से रहते हैं, किसी पदार्थ में रजोगुण मुख्य होता है और किसी में तमोगुण मुख्य होता है, इस बात को दीपक के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। दीपक में बत्ती, तेल तथा अग्नि का संयोग होता है परन्तु ये तीनों ही मिलकर प्रकाशरूप एक कार्य करते हैं। इसी प्रकार तीनों गुण मिलकर पुरुष के भोगापवर्ग के लिये भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में परिणत होते हैं। ये तीनों गुण परस्पर विलक्षण होते हुए भी उनसे परिणत होकर कार्यरूप में उत्पन्न (पृथिवी, जलादि के रूप में) पदार्थों की एकता में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते। ये ही गुण जब कारणरूप में परिणत होते हैं, तो उन्हें एक कर्मेन्द्रिय, एक नेत्रेन्द्रियादि के रूप में कहा जाता है, वे ही गुण जब ग्राह्य विषयकरूप में परिणत होते हैं, तो उन्हें एक शब्द, एक रूपादि के रूप में कहा जाता है। इसी प्रकार पृथिवी, जलादि का एक एक परमाणु तन्मात्राओं के संघात से परिणत होता है और उन परमाणुओं से मिलकर पृथिवी, गाय, वृक्ष, पर्वतादि स्थूल परिणाम होते रहते हैं। इस प्रकार अनेक के संघात से एक परिणाम होने में कोई बाधा नहीं होती। दूसरे दर्शनकार कणाद और गौतम ने इसी परिणाम[2] की एकता को 'अवयवी' शब्द से कहकर स्वीकार किया है।

एव अवयवी को न मानने वाले क्षणिकवादियों का खण्डन—क्षणिकवाद की मान्यता के अनुसार संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ज्ञान के बिना रह सके और ज्ञान पदार्थ के बिना भी स्वप्न की भांति रह सकता है। इसलिये बाह्यवस्तुओं के एकरूप (अवयवी रूप) में न होने पर भी ज्ञान एकरूप (पृथिवी, जलादिरूप) में हो जाता है। अतः वे ज्ञान का एक विषय न मानकर सत्वस्तुओं को ही स्वीकार नहीं करते। व्यासमुनि ने उनका स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। स्वप्न-दशा के समान सत् वस्तुओं का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वप्न ज्ञान का भी आधार जाग्रत दशा का सविषयक

---

१. इसी बात को दर्शनकार ने 'अन्योऽन्यमिथुनरूप शब्द से कहा है

२. परिणाम का स्वरूप यह है—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' (यो० भा० ३ । १३)

ज्ञान ही होता है। जैसे जन्म से अन्धे को रूप का स्वप्न कभी नहीं आता। और प्रत्यक्ष में दीखने वाले पदार्थों का निषेध अप्रामाणिक विकल्पज्ञान से कदापि नहीं किया जा सकता। और क्षणिकवादियों का एक अवयवी को न मानकर कारणरूप अवयवों का संघात मात्र ही वस्तुओं को मानना भी मिथ्या है। जो वस्तु की सत्ता को न मानता हो और फिर संघात को स्वीकार करे, प्रथम तो यह परस्पर विरोधी बात होने से मिथ्या है। और अवयवों का जो संघात है, क्या वह अवयवों से अतिरिक्त है? यदि अतिरिक्त है, तो अवयवी कहें अथवा संघात, इसमें कोई अन्तर नहीं है। और यदि अवयवों से भिन्न न होकर अवयवरूप ही मानते हैं, तो विभिन्न अवयवों में एकत्व का ज्ञान ही भ्रान्त कहलायेगा। क्योंकि अनेक में एकत्व का ज्ञान होना वैसे ही भ्रान्ति है, जैसे अन्धकारवश रस्सी को सर्प समझना। और जो जिसका परिणाम होता है, वह उससे कारणरूप से अभिन्न होता हुआ भी भिन्न होता है,। जैसे मिट्टी का परिणाम घटादि होता है। अतः कारणरूप अवयवों का परिणाम अवयवरूप नहीं हो सकता, उस परिणाम को अवयवी मानना ही ठीक है ॥ १४ ॥

अव०—कुतश्चैतदन्याय्यम् ?

(अर्थ)—यह बात (सत् पदार्थों को चित्त की कल्पना मानना) क्यों-विरुद्ध (अनुचित) है ?

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

व्यासभाष्यम्

बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणम्। तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्। कथम्! [वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्] वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति। कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्। न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः। [तयोर्विभक्तः पन्थाः] तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः। नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति।

सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसंबध्यते। निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनाऽऽत्मना हेतुर्भवति। केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति। त एतया साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते ॥ १५ ॥

भाष्यानुवाद—अनेक चित्तों का आश्रयीभूत=आलम्बन (विषय) बनी हुई एक ही वस्तु साधारण=समानरूप से धारण की हुई होती है। वह वस्तु न तो एक चित्त से परिकल्पित=कल्पना की गयी होती है और नहीं अनेक चित्तों से परिकल्पित होती है, किन्तु अपने स्वरूप में=निजसत्ता में स्थित होती है। इसका कारण यह है कि [वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्] वस्तु के समान (एक) होने पर भी चित्तों के भिन्न-भिन्न होने से (वस्तु की सत्ता पृथक् सिद्ध होती है।) वस्तु एक होने पर भी चित्त को धर्म=धर्मसंस्कारों की अपेक्षा से सुखज्ञान=सुखात्मक अनुभव होता है, अधर्म=अधर्म के संस्कारों की अपेक्षा से उसी वस्तु से दुःखज्ञान=दुखात्मक अनुभव होता है, अविद्या=मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से उसी वस्तु से मूढज्ञान=मोहात्मक अनुभव होता है। और सम्यग्दर्शन=विवेकख्याति की अपेक्षा से उसी वस्तु से माध्यस्थज्ञान=उदासीनात्मक अनुभव होता है। (इन चारों प्रकार के अनुभव करने वाले चित्तों में से) किसके चित्त से उस वस्तु की परिकल्पना की गयी है? और दूसरे पुरुष के चित्त से परिकल्पित पदार्थ से दूसरे पुरुष के चित्त का उपराग=लगाव नहीं हो सकता। [तयोर्विभक्तः पन्थाः] इसलिये ग्राह्य=वस्तु और ग्रहण=चित्त के भेद से भिन्न वस्तु और चित्त का मार्ग भिन्न भिन्न है। इन वस्तु और ज्ञान में संकरगन्ध=अभिन्न होने का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है।

(चित्तभेद से एक ही वस्तु से भिन्न भिन्न ज्ञान क्यों होते हैं, इस का उत्तर देते हैं) सांख्य-दर्शन[1] में तो प्रत्येक भौतिकवस्तु त्रिगुणात्मक है और सत्त्वादि गुणों का स्वभाव चल=परिवर्तनशील=अस्थिर होता है। इसलिये धर्मादि (धर्म, अधर्म अविद्या और सम्यग्ज्ञान) निमित्त की अपेक्षा से वह वस्तु पुरुषों के भिन्न भिन्न चित्तों से सम्बद्ध हो जाती है। और धर्मादि निमित्तों के अनुरूप उत्पन्न होने वाली सुखात्मकादि अनुभूतियों का उस उस रूप से (वस्तु) कारण बन जाती है।

कुछ (क्षणिकवादी) कहते हैं—भोग्य होने के कारण सुखादि के समान ज्ञान के साथ ही अर्थ (बाह्य पदार्थ=वस्तु) उत्पन्न होता है=(सत्ता वाला होता है)। वे इस (मान्यता) से साधारणत्व=वस्तु के अनेकचित्तों में ग्रहण करने वाली बात का खण्डन करते हुए (सुखादि अनुभव के) पूर्वक्षणों और परवर्ती क्षणों में वस्तु के स्वरूप का ही अपलाप करते हैं अर्थात् वस्तु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। (इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है)।

---

१. यहां व्यासमुनि से योग के समान मान्यता रखने वाले सांख्यदर्शन की बात कहकर योग की भी मान्यता दिखायी है। क्योंकि 'परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतमेव भवति' सिद्धान्त के अनुसार सांख्य का मत ही योग का मत है।

सूत्रार्थ—(वस्तुसाम्ये) बाह्यवस्तु के एक होने पर भी (चित्तभेदात्) चित्तों के भेद होने से (तयोः) उन वस्तु और चित्त का (पन्थाः विभक्तः) मार्ग भिन्न भिन्न है।

भावार्थ—जैसे स्वप्नावस्था में चित्त से भिन्न प्रतिभासित होने वाली वस्तुयें यथार्थरूप में भावरूप में नहीं होतीं, प्रत्युत चित्त से कल्पित ही होती हैं। उसी प्रकार जाग्रत-दशा में भी चित्त से भिन्न कोई बाह्यवस्तु की सत्ता नहीं है। जो कुछ भी परिज्ञात होता है वह सब चित्त की कल्पनायें ही हैं। चित्त में अनादिकाल की वासनायें ओतप्रोत हैं, इन वासनाओं के अनुरूप ही चित्त में भिन्न-भिन्न वस्तुयें प्रतोत होती हैं। इस भ्रान्ति का निराकरण सूत्र व भाष्य में इस प्रकार किया है—

बाह्यवस्तु की सत्ता चित्त से भिन्न है—प्रत्येक बाह्यवस्तु चित्त की कल्पना न होकर अपने स्वरूप में स्थिर है। और स्थिर होने से ही अनेक चित्तों का विषय बन जाती है। क्योंकि एक ही वस्तु को देखकर चित्त की अवस्था-भेद से किसी को सुख होता है, किसी को दुःख होता है, किसी को मोह होता है, और किसी को उदासीनता होती है। जैसे-एक ही स्त्री को पति देखकर सुखी होता है, सपत्नी उसे देखकर दुःखी होती है, कामी व्यक्ति उसे देखकर मोहित होता है और कोई विरक्त साधु-पुरुष उसे देखकर उदासीन रहता है। यदि चित्त से भिन्न कोई बाह्यवस्तु नहीं है तो एक ही वस्तु इतने चित्तों का विषय नहीं बनसकती। अतः एक ही वस्तु अनेक चित्तों में नाना प्रकार के भावों को उद्बुद्ध करने से चित्त द्वारा कल्पित नहीं मानी जा सकती। प्रत्युत चित्त से भिन्न स्वतन्त्र अपनी सत्ता रखती है।

और हम यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि हमने पहले कभी किसी वस्तु को देखा था और कालान्तर में फिर उसी को देखकर हमें 'स एवायं घटः' यह घडा वही है, यह प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि घटादि कोई पदार्थ ही न हो तो प्रथम स्मृति की प्रत्यभिज्ञा कदापि न हो सके। और क्षणिकवाद में यह भी दोष है—कि 'अन्येन दृष्टं श्रुतं वा नान्यः स्मरति' दूसरे से देखी या सुनी वस्तु का स्मरण दूसरे को कदापि नहीं होता। इस नियम के अनुसार जिस घट का आश्रय पूर्वचित्त था, उसके नष्ट होने से दूसरा चित्त उसकी स्मृति कैसे कर सकता है? क्योंकि इस प्रतिभिज्ञा का अपलाप कोई नहीं कर सकता, अतः घट-पटादि बाह्यवस्तुओं की स्वतन्त्रसत्ता है और वह चित्त से भिन्न है, इस बात को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। और पूर्वकाल का ज्ञाता जो चित्त है, उसकी स्मृति दूसरा क्षणिक चित्त कदापि नहीं कर सकता। अतः क्षणिकवाद की क्षणिक चित्त की कल्पना और चित्त से भिन्न बाह्यवस्तुओं को न मानना, दोनों ही मान्यतायें प्रत्यक्षविरुद्ध एवं अयुक्तियुक्त हैं।

यहाँ एक यह भी आशका उपस्थित की जाती है कि चित्त एक त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार है, उस एक चित्त से चेतनपुरुष को सुख-दुःख, मोहादि अनेक प्रकार का ज्ञान क्यों होता है ? क्षणिकवादी के मत में तो इसका कारण भिन्न-भिन्न चित्त हैं। इसका उत्तर व्यास-भाष्य में बहुत ही युक्तियुक्त दिया है, अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिजन्य वस्तु सत्त्वादि गुणों वाली है और गुणों का स्वभाव चल=परिवर्तनशील है। और इन गुणों में धर्म, अधर्म, विद्या, अविद्यादि के कारण गुणों का अभिभव व प्रादुर्भाव होता रहता है। जिस समय धर्माचरण से सतोगुण की मुख्यता होती है, उस समय सुख, अधर्माचरण के रजोगुण की प्रमुखता होने पर दुःख, अज्ञान की प्रधानता में तमोगुणजन्य मोह चित्त में होता रहता है। और ज्ञान की मुख्यता होने पर त्रिगुणात्मक प्रकृति से उपेक्षा भाव होने लगता है। अतः सुख, दुःख, मोहादि का कारण धर्मादि निमित्त होने से क्षणिकवाद की आशंका निर्मूल हो जाती है॥ १५ ॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

व्यासभाष्यम्

एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वाऽस्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् ? संबध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत। ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत। तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रति पुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद—यदि वस्तु की (सत्ता) एक चित्त के अधीन हो तो चित्त के व्यग्र=अन्य विषय में लग जाने पर अथवा निरुद्ध=योगाभ्यास से निरोध हो जाने पर वह वस्तु अस्वरूप=अपने स्वरूप से शून्य ही हो जाये। और उस व्यग्र या निरुद्ध चित्त से अपरामृष्ट=सम्बन्ध न रखने वाली तथा दूसरे पुरुषों के चित्तों का भी विषय न बनने वाली होने से (वह वस्तु) अप्रमाणक=किसी पुरुष से भी प्रमाणहीन अज्ञात सत्ता वाली होने से ग्रहण न की जा सके। उस समय वह वस्तु कैसी होगी ? और फिर उसी चित्त के साथ सम्बद्ध होती हुई कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ? और जो उस वस्तु के अनुपस्थित=अज्ञात अंश

हैं, वे उस व्यग्र या निरुद्ध होने वाले चित्त के विषय न बन सके। इस प्रकार यदि पृष्ठ-भाग (पीठ) नहीं है तो उदर=पेट भी नहीं होना[1] चाहिये।

इसलिये अर्थ=प्रत्येक बाह्य पदार्थ स्वतन्त्र सत्तावाला=अन्य निरपेक्ष होने से स्वसत्ता वाला है। (वह न तो चित्त के ही अधीन है और नहीं मिथ्या है) सब पुरुषों के लिये समानरूप से ग्राह्य है और चित्त भी स्वतन्त्र=अन्य-निरपेक्ष अपनी सत्ता वाले हैं और चित्त प्रति पुरुष (पृथक् पृथक्) प्रवृत्त होते हैं। उन दोनों=वस्तु और चित्त के सम्पर्क से पुरुष को जो उपलब्धि=ज्ञान अनुभूति होती है, वही पुरुष का भोग कहलाता है।

सूत्रार्थ—(च) और (वस्तु) बाह्य वस्तु की सत्ता (एकचित्ततन्त्रम्[2]) एक (केवल) चित्त के अधीन=आश्रित (न) नहीं है। क्योंकि जब (तदप्रमाण-कम्) वह वस्तु चित्त से प्रमाण=ज्ञान न की जा रही हो (तदा) उस समय (किम्, स्यात्) क्या वह वस्तु होगी?

भावार्थ—पूर्वसूत्र में बाह्यवस्तु को चित्त से भिन्न सिद्ध किया है। परन्तु बाह्यवस्तु का अस्तित्व अर्थात् बोध चित्त से ही होता है, चित्तबोध से भिन्न काल में बाह्यवस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः बाह्यवस्तु की सत्ता चित्त के आश्रय से ही मानी जा रही है, वास्तविक नहीं है। इस शंका का समाधान सूत्रकार ने यहाँ दिया है—यदि चित्त के आश्रय से ही बाह्यवस्तु की सत्ता स्वीकार की जाये और पूर्व-उत्तर क्षणों में उस वस्तु का अभाव ही माना जाये, तो जिस समय चित्त घटादि को विषय बनाकर उनसे निवृत्त होकर अन्य किसी पदार्थ में आसक्त होगा, अथवा योगदशा में निरुद्ध हो जायेगा, उस समय उस पदार्थ का अभाव ही मानना पडेगा। क्योंकि अन्यथा आसक्त अथवा निरुद्ध चित्त का उसके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती। क्योंकि लोक में वह वस्तु विद्यमान होती है। दूसरे चित्त उसका ज्ञान करते हैं। उस वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इस बात को व्यासमुनि ने इस

१. प्रत्येक वस्तु के अगला, पिछला, तथा बीच का भाग अवश्य होता है। जब चित्त वस्तु के एक भाग को ज्ञान का विषय बनाता है, तो दूसरे भाग अज्ञात होते हैं। वस्तु को एकचित्त के अधीन मानने पर ज्ञान काल में भी वस्तु अज्ञात ही रहेगी। और वस्तु के अन्यभागों को असत् मानना पडेगा। इस बात को व्यासमुनि ने यह कहकर समझाया है कि जिसका पृष्ठभाग नहीं है, उसका उदर भी नहीं होगा। अर्थात् वस्तु के दूसरे भागों के न होने पर वस्तु की सत्ता चित्त का विषय कदापि नहीं बन सकेगी।

२. एकशब्दोऽत्रासहायार्थे।

प्रकार समझाया है—हमारे शरीर का जो भाग पीठ, हाथादि जिस समय दिखलायी न देवे, तो उसको उस समय चित्त का विषय न होने से क्या अविद्यमान कह सकते हैं ? यदि नहीं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि चित्त का विषय न होने पर भी बाह्य-वस्तुओं की सत्ता होती है।

और इस विषय में यह भी विचारणीय है कि बाह्यवस्तु की सत्ता को स्वीकार न करने वाला यह स्पष्ट करे कि चित्त बाह्यवस्तु का उत्पादक है अथवा दीपक की भांति प्रकाशक है ? यदि चित्त वस्तुओं का प्रकाशक मात्र है तो चित्त से ज्ञान होना पृथक् बात है और उसका अस्तित्व अलग बात है। चित्त का विषय न होने पर भी उस वस्तु की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। और उत्पादक के विषय में यह भी विचार करना होगा कि प्रत्येक वस्तु अपने नियत उपादान कारण से ही उत्पन्न होती है। उन वस्तुओं के तत्त्वों में चित्त को कोई नहीं मानता है। अतः बाह्यवस्तु का अस्तित्व चित्त के आश्रय से नहीं है, प्रत्युत अपने स्वतन्त्र उपादानकारण के आश्रय से होने से उस वस्तु की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता।

इसीलिये यहाँ व्यासमुनि ने इस विषय को बहुत स्पष्ट करते हुए कहा है—

"तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः, स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रति पुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥"

अर्थात् प्रत्येक बाह्यवस्तु घट-पटादि स्वतन्त्र सत्ता वाली हैं, वे न तो मिथ्या ही हैं और नहीं चित्त से उत्पन्न होती हैं और चित्त से भिन्न हैं। तथा चित्त भी स्वतन्त्र=अन्यसत्ता निरपेक्ष हैं और उनकी प्रवृत्ति पुरुष के आश्रय से होती है। चित्त और पुरुष के सम्बन्ध से पुरुष को सुखादि का भोग होता है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ॥ १७ ॥

व्यासभाष्यम्

अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसंबन्ध्योपरञ्जयन्ति। येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः। वस्तुनो ज्ञाता ज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद—भौतिकविषय अयस्कान्तमणि=चुम्बकमणि के समान होते

हैं और चित्त अयःसधर्मकः=लोहे के समान है, अतः विषय चित्त से सम्बद्ध होकर रञ्जित=अनुरक्त करते हैं। और चित्त जिस विषय से उपरक्त होता है अर्थात् जिस विषय को ग्रहण करता है, वह विषय उस समय चित्त को ज्ञात होता है, उस से भिन्न विषय अज्ञात होता है। वस्तु के स्वरूप के कभी ज्ञात तथा कभी अज्ञात होने से चित्त परिणामी=परिणामस्वभाव वाला सिद्ध होता है।

सूत्रार्थ—(चित्तस्य) चित्त के (तदुपरागापेक्षित्वात्) उस बाह्य-वस्तु के उपराग=प्रतिबिम्ब की अपेक्षा होने से (वस्तु) बाह्य-वस्तु (ज्ञाताज्ञातम्) ज्ञात अथवा अज्ञात होती है।

भावार्थ—जब बाह्य-वस्तु की सत्ता चित्त से भिन्न है, तो उसका ज्ञान चित्त को सदा क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि—बाह्य-वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा चित्त पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसको 'उपराग' कहते हैं। सूत्र में 'तत्' सर्वनाम बाह्य-वस्तु का बोधक है। बाह्य-विषय अयस्कान्तमणि (चुम्बक पत्थर) के समान हैं, और चित्त लोहे के समान है। बाह्य-विषय इन्द्रियसन्निकर्ष के द्वारा चित्त को आकृष्ट करके उपरञ्जित कर देते हैं। इस प्रकार जो विषय चित्त को जिस समय उपरक्त करता है, वह विषय ज्ञात होता है, और उससे भिन्न विषय ज्ञात नहीं होता है। इस प्रकार चित्त बाह्य-विषयों से ज्ञात तथा अज्ञात विषयवाला होने से परिणामी होता है।

यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि चित्त में जिस विषय या वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, चित्त उस विषय के आकार वाला हो जाता है और चेतन-पुरुष चित्त के सान्निध्य से उस विषय को जानता है, मन नहीं। क्योंकि मन तो जानने का साधन ही है। पुनरपि यहाँ ज्ञात तथा अज्ञात कहने का अभिप्राय चित्त के विषयाकार होने अथवा विषय से पृथक् होने से ही समझना चाहिये। क्योंकि जानना चेतन-पुरुष का ही धर्म है। चित्तादि-करणों का ज्ञानानुकूल व्यापार करना ही कार्य है। और वे करण बाह्य-विषयों को पुरुष=चेतनात्मा तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। अतः वे जानने के साधनमात्र हैं, ज्ञाता नहीं। पुनरपि चित्त के ज्ञात और अज्ञात होने की बात वैसे ही समझनी चाहिये, जैसे—व्यवहार में हम कह देते हैं—'नेत्र देखता है, कान सुनता है' इत्यादि व्यावहारिक बातों में साधन को साधक के रूप में अथवा करण को कर्त्ता के रूप में प्रयोग कर देते हैं। और यद्यपि चेतनपुरुष तक बाह्य-विषयों को पहुंचाने में चित्त तथा नेत्रादि करण सभी सहायक होते हैं, पुनरपि यहाँ चित्त का ग्रहण

'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' न्याय से किया गया है। जैसे—सहायकों के साथ राजा कहीं जा रहा हो, तो (कौन जा रहा है ? ऐसा) पूछने पर राजा का ही नाम लिया जाता है, अन्य सहायकों का नहीं। इसी प्रकार मन के सम्पर्क के बिना नेत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः मन इन्द्रियों में मुख्य है ॥ १७ ॥

अव०—यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

(अर्थ)—और जिस पुरुष का वही चित्त विषय होता है, उसका (स्वरूप परिणामी नहीं है।)

सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

व्यासभाष्यम्

यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत्ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—यदि चित्त के समान प्रभु=चित्त का स्वामी पुरुष भी परिणत होने वाला होवे, तो उस पुरुष का विषय बनने वाली चित्त की वृत्तियाँ शब्दादि विषयों की भाँति कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होतीं। (परन्तु ऐसा नहीं है) मनसः=मन की वृत्तियाँ स्वामी पुरुष को सदा ज्ञात होती हैं, जिससे पुरुष का अपरिणामित्व=परिणामधर्म से रहित होना अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

सूत्रार्थ—(तत्प्रभोः) उस चित्त के स्वामी (पुरुषस्य) चेतन जीवात्मा को (अपरिणामित्वात्) अपरिणामी होने से (चित्तवृत्तयः) चित्त की वृत्तियाँ (सदा ज्ञाताः) सर्वदा ज्ञात रहती हैं।

भावार्थ—चित्त और पुरुष का भेद—गत तीन सूत्रों में बाह्य-पदार्थों की सत्ता से भिन्न सिद्ध करके अब चित्त से पुरुष का भेद स्पष्ट करते हैं। चित्त परिणामी=परिणत=बदलने वाला है और पुरुष अपरिणामी है। चित्त ग्रहण करने का साधन है तो पुरुष ग्रहण करने वाला स्वामी है। चित्त अचेतन है तो पुरुष ज्ञान=अनुभूति करने वाली सत्ता है। चित्त अन्तःकरण होने से

बाह्य-विषय को नेत्रादि इन्द्रियों के सम्पर्क से पुरुष तक पहुंचाता है। चित्त का इन्द्रियों से जब बाह्य-विषय से सम्पर्क होता है, तो वह विषय चित्त को ज्ञात होता है और जब वह सम्पर्क नहीं होता, तब वह विषय अज्ञात होता है। चित्त कभी बाह्य-विषय को जानता है और कभी नहीं जानता है। इसलिये चित्त को परिणामी=बदलने वाला कहते हैं। परन्तु चित्त का स्वामी पुरुष अपरिणामी है। वह चित्तवृत्तियों का सदा ही ज्ञाता होता है। चाहे चित्त-वृत्तियाँ विषय से सम्बद्ध हैं, अथवा नहीं। चित्त का केवल यही कार्य होता है कि वह जिस विषय से सम्बद्ध होता है, उससे प्रतिबिम्बित होकर (तदाकार होकर) उसके स्वरूप को अपने स्वामी चेतनशक्ति (पुरुष) को सौंप देता है। पुरुष को चित्त के समस्त परिणामों का सदा ज्ञान रहता है। चित्त के विषय हैं—बाह्य-घटादि और पुरुष का विषय हैं—चित्तवृत्तियाँ। चित्त विषयों को कभी जानता है तो कभी नहीं जानता, अतः परिणामी कहलाता है। परन्तु पुरुष चित्त की वृत्ति को सदा ही जानता है। यदि कभी न जानता होता तो पुरुष भी परिणामी कहलाता। चित्त बाह्य-विषयों के प्रतिबिम्ब से तदाकार प्रतीत होता है, परन्तु पुरुष बाह्य-विषयाकार कभी न होने से परिणतधर्मा नहीं है। और चित्त के विषयाकार होने से परिणामी कहने का तात्पर्य यही है कि करणरूप चित्त में विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य है। जैसे—स्फटिक-मणि के पास लाल फूल रक्खा होता है, तो वह मणि भी लाल दिखाई देती है। परन्तु वास्तव में वह स्वच्छ शुक्ल ही होती है। इसी प्रकार चित्त करण है। पुरुष इस करण से बाह्य-विषयों का ज्ञान करता है।

और यहाँ यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि चित्त त्रिगुणात्मक होने से जड़ है। वह संवेदनशील=अनुभूति करने वाला कभी नहीं हो सकता। पुनरपि चित्त को यहाँ ज्ञात अथवा अज्ञात क्यों कहा गया है? इस का कारण इतना ही है कि जैसे—लोहपिण्ड में अग्नि का प्रवेश होने से वह भी अग्नि के सदृश लालवर्ण और प्रकाशरूप दिखायी देने लगता है, वैसे ही जड़ चित्त में चेतनपुरुष के सान्निध्य से ज्ञातृता प्रतीत होती है, वास्तविक नहीं। इस बात को हम विद्युत्-बल्प से भी समझ सकते हैं। बल्प विद्युत् के विना प्रकाशित नहीं हो सकता। बल्प प्रकाश करने का साधन है, उसके विना भी विद्युत् का प्रकाश नहीं मिल सकता। परन्तु प्रकाश करना विद्युत् का ही धर्म है, बल्प का नहीं। इसी प्रकार जानना पुरुष का धर्म है, चित्त का नहीं। पुनरपि पुरुष के सान्निध्य से चित्त में ज्ञात-अज्ञातधर्म का हम प्रयोग करते रहते हैं। इसीलिये व्यासमुनि ने गतसूत्र (यो० ४।१७) में कहा है—

'अयस्कान्तमणिकल्पाविषया अयस्सधर्मकं चित्तमभिरञ्जयन्ति'।

अर्थात् चित्त लोहे की भांति है और विषय चुम्बक के समान हैं। वे विषय लोहरूप चित्त को आकृष्ट करके उपरञ्जित करते रहते हैं। विषय से उपरञ्जित चित्त को उस विषय का ज्ञाता तथा अनुपरञ्जित चित्त को अज्ञाता कहा जाता है ॥ १८ ॥

अव०—स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यतीत्यग्निवत्।

(अर्थ)—इस प्रसङ्ग में ऐसी आशङ्का हो सकती है कि चित्त ही अग्नि की भांति स्वप्रकाशक और विषय का प्रकाशक होता होगा (अतः पुरुष की सत्ता को क्यों स्वीकार करें?)

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

व्यासभाष्यम्

यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्।

न चाग्निरत्र दृष्टान्तः। न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति। प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः। न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः। किं च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः। तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः। स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति। एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

भाष्यानुवाद—जैसे श्रोतादि इन्द्रियाँ और शब्दादि विषय दृश्य होने से स्वप्रकाशक नहीं होते, वैसे चित्त को भी समझना चाहिये। अर्थात् वह भी स्वप्रकाशक नहीं है। और इस विषय में अग्नि का दृष्टान्त[1] संगत नहीं है। क्योंकि अग्नि अपने अप्रकाशित स्वरूप को प्रकाशित नहीं करती। और यह अग्नि का जो प्रकाशित स्वरूप है वह प्रकाश्य=प्रकाश करने योग्य वस्तु तथा प्रकाशक के संयोग होने पर ही देखा जाता है। और (वस्तु के) अपने स्वरूप में ही संयोग होता नहीं।

---

१. यहां क्षणिकवादी अग्नि का दृष्टान्त देते हैं—जैसे अग्नि दूसरे पदार्थों का प्रकाशक होने के साथ साथ स्वप्रकाशक भी है, वैसे ही चित्त भी है। इसका खण्डन व्यासभाष्य में किया है।

और यदि (पूर्वपक्षी यह कहे कि) चित्त अपना प्रकाशक है, अर्थात् किसी दूसरे से ग्राह्य नहीं है। जैसे कि आकाश[1] अपने आप में प्रतिष्ठित है अर्थात् किसी अन्य में प्रतिष्ठित=दूसरे के आश्रय वाला नहीं है। (तो यह उसका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि) प्राणियों की स्वकार्यों में प्रवृत्ति=(लोगों का स्व-स्वकार्यों में लगना) अपनी बुद्धि प्रचार (बुद्धिश्चित्तं तस्य प्रचारा व्यापारा:) चित्तवृत्तियों का प्रतिसंवेदन=अनुभूति या ज्ञान होने पर ही देखी जाती है। (अर्थात् कोई भी सत्त्व=प्राणी चित्तवृत्ति के ज्ञान के बिना किसी व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता। चित्त इन्द्रियों के माध्यम से किसी विषय को प्रकाशित करता है, और प्राणी उसे जानकर ही कार्यों में प्रवृत्त होता है।) जैसे मैं क्रुद्ध हूँ, मैं डरा हुआ हूँ, अमुक विषय में मेरा राग है और अमुक विषय में मेरा क्रोध है। यह समस्त प्राणियों का व्यापार अपनी बुद्धि का ग्रहण न होने पर अर्थात् चित्त की विषयाकारित वृत्ति का ज्ञान न होने पर सम्भव नहीं है। 'इति' शब्द समाप्ति का सूचक है।

सूत्रार्थ—(तत्) वह चित्त (दृश्यत्वात्)[2] जड़ होने से (स्वाभासं न) स्वय प्रकाशक नहीं है।

भावार्थ—चित्त को ही ज्ञाता मानने वाले ऐसी युक्ति देते हैं कि जैसे अग्नि दूसरे पदार्थों का प्रकाशक होने के साथ-साथ अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करती है, वैसे ही चित्त भी विषयों के प्रकाश के साथ साथ अपने स्वरूप का भी प्रकाशक है। इसलिये चित्त ही ज्ञाता है, उनसे भिन्न पुरुष=चेतन-सत्ता को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यहाँ इस प्रकार किया है—यह चित्त त्रिगुणात्मक होने से घट-पटादि की भांति दृश्य है, अत: यह चित्त घट-पदादि की भांति ही जड है। उसे कदापि स्वप्रकाशक नहीं माना जा सकता। यहाँ व्यास-भाष्य में नेत्रादि इन्द्रियों और रूपादि विषयों का उदाहरण दिया है। जैसे ये दृश्य होने से अचेतन हैं और स्वप्रकाशक नहीं हैं, इसी प्रकार चित्त भी स्वप्रकाशक नहीं है, क्योंकि यह भी दृश्य है। इस विषय में पूर्वपक्षी का अग्नि का दृष्टान्त भी यहाँ संगत नहीं होता है। अग्नि स्वयं जड है, उसे अपने स्वरूप का भी ज्ञान नहीं है, उसको जानने के लिये भी दूसरे ज्ञाता की आवश्यकता होती है। और अग्नि भी अपने अप्रकाशित रूप को कदापि प्रकाशित नहीं करती। अग्नि का जो भी प्रकाश=पदार्थों के दिखाने वाला

---

१. आकाश के दृष्टान्त का आशय यह है कि जैसे आकाश-प्रतिष्ठा के लिये कोई क्रिया नहीं करता, और नहीं उसका कोई अधिकरण ही होता है, वैसे ही चित्त भी किसी अन्य से गृहीत नहीं होता।

२. 'दृश्य का स्वरूप यो० २। १८, १९ सूत्रों में द्रष्टव्य है।

देखा जाता है, वह भी प्रकाश्य=जलने वाले इन्धनादि और प्रकाशक=अग्नि को प्रज्वलित करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क से होता है। स्वयं अग्नि स्वप्रकाशक ज्ञाता व द्रष्टा कदापि नहीं है इसी प्रकार जड चित्त पुरुष के सान्निध्य से विषयों को प्रकाशित करता है।

और यहाँ व्यास-भाष्य में पूर्वपक्षी की आशंका को दूसरी तरह से भी दिखाकर उसका समाधान किया है। पूर्वपक्षी यदि सूत्र के 'स्वाभासम्' पद का अर्थ 'स्वप्रकाशक' न करके 'पराभासम् अन्य से प्रकाशित' करता है और आकाश के दृष्टान्त से संगत करना चाहता है अर्थात् जैसे आकाश[1] अपने आप में स्थित है, इसका तात्पर्य यही है कि वह दूसरे के आश्रय से स्थित नहीं है। इसी प्रकार चित्त को सूत्र में 'न स्वाभासम्' कहने का आशय इतना ही है कि चित्त दूसरे से ग्राह्य नहीं है। इसका उत्तर व्यास-मुनि ने यह दिया है कि चित्त तो दूसरे (पुरुष) से ग्राह्य होता है। क्योंकि हम समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे चित्तवृत्ति को विना जाने किसी व्यापार में प्रवृत्त नहीं होते। 'मैं क्रुद्ध हूँ, मैं डरा हुआ हूँ, इस वस्तु के प्रति मेरा राग है और इसके प्रति क्रोध है' इस प्रकार का प्राणियों का व्यापार चित्तवृत्ति को जानकर ही होता है। और वह ज्ञाता=जानने वाला तत्त्व चित्त से भिन्न चेतन है, जिसे दर्शनकार 'पुरुष' कहते हैं। और यह पुरुष स्वाभास=स्वयं प्रकाशक= ज्ञाता है, क्योंकि यह अपरिणामी है। चित्त परिणामी होने से ज्ञाता व द्रष्टा नहीं है, वह तो स्वयं दृश्य है ॥ १९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

व्यासभाष्यम्

[एकसमये] न चैकस्मिन्क्षणे [उभयानवधारणम्] स्वपररूपावधारणं युक्तं, क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

भाष्यानुवाद—[एकसमये] और एक ही क्षण में [उभयानवधारणम्] (चित्त के द्वारा) अपने रूप का और पररूप=विषयों के रूप का अवधारण= निश्चय करना सम्भव नहीं है। (इस में कारण दिखाते हैं) क्षणिकवादियों के मत में जो भवन=चित्त की उत्पत्ति है, वह ही एकमात्र क्रिया=व्यापार है (इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं है क्योंकि दूसरे क्षण में उसकी स्थिति नहीं मानी गई है) और वही=चित्त का क्षणिक अस्तित्व ही कारक=

१. यह आकाश भी एक जड-तत्त्व है। इसका आश्रय भी ईश्वर है, यह स्वयं स्थित नहीं है।

कर्त्तृरूप, करणरूप तथा कर्मरूपादि है, ऐसा क्षणिकवादियों का अभ्युपगमः= स्वीकृत सिद्धान्त है।

सूत्रार्थ—(च) और (एकसमये) एक ही समय में (उभय-अनवधारणम्) विषय और चित्त दोनों का ज्ञान नहीं हो सकता।

भावार्थ—चित्त इन्द्रियों के सम्पर्क से विषय को प्रकाशित करता है, किन्तु अपना प्रकाशक स्वयं नहीं है। यहाँ क्षणिकवादियों का यह कथन युक्तियुक्त नहीं है कि चित्त एक ही समय में विषय और अपना ज्ञान कराता है। क्योंकि एक समय में दो ज्ञान[1] कदापि नहीं हो सकते। इसलिये चित्त से भिन्न ज्ञाता-पुरुषतत्त्व को मानना आवश्यक है।

और चित्त को क्षणिक मानने वाले इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि प्रथमक्षण में वस्तु की उत्पत्ति, द्वितीयक्षण में उसकी क्रिया और तृतीयक्षण में किसी कार्य को करने से वह वस्तु 'कारक' नाम से कही जाती है। और वे एक क्षण में ही उत्पत्ति, क्रिया तथा कारक को मानते हैं, यह कदापि सम्भव नहीं है। और जिस चित्त को स्वयं क्षणिक मान रहे हैं, वह 'उत्पत्ति, क्रिया व कारक' तीनों को एकसाथ (एकक्षण में) कैसे कर सकता है? और अपने तथा विषय का ज्ञान कैसे करा सकता है? क्योंकि चित्त की उत्पत्ति के क्षण में अन्य कोई व्यापार करना सम्भव ही नहीं है। दूसरे क्षण उस चित्त की सत्ता को वे मानते नहीं हैं। इसलिये चित्त को विषय का प्रकाशक मानकर 'स्वाभास' भी मानना युक्ति-विरुद्ध ही नहीं, प्रत्युत असम्भव ही है। इससे स्पष्ट है कि दृश्यचित्त का द्रष्टा, ज्ञाता व प्रकाशक-तत्त्व चित्त से भिन्न ही है और वह पुरुष= चेतनतत्त्व है॥ २०॥

अव०—स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

(**अर्थ**)—यदि क्षणिकवादी की ऐसी मति=मान्यता हो कि अपने व्यापार से निरुद्ध=नष्ट हुआ चित्त अपने (समीपी परवर्त्ती) दूसरे चित्त के द्वारा गृहीत होता है तो—

---

१. न्यायदर्शन में मन का लक्षण यह किया है—'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्' एकसाथ अनेक ज्ञान न होना ही मन का ज्ञापक लिङ्ग है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

व्यासभाष्यम्

[चित्तान्तरदृश्ये] अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत, बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः। स्मृतिसंकरश्च। यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति। तत्संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाऽऽकुलीकृतम्। ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते। केचित्तु सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान्पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसंदधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति। तथा स्कन्धानां महन्निर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते। सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपपादयन्तीति ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद—[चित्तान्तरदृश्ये] (यदि प्रथम) चित्त (समनन्तरवर्त्ती) दूसरे चित्त से गृहीत होता है तो बुद्धि[1] बुद्धिः=पूर्व चित्त का ज्ञाता चित्त किससे गृहीत होता है? (यदि) वह भी दूसरे चित्त से और (दूसरा) चित्त भी अन्य (तीसरे) चित्त से गृहीत=जाना जाता है, तो अतिप्रसङ्ग=अनवस्था दोष आता है। [स्मृतिसङ्करश्च] और स्मृतियों का सङ्कर (अव्यवस्था) भी दोष होगा। (विभिन्न) चित्तों के जितने अनुभव होंगे, उतनी ही स्मृतियाँ (एकसाथ) प्राप्त होंगी। और इन स्मृतियों की सङ्कीर्णता के कारण किसी एक स्मृति का निश्चय नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार चित्त के प्रतिसंवेदी=यथार्थज्ञाता पुरुष को स्वीकार न करने वाले वैनाशिक=क्षणिकवादियों ने सारी ही (बन्ध-मोक्षसम्बन्धी समस्त) व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त कर दी है। वे क्षणिकवादी लोग भोक्ता पुरुष के स्वरूप की जिस किसी पदार्थ में (चित्तादि में) कल्पना करते हुए न्यायाचरण=युक्तियुक्त व्यवहार से संगत नहीं हो सकते।

और कुछ क्षणिकवादी सत्त्वमात्र=चित्त से भिन्न पुरुष की सत्ता भी कल्पित करते हैं—वह सत्त्व=पुरुष है, जो इन पाञ्च स्कन्धों[2] को त्यागकर (मरणोत्तर) दूसरे स्कन्धों को धारण कर लेता है। ऐसा कहकर फिर उसी

---

१. बुध्यतेऽनयेति बुद्धिर्ज्ञातृचित्तम्। तस्याः बुद्धिः=ज्ञातृचित्तम्।

२. पाञ्च स्कन्ध ये हैं—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, और संस्कार।

पुरुष की सत्ता को मानने से भयभीत हो रहे हैं। और इन पञ्च स्कन्धों के प्रति महानिर्वेद=ग्लानिभाव तथा पर-वैराग्य प्राप्ति के लिये, फिर जन्मादि के अभाव के लिये और शान्ति प्राप्ति के लिये गुरु निकट (जाकर) ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगा, ऐसा कहकर सत्त्व=पुरुष के सत्त्व=अस्तित्त्व का ही अपलाप=खण्डन करते हैं। सांख्य और योगादि शास्त्रों का तो यह प्रवादः=प्रकृष्टवाद (दृढ़ मान्यता) है कि वे 'स्व' शब्द से स्वामी पुरुष को ही चित्त का भोक्ता स्वीकार करते हैं।

सूत्रार्थ—(चित्तान्तरदृश्ये) पूर्व चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य (विषय) मानने पर (बुद्धिबुद्धेः) बुद्धि=उस ज्ञाता-चित्त को जानने के लिये दूसरे बुद्धि=ज्ञाता चित्त को मानने से (अतिप्रसङ्गः) अनवस्था दोष उपस्थित होता है (च) और (स्मृतिसंकरः) स्मृतियों का परस्पर संकर=मिश्रण प्राप्त होता है।

भावार्थ—यदि क्षणिकवादी यह बात कहें कि एक चित्त से विषय का ग्रहण होता है, और उस विषयसहित चित्त का ज्ञान दूसरे चित्त से होता है। इस प्रकार पूर्व सूत्र में कथित दोष भी नहीं आता और चित्त से भिन्न पुरुषतत्त्व को मानने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इस पक्ष में दो दोष आते हैं— (१) अनवस्था और (२) स्मृतिसंकर। क्षणिकवाद के अनुसार चित्त क्षण-क्षण में बदलता रहता है। और एक चित्त ने एक विषय का ग्रहण किया और उस विषयसहित चित्त का ज्ञान दूसरे चित्त से होता है। इसी प्रकार दूसरे का ज्ञान तीसरे से, तीसरे का ज्ञान चतुर्थ से, और इस क्रम की समाप्ति न हो सकेगी। इससे अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। अर्थात् प्रथम एक विषय का ज्ञान, फिर उस ज्ञान सहित चित्त का ज्ञान, इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते एक ज्ञान भी पूर्णतः नहीं हो सकेगा। और क्षणिकवादियों का क्षणिकवाद ही स्थिर न रह सकेगा, वह धराशायी हो जायेगा। क्योंकि प्रथम चित्त दूसरे चित्त का दृश्य जब मानते हैं तो दूसरे चित्त के समय प्रथम चित्त की सत्ता अवश्य होनी चाहिये। और इस सत्ता को मानने पर क्षणिकवाद ही कहाँ रहा? अन्यथा दूसरे चित्त का प्रथम चित्त दृश्य नहीं बन सकता।

दूसरा दोष स्मृतियों का संकर आता है। भिन्न-भिन्न जितने चित्त होंगे, उनकी उतनी ही स्मृतियाँ होंगी। इस प्रकार अनेक अनुभवों की स्मृतियों का परस्पर मिश्रण होने से यह स्मृति किस चित्त की है, यह निश्चय नहीं हो सकेगा। और अनेक अनुभवों के मिश्रण से निश्चयात्मक स्मृति का होना ही सम्भव न होगा। और इस प्रसंग में 'नान्यदृष्टमन्यः स्मरति' इस न्याय से

दूसरे चित्त से प्रथम चित्त की स्मृति कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा हो जाये तो देवदत्त से देखी हुई वस्तु की स्मृति यज्ञदत्त को भी होनी चाहिये। यदि दूसरे की प्रतीति की दूसरे को स्मृति नहीं हो सकती, तो प्रथम चित्त की प्रतीति को दूसरा चित्त भी कैसे स्मरण करा सकता है ? इससे स्पष्ट है कि क्षणिक-वाद में उत्पन्न दोषों का निवारण करना सम्भव नहीं है, इसलिये चित्त से भिन्न, ज्ञाता पुरुषतत्त्व को ही स्वीकार करने से इन दोषों का समाधान हो सकता है। सांख्य तथा योगदर्शन में चित्त से भिन्न पुरुषतत्त्व को प्रवाद=परम दृढ़ता से स्वीकार किया है ॥ २१ ॥

अव०—कथम् ?

(अर्थ)—किस प्रकार से (सांख्य व योग वाले चित्त के भोक्ता पुरुष की सत्ता को मानते हैं ?)

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

व्यासभाष्यम्

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्र-तया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते। तथा चोक्तम्—

न पातालं न च विवरं गिरीणां
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥ इति ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद—भोक्तृशक्ति=चित्त का भोग करने वाली चेतनशक्ति (पुरुष-तत्त्व) अपरिणामी=परिणाम से रहित और अप्रतिसंक्रमा=चित्तादि से सम्बन्ध रखने पर भी अपरिवर्तित रहती है। वह परिणामी चित्त के साथ सम्बन्ध होने पर प्रति संक्रान्ता=परिवर्तित जैसी होकर चित्त की वृत्ति का अनुसरण करती है। अर्थात् चित्त में प्रतिबिम्बित[1] हो जाती है। और चेतनशक्ति के प्रतिबिम्ब से चेतनसदृश स्वरूप को प्राप्त करने वाली उस बुद्धि-

---

१. चित्त में पड़ा यह पुरुष का प्रतिबिम्ब ही चित्त को चेतन जैसा कर देता है।

वृत्ति=चित्तवृत्ति की अनुकारमात्रता—अनुकरणात्मकता से बुद्धिवृत्ति=चित्त-वृत्ति से अविशिष्ट=अभिन्न=समान ही ज्ञानवृत्ति कही जाती है। और वैसी चित्तवृत्ति की चेतनशक्ति से अभिन्नता अन्यत्र भी कही है—

कवि=क्रान्तदर्शी योगी पुरुष शाश्वत ब्रह्म की खोज पाताललोक में, पर्वतों की गुफाओं में, घोर अन्धकार में और समुद्रों की कुक्षि=गम्भीर तल-हटियों में नहीं करते हैं। प्रत्युत चेतनशक्ति से अविशिष्ट=अभिन्न बुद्धिवृत्ति रूपी गुफा में, जिसमें शाश्वत ब्रह्म निहित निश्चित रूप से धारण किया जाता है, योगीजन उसमें ब्रह्म की अनुभूति करते हैं और दूसरों को ज्ञान कराते हैं।

सूत्रार्थ—(अप्रतिसंक्रमायाः चितेः) विषयों से सम्बद्ध इन्द्रियों की भांति अस्थिर न होने वाली चेतनशक्ति को (तदाकारापत्तौ) अपने से सम्बद्ध चित्त के अपने आकार वाला होने पर (स्वबुद्धिसंवेदनम्) अपने चित्त का ज्ञान होता है॥

भावार्थ—गतसूत्रों में बताया गया है कि चित्त स्वप्रकाशक नहीं है और नहीं दूसरे चित्त से ही जाना जाता है, तो उसका ज्ञान कैसे होता है? उसका समाधान इस सूत्र में दिया गया है। पुरुष स्थिर रहने वाला, चेतन, अपरिणामी तत्त्व है और चित्त जड़, परिणामी है। यह पुरुष चित्त को कैसे प्रकाशित करता है? यह रहस्य अवश्य समझना चाहिये, अन्यथा भ्रान्ति की उत्पत्ति ही होती रहती है। यदि जैसे चित्त विषयाकार होकर विषयों का प्रकाशक माना जाता है, वैसे ही पुरुष चित्ताकार होकर चित्त का प्रकाशक व ज्ञाता कहा जाये, तो पुरुष भी परिणामी कहलायेगा। अतः जैसे विषयों के प्रकाश के लिये चित्त इन्द्रियों के द्वारा विषयाकार हो जाता है, वैसे पुरुष नहीं होता, किन्तु पुरुष सान्निध्यमात्र से चित्त को प्रकाशित करता है, और चित्त का बोध होता है। उस समय चित्त में पुरुष का सादृश्य आता है, पुरुष में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता।

इस बात को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि—जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की चञ्चलता से चञ्चल प्रतीत होता है, वैसे ही पुरुष चित्त में प्रतिबिम्बित होने से तदाकार प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं। क्योंकि पुरुष अपरिणामी तत्त्व है। और चेतनपुरुष का प्रतिबिम्ब पडने पर चित्त की जो चेतनवत् प्रतीति होती है, वह ही उसकी तदाकारापत्ति है। और विवेकरहित पुरुष इस चित्त को ही द्रष्टा समझने लगते हैं, वास्तव में पुरुष ही द्रष्टा है, चित्त नहीं। योगी पुरुष परब्रह्म की खोज पुरुष से अभिन्न प्रतात होने वाली इसी बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) रूपी गुफा में करते हैं॥ २२॥

अव०—अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

(अर्थ)—और इसीलिये यह स्वीकार किया जाता है—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

व्यासभाष्यम्

मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं । तत् स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणाऽऽत्मीयया वृत्त्याऽभिसंबद्धं, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं [सर्वार्थम्] विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते ।

तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति अनुकम्पनीयास्ते । कस्मात् अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थ प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽऽलम्बनीभूतत्वादन्यः । स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत । तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात्त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद—मन तो मन्तव्य=जानने योग्य (ज्ञेय) घटादि पदार्थों से उपरक्त हो जाता है और स्वयं (पुरुष का) विषय होने से विषयी=द्रष्टा पुरुष के साथ अपनी वृत्ति से सम्बद्ध हो जाता है । वह यह चित्त ही द्रष्टा=पुरुष और दृश्य=घटादि विषयों से उपरक्त=उपरञ्जित होकर विषय=दृश्य और विषयी=द्रष्टा पुरुष के आकार जैसा भासित[1] होता है । और इस प्रकार वह चित्त चेतन=पुरुष तथा अचेतन=दृश्यविषयों के स्वरूप को प्राप्त हुआ विषयात्मक=दृश्यरूप होता हुआ भी अविषयात्मक=अदृश्यरूप=पुरुष की भांति और स्वयं अचेतन होने पर भी चेतन जैसा प्रतीत होता है । चित्त की यह प्रतीति स्फटिकमणि के समान सर्वार्थ=सर्वविषय[2] कही जाती है ।

---

१. जैसे स्फटिकमणि निकटस्थ जपाकुसुम से उपरञ्जित होकर तदाकाराकारित हो जाती है, वैसे ही चित्त भी द्रष्टा व दृश्य से उपरञ्जित होकर तदाकार हो जाता है ।

२. जैसे स्फटिकमणि अपने दोनों ओर स्थित दो रूपों वाले भिन्न भिन्न पदार्थों से उपरक्त होकर तदाकार प्रतीत होती है, वैसे ही चित्त भी द्रष्टा व दृश्य से उपरक्त हो जाता है ।

इसलिये इस चित्त के (द्रष्टा व दृश्य के) सारूप्य से भ्रान्त हुए कुछलोग चित्त को ही चेतन (पुरुषतत्त्व) कहते हैं। और दूसरे कुछलोग कहते हैं कि यह सब (जगत्) एक चित्तमात्र=चित्ततत्त्व ही है। (चित्त से भिन्न) ये गायादि (सजीव) तथा घटादि (निर्जीव) समस्त जगत् अपने कारणसहित कुछ नहीं है। वे (भ्रान्त) लोग दया के योग्य हैं (=अत्यन्त अज्ञानी हैं)। इसका कारण यह है कि उनके सम्मुख यह सर्वरूपाकार=द्रष्टा तथा दृश्य से उपरञ्जित चित्त ही भ्रान्ति का बीज=कारण है। (इस भ्रान्ति को दूर करने का उपाय बताते हैं) सम्प्रज्ञात-समाधि से प्राप्त प्रज्ञा=ऋतम्भरा बुद्धि में प्रज्ञेय=जानने योग्य दृश्य रूप पदार्थ प्रतिबिम्बीभूत=प्रकाशित होता है। चित्त के आलम्बनीभूत=आश्रय बनने वाले पदार्थ चित्त से भिन्न हैं। यदि वह (दृश्य रूप) ज्ञेय पदार्थ चित्त मात्र ही हो, तो (समाधि-दशा में) प्रज्ञा=चित्त के द्वारा चित्त का ही स्वरूप कैसे निश्चय किया जावे? अर्थात् प्रज्ञा=चित्त जानने का साधन है, उससे भिन्न पदार्थों की सत्ता के अभाव में तो वह जानने का साधन कैसे कहला सकता है? इसलिये यह सिद्ध होता है कि समाधिज-प्रज्ञा में जिसके द्वारा चित्त में प्रतिबिम्बीभूत पदार्थों का निश्चय किया जाता है, वह पुरुष=चित्त से भिन्न पुरुषतत्त्व है।

इस प्रकार 'ग्रहीता=पुरुष, ग्रहण=बुद्धि, और ग्राह्य=बाह्यपदार्थों के रूप में चित्त के भिन्न भिन्न होने से इन तीनों को जाति=स्वभाव से जो (योगी-पुरुष) पृथक् पृथक् विभक्त करते हैं, वे सम्यग् दर्शी=यथार्थ स्वरूप को जानने वाले हैं और उनके द्वारा ही पुरुष तत्त्व=आत्मा का साक्षात्कार किया गया है।

सूत्रार्थ—(द्रष्टृ-दृश्योपरक्तम्) द्रष्टा=जीवात्मा, दृश्य=विषय, इन दोनों से उपरक्त=उनके धर्मों से युक्त अथवा उनसे सम्बद्ध हुआ (चित्तम्) चित्त (सर्वार्थम्) चेतन तथा अचेतन सब विषयों वाला हो जाता है।

भावार्थ—दृश्य=बाह्य जगत् और द्रष्टा=पुरुष-तत्त्व को चित्त से भिन्न पूर्व सूत्रों से सिद्ध करके चित्त को ही द्रष्टा मानने वालों की भ्रान्ति का क्या कारण है, यह यहाँ स्पष्ट करते हैं। चित्त प्राकृतिक (सत्त्व, रजस् तमस् जड-तत्त्वों का) विकार, प्रसवधर्मी=क्रियावान्, परिणामी=विकारयुक्त होने वाला और अचेतन है। यद्यपि यह चित्त सात्त्विक अहंकार का विकार है, परन्तु उसके जड़स्वरूप में परिवर्त्तन कदापि नहीं हो सकता। यह चित्त का अपना ग्रहण स्वरूप है। बोध या अनुभूति केवल चेतन का धर्म है, वह जड चित्त का धर्म कदापि नहीं हो सकता। पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर चित्त चेतन के

धर्म वाला सा प्रतीत होता है, यह द्रष्टा से उपरक्त हुए चित्त का गृहीता का स्वरूप है और बाह्य विषयों से प्रतिबिम्बित चित्त बाह्यविषयों के सदृश प्रतीत होने लगता है। यह दृश्य से उपरक्त ग्राह्य स्वरूप चित्त का होता है। वास्तव में चित्त=ग्रहणरूप, पुरुष=गृहीता रूप और बाह्यजगत्=दृश्य रूप तीनों पृथक्-पृथक् होते हैं।

इन तीनों के स्वरूप को व्यासभाष्य में स्फटिकमणि (बिल्लौर) के दृष्टान्त से समझाया है। यदि हम शुद्ध स्फटिकमणि के एक तरफ नीला पुष्प और दूसरी तरफ लाल पुष्प रख देवें, तो वह स्फटिकमणि हमें नील पुष्प के प्रतिबिम्ब से नीली, लाल पुष्प के प्रतिबिम्ब से लाल और अपने शुद्धरूप में श्वेत, तीन रूपों वाली प्रतिभासित होती है, और यथार्थ में उसका अपना रूप श्वेत ही है। इसी प्रकार एक ही चित्त बाह्य-पदार्थों के प्रतिबिम्ब से दृश्य रूप, पुरुष के प्रतिबिम्ब से गृहीतारूप और अपने ग्रहणरूप से तीन रूपवाला हो जाता है। अर्थात् चित्त अपने रूप से ग्रहणाकार, विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार और पुरुष के प्रतिबिम्ब से गृहीताकार होने से सर्वार्थ=सब विषयों वाला हो जाता है।

अथवा चित्त का एक श्वेत रग की चादर (पर्दे) के समान अपना ग्रहणाकार रूप है, उस पर विद्युत् का प्रकाश पुरुष का द्रष्टृ-रूप है और चित्रों से युक्त होना बाह्यविषयों से ग्राह्याकार होना है। अथवा इसी बात को इस प्रकार समझना चाहिये—जब हम यह कहते हैं कि 'घटमहं जानामि' मैं घड़े को जानता हूँ, यह घटादि की अनुभूति या प्रतीति पुरुष=आत्मा को होती है। यह पुरुष ही वास्तविक ज्ञाता है। और इस ज्ञान में द्रष्टापुरुष शरीर के अन्दर ही स्थित होता है और बाह्यवस्तु घटादि बाहर ही रहती है, वह अन्दर नहीं जाती। इन बाह्यविषयों का ग्रहण पुरुष को जिससे होता है, उसे करण (मन, नेत्रादि) कहते हैं, जो सात्त्विक अहंकार के कार्य होने से विषय के प्रकाशक होते हैं। इन करणों में ग्राह्यविषय को ग्रहण करने की शक्ति रहती है। इनका क्रम यह होता है कि जब आत्मा किसी वस्तु को जानने की इच्छा करता है, तो वह मन को प्रेरणा करता है, और मन बाह्येन्द्रियों से सम्बन्ध करके बाह्यविषयों को ग्रहण कराता है। अथवा बाह्यविषय इन्द्रियों के द्वारा चित्त पर प्रतिबिम्बित होते हैं, तब चित्त विषयाकार होकर पुरुष को उस विषय का ज्ञान कराता है। अतः चित्त पुरुष का एक मध्यस्थ साधन मात्र ही है। और समस्तज्ञान, ग्राह्यविषय तथा ग्रहण के स्तरों को प्राप्त होकर पुरुष को अनुभूति कराता है।

इस चित्त के गृहीताकार तथा ग्राह्याकार को देखकर किन्हीं पुरुषों को ऐसी भ्रान्ति होने लगती है कि चित्त ही चेतन-ज्ञाता है, चित्त से भिन्न पुरुष-तत्त्व और ग्राह्य बाह्यवस्तु कोई नहीं है। ऐसे पुरुषों को व्यासमुनि ने अत्यन्त अज्ञानी होने से दयनीय कहा है। क्योंकि उन्होंने चित्त में प्रतिबिम्बित होने वाले ग्राह्याकार को तथा गृहीताकार को समझा ही नहीं है। क्या बिना किसी वस्तु की सत्ता के प्रतिबिम्ब सम्भव हो सकता है? जैसे—दर्पण में बिना वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, इसी प्रकार चित्त से भिन्न पुरुषादि की सत्ता के बिना चित्त में भी प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। व्यासमुनि ने इस का समाधान यह भी दिया है कि यह गृहीता, ग्राह्य तथा ग्रहण का भेद समाधि में उत्पन्न विशेष प्रज्ञा के द्वारा स्पष्ट हो जाता है। समाधिप्रज्ञा[1] में जो ज्ञेय विषय हैं, वे प्रतिबिम्ब के आश्रय होने से प्रज्ञा से भिन्न हैं। यदि प्रज्ञा से भिन्न कोई पदार्थ न हो तो प्रज्ञा से प्रज्ञा का ज्ञान कैसे हो? और प्रज्ञा में बाह्यविषय के प्रतिबिम्ब को जो जानता है, वह पुरुषतत्त्व प्रज्ञा और बाह्यविषय से भिन्न ही है। इन ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य के स्वरूपों को विवेकख्याति को प्राप्त करने वाले योगी-पुरुष ही भलीभांति जानते हैं ॥ २३ ॥

अव०—कुतश्चैतद्?

(अर्थ)—और यह कैसे हो सकता है?

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

व्यासभाष्यम्

तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि [परार्थम्] परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद्गृहवत्। संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यं, न सुखचित्तं सुखार्थं न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम्। यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान्पुरुषः स एव परो न परः सामान्यमात्रम्। यत्तु किंचित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात्। यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥

भाष्यानुवाद—वह यह चित्त असंख्य वासनाओं से (पूर्ण होने से) चित्रित

---

१. योगदर्शन में चित्त, प्रज्ञा, मनादि शब्द एक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। योगशास्त्र के अध्येता को सर्वत्र ही इनकी एकार्थता को समझकर ही संगति लगानी चाहिये।

सा हुआ भी [परार्थम्] दूसरे (पुरुष) के भोग तथा अपवर्ग प्रयोजन के सिद्ध करने के लिये है, अपने लिये नहीं है। क्योंकि यह चित्त संहत्यकारी=दूसरे (द्रष्टा) से मिलकर ही कार्य करता है। जैसे—गृह=घर गृहस्वामी के साथ ही उपयुक्त रहता है, अपने लिये नहीं। मिलकर कार्य करने वाला चित्त स्वार्थ के लिये नहीं हो सकता। सुखचित्त=सुखादि भोग का साधन चित्त सुखादि भोग के लिये और ज्ञान=ज्ञानाकार चित्त ज्ञान के लिये नहीं होता, ये दोनों ही परार्थ=चित्त से भिन्न पुरुष के लिये होते हैं। और जो भोग तथा अपवर्ग=मोक्षरूप अर्थ (प्रयोजन) से अर्थवान्=अर्थवाला पुरुष है, वह ही परः=पर शब्द से ग्रहण करने योग्य है। (यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि 'पर' शब्द से पुरुष का ही ग्रहण क्यों? उसका उत्तर देते हैं) यहाँ 'पर' शब्द से पुरुष का ही ग्रहण होता है, सामान्यमात्र का नहीं। यदि वैनाशिक=क्षणिकवादी 'पर' शब्द से बोध्य दूसरे स्वरूप से सामान्यमात्र का उदाहरण देवे, तो वह सब मिलकर कार्य करने के कारण परार्थ=चित्त से भिन्न पुरुष-तत्त्व के लिये ही होगा। और जो यह 'पर' शब्द से वाच्य विशेष=चित्त से भिन्न चेतनादि गुणों से विशिष्ट पुरुष तत्त्व है, वह संहत्यकारी=मिलकर कार्य करने वाला नहीं है, (प्रत्युत वह दृश्य से भिन्न द्रष्टा है।) 'इति' शब्द समाप्ति-सूचक है।

सूत्रार्थ—(तत्) वह द्रष्टा व दृश्य के सम्पर्क से उपरञ्जित होने वाला चित्त (असंख्येयवासनाभिः) अगणित नाना वासनाओं से (चित्रम् अपि) चित्रीकृत भी (संहत्यकारित्वात्) विषय तथा इन्द्रियों से मिलकर कार्य करने के कारण (परार्थम्) पर=पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन सिद्ध करने के लिये है।

भावार्थ—इस सूत्र में पुरुष-तत्त्व को चित्त से भिन्न बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि असंख्य वासनाओं का आश्रय चित्त है, पुनरपि चित्त परार्थ होने से स्वयं भोक्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जो-जो संघात होता है, वह-वह परार्थ ही होता है। जैसे—गृह=घर अनेक पदार्थों को मिलाकर बनता है, और वह स्वार्थ न होकर घर के स्वामी के लिये होता है। वैसे—चित्त भी सत्त्व, रजस्, तथा तमस् प्रकृति के गुणों का संघात है और प्रकृति से भिन्न पुरुष के भोग-अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये चित्त की प्रवृत्ति होती है। और वह चित्त देह, इन्द्रियादिकों के साथ मिलकर पुरुष के अर्थ की सिद्धि करता है।

पुरुष के साथ चित्तादि के रूप में प्रकृति का सम्बन्ध अनादि काल से है।

पुरुष जो भी शुभाशुभ कर्म करता रहा है, उनकी असंख्य वासनाओं का संग्रह चित्त में होता रहता है। और उन्हीं वासनाओं के अनुरूप ही चित्त की प्रवृत्ति होती है। परन्तु चित्त प्रकृति का विकार होने से अचेतन है अतः वह अनुभूति नहीं कर सकता है। शुभाशुभ कर्मों के फल की अनुभूति पुरुष ही करता है। इसलिये पुरुष भोक्ता है, चित्त नहीं।

प्रश्न—घरादि के दृष्टान्त से यह तो सिद्ध होता है कि संघात परार्थ होता है। परन्तु तुम 'पर' शब्द से पुरुष-तत्त्व का ही ग्रहण करना चाहते हो, यह ठीक नहीं। 'पर' शब्द से सामान्य का ही ग्रहण हो सकता है, जिसमें पुरुष भी आ सकता है, और पुरुष से भिन्न का भी।

उत्तर—यद्यपि जो-जो संघात है वह-वह 'परार्थ है,' इस व्याप्ति से सामान्य का ही ग्रहण सम्भव है। परन्तु सत्त्वादि गुण तो मिलकर कार्य करने वाले ही हैं, इनसे भिन्न ही कोई धर्मी होना चाहिये। और वह सत्त्वादि गुणों से विलक्षण चेतन पुरुष-तत्त्व ही सम्भव है। जैसे—पर्वत-प्रदेश में दूर से धूम को देखकर उससे भिन्न अग्नि का ज्ञान अनुमान से होता है, वैसे ही भोग्य सत्त्वादि-गुणों वाली प्रकृति से भिन्न विलक्षण भोक्ता चेतनतत्त्व की सिद्धि होती है। और वह पुरुष-शब्द यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है, पुनरपि यहाँ पुरुष-शब्द जीवात्मा का ही बोधक है, परमेश्वर का नहीं। क्योंकि परमेश्वर को तो योगदर्शन (१ । २४ में) क्लेश, कर्मफलादि से सर्वथा रहित पुरुषविशेष स्वीकार किया है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

व्यासभाष्यम्

यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्ग-श्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्मभिर्निर्वर्तितमित्यनुमीयते । तस्याऽऽत्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते । यस्याभावादिदमुक्तस्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति । [आत्मभावभावना] तत्राऽऽत्मभावभावना कोऽहमासं ? कथमहमासं ? किंस्विदिदं ? कथंस्विदिदं ? के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति । सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते । कुतः ? चित्तस्यैवैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्या-मविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति । ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्तत इति ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद—जैसे वर्षाऋतु में घास के अंकुरों की उत्पत्ति से उसके बीज के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वैसे मोक्ष-मार्ग=दुःख से अत्यन्त मुक्ति से सम्बद्ध बातों को सुनने से जिस पुरुष के रोमहर्ष=रोमाञ्च और अश्रुपात=आंसु बहने लगे, तो उस पुरुष में अपवर्ग=मोक्ष प्राप्त कराने वाला विशेष दर्शन=विवेकज्ञान का बीज=कारण विद्यमान है, जो (योगाङ्गानुष्ठानादि विशेष) कर्मों से (जन्म-जन्मान्तरों में) सिद्ध किया होता है, यह अनुमान किया जाता है। उस पुरुष की आत्म-भाव-भावना=आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा स्वाभाविक रूप से होती है। और जिस (विशेष दर्शन बीज) के न होने से इस पूर्वोक्त स्वभाव को छोड़कर दोष=भ्रान्ति के कारण जिनकी पूर्व-पक्ष=(अनात्मभाव) में रुचि और निर्णय=चित्त से भिन्न आत्मा के सत्यस्वरूप में अरुचि होती है।

[आत्म-भाव-भावना] सूत्र में कथित 'आत्म-भाव-भावना' का अभिप्राय यह है कि—मैं (पूर्वजन्मों में) कौन था? मैं कैसे (मनुष्य-पशु-पक्षी आदि में) कौन था? यह मेरा (यथार्थ स्वरूप) क्या है? यह वर्त्तमान अवस्था (मनुष्यादि) क्यों प्राप्त हुई है? भविष्य काल में हम कौन होंगे? कैसे होंगे? वह आत्म-भाव-भावना तो विशेष-दर्शी=विवेकख्याति प्राप्त करने वाले योगी की निवृत्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि यह सब विचित्र परिणाम=संसारस्थ विभिन्न दशायें चित्त की ही हैं। पुरुष तो अविद्या के न रहने पर शुद्धस्वरूप है और चित्त के धर्मों से=(विविधपरिणामों से) अपरामृष्ट=अस्पृष्ट=असम्बद्ध है। इसलिये उस विवेकज्ञान से कुशल=योगी पुरुष की आत्मभाव-भावना=आत्मास्तित्वादि से सम्बद्ध जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

सूत्रार्थ—(विशेषदर्शिनः) विवेकख्याति के द्वारा चित्त से पुरुष का भेद का साक्षात्कार करने वाले योगी की (आत्मभाव-भावनानिवृत्तिः) आत्म-भाव-भावना=मैं कौन था, मैं किस रूप में था, यह वर्त्तमान जन्म क्या है, इसका कारण क्या है, और भविष्य में मैं कैसा हो जाऊँगा? इस प्रकार की आत्म=जिज्ञासा निवृत्त=समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—इस सूत्र में 'विशेष' शब्द भेद का पर्यायवाची है। योगी को जब प्रकृतिजन्य सत्त्व और पुरुष के भेद का ज्ञान हो जाता है, तब उसकी आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि योगी चित्तस्थ परिणामों को समझकर पुरुष के अपरिणामी शुद्धस्वरूप को जानलेता है। और चित्त में होने वाली आत्म-भावना समाप्त हो जाती है। यह आत्म-जिज्ञासा की निवृत्ति किसको होती है? इसका समाधान व्यास-भाष्य में पूर्व-

जन्म-जन्य योग की साधना बताते हुए यह लिखा है कि जैसे—वर्षाऋतु में तृणों के विविध अङ्कुरों को देखकर उनके बीजों की सत्ता का अनुमान किया जाता है, वैसे ही जिस पुरुष को मोक्ष की बातें सुनने से रोमाञ्च, हर्ष अथवा संसार को दुःखमय जानकर अश्रुपात होने लगे, तो उस पुरुष में विवेकज्ञान के कारण का अनुमान होता है, अर्थात् उस पुरुष ने जन्म-जन्मान्तरों में योग के साधनों का अनुष्ठान अवश्य किया है। और जिस पुरुष में यह प्रवृत्ति नहीं होती, योगसाधना न करने से उसकी मोक्ष में प्रवृत्ति न होने का भी अनुमान होता है। ऐसे व्यक्ति के मन में अपवर्ग से भिन्न भाव ही उत्पन्न होते रहते हैं।

और जो योगी प्रकृति-पुरुष के भेद को जान लेता है, वह चित्त-धर्मों से पृथक् आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानकर यह सम्यक् समझ लेता है कि यह मेरे जन्मजन्मान्तरों में आने जाने का कारण चित्त का विचित्र परिणाम ही है। और कुशल=प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञ योगी की अविद्या नष्ट होने से आत्म-भावना=मैं पूर्वजन्म में क्या था, आगे क्या हूँगा? इस प्रकार की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

व्यासभाष्यम्

तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्रग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद—उस समय=विवेकज्ञान से पूर्व इस योगी का जो चित्त विषय=प्राग्भार[1]=विषयों की ओर बहने वाला और अज्ञान निम्न[2]=अज्ञान के कारण पाप मार्ग की ओर चलने वाला था, इस विवेकज्ञान प्राप्त करने वाले योगी का वह चित्त अन्यथा=पहले से विपरीत हो जाता है। अर्थात्

---

१. प्राग् अभिमुखं हरतीति प्राग्भारः। अत्र हकारस्य भकारः।

२. यहाँ 'निम्न' शब्द में नि पूर्वक 'म्ना अभ्यासे' धातु है। जिससे इस का अर्थ 'अभ्यास किया हुआ' यहाँ संगत होता है। और यह अभ्यास पापवह तथा कल्याणवह दोनों प्रकार हो सकता है। सूत्रकार व भाष्यकार दोनों ने ही इस अर्थ में निम्न शब्द का प्रयोग किया है।

वह चित्त अब कैवल्य प्राग्भार=मोक्ष की ओर बहने वाला और विवेक से उत्पन्न ज्ञान से कल्याण मार्ग की ओर चलने वाला हो जाता है ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—"(तदा विवेक०) **जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है॥**" (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—जब योगी की विवेकख्याति के द्वारा सत्त्व-पुरुष के भेद का ज्ञान होने से पूर्वसूत्रोक्त आत्म-जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, उस समय विषयों की ओर बहने वाली चित्तवृत्ति पहले से विपरीत हो जाती है अर्थात् मोक्ष की ओर प्रवाहित होने लगती है। इस समय के चित्त की उपमा बहते हुए जल से दी जा सकती है। जैसे—जल नीचे की ओर प्रवाहित हो रहा हो, तो किसानादि उसको रोककर यत्न करके अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं, वैसे ही विषयों की ओर चित्त का प्रवृत्त होना नीचे की ओर बहना और सत्त्वपुरुष के भेद का ज्ञान होने पर वह प्रवाह बन्द हो जाता है और मोक्ष की ओर चित्त का प्रवाह हो जाता है, इसे 'कैवल्यप्राग्भार' कहते हैं ॥ २६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

व्यासभाष्यम्

प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु [प्रत्ययान्तराणि] प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति जानामीति वा न जानामीति वा। कुतः [संस्कारेभ्यः] क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्यः इति। ॥ २७ ॥

भाष्यानुवाद—विवेक-ज्ञान के अभ्यस्त और सत्त्व-पुरुष=चित्त तथा आत्मतत्त्व की भिन्नता के ज्ञानरूप प्रवाह में बहने वाले चित्त के, उस के बीच बीच में (संस्कारवश) [प्रत्ययान्तराणि] प्रत्ययान्तर=विवेक-ज्ञान से भिन्न ज्ञान—मैं हूँ (मैं अमुक नामवाला अथवा योगजादि ऐश्वर्यों से सम्पन्न हूँ), अथवा यह मेरा है=मैं इस सम्पत्त्यादि का स्वामी हूँ, अथवा मैं जानता हूँ, अथवा नहीं जानता हूँ, इत्यादि होते रहते हैं। ऐसा किस कारण से होता है ? (इसका उत्तर यह है।) [संस्कारेभ्यः] नष्ट हुए=दग्धबीजों की भांति हुए पूर्व=पुराने संस्कारों के कारण ऐसे (विवेकज्ञानविरोधी) ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं।

सूत्रार्थ—[संस्कारेभ्यः] दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए समाधि से पूर्व-संस्कारों के कारण (तच्छिद्रेषु) विवेकज्ञान के अभ्यस्त और सत्त्व=पुरुष की भिन्नता के प्रवाह में बहने वाले चित्त के छिद्र=समाधि से भिन्न अवसरों पर (प्रत्ययान्तराणि) विवेकज्ञान से भिन्न प्रतीतियाँ अर्थात् मैं हूँ, यह मेरा है, मैं जानता हूँ, या नहीं जानता हूँ, होती रहती हैं।

भावार्थ—योगी का चित्त विवेकज्ञान के प्राप्त होने से जब सत्त्व=बुद्धि और चेतनतत्त्व की भिन्नता की ओर अग्रसर होता है, तब बीच-बीच में अर्थात् समाधि से भिन्न दशा में व्युत्थान समय के संस्कारों के कारण दूसरी प्रतीतियाँ भी उत्पन्न होती रहती हैं। अर्थात् 'मैं अमुक सम्पत्ति का स्वामी हूँ, यह मेरा है, मैं यह जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ', इस प्रकार की वृत्तियाँ पैदा होने लगती हैं। इसका कारण यह है कि जो दग्धबीजभाव को प्राप्त हो गये हैं, उनके संस्कार इन प्रवृत्तियों की उत्पत्ति में कारण हो जाते हैं। योगी को इन संस्कारों का नाश करना भी परमावश्यक है, जिसका उपाय अगले सूत्र (यो० ४।२८) में अविद्यादि क्लेशों के नाश के उपायों के समान बताया गया है। अर्थात् इन संस्कारों के नाश के लिये भी तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानादि करते रहना चाहिये ॥ २७ ॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

व्यासभाष्यम्

[क्लेशवत्] यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोह समर्था भवन्ति, तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

भाष्यानुवाद—[क्लेशवत्] जिस प्रकार अविद्यादि क्लेश जले हुए बीज की भाँति होकर उगने में=फलोन्मुख होने में समर्थ नहीं होते, वैसे ज्ञानाग्नि=विवेकख्याति रूपी अग्नि से जले हुए बीजभाव वाला होकर पूर्वसंस्कार=व्युत्थान समय का संस्कार प्रत्ययप्रसूः[1]=व्युत्थान समय के ज्ञानों को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। और विवेकख्यातिरूप ज्ञान के संस्कार तो चित्त के अधिकार=कार्यों की समाप्ति के अनुरूप होते हैं अर्थात् चित्त के अपने कारण में लीन होने तक ही रहते हैं, तदनन्तर नहीं। इसलिये उनको शान्त करने पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. प्रत्ययप्रसूः—प्रत्ययान् व्युत्थानकालीनज्ञानानि प्रसूते उत्पादयति।

सूत्रार्थ—(एषाम्) इन व्युत्थान कालीन विरोधी संस्कारों की (क्लेशवत्) अविद्यादि क्लेशों के समान (हानम्) निवृत्ति (उक्तम्) कही गई समझनी चाहिये।

भावार्थ—भौतिक-विषयों से पराङ्मुख होने पर भी योग-साधक को व्युत्थान समय के संस्कार प्रबल बाधायें उपस्थित करते हैं। इन संस्कारों की निवृत्ति के भी वे ही उपाय हैं, जो अविद्यादि क्लेशों के नाश के हैं। इस शास्त्र के साधनपाद के (१–२) सूत्रों में तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, ये तीन उपाय अविद्यादि क्लेशों को शिथिल करने के बताये हैं। और यो० २।१०–११ सूत्रों में बीजभाव से विद्यमान संस्कारों की निवृत्ति का उपाय 'ध्यान' बताया है। २।२५ में दृश्य प्रकृति के संयोग का अभाव, और (२।२६ में) अविप्लव विवेकख्याति, (२।२८ में) यमनियमादि के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश, और तदनन्तर विवेकख्याति की प्राप्ति, (२।५२ में) प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाशावरण करने वाले क्लेशों की निवृत्ति, (१।१२ में) अभ्यास और वैराग्य, (१।२३ में) ईश्वर की भक्ति विशेष, (१।२८ में) प्रणवजप और उसके अर्थ की भावना करना, (१।३२ में) क्लेश व विघ्नों की निवृत्ति के लिये एकतत्त्व=एक ईश्वर का प्रणिधान, इत्यादि क्लेशों की निवृत्ति के उपाय बताये हैं। जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि क्लेश दग्धबीज की भाँति अंकुरित होने में असमर्थ हो जाते हैं। इन्हीं उपायों के निरन्तर अनुष्ठान करने से व्युत्थानसमय के संस्कार भी दग्धबीज होकर ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं। और विवेकख्याति के समय के संस्कार तो चित्त के कार्यों की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, अतः उनके नाश के उपाय पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है ॥ २८ ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

व्यासभाष्यम्

यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते। तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते। तदाऽस्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

भाष्यानुवाद—जिस समय यह ब्राह्मण=ब्रह्मज्ञाता साधकयोगी प्रसं-

ख्यान=विवेकख्याति हो जाने पर भी अकुसीद[1]=रागादि की विषयवासनाओं से सर्वथा रहित हो जाता है, तदनन्तर वह कोई भी कामना नहीं करता है। उन कामनादि में भी सर्वथा विरक्त योगी की सर्वथा=पूर्णरूप से विवेकख्याति ही हो जाती है। इसलिये व्युत्थान-कालीन संस्कारों के बीज का नाश होने से उस योगी को दूसरे प्रत्यय=व्युत्थान समय के ज्ञान=प्रतीतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। उस समय इस योगी की 'धर्ममेघ[2]' नामक समाधि होती है।

सूत्रार्थ—(प्रसंख्यानेऽपि) विवेकख्याति में भी (अकुसीदस्य) रागादि-रहित योगी को (सर्वथा विवेकख्यातेः) पूर्णरूप से विवेक-ज्ञान उदय होने से (धर्ममेघ-समाधिः) धर्ममेघ नामक समाधि सिद्ध होती है।

भावार्थ—इस सूत्र में योग की सर्वोच्च स्थिति 'धर्ममेघ-समाधि' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसी का दूसरा नाम 'असम्प्रज्ञात-समाधि' है। इससे प्रथम दशा का नाम 'सम्प्रज्ञात-समाधि' है जिसमें योग-साधना से उत्पन्न ऐश्वर्यों की प्राप्ति होने से आनन्दानुभूति का पूर्वरूप होता है। इस समाधि में जो प्रकृति-पुरुष का भेद-ज्ञान होता है, उसे 'प्रसंख्यान' कहते हैं। इस दशा में योगी अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकृति से भिन्न भलीभाँति समझ लेता है। और जब यह प्रसंख्यान निरन्तर प्रणवजपादि से उत्कृष्टतम एवं चरम-दशा में पहुँच जाता है और इस दशा में योगी को प्रसंख्यान में भी रागादि का भाव नहीं रहता है, तब उसे पर-वैराग्य होने से उत्कृष्टतम स्तर की विवेकख्याति प्राप्त होती है। इसी दशा का नाम 'धर्ममेघ-समाधि' है। सम्प्रज्ञात-समाधि में व्युत्थान-कालीन संस्कारों का उद्भव हो सकता है, परन्तु धर्ममेघ-समाधि में वे संस्कार सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इसीलिये इस समाधि को निर्बीज-समाधि भी कहते हैं। सूत्र में इस दशा को अकुसीद=सर्वथा रागादि दोषों से शून्य (पर-वैराग्य) कहा हैं।

यद्यपि लोक-व्यवहार में 'कुसीद' शब्द 'ब्याज' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उत्तमर्ण=ऋण देनेवाला व्यक्ति, अधमर्ण=धन लेनेवाले कर्जदार व्यक्ति

---

१. अकुसीदः=अविद्यमानः कुसीदो यस्य सः। कुसीदस्तु कुत्सितेषु विषयेषु सीदति तिष्ठतीति कुसीदो रागः।

२. धर्ममेघः=धर्मं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः। धर्मस्तु ध्रियते मोक्षसुख-प्राप्तये सेव्यते यः स योगजधर्मः। इसकी व्याख्या अन्यत्र व्यासभाष्य में इस प्रकार की है—तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत् परं प्रसंख्यानमाचक्षते ध्यायिनः। (यो० १।२ भाष्ये)

से मूलधन से अतिरिक्त जो धन लेता है, उसे कुसीद=व्याज अथवा सूद कहते हैं। जैसे—मूल-धन की अपेक्षा व्याज के प्रति उत्तमर्ण का अधिक राग होता है, वैसे ही योग-साधनारत व्यक्ति प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान को प्राप्त करके जब और ऊपर उन्नति की ओर बढ़ता है, तो उसका भी अपनी प्रथम दशाओं के प्रति राग-मोहादि उत्पन्न हो जाता है, जो योग-मार्ग में प्रबल बाधक ही होता है। अतः निरन्तर प्रणवजपादि के अभ्यास से जब इस प्रसंख्यान के प्रति भी रागादि से रहित हो जाता है, तब योगी उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ पर-वैराग्य दशा को प्राप्त करता है, उसी का नाम 'धर्ममेघ-समाधि' है। और यहाँ सूत्रार्थ में 'कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागादि प्रवृत्तिः' इस व्युत्पत्ति वाला अर्थ ही 'कुसीद' शब्द का अधिक संगत होता है। जो कुसीद=सब प्रकार के फलों की इच्छादि से सर्वथा विमुख होने से रागादि प्रवृत्तियों से रहित हो जाता है, वह ही धर्ममेघ-समाधि दशा को प्राप्त कर सकता है। यह विवेकख्याति की परिपक्व दशा एवं ज्ञान की पराकाष्ठा होती है। इसे ही व्यासमुनि ने (यो० १।२ भाष्य में) 'परं प्रसंख्यानमाचक्षते ध्यायिनः' कहकर 'पर-प्रसंख्यान' कहा है ॥ २९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

व्यासभाष्यम्

तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति। कस्मात्, यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित्केनचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

भाष्यानुवाद—उस धर्ममेघ-समाधि के लाभ (सिद्धि) हो जाने से अविद्यादि क्लेश समूलकाष[1]=समूल नष्ट हो जाते हैं। कुशल[2]=पुण्यरूप और अकुशल=अपुण्यरूप कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर विद्वान्=विवेकख्याति को प्राप्त करने वाला योगी जीवित रहता हुआ ही मुक्त हो जाता है। इसका कारण क्या है? क्योंकि

---

१. समूलकाषम्=समूल+कष हिंसायाम्+णमुल्। 'निमूलसमूलयोः कषः' (अ० ३।४।३४) सूत्र से णमुल् हुआ है।

२. कुशलाकुशलानि कर्माणि (व्यासभाष्ये १।२४)।

विपर्यय=मिथ्याज्ञान ही संसार=जन्ममरण रूप संसार चक्र का कारण होता है। जिसका मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसा कोई भी प्राणी कहीं उत्पन्न[1] हुआ हो, ऐसा किसी ने नहीं देखा है।

सूत्रार्थ—(ततः) उस धर्ममेघसमाधि के सिद्ध होने के अनन्तर (क्लेश-कर्मनिवृत्तिः) अविद्यादि क्लेशों तथा पुण्यापुण्यरूप कर्मों की निवृत्ति हो जाती है।

भावार्थ—इस सूत्र में धर्ममेघसमाधि का फलकथन किया गया है। विवेकख्याति से धर्ममेघसमाधि सिद्ध होने से योगी के अविद्यादि पाञ्च क्लेश और पुण्यापुण्य कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं। अविद्यादि क्लेशों के कारण ही पुण्यापुण्य कर्मों में जीव की प्रवृत्ति होती है। अतः क्लेशों के नाश करने अथवा क्लेशों में भी मुख्य विपर्यय=मिथ्याज्ञान को दूर करने से योगी जीवन-दशा में ही मुक्त हो जाता है। क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म-मरण रूप संसार का कारण है। अविद्यादि क्लेश तथा मिथ्याज्ञान जिसके नष्ट हो गये हैं, ऐसा कोई पुरुष जन्म लेता हुआ संसार में नहीं देखा गया है॥ ३०॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्या-ज्ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥

व्यासभाष्यम्

सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्यं भवति। आवरकेण तमसाभिभूतमावृतम् अनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत् यदा सर्वैरावरणमलैरपगतमलं भवति तदा भवत्यस्या-ऽऽनन्त्यम्। ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते। यथाऽऽकाशे खद्योतः। यत्रेद-मुक्तम्—

अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोभ्यपूजयत्॥ इति॥ ३१॥

भाष्यानुवाद—समस्त अविद्यादि क्लेशों तथा कर्मों के आवरणों से मुक्त ज्ञान की (प्रकाश की) अनन्तता=अपरिमितता हो जाती है। आच्छादित करने वाले तमोगुण से अनन्त प्रकाशात्मक सतोगुण अभिभूत=दब जाता

---

१. न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम मुनि ने भी ऐसा लिखा है—वीतरागजन्मा-दर्शनात्।' (न्या० ३।१।२५)

है और वह (तमोगुण से ढका हुआ सतोगुण) रजोगुण से प्रवर्त्तित किया गया, तमोगुण के प्रभाव को हटाया गया कहीं ही=किसी ज्ञेय पदार्थ के विषय को ही ग्रहण करने में समर्थ होता है। और जब वह ज्ञान सत्त्व=चित्त समस्त आवरण करने वाले मलों से रहित हो जाता है=निर्मल हो जाता है, तब उसकी अनन्तता=परिपूर्णता हो जाती है। और ज्ञान के अनन्त होने =परिपूर्ण होने से ज्ञेय=जानने योग्य वैसे ही अल्प=सर्वथा कम हो जाता है। जैसे विस्तृत आकाश में खद्योत=रात में चमकने वाला जुगनू नामक क्षुद्र कीट होता है। जिसके विषय में यह कहा[1] गया है—

अन्धे ने मणि को बींधा, बिना अंगुलि वाले ने उसमें धागा पिरोया, बिना गरदन वाले ने उस मणि को धारण किया और जिह्वा रहित व्यक्ति ने उसकी प्रशंसा की।

(जैसे ये वाक्य कारण के बिना कार्य होने से आश्चर्यरूप जान पड़ते हैं, वैसे ही क्लेशादि रहित धर्ममेघ समाधि के स्तर को प्राप्त करने वाले योगी के जन्मादि भी बिना कारण के कार्य के समान आश्चर्यरूप ही कहलायेंगे। अतः कारण न होने से योगी फिर देहादि धारण नहीं करता)।

सूत्रार्थ—(तदा) धर्ममेघ समाधि दशा में अविद्यादि क्लेश तथा कर्मों की निवृत्ति होने पर (सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य) सब प्रकार के आच्छादन करने वाले तमोगुणादि मलों के प्रभाव से रहित चित्तस्थ[2] प्रकाश के (आनन्त्यात्) असीमित (परिपूर्ण) होने से (ज्ञेयम्) जानने योग्य विषय (अल्प) तुच्छ हो जाता है।

भावार्थ—यद्यपि चित्त प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक है, पुनरपि गुणों का प्रभाव न्यूनाधिक होता रहता है। धर्ममेघ समाधि की दशा में जब क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है तो चित्त तमोगुण व रजोगुण के प्रभाव से हीन होने से प्रकाशात्मक हो जात है। इस सतोगुण के प्रकाश को तमोगुणादि वैसे ही ढकलेते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश को मेघ ढकलेते हैं। रजस्-तमस् मूलक क्लेशों तथा कर्माशयों की निवृत्ति से चित्त प्रकाश से ओतप्रोत हो जाता है। और उस समय चित्त के जानने योग्य विषय वैसे ही बहुत कम रह जाता है, जैसे विस्तृत आकाश में जुगनू बहुत छोटा होता है, चित्त के इस समस्त अर्थ-

---

१. यह वचन तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता है।

२. यहाँ सूत्र में 'ज्ञान' शब्द 'ज्ञायतेऽनेनेति' इस व्युत्पत्ति से चित्त के लिये प्रयुक्त हुआ है।

प्रकाशन सामर्थ्य को ही 'सूत्र' में 'अनन्त' शब्द से कथन किया गया है। चित्त का अनन्त होना यही है कि इस धर्ममेघ समाधि के स्तर पर पहुंचकर चित्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ अतीत एवं अनागत तत्त्वों को भी जान लेता है। और इस ज्ञानप्रकाश से प्रकृतिजन्य दोष योगी के लिये हस्तामलकवत् होने से हेय एवं तुच्छ हो जाते हैं। और परवैराग्योदय से योगी की चित्त-वृत्ति बाह्यमुखी न होकर सर्वथा अन्तर्मुखी हो जाती है। व्युत्थान समय के क्लेश, कर्म व संस्कार सब दग्धबीजवत् होने से निर्मूल हो जाते हैं और इन क्लेशादि कारणों के अभाव में जन्मादि कार्यों का भी अभाव होने से योगी मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति-
र्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

व्यासभाष्यम्

[ततः] तस्य धर्ममेघस्योदयात्कृतार्थानां गुणानां [परिणामक्रमसमाप्तिः] परिणामक्रमः परिसमाप्यते। न हि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यव स्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

भाष्यानुवाद—[ततः] उस धर्म-मेघ समाधि के उदय (सिद्ध) होने से कृतार्थ=चरितार्थ हुए=अपना प्रयोजन पूर्ण होने से कृतकृत्य हुए सत्त्वादि गुणों का [परिणामक्रमसमाप्तिः] परिणामक्रम समाप्त हो जाता है। और पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप अर्थ=प्रयोजन को सिद्धि कर चुकने वाले तथा परिणाम-क्रम से रहित सत्त्वादि गुण क्षण भर भी स्थिर रहने में समर्थ नहीं होते हैं।

सूत्रार्थ—(ततः) धर्ममेघसमाधि के उदय होने से (कृतार्थानाम्) पुरुष के अर्थ=भोगापवर्ग रूप प्रयोजन को पूर्ण करके कृतकृत्य हुए (गुणानाम्) सत्त्वादि गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है।

भावार्थ—धर्ममेघ-समाधि के उदय से योगी के क्लेशों वा कर्माशयों का समूल नष्ट हो जाता है। परन्तु परिणामशील गुण (सत्त्वादि) अपना कार्य तो करते ही रहेंगे। इससे सूक्ष्मदेहादि मोक्षार्थी के भी बने रहेंगे और प्रकृति का बन्धन समाप्त न होने से उसका मोक्ष कैसे हो सकता है? इसका

उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। धर्ममेघ-समाधि से क्लेशों व कर्मों की निवृत्ति होने से असीमित ज्ञान हो जाता है, और ज्ञेय न्यून हो जाता है। इससे प्रकृति के प्रति उसके दोषों का बोध होने से परवैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इससे मोक्षार्थी प्रकृति के सर्वविध आकर्षण से पृथक् हो जाता है। पुरुष की यह पृथक्ता ही गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति कहलाती है। क्योंकि सत्त्वादि गुण अचेतन हैं, उनमें ऐसी संवेदनशीलता कहाँ है कि इस पुरुष को परवैराग्य हो गया है, अतः स्वतः उनकी निवृत्ति हो जाये? अथवा समस्त प्रकृति में जो भी गति देखी जाती है, वह सोद्देश्य तथा ईश्वर की ओर से है। पुरुष के उद्देश्य को पूर्ण करने के पश्चात् प्रकृतिजन्य गुणों का परिणाम न होना ईश्वरीय व्यवस्था से ही होता है। इसलिये प्रकृति के समस्त परिणाम महत्तत्त्व, अहंकार सूक्ष्मभूत, इन्द्रियाँ, चित्त तथा स्थूलभूतों का जो कार्यरत होना है, वह पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन को ही सिद्ध करने के लिये है। पुरुष जन्म-जन्मान्तरों में चिरकाल तक प्रकृति का सुख-दुःखों को भोगते भोगते जब उनसे सर्वथा ऊब जाता है और उसके समस्त कार्यों का परिणाम दुःखमय ही है, यह समझ लेता है, तब वह सर्वथा विरक्त एवं तृष्णारहित होकर आत्मतत्त्व की ओर झुक जाता है। और योगसाधना के निरन्तर अभ्यास से परमात्म-साक्षात्कार के द्वारा परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। ऐसे पुरुष के प्रति गुण कृत-कृत्य होने से पुनः प्रवृत्त नहीं होते। क्योंकि मुक्तपुरुष का चरमलक्ष्य सिद्ध होने से गुणों का उसके प्रति कोई कार्य शेष नहीं रहता है। दूसरे जीवों के लिये तो गुणों की प्रवृति बनी रहती है॥ ३२॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

व्यासभाष्यम्

[क्षणप्रतियोगी] क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा पुराणता नवस्य वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थ-नित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन्परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्व-लब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति।

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति। अवचनीयमेतत्। कथम्। अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति। ओं भो इति।

अथ सर्वो जातो मरिष्यतीति मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्यवचनीयमेतत्। प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः। तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति॥ ३३॥

भाष्यानुवाद—[क्षणप्रतियोगी] क्षण के अनन्तर[1] होनेवाले परिणाम के पिछले भाग अथवा समाप्ति से जो ग्रहण किया जावे, वह क्रम है। क्रम के आश्रित क्षणों का अनुभव किये विना नवीन वस्त्र की समाप्ति पर वस्त्र का पुरानापन (परिणाम) नहीं हो सकता। और नित्य-पदार्थों में क्रम देखा जाता है। और यह नित्यता दो प्रकार की है—एक कूटस्थनित्यता=एकरसनित्यता=निर्विकार नित्यता, दूसरी परिणामिनित्यता=परिणत विकारयुक्तों का मूलतत्त्वरूप में होकर नष्ट न होना। उन नित्यपदार्थों में पुरुषतत्त्व की कूटस्थ नित्यता[2] है और सत्त्वादिगुणों की परिणामिनित्यता है। जिस तत्त्व के परिणत=परिवर्त्तितविकारयुक्त होते हुए भी उसका मूलतत्त्व नष्ट नहीं होता, उसे नित्य कहते हैं। और पुरुष तथा गुणों के तत्त्व का नाश न होने से दोनों की नित्यता है।

उन नित्य वस्तुओं में सत्त्वादि गुणों के धर्मवाले बुद्धि आदि (आदि शब्द से दूसरे अहंकार, इन्द्रियादि) में परिणाम के पिछले भाग से निश्चय करने योग्य क्रम समाप्त होने वाला होता है और नित्यधर्मी रूप अव्यक्तरूप सत्त्वादि गुणों में क्रम समाप्ति वाला नहीं होता। और जो कूटस्थ नित्य पुरुषतत्त्व हैं, उन में जो अपने स्वरूप में स्थित मुक्तपुरुष हैं उनमें स्वरूप का अस्तित्व क्रम से ही अनुभूत होता है। इसलिये (यह कहा जा सकता है कि)

---

१. क्षणानन्तर्यात्मा=क्षण की अनन्तरता=एक क्षण के पश्चात् परवर्ती क्षण का उपस्थित होते रहना ही जिसका स्वरूप है।

२. कूटस्थः=कूटवद् अपरिवर्त्तितरूपेण तिष्ठतीति। कूटः पर्वतशृंगो लौहकुट्टन स्थली (निहाई इति भाषायाम्) वा।

मुक्तपुरुषों में भी समाप्ति को प्राप्त न होने वाला क्रम शब्दपृष्ठेन=शाब्दिक कथन मात्र ही 'अस्ति' क्रिया को लेकर कल्पित[1] किया गया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि स्थिति और गति की अवस्था वाले गुणों के रूप में विद्यमान इस वर्त्तमान संसार के क्रम की समाप्ति होती है अथवा[2] नहीं? यह प्रश्न अवचनीय=सहसा एक उत्तर के रूप में कथनीय नहीं है। इसका कारण यह है कि एक प्रश्न ऐसा होता है जो एकान्तवचनीय=निश्चित रूप से उत्तर देने योग्य होता है। जैसे किसी ने प्रश्न किया—क्या सभी प्राणी जन्म लेकर अवश्य मरेंगे? इसका उत्तर 'ओं भो' कहकर निश्चित रूप से दिया जा सकता है। और कोई ऐसा प्रश्न करे—क्या सब प्राणी मरकर अवश्य जन्म लेंगे? इस प्रश्न का उत्तर दो भागों में बांटकर ही उत्तर देने योग्य है। जिसको विवेकख्याति प्राप्त हो गई है, ऐसा तृष्णा=वासनाओं से रहित योगी (मर-कर) जन्म नहीं लेगा और दूसरे प्राणी तो जन्म अवश्य लेंगे। उसी प्रकार का एक प्रश्न यह है—मनुष्य-जाति श्रेष्ठ=सब में उत्तम है या नहीं? इस प्रकार पूछने पर दो भागों में बांटकर ही उत्तर देना चाहिये (एकान्तवचनीय नहीं)। मनुष्य-जाति पशुओं की तुलना में श्रेष्ठ है, देवों तथा ऋषियों की तुलना में श्रेष्ठ नहीं है।

'संसार की क्रम-समाप्ति होने वाली है या नहीं?' यह प्रश्न भी अवच-नीय=एकान्तवचनीय नहीं है (विभाग करके वचनीय है।) जो कुशल=विवेक-ख्याति प्राप्त योगी है, उसकी संसार के क्रम की समाप्ति है अर्थात् उसका सांसारिक जन्ममरण चक्र समाप्त हो जाता है, अन्य प्राणियों का नहीं। इन उत्तरों में किसी एक के स्वीकार करने में दोष है। अर्थात् सर्वथा अन्तवाला ही है या सर्वथा अन्तरहित ही है, ऐसा मानने पर उत्तर ठीक नहीं है। इससे इस प्रश्न का विभाग करके ही उत्तर देना चाहिये। 'इति' शब्द समाप्ति-सूचक है।

सूत्रार्थ—(क्षण-प्रतियोगी[3]) जो क्षण के पीछे रहने वाला है (परिणामा-परान्तनिर्ग्राह्यः) और परिणाम के पिछले भाग से जिसके स्वरूप का निश्चय होता है। वह (क्रमः) क्रम है।

---

१. यथार्थ में पुरुष में क्रम नहीं होता, क्योंकि पुरुषतत्त्व में परिणाम न होने के कारण क्रम का ग्रहण सम्भव ही नहीं है।

२. क्योंकि यदि संसार को नित्य मानें तो क्रम-समाप्ति नहीं होनी चाहिए और यदि अनित्य मानें तो क्रमसमाप्ति अवश्य होनी चाहिए।

३. 'क्षणप्रतियोगी' की व्याख्या व्यासभाष्य में 'क्षणानन्तर्यात्मा' शब्द से की है।

भावार्थ—गतसूत्र में 'परिणामक्रमसमाप्तिः' पद में 'क्रम' शब्द का पाठ आया है। उसका तात्पर्य क्या है, वह इसमें स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु में प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है। काल का छोटे से छोटा भाग क्षण कहलाता है। एक क्षण में क्रम का होना सम्भव नहीं है। क्रम की अभिव्यक्ति के लिये अनेक क्षणों का होना अत्यावश्यक है। परिणामों के धर्मपरिणामादि भेदों का वर्णन योगशास्त्र में (यो० ३।६-१३) विभूतिपाद में किया गया है। उन्हें समझने के लिये 'क्रम' के स्वरूप का ज्ञान करना भी आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण जो परिणाम होता रहता है, वह सूक्ष्म होने से सर्वत्र प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अनुमेय होता है। मिट्टी में पिण्ड, घट, कपाल, चूर्ण तथा कण रूप जो परिणाम होते हैं, वे प्रत्यक्ष हैं। और अच्छी प्रकार सुरक्षित रखा हुआ नवीन वस्त्र भी कालान्तर में इतना पुराना हो जाता है कि हाथ के स्पर्श से ही खण्ड खण्ड होने लगता है। यह वस्त्र का पुरानापन सहसैव नहीं हुआ, प्रत्युत क्षणानुक्रम से ही हुआ है। यह परिणाम अनुमेय होता है। क्योंकि जिस समय वस्त्र का निर्माण हुआ था, तब वह सुदृढ़ होने से हाथ के स्पर्श से खण्ड-खण्ड नहीं होता था। इसी प्रकार घटादि में भी प्रथम जो दृढ़ता होती है, वह उत्तरोत्तर कम होती जाती है। जल से भरे घड़े को किनारे से पकड़-कर प्रथम इधर-उधर ले जाया जा सकता था परन्तु पुराना होने पर खाली घड़े को भी किनारा पकड़कर उठायें तो केवल एक खण्ड ही हाथ में रह जाता है।

इस प्रकार परिणामशील वस्तुओं में यह परिवर्त्तन एकसाथ नहीं होता, प्रत्युत धीरे धीरे होता है। इनमें क्रम अनुमान करने योग्य ही होता है। और इस क्रम का स्वरूप क्षण के अनन्तर और परिणाम के अवसान से ही गृहीत होता है। इस सूक्ष्म परिणाम-क्रम को योगी पुरुष ही जान सकते हैं। सामान्य मनुष्य तो बहुत से परिणामों के स्थूल रूप होने पर ही निश्चय कर पाते हैं। परिणामों की जो पूर्वापर की एकधारा (सिलसिला) होती है, उसे ही क्रम कहते हैं। क्रम का प्रारम्भ एक विशेष क्षण में होता है, और समाप्ति दूसरे क्षण में। प्रथम क्षण को जहाँ से क्रम का प्रारम्भ होता है, उसे 'पूर्वान्त' अन्तिम क्षण को जहाँ क्रम समाप्त होता है, उसे 'अपरान्त' कहते हैं।

और यह क्रम धर्म, लक्षण और अवस्था (यो० ३।१३) तीनों परिणामों में पाया जाता है। ऊपर पुराने वस्त्र तथा घड़े के दृष्टान्त से यह स्पष्ट समझाया गया है कि अवस्था-परिणाम का क्रम सूक्ष्म रूप से होता हुआ भी दिखाई नहीं

देता, उसका अन्तिम परिणाम ही प्रत्यक्ष होता है। और लक्षण-परिणामों का जो क्रम दिखलायी देता है वह भी कई परिणामों का स्थूल रूप ही है । और जो इनमें भी प्रत्येक क्षण सूक्ष्मरूप में क्रम होता रहता है, वह भी साक्षात् नहीं होता है।

और यह परिणाम-क्रम सत्त्वादि गुणों में निरन्तर होता रहता है। गुण तो नित्य हैं, फिर उनमें परिणाम कैसे सम्भव है ? इसका समाधान व्यास-भाष्य में इस प्रकार किया है—नित्यता दो प्रकार की होती है—(१) कूटस्थ नित्यता (२) और परिणामि-नित्यता। इनमें जो कूटस्थ नित्य होते हैं, उनमें किसी प्रकार परिणाम नहीं होता । पुरुष-तत्त्व में कूटस्थ नित्यता ही है। क्योंकि पुरुष (चेतनाशक्ति) अपरिणामी है। परिणामि नित्य का अभिप्राय यह है कि उनमें अवस्थान्तर होते रहते हैं, मूलतत्त्व नष्ट नहीं होता जैसे—मिट्टी से घटादि विभिन्न पात्र बनाये जाते हैं। एक ही मिट्टी को परिवर्त्तन करके घटादि बनाये जा सकते हैं। अथवा सुवर्ण के विभिन्न आभूषण बनाये जा सकते हैं। विभिन्न आकृतियाँ होने पर भी सुवर्ण अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सत्त्वादिगुण विभिन्न विकृतियों में परिवर्त्तित होतेहुए भी अपने स्वरूप का परित्याग न करने से नित्य हैं।

अब दूसरा एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि नित्य गुणों की स्थिति और गति के अनुरूप (सृष्टि-प्रलय रूप में) संसार क्रम चल रहा है। उस क्रम की भी कभी समाप्ति होती है अथवा नहीं ? यदि समाप्ति मानी जाये तो यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि गुणों के परिणाम को कोई अन्तिम सीमा नहीं है। और यदि समाप्ति न मानी जाये, तो पूर्वसूत्र में गुणों के क्रम की समाप्ति क्यों कही है ? इसका उत्तर भाष्यकार ने यह दिया है कि यह प्रश्न एकान्तवचनीय नहीं है अर्थात् एकबार ही हाँ या नहीं में नहीं दिया जा सकता। क्योंकि सृष्टि-प्रलय का क्रम प्रवाह से दिन-रात की भांति अनादि है। अतः गुणों के क्रम की समाप्ति कभी सम्भव नहीं है। परन्तु सूत्र में जो परिणाम-क्रम की समाप्ति कही है, उसका विशेष आशय है। जो भी जीव जन्म लेता है, वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है। और जो मरेगा, वह जन्म भी अवश्य लेगा। परन्तु इस नियम में एक अपवाद है कि जो विवेक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और तृष्णायें जिसकी क्षीण हो गई हैं, वह जीवात्मा मरकर फिर जन्म न लेकर मोक्षानन्द को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ज्ञानियों की दृष्टि से पूर्वसूत्र में गुणों के क्रम की समाप्ति कही है, अज्ञानियों के लिए नहीं। इसी बात को व्यासभाष्य में एक अन्य दृष्टान्त से भी समझाया है कि मनुष्य का जन्म

उत्तम है या नहीं ? इसका विभाग करके ही उत्तर दिया जा सकता है एकान्तता से नहीं। पशुओं की दृष्टि से मनुष्य-जन्म उत्तम है, देवता और ऋषियों की अपेक्षा से नहीं। इसी प्रकार यह संसार मुक्तात्माओं की दृष्टि से अन्तवाला है, अन्यों की दृष्टि से नहीं ॥ ३३ ॥

अव०—गुणाधिकारपरिसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते—

(अर्थ०)—सत्त्वादिगुणों के अधिकार=परिणाम-क्रम के समाप्त होने पर मोक्ष-प्राप्ति कही है, उस मोक्ष का स्वरूप निश्चित किया जाता है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

व्यासभाष्यम्

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसंबन्धात्पुरुषस्य चितिशक्ति-रेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

भाष्यानुवाद—पुरुष के भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन को सम्पादित कर चुकने वाले और इसीलिये पुरुषार्थ-शून्य=पुरुष के प्रयोजन से विमुख हुए कार्य-कारणरूप (अहंकार-चित्तादि प्रकृति विकृतिरूप) सत्त्वादि गुणों का जो प्रतिप्रसव=अपने कारण में लय होना है, वह पुरुष का कैवल्य=मोक्ष है। अथवा पुरुष-तत्त्व का अपने स्वरूप में स्थित होना, फिर बुद्धिसत्त्व से सम्बद्ध न होने से जो केवल चितिशक्ति=चेतनस्वरूप ही रह जाना है, और उसका सदा वैसे ही बने रहना है वह 'कैवल्य' है।

सूत्रार्थ—"(पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजस् और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूप-प्रतिष्ठा=जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य=मोक्ष कहते हैं" ॥ (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिये होती है। इसलिये भोग और अपवर्ग ही पुरुषार्थ कहलाता है। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये सत्त्वादि गुणों का कार्य-कारणरूप में

(महत्तत्त्व अहंकारादिरूप में) परिणाम होता है। जिस पुरुष का भोगापवर्ग-रूप प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, उसके प्रति गुणों का कोई कार्य शेष नहीं रहता है। गुणों को जो कार्य करना था, वह वे कर चुके। अतः पुरुषार्थ-शून्य और पुरुषार्थ के सम्पादन से कृतकृत्य हुए गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् व्युत्थानादि समय के संस्कार दग्धबीज की भाँति होकर चित्त में लीन हो जाते हैं, चित्त अहंकार में, अहंकार महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व मूलप्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार गुणों का कारण में लीन होने से पुरुष-तत्त्व से जो अलग होना है, यही मोक्ष है। अथवा इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं—चित्त के परिणाम-क्रम को बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लय होने से पुरुष का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और पुरुष के अपने स्वरूप में ही स्थित रहने का नाम मोक्ष है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रथम भी कहा है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (यो० १।३)

अर्थात् उस समय द्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में अथवा अपने स्वरूप में पुरुष की स्थिति होती है। और पुरुष अपनी स्वाभाविक शक्तियों से आनन्द-स्वरूप परमात्मा से सम्बद्ध होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है। सूत्र में 'इति' शब्द इस शास्त्र की समाप्ति का द्योतक है।

यहाँ व्यास-भाष्य में पठित 'सदा' शब्द से कुछ भ्रान्ति अवश्य होती है कि क्या मोक्ष को प्राप्त करने वाला जीव कभी भी मोक्ष से वापिस नहीं आता? यदि आता है तो यहाँ 'सदा' शब्द का पाठ निरर्थक है। इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'सदा' शब्द सापेक्ष है। जन्म-जन्मान्तर के एक लम्बे समय को लांघकर जब तक ३६००० छत्तीस हजार बार सृष्टि और प्रलय होते रहेंगे, तब तक मुक्तात्मा मोक्ष का सुख भोगता है। इसके लिये 'सदा' शब्द का प्रयोग उचित ही है। और यदि मोक्ष से पुनरावृत्ति न मानने वाली व्याख्या की जाये तो वह व्यासभाष्य से विपरीत तथा अयुक्तियुक्त होने से मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि व्यासभाष्य में (यो० १।२४ में) स्पष्ट कहा है—'यथा वा प्रकृतिलीन-स्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति'। अर्थात् जैसे—योगियों का मोक्ष के बाद भी बन्धन होता है, वैसा ईश्वर का नहीं। क्योंकि ईश्वर तो सदा मुक्त है। और सीमित कर्मों का फल असीमित कदापि नहीं हो सकता। अतः असीमित फल मोक्ष का मानना न्याय से सर्वथा विरुद्ध है।

मोक्ष का स्वरूप—और यहाँ योगदर्शनकार ने मोक्ष का जो स्वरूप

बताया है अर्थात् पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले गुणों का कारण में लय होना मोक्ष है। इसका अभिप्राय यह है कि त्रिगुणात्मक-चित्त अहंकार में, अहंकार महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व प्रधान में लय होने से मुक्त-पुरुष के साथ प्रकृति के संयोग का अभाव[1] हो जाता है। प्रकृति-संयोग के न होने से मोक्ष को 'कैवल्य' भी कहा है। जिस प्रकृति या प्रकृतिजन्य दुःखों से जीवात्मा बहुत लम्बे समय तक दुःखग्रस्त रहा, उससे पृथक् होने का नाम ही मोक्ष है।

अथवा मोक्ष का दूसरा स्वरूप यह भी बताया गया है–स्वरूपप्रतिष्ठा। जब जीवात्मा सूक्ष्मशरीरादि प्रकृतिजन्यसाधनों से सर्वथा पृथक् होकर और शुद्ध होने से अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है, तब मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ 'स्वरूपप्रतिष्ठा' शब्द से अभिप्राय यही है कि मुक्तात्मा बहुत लम्बे समय के बाद प्रकृति के सम्पर्क से मुक्त हुआ है, अतः उसे स्वरूप में स्थित कहा गया है। व्यापक परमात्मा के सम्पर्क से तो जीवात्मा कभी पृथक् हो ही नहीं सकता, इसलिये न तो उसका विधान किया है और नहीं उसका खण्डन किया है। किन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि दर्शनकार मोक्ष में परमात्मा के सान्निध्य के विषय में मौन है, यदि दर्शनकार को ऐसी मान्यता होती तो वह इस प्रकार कदापि नहीं कहते—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' (यो० १।३) तब जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप में स्थित होता है। 'तज्जपस् तदर्थभावना।' (यो० १।१८) परमेश्वर के मुख्यनाम 'ओम्' का जप तथा उसके अर्थ का चिन्तन करना चाहिये और 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।' (यो० १। ३२) इत्यादि सूत्रों में परमात्मा के अवलम्बन करने का विधान कभी नहीं करते। यथार्थ में जीवात्मा की शुद्धि अथवा स्वरूपप्रतिष्ठा=प्रकृति से सर्वथा पृथक्ता ईश्वरप्रणिधानादि के बिना सम्भव ही नहीं है। यही बात दूसरे वेदादि शास्त्रों से भी पुष्ट होती है। जैसे—(१) तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति ॥ (यजु० ३१। १८) परमात्मा को जानकर ही जीवात्मा दुःखों से छूटता है। (२) सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ (उपनिषद्) मुक्तात्मा मोक्ष-दशा में ब्रह्म के साथ रहकर परमानन्द को प्राप्त करता है। (३) परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' (छान्दोग्योप० ८।३।४) मोक्ष में जीवात्मा परमात्म-ज्योति को प्राप्त करके अपने शुद्धस्वरूप में रहता है। (४) चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात्। (वेदान्त० ४।४।६) 'ब्राह्मे ण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः।' (वेदान्त० ४।४।५)

---

१. दूसरे दर्शनों में इसी बात को माना है। जैसे—तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः। (वै० ५।२।१८) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (न्याय० १।१२)।

अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म के सान्निध्य में परमानन्द को प्राप्त करता हुआ अपने स्वरूप में स्थित रहता है। (५) 'तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास् तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।' (कठो० ५।३१) मोक्ष में मुक्तात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करके उसके आनन्द में मग्न रहते हैं (६) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०।' (ऋ० २।३।१७) यहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा को शाश्वत सखा तथा सदा संयुक्त रहनेवाला कहा है।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि मोक्ष में जीवात्मा का परमात्मा में लय नहीं होता है प्रत्युत वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है, मुक्तात्मा ब्रह्म के सान्निध्य से ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते हैं, और अविद्याग्रस्त जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, इस योग के मोक्ष स्वरूप वर्णन से अवैदिक जैनी, नवीन वेदान्ती आदि की मोक्ष-सम्बन्धी मान्यतायें सर्वथा मिथ्या ही सिद्ध होती हैं ॥ ३४ ॥

इत्युत्तरप्रदेशान्तर्गत 'गाजियाबाद' मण्डले 'फजलगढ़' नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना श्रीलशिवचरणात्मजेन, गुरुकुल-झज्जराधीतविद्येन तत्र भवतां श्री ओमानन्द-स्वामिनामन्तेवासिना आचार्योपाधिधारिणा राजवीरशास्त्रिणा कृते पातञ्जलसूत्र-व्यासभाष्ययोर्भाषार्थप्रकाशिते, महर्षि-दयानन्द-व्याख्याविभूषिते पातञ्जलयोगशास्त्रभाष्ये कैवल्यस्वरूप-प्रतिपादकश्चतुर्थः कैवल्यपादः समाप्तिमगात्।
समाप्तञ्चेदं मोक्षप्रतिपादकं योगशास्त्रम् ॥

परिशिष्ट

योग-दर्शन-सूत्राणां वर्णानुक्रम-सूची

इति योगदर्शन-सूत्राणां वर्णानुक्रमणिका ॥

व्यास-भाष्य की सूक्तियाँ

पञ्चपर्वा भवत्यविद्या (१ । ८)
चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च । (१ । १२)
सा (श्रद्धा) हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति । (१ । २०)
स (ईश्वरः) तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः । (१ । २४)
स्वाध्याय-योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते । (१ । २८)
दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । (१ । ३१)
न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । (१ । ३२)
ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम् । (१ । ५०)
चित्तम् अयस्कान्तमणिकल्पम् । (१ । ४)
ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । (१ । १६)
नातपस्विनो योगः सिध्यति । (२ । १)
अविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाऽभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्या । (२ । ५)
कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना च । (२ । १३)
नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवति । (२ । १५)
न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । (२ । १५)
भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् । (२ । १५)
अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान् । (२ । १५)
न च सिद्धिरन्तरेण साधनम् । (२ । २८)
धर्मः सुखस्य नान्यथा कारणम् । (२ । २८)
सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । (२ । ३०)
अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः । (२ । ३१)
आभ्यन्तरं (शौचम्) चित्तमलानामाक्षालनम् । (२ । ३२)
स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । (२ । ३२)
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।। (२ । ४२)
तपो न परं प्राणायामात् ।। (२ । ५२)
योगेन योगो ज्ञातव्यः ।। (३ । ६)

विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तं कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव ॥ (३ । १८)

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च ॥ (३ । २२)

न कार्येण कारणं प्रवर्त्यते ॥ (४ । ३)

शुक्ला (कर्मजातिः) तपःस्वाध्यायध्यानवताम् ॥ (४ । ७)

यथाऽनुभवास्तथा संस्काराः ॥ (४ । ६)

न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते ॥ (४ । १०)

ज्ञान-वैराग्ये केनातिशय्येते ॥ (४ । १०)

धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम् ॥ (४ । ११)

अविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानाम् ॥ (४ । ११)

धर्मात् सुखमधर्माद् दुःखम् ॥ (४ । ११)

नास्त्यसतः सम्भवो न चास्ति सतो विनाशः ॥ (४ । १२)

नाभूत्वा भावः ॥ (४ । १२)

स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्त्तन्ते ॥ (४ । १६)

एवं नास्ति पृष्ठम्, इत्युदरमपि न गृह्येत ॥ (४ । १६)

अयस्कान्तमणि-कल्पा विषया अयस्सधर्मकं चित्तम् ॥ (४ । १७)

न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यते ॥ (४ । ३०)

विषयसुखं चाविद्या ॥ (२ । १५)

अदर्शनं बन्धकारणम् ॥ (२ । २४)

शुद्धयशुद्धि-पत्र तथा पाठभेद

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	
अनुविद्ध	अनुविद्धम्	३	१२	
प्रलय	प्रलयम्	११	२	
'ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः' इत्यधिकपाठोऽत्र		११	२	
अप्राप्तिः	अप्राप्तेः	१३	२३	
भक्तिविशेषाद्	प्रणिधानात् भक्तिविशेषात्	४२	२२	
प्राप्तस्	प्राप्तास्	४४	१२	
मुक्तस्य योद्धृषु	मुक्तस्य	४४	१४	
एत द्विवर्धमानं	एतद् विवर्धमानं	४८	२३	
एषः	एष	५०	२५	
के ऽन्तराया	अथ केऽन्तराया ये	५८	२२	
प्रवाहचित्तं	प्रवाहचित्तस्य	६३	२६	
भिनेषु	भिन्नेषु	६४	१०	
वमन	वमनं	७१	१७	
रवतं	रक्तं	७६	७	
सा	सा तदा	८७	२२	
उपतिष्ठत	उपतिष्ठते	६१	१८	
एतनैव	एतेनैव	६१	२१	
अप्रमाणस्य	अप्रमाणकस्य	६८	१८	
'स्यन्दमाना'	'स्पन्दमाना'	१०६	२०	(पाठा०)
'दग्धबीजस्य'	'दग्धबीजभावस्य'	१११	८	(पाठा०)
'दग्धबीजानाम्'	'दग्धबीजभावानाम्'	१११	११	(पाठा०)
'तन्त्रीभूय'	'तन्त्रीभूत्वा'	१०६	२२	(पाठा०)
'प्रभवः'	'प्रसवः'	१२८	१४	(पाठा०)

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	
पूर्वदोषा०	पूर्ववद्दोषा०	१३१	२६	
एक पघट्टकेन	एकप्रघट्टकेन	१३१	२८	
भोगायुर्	आयुर्भोग०	१३२	२	
द्वेष्टी	द्वेष्टि	१४२	१८	
च विद्या	चाविद्या	१४२	२०	
तापानुभवः	तापदुःखानुभवः	१४२	२८	(पाठा०)
परिस्यन्दते	परिस्पन्दते	१४२	२६	(पाठा०)
यथा च	तथा च	१५७	६	
अनपश्यन्	अनुपश्यन्	१५७	११	
बुद्धि कृता	बुद्धिकृतौ	१५७	१२	
अवसायो	अवसानो	१५७	१५	
परिणामिनि	परिणामिनी	१६७	२८	
अगृहीता च	अगृहीता गृहीता च	१६८	२	
कर्मविषयताम्	कर्मरूपताम्	१७१	११	
तदथ	तदर्थं	१७१	११	
दृश्यते इति	दृश्यत इति	१७२	५	
कृतार्थम्	न कृतार्थम्	१७२	१४	
तत्रेदम्	तदेदम्	१७४	२१	(पाठा०)
विपर्ययज्ञान	विपर्यासज्ञान	१७६	११	(पाठा०)
षण्डक	पण्डक	१७६	१५	(पाठा०)
प्राप्त्युपायः	प्राप्त्युपाय इति	१८३	२४	
तथा	यथा	१८६	१५	
तैर्यग्यौन	तैर्यग्	१८६	१८	
द्वन्द्वं च	द्वन्द्वाश्च	१६५	२२	(पाठा०)
मनुष्यादिषु	प्रेतादिषु	२११	५	(पाठा०)
छवसिति	छ्वसिति	२११	१३	
अनुगतं विपाकम्	अनुमतविपाकम्	२११	१५	
भावनाहेतोः	भावनाद्धेतोः	२१४	११	(पाठ०)
एच्छौच०	एतच्छौच०	२१४	२१	
इश्वरार्पित०	ईश्वरार्पित०	२३१	२३	
संबोध	संबोधः	२२०	६	

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
	वीरासनमित्यधिकः पाठः क्वचिल्लभ्यते	२३३	२३
सत्यासने	सत्यासनजये	२३७	१८ (पाठा०)
उभयोर्गत्य०	उभयगत्य०	२४२	३१ (पाठा०)
अथ कः प्रत्याहार इत्यधिकः क्वचित् पाठः		२४७	१७
एषु	एष	२४७	२३
नासिकाग्र	नासिकाग्रे	२५१	८
प्रत्ययस्यैक०	प्रत्ययैक०	२५३	१९ (पाठा०)
ईश्वरप्रसादादित्यधिकः क्वचित्		२५७	२२
ह्यक्तम्	ह्यु क्तम्	२५८	२३
वियुक्तः	लक्षणाभ्यां वियुक्तः	२६६	२०
चातीत०	न चातीत०	२६६	२५
विरुध्यते	विरुध्यन्ते	२६७	२३
	'परस्परेण' इत्यधिकः पाठः	२६७	२३
अध्वानः	अयध्वानः	२६७	२६
मृद्धर्मीः	मृद्धर्मी	२६८	६
दृष्टम्	स्थावरेषु दृष्टम्	२७५	१७
रसाद०	रसादि०	२७५	१७
अक्रमवर्णा	अक्रममवर्णम्	२८४	२
कर्त्तु०	कर्त्तृ०	२८४	१२
अन्यर्था	अन्यथा	२८४	२२
साक्षात्	साक्षात् करणात्	२८८	१७
'इदमुक्तम्' स्थाने	'इत्युक्तम्' इति पाठः	२९९	३ (पाठा०)
संगमाद्	संयमाद्	२९३	१२
तत्र वीचेः	तत्रावीचेः	२९७	२४
प्रजापत्यो	प्राजापत्यो	२९७	२६
प्रजापत्यस्	प्राजापत्यस्	२९७	२८
वदूर्य०	वैदूर्य०	२९८	६
दक्षिरणापार्श्वे	दक्षिणपार्श्वे	२९८	८
रात्रिर्दिवं	रात्रिन्दिवं	२९८	८
उदीचीनः	उदीचीनाः	२९८	९
शाल्मलि०	शालमल०	२९८	१६ (पाठा०)
गोमेध	मगधः	२९८	१६ (पाठा०)

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
	'प्लक्ष' इत्यधिकः पाठः	२९८	१६ (पाठा०)
पाले	पाताले	२९८	२१
वर्वेषु	सर्वेषु	२९८	२३
सुभानसम्	सुमानसम्	२९८	२४
लोकप्रजापत्ये	लोके प्राजापत्ये	२९८	३०
अञ्जनामाः	अञ्जनाभाः	२९८	३१
ध्यानहाराः	ध्यानाहाराः	२९८	३२
आयुधः	आयुषः	२९९	२
सूर्मद्वारे	सूर्यद्वारे	२९९	१२
कूपादघ०	कूपादध०	३१०	४
चेति	वेनि	३१०	५
प्रत्यनीकत्वत्	प्रत्यनीकत्वात्	३१९	२८
अनुनिविशन्ते	अनुनिविशन्ति	३२१	६ (पाठा०)
'नां वशित्वेन प्रतिपद्यते' इति क्वचिन्न		३२३	५
यथोक्तम्	तथा चोक्तम्	३२५	१३ (पाठा०)
विशेषातमा	विशेषात्मक	३३८	२८
सप्तवधा	सप्तविधा	३४६	२०
स खल्वहं	स खल्वयं	३४६	२९ (पाठा०)
क्षणः यावता	क्षणो यावता	३५०	२०
देशभेदो	देशभेदोऽप्य०	३५३	९ (पाठा०)
कथम्	कथम् ?	३५३	१३
	पर्यायैरिति क्वचिन्न	३५६	११ (पाठा०)
आदिः	आदि	३६१	७
	'अणिमा' इति क्वचिन्न	३६१	६ (पाठा०)
	'शरीराणि' इति क्वचिन्न	३६९	५ (पाठा०)
पूवर्नुाभूत०	पूर्वानुभूत०	३७८	३
धिर्म०	धर्म०	३८०	२०
'लम्ब्ननैरेतैः' स्थाने	'आलम्बनैस्तैः'	३८५	२७ (पाठा०)
'परिस्यन्दमानः'	परिस्पन्दमानः	३८५	२१ (पाठा०)
त्रय	त्रयं	३८७	२१
दुखज्ञान०	दुःखज्ञान०	३९५	२५
उत्पद्यत	उत्पद्यते	३९८	१९ (पाठा०)

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चिरागाय	विरागाय	४०८	१०
अनुकारमात्र०	अनुकारिमात्र०	४१०	१७ (पाठा०)
'न जानामीति वा'	इति क्वचिन्न	४२०	२०
'कुशलाकुशलाश्च०'	इति क्वचिन्न	४२४	१६
परिणामिनित्यता	परिणामनित्यता	४२८	२६
'मृत्वा जनिष्यत इति' इति क्वचिन्न		४२६	४
कुशलस्याति	कुशलस्यास्ति	४२६	६
'देह से भिन्न' इत्यधिकः पाठः		३३	२
बाधारित	बाधारहित	३६	६
ओंकार को	ओंकार के	५६	२२
मच्छारादि	मच्छरादि	६२	२८
इद्रिय	इन्द्रिय	३६२	७
सप्ताप्त	समाप्त	१७२	१८
प्रथम च	प्रथम सोच	१६७	१६
बह्मचर्य	ब्रह्मचर्य	१६७	२४
निरोधस-माधि	निरोध-समाधि	२७३	१३
सूक्ष्मशरीर	स्थूलशरीर	२६०	८
प्रकाश	आकाश	३२६	२७
श्रुत्रम्	श्रुतम्	३६२	२१

३

पाले
वर्षेषु
सुभा
लोक
अञ्ज
ध्यान
आयु
सूर्मद्व
कृपा
चेति
प्रत्य
अनु
'नां
यथो
विशे
सप्त
स
क्षण
देश
कथ

आ

पूव
धि
'ल
'प
त्रय
दुख
उत